श्रीधर पाठक
तथा
हिंदी का पूर्व-स्वच्छंदतावादी काव्य

(१८७५ ई० से १९२५ ई० तक)

लेखक

डॉ० रामचन्द्र मिश्र

एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राध्यापक, हिन्दी-विभाग

धर्म समाज कॉलेज, अलीगढ़

रणजीत प्रिंटर्स एण्ड पब्लिशर्स

चाँदनी चौक, दिल्ली

पूज्यचरण गुरुदेव
आचार्य पं० नन्ददुलारे जी वाजपेयी

को

सादर समर्पित

'क्या ले गुर संतोषिए, हौंस रही मन माँहि'

भूमिका

हिन्दी साहित्य विभिन्न दिशाओं में इतनी शीघ्रता से उन्नति कर रहा है और उसका रूप इतना व्यापक तथा सर्वाङ्गीण बनता जा रहा है कि उस पर अधिकारपूर्वक कुछ लिखने का उत्तरदायित्व किसी एक व्यक्ति को नहीं, वरन् अनेक विशेषज्ञों के समूह को ही सौंपा जा सकता है। बन्धुवर श्री रामचन्द्र जी मिश्र के विद्वत्तापूर्ण निबन्ध को यत्र-तत्र पढ़ते हुए मुझे पग-पग पर अपनी दयनीय अयोग्यता तथा सर्वथा अधूरे ज्ञान का परिचय अवश्य मिलता रहा। मैं निरन्तर यही सोचता रहा कि इस प्रकार की जिम्मेवारी मुझ पर क्यों डाली गई है ? शायद इसका कारण यह हो सकता है कि हिन्दी में स्वच्छन्दतावादी युग के प्रवर्तक कविवर श्रीधर पाठक का मैं कृपापात्र था और सन् १९२० में पन्द्रह-बीस दिन तक उनकी सेवा में उपस्थित होकर मैंने उनके जीवनचरित का मसाला भी इकट्ठा किया था। अपने अस्त-व्यस्त जीवन के कारण जिस यज्ञ को मैं आज तक पूरा नहीं कर सका, उसे बन्धुवर मिश्रजी ने अधिकांश में और बड़ी सफलतापूर्वक पूर्ण कर दिया है। मुझे यह बात ईमानदारी के साथ स्वीकार करनी पड़ेगी कि जिस सूक्ष्म विश्लेषण शक्ति तथा असाधारण परिश्रम के साथ उन्होंने अपने कर्तव्य का पालन किया है, उसका दशांश भी मुझमें नहीं।

हाँ, रचनाओं के पीछे जो व्यक्तित्व होता है उसके चित्रण में मेरी रुचि अवश्य रही है। इस दृष्टि से मैंने इस ग्रन्थ के सातवें, आठवें और नवें अध्याय को देखा और उन्हें अपने में इतना सर्वाङ्गपूर्ण पाया कि मैं उनको अलग से पुस्तकाकार में छपाने की जोरदार सिफारिश करूँगा। यदि भविष्य में कभी पाठक जी के ग्रंथों का संग्रह छपाया जाय तो ये अध्याय उसकी भूमिका का काम भलीभाँति दे सकते हैं। पर इस योग्यतापूर्ण निबन्ध में एक त्रुटि मुझे दीख पड़ी और छिद्रान्वेषण की दृष्टि से नहीं, बल्कि सर्वथा सद्भावनापूर्वक उसकी ओर लेखक तथा पाठकों का ध्यान आकर्षित कर देना चाहता हूँ। 'पाठक जी के पत्र' नामक विषय को केवल ढाई पृष्ठों में समाप्त कर इस विषय

के प्रति अनजाने में कुछ अन्याय कर दिया गया है। बस, इस कमी की पूर्ति के लिये ही पाठक जी के कुछ पत्रों के अंश यहाँ दिये जाते हैं। हाँ, लेखक ने पाठकजी के ५-७ पत्र सातवें अध्याय में अवश्य दे दिये हैं।

'विशाल भारत' में स्वर्गीय बालकृष्ण जी भट्ट के सुपुत्र श्री लक्ष्मीकान्त जी भट्ट का एक लेख श्रद्धेय पुरुषोत्तमदासजी टंडन के विषय में प्रकाशित हुआ था और उसे हमारे पत्र के कितने ही पाठकों ने पसन्द किया था, क्योंकि वह सुन्दर रेखाचित्र का एक असाधारण नमूना था और उससे भट्टजी की साहित्यिक योग्यता का, जो उन्हें अपने पिताजी से विरासत मे मिली थी, पता लगता था। इस लेख को पढ़कर श्रीमान पाठक जी ने मुझे अपने २६ फरवरी सन् १९२८ के पत्र में लिखा था :—

"Pt Lakshmi Kant Bhatt's वह कौन हैं has genuinely pleased me. Please let me know his Calcutta address. I suppose he and his brother जनार्दन भट्ट and the rest of the family are at present in Calcutta. I wish to write to them. The note वह कौन हैं has awakened many memories in my mind and touched tender cords of my heart."[1]

पाठक जी का स्वर्गीय बालकृष्ण भट्ट से घनिष्ठ सम्बन्ध था और इसलिये स्वभावत: लक्ष्मीकान्त भट्ट उनके स्नेहपात्र थे। भट्ट जी ने उनको एक पत्र लिखा था उसकी प्रतिलिपि उनके अक्षरों में अगले पृष्ठ पर दी जा रही है।

अपने प्रमाद के कारण मैं स्वर्गीय सत्यनारायण का जीवन-चरित पाठक जी की सेवा में नहीं भेज सका था। उसका ज़िक्र पाठक जी ने अपने २२-३-२७ के कृपा-पत्र में इस प्रकार किया था :—

"स्वर्गीय स० ना० क० र० की 'जीवनी', मालूम होता है, प्रकाशित हो गई। इसकी आपको बहुत-बहुत बधाई। हम समझते थे कि उसकी एक पोथी ई जानिब भी आवेगी लेकिन शायद यह ग़लतफहमी थी!

हमारे लड़के ने हमारी बीमारी में आपके दो बडे-बड़े पत्रों के उत्तर आपको

---

१. अर्थात् "पंडित लक्ष्मीकान्त भट्ट के 'वह कौन हैं' नामक लेख से मुझे हार्दिक हर्ष हुआ है। कृपया उनका कलकत्ते का पता मुझे बतलाइये। मेरा ख़याल है कि वे, उनके भाई जनार्दन भट्ट और शेष कुटुम्बी इस समय कलकत्ते में रह रहे हैं। मैं उन्हें पत्र लिखना चाहता हूँ। 'वह कौन हैं' नामक लेख ने मेरे मस्तिष्क में कितनी ही स्मृतियाँ जाग्रत करदी हैं और मेरे हृदय के कोमल तारों को झंकृत कर दिया है।"

भेजे थे, वे शायद आपके पास नहीं पहुँचे। अब हम बीमारी से मुक्त हैं। बीमारी बड़े समारोह की थी। उसने अपना खूब जलवा दिखाया।"

श्री
प्रणम्य:
कविवर श्रीधर [illegible] -
[illegible] -
[illegible] -
[illegible] -
[illegible] -
[illegible] -
[illegible] -
श्री [illegible] -
[illegible] -
धन्यवाद [illegible]
[illegible]
बालवृद्ध-बालकृष्ण
31-1-12

---

३ मार्च सन् १९२० को मैंने एक पत्र श्री पाठक जी की सेवा में भेजा था, जिसमें मैंने उनका जीवन-चरित लिखने का विचार प्रगट किया था। पाठक जी का उत्तर यहाँ दिया जाता है।

श्री पद्मकोट
९/३/१९२०

प्रियवर बनारसीदास जी, नमस्कार।

जबसे आपका ३/३ का अनुग्रहपत्र आया है मैं बराबर श्वास से आक्रान्त रहा हूँ। कल दाँत में भी असह्य पीड़ा उत्थित हुई थी। ये सब शीघ्र ही आने वाले कूच की सूचनाएं हैं। आपकी सतत सुकृत्यपरता सचमुच आपके प्रकृत महत्व की द्योतिनी है। आप अवश्य उन सदात्माओं में हैं, जिनकी इस देश को अपने उद्धार के लिये इस समय इतनी आवश्यकता है।

आपकी लिखी हुई जीवनियाँ मुझे सभी पसन्द हैं, परन्तु विशेषत: तोताराम वाली रुचती है। सबसे अधिक उपयोगी भी वही हुई है। मेरी अधम जीवनी भी आप लिखना चाहते हैं, इस प्रस्ताव के विरुद्ध मुझे बहुत कुछ वक्तव्य है, परन्तु मुझे प्रतीत होता है कि वह सब व्यर्थ जायगा, अतः मैं निषेध न करूँगा। जब आगामी गर्मी की छुट्टियों में आप यहाँ पधारियेगा तभी जो कुछ निवेदन करना है कर दूँगा। परन्तु श्वास रोग से शीघ्र निवृत्त होने की संभावना मुझे नहीं दीखती। परन्तु अभी अर्सा बहुत है, जैसी दशा होगी सूचित कर दूँगा। इस रोग से मेरी अनेक सांसारिक क्षतियाँ हो रही हैं। पर बस क्या है !
"हानि, लाभ, जीवन, मरन, जस, अपजस, विधि हाथ।"

जीवनियों के सम्बन्ध में मेरा स्थिर मत यह है कि साहित्य में स्थान केवल उन्हीं जीवनियों को मिलना चाहिये, जो साहित्यिक दृष्टि से रुचिर होने के अतिरिक्त सच्चे लोकोपकार की क्षमता भी रखती हों। अत: प्रत्येक प्रस्तावित जीवनी के कतिपय निश्चित अंगों को आचार्यों द्वारा निर्धारित या निर्मित कसौटी पर पहले अवश्य परख लेना चाहिये। धृष्टता क्षमा कीजियेगा— कृपैषी

श्रीधर पाठक

चूंकि श्रद्धेय पाठक जी मेरे पूज्य पिताजी के सहपाठी रहे थे, इसलिए मुझ पर उनका विशेष स्नेह था और मेरे विषय में उन्होंने जो भाव उपरोक्त पत्र में प्रकट किये थे, उन्हें मैं आशीर्वाद ही मानता था। उनका एक अन्य हस्तलिखित पत्र मैं यहाँ दे रहा हूँ, जिसमें मेरे प्रति उनकी स्नेहाशीष स्पष्ट व्यक्त होती है—

श्रीप्रयाग,
30-8-29

प्रियवर, बौत दिनन तें दरसन परसन नायँ भये। अब तो फिरोजाबाद ई रैतऔ ? ऐतमादाबाद च्यों छोड़ि दयो ?
इतमाऊँ कबऊँ आइबो होगो ?

कबऊँ कबऊँ तो चिट्ठी डारि दैबो करौ ?
उतमाऊँ ऋतु तो अच्छी होइगी. मांदिगी तौ नायँ फैली ? अबकैं पिराग में पानी अच्छी तरे नायँ बरसौ
देसत मुल्कौ कैसो है रह्यो है ?
जल्दी लिखियो

जब सन् १९१८ में मेरी पुस्तक 'प्रवासी भारतवासी' प्रकाशित हुई तो श्री पाठक जी ने अत्युक्तिमयी भाषा में उसका स्वागत किया था। मैंने उस पुस्तक पर अपना नाम नहीं दिया था और वह मेरे उपनाम 'भारतीय हृदय' के नाम से प्रकाशित हुई थी। पाठक जी के शब्द सुन लीजिये :—

"यह ग्रंथ जो भारतीय हृदय की सहृदयता का उदय है, ऊँचे चित्रों की वृत्ति को अपने वृत्त से बलात् बाहर खींच ले जाता है······'प्रवासी भारतवासी' भारत के स्यापे का संगीत है, उसकी जगत्प्रसरित पर-वशता का प्रणव नाद है। इसके संकलन में 'भारतीय हृदय' ने जो श्रम किया है उससे भारत सहज उऋण नहीं हो सकता······इत्यादि।"

अपने ३-१-२५ के पत्र में उन्होंने एक वाक्य लिखा था वह उनकी पत्र-लेखन शैली का द्योतक है। "आपकी लोकसेवा प्रवृत्ति अवलोक हृदय में उत्कृष्ट आलोक सृष्ट होता है।"

वस्तुतः गद्य लिखते समय पाठक जी की लेखन-शैली में कभी-कभी भारी-भरकमपन आ जाता था, पर पद्य या कविता में वह बात नहीं थी। वहाँ सहज स्वाभाविकता तथा अकृत्रिमता ही रहती थी।

यहाँ प्रोफेसर रामदास जी गौड़ का एक पत्र तथा पाठक जी द्वारा दिया गया उसका उत्तर ये दोनों उद्धृत किये जाते हैं :—

सावन सुदी तृतीया छिहतरि साल
पियरी बड़ी, बनारस बाग मुहाल

कविवर, गे बहु दिनवां
मिले उ न हाल।
सुमिरि कबहुँ एक छिनवा
किहेउ निहाल॥
करत अनेकन कजवा
अतिसइ व्यस्त।
भूलउँ कवि - सिरतजवा
करहु गुदस्त॥
आपन लिखहु कुसलवा
लरिकन केर।
सुमिरि सो चहल पहलवा
हिय दुख ढेर॥

कवि - रवि पायन मुँडवा
धरि बरि श्राय ।
मांगत विदा गउड़वा
मन कसि श्राय ।।

पाठक जी का उत्तर—

प्रियवर, पोस करडवा तिजिया क्यार
पहुँचिसि टुंटिथरडवा तीज पहार
पढ़ि मन सुपद मुदित भा, निपट निनार
जब सब कुसल विदित भा, सुभल प्रकार
यहँ ऊँ सकल कुसल बा, सुऋतु सुहात
लखि घन छबि पल-पलवा मन लहरात
पठवत रहउ संदेसवा श्रपन सदाइ
सब विधि सबन विसेसवा श्रानन्द दाइ
श्रीधर केरि विनयवा एक एहि श्राय ।

पाठक जी के इस प्रकार के अनेक पत्र हैं, और उनका उपयोग इस वृहद ग्रंथ के द्वितीय संस्करण में किया जा सकता है। उसी के साथ उनके विषय में लिखे संस्मरणों का भी संग्रह हो जाना चाहिये ।

पाठक जी के साथ जिन लोगों का पत्र-व्यवहार हुआ था उनके पत्र भी परिशिष्ट में दिये जा सकते हैं। यहाँ एक-एक पत्र राजा लक्ष्मणसिंह, आचार्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी तथा राष्ट्रकवि मैथिलीशरण जी गुप्त के दिये जाते हैं।

Buland Shahar
28th June, 86

My Dear Sir,

You want to know what I think about your metrical translation of Goldsmith's 'Edwin & Angelina' into Hindi. The verse you have adopted seems to me excellent and the Hindi words and phrases are without any fault. The only fault, and in my opinion a great one—is that you have made too free a use of Sanskrit words. These words could have been substituted by more common Hindi words, if you

took pains. I wish Hindi scholars may adopt the habit of avoiding the use of Sanskrit words, and still more of Sanskrit phrases. I would rather use a Persian or Arabic word, if it were more common than the Sanskrit, in case no equivalent can be found in Hindi. Your verses, when free from the above defect, are sweet.

Hoping you will pardon my giving so free an opinion on your books.

I am
Yours faithfully
Lachman Singh

Itarsi C. P
3rd June, 87

Dear Sir,

Receiving herewith annas two in postage labels please dispatch to my address a copy of बिछुरे हुए दो प्राणियों का अचानक मिलाप as soon as possible and oblige.

Yours truly
Mahabir Prasad
Telegraphs
Itarsi
G. I. P. R.
District Hoshangabad

श्री हरिः

१४-३-०५

मान्यवर महाशय !

वहुशः प्रणाम !

श्रीमान् की कवितामृत तरङ्गिणी से अपने सन्तप्त हृदय को पवित्र करने की इस दास की नितान्त अभिलाषा है। अस्तु

श्रीमान् की सेवा में विनीत भाव से निवेदन है कि श्रीमान् अपने ग्रंथ-रत्नों

का प्राप्तस्थान मूल्यादि से परिचय दे इस शरीर को अनुग्रहीत करके अति शीघ्र ही प्रमुदित करेंगे।

कृपाकांक्षी
मैथिलीशरण,
चिरगाँव
(झांसी)

अन्त में कविवर श्रीधर पाठक जी की कुछ कविताओं के वे अंश उन्हीं के अक्षरों में उद्धृत किये जाते हैं, जो उन्हें और मुझे प्रिय थे। पाठक जी से मैंने प्रार्थना की थी कि वे मेरी नोट-बुक में उन कविताओं को अपने हाथ से लिख दें, जो मुझे प्रिय हैं और कुछ अपनी प्रिय कविताएँ भी उद्धृत कर दें। पाठक जी ने अस्वस्थ होते हुए भी मेरी प्रार्थना स्वीकार कर ली। ये कविताएं वनाष्टक, एकान्तवासी योगी, देहरादून यात्रा, काश्मीर सुखमा, धन विजय इत्यादि से ली गई हैं।

झिल्ली करै झनकार कहूँ,
फुसकारत साँपिनें रोस भरी
पट घुग्घू डरावने बोलत बोल,
बिलापै बिलार घरी पै घरी
कहूँ कूकत स्यार हैं, भूकत ल्यार,
लार है लटे लहि लाल भरी
निसि भीसन भाव भैया मन की,
बनवास की वासना नास करी

◇ ◇ ◇

गाते में बन! पावन तू ही,
तपस्वियों का तप-आश्रम था
जग-तत्व की खोज में लग्न जहाँ,
ऋषियों ने आगम किया श्रम था
जब प्राकृत विश्व का विभ्रम और था,
सात्विक जीवन का क्रम था
महिमा बनवाले की थी तब और,
प्रभाव पवित्र अनूपम था

◇ ◇ ◇

प्राणों पियारे की गुण-गाथा साधु कहाँ तक मैं गाऊँ
गाते गाते चुकै नहीं वह, चाहे मैं ही चुक जाऊँ
विश्व निकाई विधि ने उस में की एकत्र बटोर
वलि छहौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर

◇ ◇ ◇

नमो नमो गिरि-तनया, अद्भुत वारि
सुरधुनि भारत-जनया, अघ तट वारि
नमो ब्रह्म-द्रव-रूपिनि, प्रेम-फुहार
तरल तरंग अनूपिनि, गंग-सुधार
तारिनि सगर-सुअनवा, स्वर्ग-नसैनि
बसहु सदा मो मनवा, सब सुख-दैनि

त्यों रहे जुक्त अनेकता बहु नर नारि
बहु-स्वभाव, बहु-भेसवा, बहु-अनुहारि
इन महँ कोउ सदगुनवा मोहिन दिखाय
यहि सन करने बनिनवा मन अनखाय

◇ ◇ ◇

लसत लहलही जहाँ सघन सुन्दर हरियारी
तहँ अब ऊसर महँ भई नासि गई निकारी

◇ ◇ ◇

यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर
यहिं अमरन को ओक यही कहुँ बसत पुरन्दर

◇ ◇ ◇

हे चन्द्र! जिन देसन महँ काए बाला बीति गइ
± फिरहु कहाँ भरमाए, का यह रीति नई ?

◇ ◇ ◇

स्वर्गीय पाठक जी ब्रजभाषा तथा खड़ी बोली दोनों के आचार्य थे। वे जौंधरी ग्राम के, जो हमारे जन्मस्थान फीरोजाबाद से आठ मील दूर है, निवासी थे और उनकी शिक्षा फीरोज़ाबाद में ही हुई थी और हम लोग—फीरोज़ाबादी—इस बात में एक प्रकार के गौरव का अनुभव करते हैं कि हम भी उसी नगर के निवासी हैं, जिसे उन्होंने कभी पवित्र किया था।

बन्धुवर मिश्र जी के इस ग्रंथ से केवल पाठक जी के विषय में ही नहीं तत्कालीन अन्य लेखकों और कृतियों के विषय में भी अधिकाधिक जानने की इच्छा उत्पन्न होती है। ग्रन्थ की सफलता का यही रहस्य है। साहित्य सेवियों की कीर्तिरक्षा एक पुण्य कार्य है—एक यज्ञ है; और इस ग्रन्थ के सुविख्यात

प्रकाशक ने इस यज्ञ में योग देकर प्रशंसनीय कार्य किया है। मैं इन दोनों महानुभावों का कृतज्ञ हूँ, क्योंकि इन्होंने इस अवसर पर पूज्य पाठक जी को श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने का अवसर मुझे भी प्रदान किया।

९९, नार्थ ऐवेन्यू
नई दिल्ली
१४-४-५९

बनारसीदास चतुर्वेदी

प्राक्कथन

डा० रामचन्द्र मिश्र की यह पुस्तक आगरा विश्वविद्यालय के लिए लिखे गए उनके पी-एच. डी. प्रबन्ध का परिवर्तित रूप है। इसमें कुछ अध्याय कम कर दिये गए हैं, कुछ का संक्षेप कर दिया गया है। प्रयत्न यह रहा है कि पुस्तक भारी-भरकम और भयावनी न बन जाय; लोग उसे पढ़ें, समझें और उपयोग करें। आकार के संभ्रम में न पड़कर पक्ष या विपक्ष में सम्मति दें। चर्चा चलती रहे, रुचि बनी रहे। यही किसी पुस्तक की मुख्य सार्थकता है। हमें प्रसन्नता है कि प्रबन्ध लिखते समय और पुस्तक के लिए उसे संक्षिप्त करते समय भी डा० मिश्र ने हमारी सलाह और परामर्श से काम लिया है। पी-एच. डी. के लिए विषय का चुनाव भी उनके लिए मैंने ही किया था और उनके समस्त कार्य की निगरानी भी मैं ही करता हूँ। अब उनके अथक परिश्रम को पुस्तक रूप में प्रकाशित होते देखकर मेरी प्रसन्नता स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य है।

हिंदी साहित्य के इतिहास में सन् १८७५ से १९२५ तक का समय अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। इस पचास वर्ष के काल-खंड में भारतेन्दु और द्विवेदी जी के नाम से दो युग आते और व्यतीत होते हैं। साधारणतः इतने थोड़े समय में इतने बड़े साहित्यिक युगों का आरम्भ और अवसान आश्चर्यजनक प्रतीत होता है। इसके कारणों की खोज आवश्यक हो जाती है। भारतेन्दु-युग के साहित्य में कतिपय ऐसी स्वच्छन्द प्रवृत्तियाँ मिलती हैं जो आगे चलकर द्विवेदी-युग में अवरुद्ध सी हो जाती हैं। रचनात्मक साहित्य की दिशा में प्रगति के स्थान पर एक प्रत्यावर्तन भी दिखाई देता है। कुछ अन्य तत्व द्विवेदी-युग के साहित्य में अवश्य आते हैं, पर वे भारतेन्दु-युगीन-साहित्य को नया वेग न देकर एक मोड़ ही देते हैं। वैसी स्थिति में द्विवेदी-युग को भारतेन्दु-युग का एक अंतर्वर्ती अध्याय ही क्यों न माना जाय, उसे स्वतन्त्र युग का गौरव किस आधार पर दिया जाय।

इसके अतिरिक्त एक अन्य समस्या भी हमारे समक्ष थी। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु जी के रहते-रहते ठाकुर जगमोहनसिंह तथा उनके कुछ ही पश्चात्

पं० श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावादी कृतियाँ प्रकाशित होने लगी थीं। बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में यह स्वच्छन्दतावादी धारा गुप्त और हरिऔध जैसे कवियों के नीतिवादी काव्य-प्रवाह में पड़कर विलीन होती जा रही थी। यद्यपि रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पांडेय आदि की काव्य-कृतियों ने उसे एकदम लुप्त होने से बचाया, पर इस स्वच्छंद धारा के बीच-बीच में टूट-टूट जाने से इसका अविरत प्रवाह साहित्यिकों की दृष्टि से ओझल होता रहा जिससे हिन्दी साहित्य में आधुनिक स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का उद्गम और विकास बहुत कुछ अस्पष्ट ही बना रहा। उसे स्पष्ट करने की आवश्यकता थी, और प्रस्तुत पुस्तक में डा० मिश्र ने यही कार्य किया है।

मिश्र जी का विषय-क्षेत्र सन् १८७५ से १९२५ तक का काव्य ही रहा है अतएव आधुनिक छायावादी या रहस्यवादी काव्य से उस क्रमागत स्वच्छंदतावादी काव्य का संबंध निरूपण करना उनकी कार्य-सीमा के बाहर पड़ गया है। परंतु उनके संपूर्ण अनुशीलन की परिणति इसी तथ्य की ओर इंगित करती है कि जगमोहनसिंह और श्रीधर पाठक का काव्य ही पंत, निराला जैसे नये स्वच्छंदतावादियों की (जिन्हें छायावादी भी कहते हैं) पीठिका और प्रेरणा-भूमि रही है। यूरोप और खासकर इंगलैंड में जिस प्रकार शेली, कीट्स और वर्ड्सवर्थ आदि के आगमन के पूर्व ही स्वच्छंदतावादी पूर्व-सूचनायें मिलने लगी थीं, और अनेक कवि 'रोमैंटिक प्रिकर्सर्स' के नाम से इतिहास में परिगणित हो गए हैं, उसी प्रकार छायावादियों के पूर्व-पुरुषों के रूप में जगमोहनसिंह तथा पाठक जी जैसे कवियों की गणना होनी ही चाहिए।

ऊपर निर्देशित विकास-क्रम आज भले ही अधिकांश साहित्यिकों द्वारा स्वीकार कर लिया गया हो, पर आज से कुछ वर्ष पूर्व इस विषय में कोई स्पष्ट जानकारी न थी बल्कि काफी बड़ा मतभेद भी था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे सर्वमान्य पंडित भी नये छायावादियों को पाठक जी अथवा जगमोहनसिंह की प्रकृत स्वच्छंदतावादी परंपरा में स्वीकार करने को तैयार न थे। वे प्रसाद, निराला और पंत द्वारा प्रवर्तित छायावादी काव्य को एक सांप्रदायिक वस्तु मानने के पक्ष में थे। जो कुछ हो, साहित्यिक इतिहास की इस स्थिति को स्पष्ट करने की आवश्यकता थी और प्रस्तुत पुस्तक में उसे स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। यह पुस्तक सन् १९२५ में आकर समाप्त हो जाती है। एक अन्य पुस्तक या प्रबंध की आवश्यकता रह जाती है जो '२५ के आगे के स्वच्छंदतावादी काव्य-विकास को १९५० तक ले जाकर उसकी परिणति तक पहुँचा दे।

इस दूसरे प्रबंध में ही पूर्व-स्वच्छन्दतावादी और उत्तर-स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्तियों का समुचित संबंध-निरूपण किया जा सकेगा। अच्छा हो यदि स्वयं डा० रामचंद्र मिश्र अपने आगामी कार्य के लिए इस विषय का वरण करें।

कहने की आवश्यकता नहीं कि डा० मिश्र की यह पुस्तक नये और अज्ञात तथ्यों पर भी प्रकाश डालती है। उन्होंने केवल विभिन्न काव्य-प्रवृत्तियों का ही स्पष्टीकरण नहीं किया है, जगमोहनसिंह और विशेषकर श्रीधर पाठक की संपूर्ण कृतियों का धारावाहिक अनुशीलन और विवेचन भी किया है। अब तक इन कवियों पर इतनी विस्तृत विवेचना कहीं उपलब्ध न थी। मिश्र जी ने शास्त्रीय और स्वच्छन्दतावादी काव्य-धाराओं के बीच जो विभाजक रेखाएँ ढूँढ़ निकाली हैं, वे भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं हैं। इससे स्पष्ट है कि मिश्र जी में न केवल दौड़-धूप कर चीज़ों को ढूँढ़ निकालने की शक्ति है, उनमें वस्तुओं के सूक्ष्म विवेचन करने की सामर्थ्य भी है। इसके अतिरिक्त हिन्दी गद्य के भी वे एक अभ्यासी लेखक हैं।

हमें आशा ही नहीं विश्वास भी है कि मिश्र जी के इस साहित्यिक प्रयास और परिश्रम का उचित मूल्य आंका जायगा। हम अपनी ओर से उनकी इस कृति के प्रकाशन के लिए उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं।

सागर विश्वविद्यालय
१५-३-५६

—नन्ददुलारे वाजपेयी

वक्तव्य

हिन्दी के आधुनिक काव्य की प्रगति में छायावादी-रहस्यवादी-धारा का विशेष महत्व है। सच तो यह है कि हिन्दी की क्रमागत काव्य-परम्परा को आधुनिक छायावादी और रहस्यवादी काव्य की असाधारण देन है। अपनी भावधारा और अभिव्यंजना-शैली से इसने हिन्दी के अन्तरंग एवं बहिरंग सौंदर्य में उल्लेखनीय अभिवृद्धि की है।

छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य व्यापक रूप से स्वच्छन्दतावादी काव्य-शैली का ही एक विशेष उन्मेष है। इस स्वच्छन्दतावादी काव्य की स्पष्ट रूप-रेखा १९२५ ई० से हिन्दी काव्य में परिलक्षित होने लगती है। अनन्तर १९४० ई० तक इस काव्यधारा के अन्तर्गत इतनी महत्वपूर्ण रचनाएँ हुईं कि हिन्दी-साहित्य में समृद्धि का एक नया युग ही आ गया। इस महत्वपूर्ण काव्य-धारा और काव्य-शैली के मूल स्रोत क्या हैं और वे कब से और कहाँ से उद्‌भूत हुए हैं, यह जिज्ञासा साहित्य के विद्यार्थी के लिए अत्यन्त स्वाभाविक और अनिवार्य है। छायावादी-रहस्यवादी काव्य को यदि हम स्वच्छन्दतावादी काव्य कहें, तो १८७५ ई० से १९२५ ई० तक के पचास वर्ष के काल में अनेक कवि और काव्य-प्रवृत्तियाँ ऐसी मिलती हैं जिन्हें पूर्व-स्वच्छन्दतावादी कवि और पूर्व-स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति या भावधारा कह सकते हैं। पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्तियों के महत्वपूर्ण एतिहासिक अध्ययन को ही मेरा यह प्रबन्ध प्रस्तुत करता है। इस युग में पं० श्रीधर पाठक का व्यक्तित्व विशेष रूप से उल्लेखनीय है। इसलिये पाठक जी को अनुशीलन का विशेष विषय बना लिया गया है।

काव्य के स्वच्छन्दतावादी तत्व पाठक जी के पूर्व ठाकुर जगमोहन सिंह एवं उनके परवर्त्ती कवियों में भी उपलब्ध होते हैं। परवर्त्ती कवियों में विशुद्ध स्वच्छन्दतावादी भावना के दृष्टिकोण से रामनरेश त्रिपाठी का काव्य भी महत्वपूर्ण है। फलतः इन सभी कवियों की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों को स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है।

हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के प्रसाद, पन्त, निराला एवं महादेवी आदि प्रमुख कवियों को उनके उस स्वरूप में उपस्थित करने का श्रेय एक विशेष अर्थ में ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीधर पाठक, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', रूपनारायण पाण्डेय, रामनरेश त्रिपाठी, बदरीनाथ भट्ट एवं मुकुटधर पाण्डेय आदि को है।

हिन्दी की छायावादी धारा के समान अंग्रेज़ी काव्य का रोमांटिक नवोन्मेष (Romantic Revival) भी महत्वपूर्ण है। यह नवोन्मेष थोड़े-थोड़े कालान्तर से योरुप के जर्मनी, फ्रांस, रूस एवं इंगलैण्ड आदि प्रदेशों में प्रस्तुत हुआ था। हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के समान ही अंग्रेज़ी के रोमांटिक 'नवोन्मेष युग' के प्रमुख कवि वर्ड्सवर्थ, बायरन, शेले एवं कीट्स आदि, पूर्व-रोमांटिक युग के टॉमसन, कॉलिन्स, ग्रे, काउपर, गोल्डस्मिथ, बर्न्स एवं ब्लेक आदि कवियों के काव्यों पर ही अपने काव्य-भवन की भित्ति बना पाये थे। इस प्रकार दो भिन्न देश होते हुए भी हम देखते हैं कि दोनों देशों के पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग के काव्य का अस्तित्व अपने देश के विशेष काव्य के लिये महत्वपूर्ण रहा है। इन दोनों देशों के पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति में काफी साम्य भी है। फलतः योरुपीय प्रदेशों में स्वच्छन्दतावादी भावना की प्रगति और इंगलैंड के पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग के प्रमुख कवियों की भी चर्चा इस प्रबन्ध के परिशिष्ट भाग में कर दी गई है।

उपर्युक्त सम्पूर्ण तथ्यों के आधार पर ही 'हिन्दी के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी काव्य तथा विशेषतः पं० श्रीधर पाठक की कृतियों का अनुशीलन' शीर्षक से यह शोध-प्रबन्ध आगरा विश्वविद्यालय में प्रस्तुत किया गया था। हिन्दी काव्य का यह अंग अभी तक विवेचकों द्वारा अछूता सा रहा है। फलतः मेरा प्रस्तुत प्रबन्ध हिन्दी-विवेचना के इस अभाव की पूर्ति का एक विनम्र प्रयास है। विश्वास है कि हिन्दी-काव्य की आरम्भिक स्वच्छन्दतावादी भाव-धारा के सम्बन्ध में मेरा यह अध्ययन उपयोगी सिद्ध होगा।

उपर्युक्त विषय आगरा-विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० डिग्री के लिए स्वीकृत किया गया था। अब वही प्रबन्ध आवश्यक परिवर्तन और परिशोधन के पश्चात् इस पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। तत्सम्बन्धी संपूर्ण शोध-कार्य मैंने गुरुवर आचार्य पं० नन्ददुलारे वाजपेयी के निरीक्षण में सम्पन्न किया है। उनके सत्परामर्शों एवं प्रोत्साहनों की अभिप्रेरणाएँ यदि मुझे सुलभ न होतीं तो यह प्रबन्ध इस रूप में पूर्ण करना कठिन ही नहीं असम्भव था।

इस प्रबन्ध की सामग्री का संचय और आकलन करने में ठा० जगमोहनसिंह विषयक साहित्य के लिए ठा० श्री व्रजमोहनसिंह और श्री रामेश्वरप्रसाद गुरु का और पं० श्रीधर पाठक के सम्पूर्ण साहित्य, वंशीय परम्पराओं एवं अन्य उपयोगी वृत्तों के लिए मैं श्री वाग्धर पाठक, सुश्री ललिता पाठक और श्री पद्मधर पाठक का कृतज्ञ एवं चिरऋणी हूँ।

श्री पद्मधर पाठक ने, जो इस समय द्वितीय पंचवर्षीय योजना के अन्तर्गत दिल्ली विश्वविद्यालय में इतिहास-विभाग के रिसर्च स्कॉलेर हैं, मेरे शोध-कार्य को विश्वस्त रूप से पूर्ण करने के लिए कितने ही दुष्प्राप्य ग्रंथों की प्रतिलिपियाँ भेजीं, जिनका मैंने श्रीधर पाठक की जीवनी में उपयोग किया है। असन्दिग्ध रूप से यदि उनका सहयोग मेरे साथ न रहा होता तो तद्विषयक मुझे बड़ी ही कठिनाइयाँ पड़तीं और भटकना पड़ता। मैं इस कृपा के लिए उनका चिर आभारी हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के लिए श्रद्धेय पं० बनारसीदास चतुर्वेदी ने भूमिका एवं गुरुवर आचार्य पं० नन्ददुलारे बाजपेयी ने प्राक्कथन लिखने की कृपा की है। उनकी भावनाओं से मेरे अकिंचन अध्ययन को प्रोत्साहन एवं एक नवीन दिशा तो मिल ही रही है; किन्तु उनसे इस प्रबन्ध में गरिमा भी समाहित हो उठी है, यह ध्रुव सत्य है। मैं उनका स्नेह-भाजन रहा हूँ, इससे सदैव की भाँति आज भी मैं उन पण्डितजनों के समक्ष सभक्ति और सादर प्रणत हूँ।

श्री रामनवमी, २०१६ —रामचन्द्र मिश्र

विषय-सूची

अध्याय ३

अध्याय ८

अध्याय ९

अध्याय १०

परिशिष्ट—१

परिशिष्ट—२

गुरुवर आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी जी

अध्याय १

भूमिका एवं विषय-परिचय

विषय-प्रवेश

समाज और साहित्य का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। प्रत्येक अपने अस्तित्व के लिये दूसरे की अपेक्षा करता है। किसी भी राष्ट्र के जातीय जीवन और सांस्कृतिक संस्थान के यथातथ्य अध्ययन के लिये यदि इनमें से किसी एक को भी टटोल कर उसका समुचित विश्लेषण कर लिया जाय, तो हमारे उद्देश्य की पूर्ति हो जाती है, क्योंकि दोनों के निर्माण के मूल में मानवीय भावनाओं का प्रमुख स्थान है। भावनाओं के अनुकूल ही इन दोनों के स्तर होते हैं। मानवीय भावनाएँ अबाध रूप से सृजित होती रहती हैं। इसमें किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम नहीं होता। फलतः सभ्यता के आदि क्षणों से अद्यपर्यन्त भावनाओं की एक लड़ी का अन्वीक्षण किया जा सकता है। साहित्य 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' को लेकर चलता है। फलस्वरूप साहित्य में समाज का कल्याण और मंगल भी निहित रहता है। इस प्रकार अपने मांगलिक उद्देश्य एवं विशद क्षेत्र के कारण वह विश्व में विशेषरूपेण वरेण्य और प्रत्येक युग का प्रतीक है।

हिन्दी का उपलब्ध साहित्य उपर्युक्त सभी तथ्यों का सम्पोषण करता है। वीरगाथा-काल के चारण-साहित्य में प्राप्त होने वाली युद्ध की घटनाएँ, तत्कालीन इतिहास और मान की रक्षा के लिये युद्ध में वीरत्व के चित्र, राजपूत राजाओं की जातिगत भावनाओं को व्यक्त करते हैं। साहित्य के पूर्व-मध्यकाल में आध्यात्मिक भावनाओं का बाहुल्य हो उठता है। चारण-काव्य के नायक अधिपतियों का स्थान भारतीय महाकाव्यों के नायक राम और कृष्ण ले लेते हैं। जुलाहा 'राम नाम का मरम है आना' की अनुभूति कर ब्रह्म के निर्गुण और निराकार रूप का आलाप कर उठता है और सूफी प्रेमाख्यानों में अन्योक्ति-रूप से अपने (निर्गुण) प्रिय का समावेश होने लगता है। मुसलमानों से

पराभूत निराश भारतीय समाज के लिये उस 'अशरण शरण' का अक्षय अंक ही उन्मुक्त था। उसी का आश्रय उसने लिया। मुसलमानों के देश में बस जाने से एक समन्वित मध्य मार्ग की आवश्यकता भी थी। यह प्रगति ऐतिहासिक ही रही और उस प्रगति की निर्गुण और सगुण धाराओं में हमें भारतीयता ही स्पष्ट परिलक्षित होती है। अनन्तर उत्तर-मध्यकाल में भक्तिकाल के राधा-कृष्ण रीति-कवियों के नायिका-भेद के नायक और नायिका के पदों पर आसीन हो जाते हैं। आध्यात्मिकता का स्थान उन्मुक्त शृंगार ले लेता है। भक्त कवियों की भक्तिभावना एक स्वप्न-सी हो उठती है। वस्तुतः इस युग का काव्य अपने विगत युग के काव्य की प्रतिक्रिया-स्वरूप है। संस्कृत का रीति-साहित्य और नायिका-भेद पृष्ठभूमि में थे ही, रीतिकालीन कवियों को उनका आधार मिला और वे स्वतंत्रतापूर्वक अपने नये कवि-कर्म में जुट पड़े। कवियों के इस सीमित दृष्टिकोण का अधिकांश उत्तरदायित्व 'यथा राजा तथा प्रजा' पर था और उन भावनाओं और प्रतिक्रियाओं के पीछे हमारे जातिगत संस्थान का भी हाथ था। यह युग, जिसकी प्रगतियों से अनुशासित हो हम कालयापन कर रहे हैं, अपने अस्तित्व के लिये इतिहास के ताल-स्वर पर ही आधारित है। योरुपीय जातियों के आगमन से प्राच्य और पाश्चात्य दो प्रमुख संस्कृतियों का संसर्ग हुआ। भारतीय परम्पराओं एवं रूढ़ियों को धक्का लगा। भारतीय खो-सा गया था। उसके साहित्यिक कलाकारों ने मुड़कर कुछ पीछे देखा और आगे भी देखा। पीछे काव्य, साहित्य की बँधी हुई नालियों में प्रवाहित था। वहाँ जीवन की विविधताओं का दम घुट रहा था। कवि ने अग्रसर होकर उसको आश्वासन दिया और उसकी प्राण-रक्षा भी कर ली। उसने काव्य की विगत खुमारी को छोड़कर काव्य के नव-जीवन को अपना लिया। उसने स्वच्छन्द जीवन को अपनाया, जिसमें स्वाभाविकता और व्यावहारिकता के दर्शन हुए और साहित्य तथा जीवन में नया अध्याय आ,जुड़ा। इस प्रकार साहित्य की प्रगति अगाध रूप से देश-काल का प्रतिनिधित्व करती हुई संचरणशील रहती है। आज का साहित्य भी अपनी भावनाओं के तानों-बानों में सामयिक परिस्थितियों से गुँथा हुआ है।

सौभाग्य से हिन्दी-साहित्य के 'आधुनिक-युग' का एक नवीन अध्याय आ जुड़ा। इस युग की अपनी नवीन प्रवृत्तियाँ और प्रगतियाँ थीं, जिनके कारण काव्य की भावनाओं तथा विषयों में परिवर्तन उपस्थित हुए। नवीन विषयों का समावेश मानवी प्रकृति के पूर्ण अनुकूल था। इससे यह प्रकरण साहित्य-पटल

पर पैवन्द-से नहीं सिद्ध हुए। फिर शैली के क्षेत्र में ब्रजभाषा का एकाधिपत्य पूर्ववत् था ही, इससे अभ्यस्त आवरण के अंतर्गत कायापलट अचकचा देने वाला सिद्ध न होकर स्वाभाविक ही प्रमाणित हुआ।

इस युग के प्रारम्भ में सर्वतोमुखी प्रतिभायुक्त कलाकार भारतेन्दु से हिन्दी-साहित्य को काफी संरक्षण और प्रोत्साहन मिला। उन्होंने आदर्श स्वरूप स्वयं लिखा और अपने साथी कलाकारों से लिखाया भी। इन लोगों के द्वारा इस संक्रांति-काल में भावी पीढ़ी के लिये एक नया कार्य-क्षेत्र तैयार किया गया। देश पराधीनता के कारण दीन-हीन और जर्जरित था। फलतः इस काल की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ लोक-जीवन की परिस्थितियों को समन्वित कर चलीं। देश की पराधीनता, स्वामि-भक्ति, सामाजिक निर्धनता, दुष्काल, पारस्परिक द्वेष-भाव तथा भाषा आदि के ऐसे प्रश्न थे जिन्होंने सहृदय कलाकारों को अपनी ओर आकर्षित किया। इस युग के कवियों की रचनाओं में अधिकांशतः इन्हीं स्थितियों पर प्रकाश पड़ता है। खड़ी बोली को भी काव्य में व्यावहारिक स्थान देने का प्रयत्न किया गया। संवत् १९४३ वि० में पं० श्रीधर पाठक ने 'एकांतवासी योगी' नामक अनुवाद खड़ी बोली में प्रस्तुत कर हिन्दी-जगत् के समक्ष विषय और शैली-विषयक नवीन आदर्श प्रस्तुत किया।

अब तक विषय, भाषा तथा छन्द आदि के सम्बन्ध में प्राचीनता का अनुसरण चल रहा था। भक्ति और रीतिपरक विषय थे, ब्रजभाषा काव्य-भाषा बनी हुई थी तथा छन्दों में भी पद, कवित्त, घनाक्षरी तथा सवैयों का ही प्रयोग हो रहा था। काव्य का क्षेत्र बड़ा ही संकुचित तथा निर्जीव-सा हो गया था। सामान्य और दैनिक जीवन की भावनाओं का चित्रण कहीं था ही नहीं। इस प्रकार 'एकांतवासी योगी' के प्रकाशन से पूर्व हिन्दी-काव्य की प्रगति मुख्यतः परम्परागत थी। 'एकांतवासी योगी' स्वच्छन्दवादिता का अग्रदूत सिद्ध हुआ।

"उसकी सीधी-सादी खड़ी बोली और जनता के बीच प्रचलित लय ही ध्यान देने योग्य नहीं है, किन्तु उसकी कथा की सार्वभौम मार्मिकता भी ध्यान देने योग्य है।......सीधी-सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिये ऐसी प्रेम-कहानी चुनना, जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पण्डितों की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकल कर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।"[1]

---

१. रामचन्द्र शुक्ल 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' (काव्य-खंड, द्वितीय उत्थान), पृ० ६००, संशोधित और परिवर्धित संस्करण, संवत् २००३ वि०।

इस स्वच्छन्दतावादी भावना को हिन्दी-काव्य में अवतरित करने का पूर्ण श्रेय श्रीधर पाठक को है। 'एकान्तवासी योगी' शैली, भावधारा, विषय तथा छन्द आदि सभी प्रयोगों में अपने विगत काल की परिपाटियों से भिन्न है। अनन्तर 'जगत सचाई सार', 'श्रान्त पथिक', 'ऊजड़ ग्राम' तथा 'काश्मीर सुषमा' आदि उनके काव्यों में इस स्वच्छन्दतावादी शैली का पूर्ण सम्पोषण और परिपाक मिलता है। प्रकृति के सम्बन्ध में भी यह निवेदन करना युक्तियुक्त होगा कि श्रीधर पाठक ने प्रकृति-पर्यवेक्षण स्वतंत्र रूप से ही किया है। भक्ति-युग में प्रकृति से नैतिक उदाहरण लिये गये हैं और रीतिकालीन शृंगार के उद्दीपन-विभाव में उसका प्रयोग हुआ है। श्रीधर पाठक ने उक्त प्रकार से प्रकृति का उपयोग न कर उसके स्वतंत्र रूप का प्रस्फुटन किया। यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंह भी श्रीधर पाठक से कुछ पूर्व रमणीय प्रकृति को स्वतंत्र रूप से ही अपना चुके थे; किन्तु भारतेन्दु-युगीन ब्रजभाषा की परम्परागत पदावली का उनके प्रकृति-चित्रों पर प्रभाव पड़ा है। इससे श्रीधर पाठक इस दिशा में मौलिक ही रहेंगे।

श्रीधर पाठक से पूर्व विषय तथा छन्द आदि के सम्बन्ध में हम भारतेन्दु को भी अंशतः स्वच्छन्दतावादी कवि की कोटि में ले सकते हैं; किन्तु जहाँ तक भाषा और काव्य-शैली का प्रश्न है वहाँ वे ब्रजभाषा की परम्पराओं से बँधे हुए कवि हैं। इस कारण उन्हें वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी कवि नहीं कहा जा सकता।

श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावादी प्रगति में महावीरप्रसाद द्विवेदी की सुधारवादी नीति से एक अन्य व्यवधान उपस्थित हुआ। मर्यादा और नीतिवादी दृष्टिकोण, संस्कृतवृत्तों के प्रयोग तथा इतिवृत्तात्मक कथानकों को काव्य में प्रस्तुत करने के प्रयासों के कारण द्विवेदीजी का क्षेत्र स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्तियों से दूर ही रहा। द्विवेदी काव्य-मंडल के अनेक कवि रामायण अथवा महाभारत आदि के अन्तर्गत किसी-न-किसी उपदेशात्मक अथवा उदात्त चरित्र को लेकर ही चले। इस प्रगति से श्रीधर पाठक द्वारा सम्पोषित स्वच्छन्द भावना कुछ दब अवश्य गई; किन्तु उसका स्वतंत्र विकास रुका नहीं। उसका प्रवाह चलता रहा और द्विवेदी काव्य-मण्डल के बाहर के कवियों ने उसका पोषण किया। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', रामनरेश त्रिपाठी एवं मुकुटधर पाण्डेय आदि की रचनाओं से इस शैली का अभ्युत्थान होता रहा।

उपर्युक्त वक्तव्य से यह स्पष्ट है कि शास्त्रीय पद्धति से काव्य की स्वच्छन्दतावादी पद्धति अधिक अकृत्रिम और मानवीय थी। चमत्कार और उक्ति-वैचित्र्य

के प्रकाशन का इसमें विशेष स्थान नहीं था। अंग्रेजी काव्य में भी 'आगस्टन काल' में जब ड्रायडन और पोप के द्वारा शास्त्रीय काव्य उत्कर्ष पर पहुँचा दिया गया तब स्वच्छन्दतावादी पुनरुत्थान (Romantic Revival) की स्वच्छंद काव्य-सृष्टियों के द्वारा उसकी प्रतिक्रिया हुई। इसके पूर्व टॉमसन, कालिन्स, ग्रे, काउपर, गोल्डस्मिथ, बर्न्स और ब्लेक आदि स्वच्छन्दतावादी नवोन्मेष के पूर्व संक्रांति-युग के कवि थे। श्रीधर पाठक को गोल्डस्मिथ के अमर काव्यों से पर्याप्त प्रेरणा मिली थी। गोल्डस्मिथ जिस प्रकार संक्रांति-काल का कवि था, उसी प्रकार श्रीधर पाठक भी वस्तुतः हिन्दी के आधुनिक युग के संक्रांति-काल के कवि हैं। उनके द्वारा हिन्दी-काव्य की विशेष धारा स्वच्छन्दवादिता को नव-जीवन मिला।

छायावाद की पृष्ठभूमि

कवि चेतन-जगत् का सबोध प्राणी है। फलतः वह अत्यधिक भावुक, विचारशील और मननशील होता है। अपने चतुर्दिक् दृष्टिपात करने से उसे प्रकृति, मानव, पशु, पक्षी आदि दिखलाई पड़ते हैं। ये सब चराचर स्थूल जगत् के अन्तर्गत हैं। मानव-जाति के संसर्ग के कारण ये ही पदार्थ उसके लिए उल्लेखनीय और स्मरणीय होते हैं। स्थूल में बाह्य का चित्रण ही विशेष होता है। इन चित्रणों से जब उसका मानसिक कोष तृप्त हो जाता है तब बाह्य से वह अन्तर में प्रवेश करने के लिए आकुल हो उठता है। वह उसके निर्माण तथा संघटन आदि के सम्बन्ध में सोचता हुआ उसका अपने वैयक्तिक जीवन अथवा लौकिक संसर्ग अथवा अन्य किसी आदि शक्ति के साथ समन्वय स्थापित करने के लिए प्रयत्नशील होता है। साहित्य में यह प्रगति ही सूक्ष्म-निरीक्षण है। इस प्रकार स्थूल और सूक्ष्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक अपने अस्तित्व के लिए दूसरे पर आधारित है।

उपर्युक्त सिद्धान्त सभी प्रदेशों के साहित्य के साथ मेल खाता है। अंग्रेजी साहित्य के शेक्सपियर-युग का मानववादी उत्थान 'आगस्टन-युग' के स्थूल चित्रणों से परास्त है। कालान्तर में आगस्टन-युग का ड्रायडन और पोप का विद्रूप (Satirical), चमत्कारिक और आलंकारिक काव्य स्वच्छन्दतावादी नवोन्मेष से पराभूत हो उठता है।

हिन्दी-साहित्य की प्रगति में भी उपर्युक्त तथ्य प्रमाणित हैं। वीरगाथा-काल में लौकिक राजे-महाराजे, उनकी साज-सज्जा, उनके युद्ध तथा सामाजिक

जीवन हमारे कवियों के वर्णन के स्थूल विषय रहे। भक्तिकाल की सगुण-धारा में राम-कृष्ण की भक्ति एवं निर्गुण-धारा के अन्तर्गत अव्यक्त ब्रह्म की उपासना में सूक्ष्म मानसिक दृष्टि का ही प्राधान्य है। अनन्तर रीतिकाल में राधा-कृष्ण के आलंकारिक चित्रण पुनः स्थूल के अन्तर्गत ही आ जाते हैं। आगे चलकर इस स्थूल की प्रतिक्रिया ही आधुनिक युग में होती है।

देश के राष्ट्रीय एवं साहित्यिक नव-जागरण और नवोत्थान में १८५७ ई० का भारतीय विद्रोह एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इसने युग-युगों की सुषुप्त चेतना को झकझोर डाला। देश खुमारी को त्याग कर नवीन अरुणिमा में विचरण करने को प्रस्तुत हो उठा।

भारतीय साहित्य, विशेषरूपेण हिन्दी-काव्य, अभी तक अभिसारिकाओं के रुनझुन और छमछम तथा वियोगिनियों की विगलित अश्रुधाराओं में अपने अस्तित्व को विस्मृत किए था। तत्कालीन काव्य एक प्रकार से राजभवन के विलास-गृह में मादकता से अठखेलियाँ कर रहा था। उसे जीवन के यथार्थ का स्वप्न में भी ध्यान न था। ऐसे ही समय में भारतेन्दु ने उसे नवीन जीवन प्रदान कर अपने वास्तविक रूप का परिचय कराया। कविता के बहिरंग में वही सब पुराना-का-पुराना था; किन्तु अन्तरंग में काव्य की भावधारा बदल गई और विषय-प्रतिपादन परिवर्तित हो गए।

भारतेन्दु ही इस नव-जागरण काल की महामहिम विभूति थे। उन्होंने ही इस दिशा में नवीन भावधारा का आदर्श प्रस्तुत किया। उनकी मण्डली के अन्य सहकारी उन्हीं के पदचिह्नों का अनुसरण कर रहे थे। फलतः भारतेन्दु-युग (१८६५ ई०–१९००) उन्हीं की अप्रतिम सेवाओं द्वारा अक्षुण्ण है।

इस सम्बन्ध में डॉ० सुधीन्द्र का कथन है कि :—

"शताब्दियों से हिन्दी-कविता भक्ति या शृंगार के रंग में रंगी चली आ रही थी। केवल चुम्बन और आलिंगन, रति और विलास, रोमांच और स्वेद, स्वकीया और परकीया की कड़ियों में जकड़ी हुई हिन्दी-कविता को भारतेन्दु ने सर्वप्रथम विलास-भवन और लता-कुंजों से बाहर लाकर लोक-जीवन के राज-पथ पर खड़ा कर दिया। हिन्दी-कविता में भारतेन्दु ने सर्वप्रथम समाज के वक्षःस्थल की धड़कन को सुनाया। आर्थिक जीवन में महँगी और अकाल, टैक्स और धन का विदेश-प्रवाह, धार्मिक क्षेत्र में बहुदेव-पूजा और मतमतान्तर के झगड़े, सामाजिक क्षेत्र में जाति-पाँति के टंटे, खान-पान के पचड़े और बाल-विवाह, नैतिक क्षेत्र में पारस्परिक कलह और विरोध, उद्यमहीनता और

आलस्य, भाषा-भूषा-भेष की विस्मृति तथा राजनीतिक क्षेत्र में पराधीनता और दासता जीवन के ये विभिन्न स्वर उनकी वेणु से प्रसूत होने लगे थे। अपनी कह-मुकरिनियों में, अपने 'भारत-दुर्दशा' नाटक में आई हुई कविताओं में, अपनी राजप्रशस्तियों में, अपनी होलियों और लोक-गीतों में भी भारतेन्दु इन विषयों को नहीं भूले हैं। राजसी सभ्यता और राजभक्ति के संस्कार में पालित-पोषित होकर भी भारतेन्दु का स्वर जनता का स्वर है—यह हमें गर्व के साथ स्वीकार करना पड़ेगा। काव्य में यह रंग-परिवर्तन हिन्दी ने प्रथम बार देखा। ब्रज भाषा में यह विषय की क्रान्ति थी। शताब्दियों से रुग्ण हिन्दी-कविता-कामिनी को यह संजीवनी मिली।"[1]

भारतेन्दु-युग में काव्य की प्रचलित प्रवृत्तियों में आमूल परिवर्तन हो गया था। नवीन विचारधाराओं और भावनाओं के समावेश से इन प्रवृत्तियों का बदलना भी स्वाभाविक ही रहा।

राजनीतिक चेतना, आर्थिक स्थिति, देश-भक्ति, सामाजिक परिस्थिति, धार्मिक कविता आदि ये नवीन काव्यगत विशेषताएँ थीं जिनको भारतेन्दु और उनकी मण्डली ने अपने काव्य का विषय बनाया।

गदर के उपरान्त महारानी विक्टोरिया की घोषणा ने भारतीय समाज को आशान्वित कर दिया था। उनके मानस में अंग्रेजी साम्राज्य के प्रति एक आस्था थी और उत्साह था।

भारतेन्दु के काव्य में श्री अलवरत वर्णन, श्री राजकुमार सुस्वागत पत्र, विजय-वल्लरी, विजयनी-विजय, वैजयन्ती, तथा रिपनाष्टक आदि तथा प्रेमघन और अम्बिकादत्त व्यास आदि की रचनाओं में भी राजनीतिक और राजभक्ति सम्बन्धी भावनाएँ पिरोई हुई हैं :—

> प्रभु रच्छहु दयालु महरानी।
> बहु दिन जिये प्रजा-सुखदानी॥
>
> हे प्रभु रच्छहु श्री महारानी।
> सब दिशि में तिनकी जय होई।

1. डॉ० सुधीन्द्र, 'हिन्दी-कविता का क्रान्ति युग', प्रथम संस्करण १९४७, पृष्ठ २६।

रहे प्रसन्न सकल भय खोई।
राज करै बहु दिन लौं सोई।
हे प्रभु रच्छहु श्री महारानी।[1]
महरानी को पन राख्यौ निज नवल रीति बल।
परिमध-न्याय-तुला के नप राख्यौ सम दुहुँ दल॥
सब प्रजापुंज-सिर आपको रिन रहिहैं यह सर्वछन।
तुम नाम देव सम नित जपत रहिहैं हम हे श्री रिपन॥[2]
चाहत न हम कछु और दया चाहत इतनी बस।
छूटैं दुख हमरे, बाढ़ै जासों तुमरो जस॥
भारत को धन अन्न और उद्यम व्यापारहि॥
रच्छहु वृद्धि करहु साँचे उन्नति आधारहि॥
पूरन मानव आयु लहौ तुम भारत भागनि।
पूरन भारतीन की करत सकल सुख साधनि॥[3]

राष्ट्रीय चेतना के जाग्रत होने के कारण समाज अंग्रेजों के शासन में ही सुख-शान्ति की कामना करता था। अंग्रेजों के न्याय में उसे विश्वास था। शासन के क्षेत्र में भी सुव्यवस्था थी। इसके अतिरिक्त अंग्रेज पाश्चात्य विकसित विज्ञान का भारत में उपयोग कर भारतीयों को अपने प्रति आश्वस्त रखने की व्यवस्था बनाये रखने में प्रवीण भी थे। रेल, तार, डाक तथा अन्य सुविधाओं के कारण भारतवासी अंग्रेजों को अपना परम हितैषी समझते थे; किन्तु अँग्रेजों के संसर्ग के कारण देश के विद्वान, राजनीतिज्ञ और विचारक उनकी स्वार्थ-नीति को परखने लगे थे। तत्कालीन कवि-समाज ने भी समाज के इस अधःपतन के लक्षण को परखा और अपनी फब्तियाँ कसीं।

देश के इस पतन को देखकर भारतीयों में जागरण की एक नवचेतना जागी। देश की सम्पन्नता को अक्षुण्ण देखने के लिये तथा पूर्वपरिस्थिति पर आने के लिये देशभक्ति की समस्या को भी उच्च पद मिला।

---

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली', जातीय संगीत, पृष्ठ ८१३, प्रथम संस्करण, भाग २।

२. 'भारतेन्दु ग्रंथावली', द्वि० खण्ड, रिपनाष्टक, पृष्ठ ८१७ प्र० सं० १९९१ वि०, ना० प्र० सभा, काशी।

३. 'प्रेमघन सर्वस्व', प्र० खण्ड, आर्याभिनन्दन, पृ०३८७, सम्मेलन, प्रयाग, (प्रथम संस्करण—१९९६ वि०)।

निज राजा अनुसासन मन, बच करम धरत सिर।
जगपति सी नरपति में राखति भक्ति सदा थिर॥
मरे बिबुध, नरनाह सकल, चातुर गुन मण्डित।
बिगरो जन समुदाय, बिना पथ दर्शक पण्डित॥
रही सकल जग व्यापी भारत राज बड़ाई।
कौन विदेसी राज न जो या हित ललचाई॥[1]

भारतेन्दु के 'भारत दुर्दशा' नाटक में भारत की जैसी दीन-हीन दशा थी, उसका बड़ा कारुणिक चित्रण है। इस प्रकार के कारुणिक चित्रण वस्तुतः देशभक्ति की भावना को उद्दीप्त करने में सहायक थे। उपर्युक्त के समान ही सामाजिक और धार्मिक क्षेत्र में भी भारतेन्दु तथा उनकी मण्डली ने जनता के समक्ष नूतन भाव के आदर्श रखे।

काव्य के अंतरंग अंश का जहाँ तक सम्बन्ध था नवीन विषयों के समावेश ने काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना के लिये प्रेरणा अवश्य प्रस्तुत कर दी। काव्य के बहिरंग छन्द एवं भाषा आदि से अपेक्षाकृत इसके अधिक उर्वर होने पर भी, इनको स्वच्छन्दतावादी समझ लेना आवश्यक नहीं है। काव्य के बहिरंग के स्थान पर अवश्य आशातीत परिवर्तन नहीं हुए, तथापि भाषा के प्रश्न को भी सुलझाने के लिए भारतेन्दु दत्तचित्त हो चुके थे। उन्होंने खड़ी बोली का भी प्रयोग काव्य में किया, किन्तु उनके ये प्रयोग उर्दू की बह्रों ही में अधिकांशतः मिलेंगे। भारतेन्दु और उनकी मण्डली ने प्रचलित छन्दों के स्थान पर लावनी, कजली तथा अन्य लोकप्रिय छन्दों को अपना लिया। इस सम्बन्ध में प्रेमघन अपने साथियों से कहीं अधिक स्वच्छन्दतावादी और रसिक थे। भारतेन्दु ने बंगला के पयार छन्द को भी अपनाकर काव्य का नवीन रूप प्रस्तुत किया था।

विषय, भाषा और छन्दों के सम्बन्ध में यद्यपि परिवर्तन अवश्य प्रस्तुत हो चुके थे, तथापि पं० श्रीधर पाठक के 'एकान्तवासी योगी' ने परिवर्तन के इस नूतन क्षेत्र में एक नया अध्याय ही जोड़ लिया। लावनी छन्द में खड़ी बोली का प्रयोग कर कवि ने एक स्वच्छन्द प्रेम-कथा को प्रस्तुत किया। इस कथा का आदर्श रीतिकालीन प्रेम-कथाओं से भिन्न था। इससे परम्परागत रूढ़ियों के विरोध में इस रचना से स्वच्छन्दतावादी भावना का सूत्रपात हो गया।

---

१. 'प्रेमघन सर्वस्व', हर्षादर्श, पृष्ठ २६८–२६६, सम्मेलन, प्रयाग, प्रथम संस्करण १९९६ वि०।

काव्य के चिर-प्रचलित भाव और विषय आदि को बदलने का श्रेय भारतेन्दु को है, किन्तु काव्य की भाषा और छन्द आदि बदल देने का पूर्ण श्रेय महावीर-प्रसाद द्विवेदी को है। छायावाद की पृष्ठभूमि में यही वह काल था जिसने छन्द और भाषा के क्षेत्र में आमूल क्रांति उपस्थित कर दी।

भारतेन्दु के उपरान्त महावीरप्रसाद द्विवेदीजी का ही महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व है, जिसने हिन्दी-साहित्य की प्रगति को एक विशेष दिशा प्रदान की। द्विवेदी-जी ने 'सरस्वती' के सम्पादन का कार्यभार १९०२ ई० से सँभाला था। वस्तुतः इस वर्ष से ही उन्होंने हिन्दी का सुधार करना प्रारम्भ किया और गद्य तथा पद्य की भाषा को खड़ी बोली से ही विभूषित करने का प्रयत्न किया। काव्य के क्षेत्र में भी संस्कृत और मराठी के काव्य के अनुसार अन्त्यानुप्रास-विहीन काव्य रचने की प्रणाली का उन्होंने प्रचार किया और संस्कृत वृत्तों को भी अपनाने का प्रोत्साहन प्रदान किया। उपर्युक्त प्रगतियों को द्विवेदीजी द्वारा संवर्धन मिला और आदर्शस्वरूप उन्होंने प्रत्येक सिद्धान्त के लिए स्वयं की रचनाएँ भी प्रस्तुत कीं। इससे उन्हीं के नाम से इस युग का नामकरण 'द्विवेदी-युग' हुआ। द्विवेदी-युग का समय १९०० ई० से १९२० ई० तक का माना जाता है।

इस सम्बन्ध के विवेचन को अग्रसर करने से पूर्व यह समझ लेना उचित ही होगा कि द्विवेदी-युग की सामयिक परिस्थितियाँ भी वही थीं, जो भारतेन्दु-युग की थीं। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि वे परिस्थितियां अपने विकसित रूप में ही द्विवेदी-युग में उपस्थित हुईं :—

> **भारतेन्दु ने जिसकी अक्षय अमर नींव पर**
> **प्रथम शिला का गौरव स्थापित किया पूर्वतर,**
> **कुशल शिल्पि बहुविधि कीर्तिस्तम्भों से सुन्दर**
> **महिमा सुषमा जिसे दे गये स्तुत्य यत्न कर,**
> **भारत की वाणी का वह भव्योच्च सौध वर**
> **अंतर्नयनों में क्या है आचार्य, पूर्ण तर,**
> **उद्भासित हो उठा आपके दिव्य रूप धर ?**[1]

द्विवेदी-युग की प्रवृत्तियों पर विचार कर लेने से द्विवेदीजी की अन्तः-प्रेरणाओं और सेवाओं पर प्रकाश पड़ना स्वाभाविक हो सकेगा।

---

१. सुमित्रानन्दन पंत, 'युगवाणी' 'आचार्य द्विवेदी के प्रति', पृष्ठ ९३, भारती भण्डार, प्रयाग।

भाषा और वृत्तों के सम्बन्ध में आचार्य द्विवेदीजी भारतेन्दु-युग की अपेक्षा कहीं अधिक क्रान्तिकारी थे। यद्यपि इनमें परिवर्तन उपस्थित करने का सूत्रपात भारतेन्दु-युग से ही प्रारम्भ हो चुका था; किन्तु द्विवेदीजी और द्विवेदीजी के मण्डल के साहित्यकारों का इस ओर विशेष आग्रह रहा। काव्य की भाषा में अभी तक ब्रजभाषा का ही प्राधान्य था; किन्तु द्विवेदीजी ने गद्य और पद्य दोनों में ही खड़ी बोली के प्रयोग का सन्देश प्रदान किया। इसके साथ-ही-साथ अभी तक भक्तिकाल और रीतिकाल के छन्दों का ही विशेष प्रयोग होता चला आ रहा था। किन्तु द्विवेदीजी ने संस्कृत के वृत्तों को अपनाने और अन्त्यानुप्रास-विहीन काव्य रचने का आदर्श भी प्रस्तुत किया। यद्यपि द्विवेदीजी में कवि-सुलभ अधिक प्रतिभा नहीं थी, तथापि अपने दृष्टिकोण की सफलता के लिये उन्होंने स्वयं ही संस्कृत वृत्तों और खड़ी बोली में रचनाएं कीं।

सुरम्यरूपे, रसराशि रंजिते,
विचित्र वर्णाभरणे कहाँ गई?
अलौकिकानन्दविधायिनी महा—
कवीन्द्र-कान्ते, कविता अहो कहाँ?
नहीं कहीं भी भुवनान्तराल में,
दिखा पड़ै है तव रम्यरूपता।
सजीव होती यदि जीवलोक में,
कभी कहीं तो मिलती अवश्य ही॥[1]

कवि कवित्व के सम्बन्ध में सशंकित है। यद्यपि कविता की प्रगति चलती रही; किन्तु खड़ी बोली की रचनाओं का अभी प्रारम्भ ही हुआ था। इसी से कवि के जीवन में शंका का भाव विद्यमान है। उपर्युक्त पंक्तियों में 'दिखा पड़ै है' क्रियापद का प्रयोग अशुद्ध है। द्विवेदीजी का इस ओर बढ़ने का प्रयास होने पर भी इस प्रकार के प्रयोग उनकी खड़ी बोली की अपरिपक्वता ही सिद्ध करते हैं।

उन्होंने संस्कृत वृत्तों को भी अपनाया था :—

व्योमाम्बु भूमि अनिलानल तत्व माहीं।
जाकी कला कुशल व्यापक है सदा हीं।

---

१. द्विवेदी-काव्य-माला, 'हे कविते', १९०१ में सरस्वती में प्रकाशित।

विश्वेश्वरी जननि सो जग आदि माया।
राखै निरोग सब काल हमारि काया।[1]

उपर्युक्त में हमारे संस्कृत काव्य के वसंततिलका छन्द का प्रयोग है। इस दिशा में अयोध्यासिंह उपाध्याय अपने 'प्रियप्रवास' में कहीं अधिक सफल रहे हैं। भाषा में प्रवाह और सरसता का पूर्ण स्वरूप विद्यमान है :—

प्यारे आवें सुवयन कहें, प्यार से गोद लेवें।
ठंडे होवें नयन दुख हो दूर मैं मोद पाऊँ।
ए भी हैं भाव मम उर के और ए भाव भी हैं।
प्यारे जीवें जग हित करें गेह चाहे न आवें॥[2]

हरिऔधजी की पंक्तियाँ संस्कृत वृत्तों का पूर्ण साफल्य निहित किये हैं। उपर्युक्त उद्धरण में मन्दाक्रान्ता छन्द का प्रयोग है। कविता में कवि की भावनाएँ सफल रूप में विद्यमान भी हैं। 'प्रियप्रवास' के कुछेक स्थलों पर जहाँ दुरूह तत्सम पदावली का प्रयोग है, आलोचक नाक-भौं सिकोड़ा करते हैं; किन्तु उन स्थलों पर भी काव्य में प्रवाह है और एक विशेष माधुर्य है, जिसकी वे उपेक्षा कर जाते हैं। द्विवेदीजी के काव्य की अपेक्षा हरिऔधजी का काव्य अधिक सफल है। उनका 'प्रियप्रवास' खड़ी बोली का एक सुरम्य और सुदृढ़ स्तम्भ है।

देश-भक्ति की रचनाओं के सम्बन्ध में यह युग भारतेन्दु-युग की अपेक्षा अधिक सम्पन्न है। उस युग में देश-भक्ति की अपेक्षा भारतीय वाणी में राजभक्ति का अधिक समावेश था। जन-समाज को अँग्रेज़ी न्याय और सुशासन में आस्था थी। इससे देश का प्रश्न उपेक्षित ही था। १८८५ ई० में राष्ट्रीय (नेशनल) कांग्रेस की स्थापना से देश में राष्ट्रीयता को समझने की क्षमता आने लगी थी। इसी से राष्ट्रीय भाव का स्पष्ट रूप विकसित होने लगा। श्री मैथिलीशरण गुप्तजी ने अपनी 'भारत भारती' के समर्पण में ही श्रीमान् राजा रामपालसिंह जी को लिखा था कि :—

जैसा कुछ हो सका, आपका यह आज्ञापालन है, लीजै,
भारत माता की सेवा में इसे आप ही अर्पित कीजै।

---

१. द्विवेदी काव्य माला, 'देवी स्तुतिशतक', पृष्ठ १४३, इण्डियन प्रेस, प्रयाग, प्रथम संस्करण, १९४०।

२. हरिऔध, 'प्रियप्रवास', षोडस सर्ग—९१।

मेरी प्रभु से यही विनय है—स्वावलम्ब हम सबको दीजै,
मां की इस सुख-दुःख कथा से सब पुत्रों का हृदय पसीजै।[1]

अंग्रेज़ों के शासन ने अपनी विश्वासघाती नीति से हमारे देश का सर्वस्व लूट लिया। यहाँ का जन-समाज दाने-दाने के लिए तरस उठा, उसकी दिगम्बर दशा किस सहृदय को पीड़ित न करती थी! 'भारत भारती' देश के भूत, वर्तमान और भविष्य की गीता थी, जिसने लोगों के हृदय में जागृति की भावना का प्रादुर्भाव किया। 'भारत भारती' राष्ट्रीय चेतना के उद्दीपन के लिए हिन्दी की सर्वप्रथम सबल रचना रही :—

संसार रूप शरीर में जो प्राण रूप प्रसिद्ध था,
सब सिद्धियों में जो कभी सम्पूर्णता से सिद्ध था।
हा हन्त, जीते जी वही, अब हो रहा म्रियमाण है,
अब लोक-रूप-मयंक में भारत कलंक समान है।।[2]

गुप्तजी से पूर्व भारत-भूमि के सौंदर्य और उसके अतीत गौरव के सम्बन्ध में श्रीधर पाठक, रामचरित उपाध्याय तथा रामनरेश त्रिपाठी अपनी सुन्दर रचनाएँ प्रस्तुत कर चुके थे। देश की निर्धन दशा तथा कृषक-वर्ग की सब प्रकार की हीनता भी कवियों के काव्य-विषय बन चुके थे। गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही' तथा मैथिलीशरण गुप्त के काव्य इस सम्बन्ध में विशेष कारुणिक रहे :—

हो न अगर विश्वास आप गावों में जाएँ।
देखें यदि दुर्दशा कलेजा थामे आएँ।।
आती हैं नित नई सिरों पर हाय बलाएँ।
बच्चे दाबे हुए बगल में भूखी माएँ।।
भग्न हृदय है नग्न-सी खेत निराने में लगीं।
साग-पात जो कुछ मिला उसके खाने में लगीं।।[3]

देश की दीन-हीन दशा वस्तुतः बड़ी ही मार्मिक थी, जिसके चित्रण से देश के राष्ट्रीय आन्दोलन को अग्रसर करने में काफी सहयोग मिला।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, 'भारत भारती', नवम संस्करण, पृष्ठ ८४, साहित्य सदन, चिरगांव।
२. मैथिलीशरण गुप्त, 'भारत भारती', नवम संस्करण, पृष्ठ ८४, साहित्य सदन, चिरगांव।
३. सनेही, 'दुखिया किसान', सरस्वती, खण्ड १६, सं० १२,१६१८ ई०।

प्रकृति की सजीव और संवेदनात्मक रचनाएँ भारतेन्दु-युग में हुई ही नहीं। प्रकृति का जहाँ उपयोग भी है वहाँ वही चिर-प्रचलित परम्परा-पालन है। उस काल के केवल ठाकुर जगमोहनसिंह ही अपवाद हैं। उन्होंने प्रकृति को स्वतन्त्र रूप से देखकर उसका चित्रण किया है।

"यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंहजी अपनी कविता को नये विषयों की ओर नहीं ले गये, पर प्राचीन संस्कृत-काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिये हुए प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विन्ध्य प्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिन्दी-काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था।"[1]

आगे चलकर द्विवेदी-युग में इस परम्परा का श्रीधर पाठक द्वारा अनुकरण हुआ और प्रकृति के संवेदनात्मक चित्रण में वह ठाकुर साहब से कहीं आगे निकल गए :—

विजन वन-प्रान्त था प्रकृति मुख शान्त था।
अटन का समय था रजनि का उदय था॥
प्रसव के काल की लालिमा में लिसा।
बाल शशि व्योम की ओर था आ रहा॥
सब उत्फुल्ल अरविन्द-नभ नील सुविशाल।
नभ वृक्ष पर जा रहा था चढ़ा॥[2]
आजा प्यारी वसन्त सब ऋतुओं में प्यारी।
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर क्यारी॥
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाए।
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाए॥
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की।
फूल फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की॥[3]

प्रकृति का यही संवेदनात्मक वर्णन क्रमशः द्विवेदी-युग को पार करता हुआ छायावाद और रहस्यवाद-काल तक पहुँच सका है, जहाँ इसका प्रतीक शैली में सफल प्रयोग हुआ है।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५९४।
२. श्रीधर पाठक, 'सान्ध्य अटन'।
३. बालमुकुन्द गुप्त, 'वसन्तोत्सव', (रामनरेश त्रिपाठी—'कविता कौमुदी' भाग २ से)।

उपर्युक्त विषयों के अतिरिक्त तत्कालीन समाज, धर्म तथा अन्य परिस्थितियों को लेकर भी रचनाएँ की गई थीं :—

उपदेशक लोग लूटते हैं, कटुभाषण-वाण छूटते हैं,
हित साधन हा न सूझते हैं, जड़ जाल पसार जूझते हैं।
कच लम्पट पेट के पुजारी विषयी बन बाल ब्रह्मचारी।
मुख से सब 'सोहमस्मि' बोले, तन धार अनेक ब्रह्म डोले।[1]

शंकर जी पर आर्य-समाज का विशेष प्रभाव था। इससे धर्म के नाम पर जो भी आडम्बर फैल रहा था तथा अनाथ और विधवाओं पर जो भी मर्यादा के पालन से अत्याचार और अनाचार था, इन सभी की उन्होंने बड़ी ही कड़ी आलोचनाएँ कीं।

उपर्युक्त दोनों ही युगों की जो भी स्थूल प्रवृत्तियाँ थीं उनका केवल संकेत मात्र कर उन पर प्रकाश डाल दिया गया है। आलोच्य विषय के अन्तर्गत दोनों युगों का विशद विवेचन भी आगे के पृष्ठों में मिलेगा। इनमें भारतेन्दु-युग से द्विवेदी-युग अधिक प्रशस्त और विकासशील रहा। द्विवेदी-युग में इतिवृत्तात्मक तथा अन्य लौकिक स्थूल विषयों के समावेश के कारण उसकी प्रतिक्रिया अवश्यंभावी थी। द्विवेदी-युग में ही काव्य के सूक्ष्म रूप का चित्रण होने लगा था।

यह स्वच्छन्द नूतन पद्धति (खड़ी बोली काव्य को अधिक कल्पनामय, चित्रमय और अन्तर्भावव्यंजक रूप-रंग देने की प्रवृत्ति) अपना रास्ता निकाल ही रही थी कि श्री रवीन्द्रनाथ की रहस्यात्मक कविताओं की धूम हुई और कई कवि एक साथ 'रहस्यवाद' और 'प्रतीकवाद' या 'चित्रभाषावाद' को ही एकान्त ध्येय बनाकर चल पड़े। 'चित्रभाषा' या अभिव्यंजन-पद्धति पर ही जब लक्ष्य टिक गया तब उसके प्रदर्शन के लिए लौकिक या प्रेम का क्षेत्र ही काफी समझा गया। इस बँधे हुए क्षेत्र के भीतर चलने वाले काव्य ने 'छाया-वाद' का नाम ग्रहण किया।[2]

इस स्थल पर आचार्य शुक्लजी ने छायावाद के जिस स्वरूप को इंगित किया है, तत्सम्बन्धी हम अपना दृष्टिकोण व मत आगे के पृष्ठों में स्पष्ट करेंगे।

---

१. नाथूराम शर्मा शंकर, 'शंकर सर्वस्व', पृष्ठ २५३, प्रथमावृत्ति २००८, गयाप्रसाद एण्ड संस, आगरा।

२. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृ० ६६७

आचार्य शुक्ल के इतिहास में विशेष महत्ता प्राप्त युग

रीति और आधुनिक दोनों युगों के मध्य में भारतेन्दु एक कड़ी हैं। उनकी प्रतिभा एवं भावधारा को ही यह श्रेय है कि प्रथम विश्राम उपलब्धि करने लगता है और द्वितीय नवीन भावधारा और वैविध्य को लेकर एक उमंग के साथ जीवन का अनुभव कर अग्रसर हो उठता है।

राजा लक्ष्मणसिंह एवं राजा शिवप्रसाद 'सितारे-हिन्द' हिन्दी-गद्य को लेकर जो गंगा-जमुनी बहा रहे थे, उनके मध्य में मध्य मार्ग की सरस्वती लेकर भारतेन्दु ने हिन्दी का बड़ा उपकार किया। उन्होंने गद्य को प्रगतिशील बनाया और पद्य में भी खड़ी बोली का सम्मिश्रण कर और उसे नवीन विषयों की ओर मोड़कर उसे स्वच्छन्द मार्ग पर चलने के लिए जीवन प्रदान किया। भाग्य से उनके सहयोगी भी ऐसे मिले जो उनके इंगित पर इस साहित्यिक महत्ता को समझ सके। हास्य एवं वीररसों के आलम्बन आदि भी अपनी नवीन छटा के साथ काव्य में प्रचलित हुए।

"इस नई धारा की कविता के भीतर जिन नये-नये विषयों के प्रतिविम्ब आए वे अपनी नवीनता से आकर्षित करने के अतिरिक्त नूतन परिस्थिति के साथ हमारे मनोविकारों का सामंजस्य भी घटित कर चले। काल-चक्र के फेर से जिस नई परिस्थिति के बीच हम पड़ जाते हैं उसका सामना करने योग्य अपनी बुद्धि को बनाये बिना जैसे कवि नहीं चल सकता वैसे ही उसकी ओर अपनी रागात्मिका वृत्ति को उन्मुख किए बिना हमारा जीवन फीका, नीरस, शिथिल और अशक्त रहता है।"[1]

वस्तुतः उपर्युक्त सुयोग ने हिन्दी-काव्य में एक नवीन प्रगति का प्रचार किया। इस समय के नवीन विषय और भाव नवीन विधान का आश्रय लेकर चले। वीरगाथा, भक्ति एवं रीति-युगों के काव्य के कथानक इतिहास और पुराणों से लिये गये थे और उनका वर्णन छप्पयों, सवैयों, पदों एवं घनाक्षरियों आदि छन्दों में किया गया था। इस नवीन उत्थान में विषयों के अनुसार छन्द के विधान भी बदले और विषयों में जो प्रबन्धात्मकता का अंश रहा वह अधिकांशतः भावात्मक ही था या उनके विषय हमारे समीप के सामाजिक थे।

"विषयों की अनेकरूपता के साथ-साथ उनके विधान का भी ढंग बदल

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', 'नई धारा', प्रथम उत्थान, पृ० ५८८।

चला। प्राचीन धारा में मुक्तक और प्रबन्ध की जो प्रणाली चली आती थी उससे कुछ भिन्न प्रणाली का भी अनुसरण करना पड़ा।"[१]

भाषा का प्रश्न भी हिन्दी के समक्ष उपस्थित हुआ। अभी तक काव्य में ब्रजभाषा का ही प्राधान्य रहा; परन्तु जब गद्य में खड़ी बोली का स्वागत किया गया तब पद्य भी अछूता न रह सका। भारतेन्दु एवं उनके साथियों ने खड़ी बोली का पद्य में सफल प्रयोग किया। नवीन धारा के प्रथम उत्थान तक हम देखते हैं कि श्रीधर पाठक खड़ी बोली में अपना 'एकान्तवासी योगी' काव्य प्रस्तुत कर चुके थे।

सुनिये झाड़खण्ड बनवासी, दयाशील हे वैरागी।
करके कृपा बतादे मुझको कहाँ जले है वह आगी॥
मैं भटका फिरता हूँ बन में भूल गया हूँ राह।
तू जो मुझे वहाँ पहुँचादे यह गुण होय अथाह॥
निपट अकेला भ्रान्त चित्त अति थकित मन्द गति फिरता हूँ
विकट असीम महा जंगल में परिभ्रमण मैं करता हूँ
ज्यों-ज्यों आगे धरता हूँ पग अन्तरहित यह देश
बढ़ता ही जाता है प्रति पद दीर्घ विशेष विशेष।[२]

इस प्रकार काव्य की यह नवीन प्रगति हिन्दी के उस युग में बड़ी ही आशा-जनक रही। भाषा का वैषम्य आदि मिट चला। काव्य जो अब तक हमारे मनोविनोद का साधन था और जिसमें नवीन सूक्तियों का खिलवाड़ ही पसन्द किया जाता था, स्वाभाविकता को अपनाकर चल उठा। उसमें हमें अपने अपनत्व के प्रथम बार दर्शन हुए।

इस प्रकार आलोच्य काल संक्रान्ति-युग के उपादानों का संवहन करता हुआ एक विशेष दिशा की ओर उन्मुख होने के कारण विशेष महत्वपूर्ण है।

आचार्य शुक्ल द्वारा श्रीधर पाठक की मान्यता

हिन्दी काव्य में विषय-सम्बन्धी नूतनता लाने का श्रेय भारतेन्दु को है। भाषा-विषयक प्रगति को वह वस्तुतः आगे नहीं ले जा सके। इस सम्बन्ध में श्रीधर पाठक ने काव्य का नूतन मार्ग प्रदर्शन किया। काव्य की नई धारा

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नई धारा, प्रथम उत्थान, पृष्ठ ५८९

२. श्रीधर पाठक, 'एकान्तवासी योगी', पृष्ठ १–२

(१८६८ ई०–९३ ई०) के मध्य में श्रीधर पाठक अपना 'एकान्तवासी योगी' प्रस्तुत कर चुके थे। इस काव्य की शैली की तो विशेषता थी ही, भाव-विषयक विशेषता भी कम महत्वपूर्ण नहीं रही :—

"उसकी (एकान्तवासी योगी) सीधी-सादी खड़ी बोली और जनता के बीच प्रचलित लय ही देखने योग्य नहीं है, किन्तु उसकी कथा की सार्वभौम मार्मिकता भी देखने योग्य है।

"सीधी-सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिए ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पण्डितों की बँधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।"[१]

इस प्रकार युग की अवस्था के अनुसार 'एकान्तवासी योगी' के अनुवाद को लावनी छन्द में प्रस्तुत करना पाण्डित्य शैली से परे साधारण जनता की मानसिक भावधारा के अनुकूल था। मूलतः इसके द्वारा काव्य में नवीन आदर्श उपस्थित हो गया और काव्य में स्वच्छन्दतावाद का मार्ग भारतेन्दु-युग से अधिक प्रशस्त हो उठा।

"जब-जब शिष्टों का काव्य पण्डितों द्वारा बंधकर निश्चेष्ट और संकुचित होगा तब-तब उसे सजीव और चेतन प्रसार देश की सामान्य जनता के बीच स्वच्छन्द बहती हुई प्राकृतिक भावधारा से जीवन-तत्व ग्रहण करने से ही प्राप्त होगा।"[२]

पाठक जी की अन्य रचनाएँ भी इस स्वच्छन्दतावादी धारा में प्रगति उत्पन्न करती हैं, जिनका प्रतिपादन उनके काव्यों की विवेचना से व्यक्त हो सकेगा। पाठक जी की इस प्रकार की भावधारा के कारण ही आचार्य शुक्ल उन्हें हिन्दी का प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि ठहराते हैं :—

"हरिश्चन्द्र के सहयोगियों में काव्यधारा को नये-नये विषयों की ओर मोड़ने की प्रवृत्ति तो दिखाई पड़ी पर भाषा ब्रज ही रहने दी गई और पथ के ढाँचों, अभिव्यंजना के ढंग तथा प्रकृति के स्वरूप-निरीक्षण आदि में स्वच्छन्दता के दर्शन न हुए। इस प्रकार की स्वच्छन्दता का आभास पहले-पहल पं० श्रीधर

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नई धारा, द्वितीय उत्थान, पृष्ठ ६००।

२. " " नई धारा, द्वितीय उत्थान, पृष्ठ ६०१।

पाठक ने ही दिया। उन्होंने प्रकृति के रूढ़िबद्ध रूपों तक ही न रहकर अपनी आँखों से भी उसके रूपों को देखा।"[1]

काल-निर्धारण

१८७५ ई० से १९२५ ई० तक के मध्य का ५० वर्ष का काल आधुनिक युग में हिन्दी की साहित्यिक प्रगति के लिए बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है। १८५७ ई० का गदर, अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति तथा निर्धनता के कारण देश की जर्जरता ने साहित्य को नूतन दिशाओं की ओर उन्मुख किया। इस नूतन परिवर्तन काल में भारतेन्दु-युग ने १९०० ई० तक साहित्य-क्षेत्र का नेतृत्व किया। भारतेन्दु जी ने मौलिक साहित्यकार के रूप में गर्व करने के लिए हिन्दी को बहुत कुछ प्रदान किया। अन्य साहित्यकार जो उनके संसर्ग में आए भी उनकी प्रेरणा से साहित्य-क्षेत्र में प्रवृत्त हुए। भारतेन्दु-युग में वस्तुतः प्राचीन और नवीन युग का सुन्दर समन्वय है। भारतेन्दु-युग के उपरान्त द्विवेदी-युग का पदार्पण होता है। इस युग का प्रतिनिधित्व आचार्य प्रवर पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने किया। भारतेन्दु-युग की साहित्यिक प्रवृत्तियाँ इस युग में निस्संदेह अधिक विकासशील हैं। बाबू अयोध्याप्रसाद खत्री और द्विवेदी जी ने खड़ी बोली के लिए जो चेष्टाएँ की थीं, उससे खड़ी बोली को काव्य और साहित्य-क्षेत्र में सामान्य प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। मूलतः द्विवेदी जी सुधारक और नीतिवादी थे। फलतः भाषा का सुधार और साहित्य-क्षेत्र में अन्य प्रयोग सफलता से हुए। इन विशेषताओं के साथ काव्यगत इतिवृत्तात्मकता का प्राधान्य द्विवेदी-युग की समाप्ति (१९२० ई०) तक रहा। अनन्तर इस युग की प्रवृत्तियों की प्रतिक्रिया १९२५ ई० से छायावादी काव्य द्वारा हुई।

काव्य-विमर्श के दृष्टिकोण से काव्य की प्रगति में भी क्रान्तिकारी परिवर्तन उपस्थित हुए। काव्य के शास्त्रीय प्रवाह के साथ स्वच्छन्दतावादी प्रवाह भी अग्रसर हुआ। यद्यपि स्वच्छन्दतावादी प्रवाह के समक्ष व्यवधान भी आए; किन्तु यह धारा भी अपना अस्तित्व सुरक्षित किये ही रही। पं० श्रीधर पाठक स्वच्छन्दतावादी क्षेत्र के सर्वश्रेष्ठ अग्रदूत थे। उनके द्वारा कितनी ही स्वच्छन्दतावादी रचनाएँ प्रस्तुत की गईं। इसके अतिरिक्त अन्य लोगों ने भी उनके मार्ग का अनुसरण कर स्वच्छन्दतावादी साहित्य का निर्माण किया।

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', नई धारा, द्वितीय उत्थान, पृष्ठ ६०३।

भारतेन्दु के पूर्व तक रीति और भक्ति-समन्वित काव्य का अबाध निर्माण हो रहा था। आदर्शों में अणुमात्र भी परिवर्तन नहीं हुए थे; किन्तु जैसा निवेदन किया जा चुका है कि भारतीय विद्रोह (१८५७ ई०) और अंग्रेजों की स्वार्थ-नीति से भारतीय समाज की सुषुप्त चेतना को ही आघात नहीं लगा; किन्तु साहित्य-क्षेत्र में भी नवीन स्फूर्ति की जाग्रति हुई। उसके अन्तर्गत काव्य ने भी नवीन दिशाओं की ओर अग्रसर होना प्रारम्भ कर दिया, जिससे प्राचीन काव्य-परम्परा के साथ ही कवि ने नवीन भाव और विषय अपनाए तथा अपने चारों ओर के विषयों को भी कविता के विषय बनाने के लिए प्रेरणाएँ लीं। हिन्दी का युगोपरान्त यह प्रथम सौभाग्य था। अब हमारे कवि परम्परागत भावों और विषयों की निधि त्यागकर आगे बढ़े।

इस ओर वे विभूतियाँ ही अग्रसर हुईं जिन्हें अपने देश के प्रति ममत्व था और जो देश की पराधीनता, निर्धनता तथा अंग्रेजों के बढ़ते हुए स्वार्थ से मर्माहत थे। उनके कवि-हृदय की वाणी प्रस्फुटित हो उठी। भारतेन्दु इस प्रकार के ही आदर्श साहित्यिक और देशभक्त थे। उनकी वाणी से प्राचीन परम्परानुकूल काव्य के साथ ही देशभक्ति, समाज, मातृभाषा तथा अन्य सुधारों के नवीन विषय भी प्रस्फुटित हुये जिनसे भारत में नव ज्योति की किरणें फूट उठीं।

"भारतेन्दु-युग में देश के शासक बदल गए थे; किन्तु जीवन और इतिहास मध्य-युग का ही था। कला भी पुरानी थी, ब्रजभाषा और संस्कृत के संपर्क में एक प्रकार से भारतेन्दु-युग पिछले संसार का ही हिन्दी-रूपान्तर था। आधुनिक काल तो तब नवजात शिशु मात्र था। इस शिशु का ज्यों-ज्यों आत्म-विस्तार होता गया त्यों-त्यों साहित्य का उससे भी परिचय होता गया, उसके मंगल-अमंगल का बोध होता गया। आधुनिक काल के प्रथम बोध में साहित्य में जितनी नवीनता सम्भव थी, भारतेन्दु-युग ने अपनी प्राचीन परिधि में उसे भी ग्रहण किया। यों कहें, भारतेन्दु-युग एक आधुनिक क्लासिकल युग था।"[1]

भारतेन्दु का काव्य-मंदिर इस प्रकार मध्य-युग की विचारधाराओं की शिलाओं पर निर्मित था, जिस पर नवीन विचार तथा विधान-विषयक आड़ी-बेड़ी रेखाओं के चित्र अंकित हो गए थे। प्राचीन के साथ नवीन का यह समावेश ही काव्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों की ओर इंगित करता है। ये

१. श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी, 'युग और साहित्य', पृष्ठ १२ (इण्डियन प्रेस, प्रयाग) १९४१।

प्रवृत्तियाँ विषयों, छन्दों तथा भाषा के क्षेत्र में अंकुरित हो रही थीं। ये प्रवृत्तियाँ काव्य को मानवीय लोक-भूमि पर लाने की प्रेरणाएँ दे रही थीं।

विषय और काव्य-विधान के दृष्टिकोण से भारतेन्दु और उनके युग के कलाकारों की रचनाओं के दो विभाजन सरलतापूर्वक हो सकते हैं। प्रथम के अन्तर्गत विगत शृंखला से क्रमबद्ध शृङ्गार तथा भक्तिपरक शास्त्रीय रचनाएँ और द्वितीय के अंतर्गत राष्ट्रीय तथा तद्विषयक स्वच्छन्दतावादी कृतियाँ।

"इन्होंने (भारतेन्दु ने) अभावों की व्यष्टिगत वेदना को राष्ट्रीय व्यापकता दी। जाति और सम्प्रदायगत दुःखों को समूचे देश की असहनीय समस्या का रूप दिया। अपनी वर्त्तमान हेय अवस्था के प्रति जनता के हृदय में असंतोष उत्पन्न करने वालों के भारतेन्दु अग्रणी हुए। भारत की उस दयनीय स्थिति की ओर सारे देश की जनता का ध्यान आकृष्ट करना उनकी वाणी का एक मुख्य वैभव रहा, उनकी इस विशेषता की ओर लोगों ने कम ध्यान दिया है। शताब्दियों का हृत दर्प पराजित जाति के हृदय में स्वाभिमान की चेतना और जीवन की स्फूर्ति भरने वाले तथा काव्य-क्षेत्र में देशानुराग, मातृभाषा-भक्ति और राष्ट्रीय-प्रेम की नई भावनाओं को ओज एवं गति देने वाले पहले कवि। सच्चे अर्थ में पहले राष्ट्रकवि भारतेन्दु ही हैं।"[१]

नवीन विषयों के क्षेत्र में देशभक्ति का स्वर बड़ा ही उच्च था। भारतेन्दु-युग में भारतेन्दु जी एवं अन्य प्रमुख कवियों के द्वारा यह बड़ी सफलता से उच्चरित हुआ। इस युग में देश, समाज, धर्म तथा संस्कृति में जहाँ कहीं कवियों द्वारा अभाव परिलक्षित हुए उन्होंने कारुणिक ढंग से उनका चित्रण किया। राजभक्ति की भावनाएँ भी भारतेन्दु एवं अन्य कवियों के काव्यों में उपलब्ध होती हैं। इस प्रकार की भावनाओं का देश की चेतना के साथ अपना महत्व है। वह भारतीयों की परम्परागत राजनिष्ठा के परिणामस्वरूप थीं। इन्हें देशद्रोही भावना इसलिए न कहा जाएगा क्योंकि अभी तक देशभक्ति के अंकुर फूट भी न सके थे।

भारतेन्दु ने नवीन विषयों के साथ भाषा के स्वरूप को भी परिवर्तित करने का सूत्रपात कर दिया था। यह अवश्य सत्य है कि इस सम्बन्ध की प्रमुखता

---

१. श्री राजेन्द्रनारायण शर्मा, 'राष्ट्रीय चेतना के प्रवर्तक कवि भारतेन्दु'—'भारतेन्दु जन्म-शती अंक', नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ५५, सं० २००७, अंक १–२।

द्विवेदी-युग की सजीवता थी। 'दशरथ-विलाप' में ही भारतेन्दु ने खड़ी बोली का सफल प्रयोग किया था।

कहाँ हो ऐ हमारे राम प्यारे। किधर तुम छोड़कर हमको सिधारे।
बुढ़ापे में ये दुख भी देखना था। इसी के देखने को मैं बचा था।

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु जी ने अपनी उर्दू की कविता में भी खड़ी बोली के प्रयोग किए हैं। भारतेन्दु के अतिरिक्त उनके समकालीन प्रेमघन जी ने भी खड़ी बोली को काव्य की अभिव्यंजना का विषय बनाया था।

चला चल चरखा तू दिन रात।
चलता चरख बनाता निसदिन ज्यों ग्रीषम बरसात॥
मन मन मंत्र जपाकर मन में सुन न किसी की बात।
कात कात कर सूत मेनचिस्टर को कर दे मात॥[1]

इस प्रकार खड़ी बोली में कविता का सूत्रपात हो गया था। भारतेन्दु तथा उनके साथियों ने खड़ी बोली के नवीन पदों का प्रयोग भी प्रारम्भ कर दिया था। छन्दों के सम्बन्ध में भी भारतेन्दु ने स्वच्छन्दता का प्रदर्शन किया था। उनका भक्ति तथा रीति-काव्य वही प्राचीन छन्द-पद्धति पर आधारित है; किन्तु भारतेन्दु और उनके साथियों ने नवीन छन्दों को भी अपनाया और साधारण जन-समाज में प्रचलित लोक-छन्दों को भी अपनाया। भारतेन्दु ने अपने 'प्रात समीरन' (१८७४ ई०) में बंगला के पयार छन्द का सफल प्रयोग किया है :—

मन्द मन्द आवै देखो प्रात समीरन,
करत सुगन्ध चारों ओर विकीरन,
गात सिहरात तन लगत सीतल,
रैन निद्रालस जन सुखद चंचल॥

◇ ◇ ◇

प्रलय पीछे सृष्टि सम जगत लखाय,
मानो मोह बीत्यो भयो ज्ञानोदय आय।
प्रात-पौन लागे जाग्यो कवि 'हरिचंद',
ताकी स्तुति करि कहौ यह बंग छन्द॥[2]

इसके अतिरिक्त भारतेन्दु ने कितने ही उर्दू के छन्दों तथा लावनी आदि लोक-प्रचलित छन्दों को अपनाया था। प्रेमघन जी ने विविध प्रकार की

---

१. प्रेमघन सर्वस्व भाग १, 'चरखे की चमत्कारी', पृष्ठ ६३२।
२. भारतेन्दु ग्रन्थावली भाग २, 'प्रात समीरन', पृष्ठ ६८६-६८९।

'कजली', 'ख्याल', 'लावनी' तथा प्रचलित संगीत-प्रणाली में भी अपनी रचनाएँ प्रस्तुत की थीं।

उपर्युक्त के सम्बन्ध में विशद विवेचन आलोच्य विषय के अन्तर्गत ही सन्निहित है। इससे यहाँ पर भारतेन्दुयुगीन स्वच्छन्दतावाद का संक्षिप्त विवरण ही अपेक्षित है। विषय, भाषा तथा छन्द आदि सभी ही क्षेत्रों में भारतेन्दु और उनके साथियों ने नूतन भावनाओं और विधानों को अपनाकर काव्य को लोक-भूमि पर अवतरित करके हमारी दैनिक समस्याओं का चित्र खींचा। इस प्रकार स्वच्छन्दतावाद के लिए इन लोगों ने एक पृष्ठभूमि तैयार कर दी।

"भारतेन्दु ने प्रकृति-चित्रण भी किया है। किन्तु स्वच्छन्द रूप में प्रकृति की संवेदनशीलता का अनुभव करके नहीं। भारतेन्दु तथा ठाकुर जगमोहन सिंह, श्रीधर पाठक एवं राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के प्रकृति-चित्रणों में महान् अन्तर है।

"भारतेन्दु ने हिन्दी काव्य को केवल नये-नये विषयों की ओर ही उन्मुख किया। उसके भीतर किसी नवीन विधान अथवा प्रणाली का सूत्रपात नहीं किया। दूसरी बात उनके सम्बन्ध में ध्यान देने की यह है कि वे केवल 'नर प्रकृति' के कवि थे। बाह्य प्रकृति की अनन्तरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता।"[1]

भारतेन्दु के 'सत्य हरिश्चन्द्र' नाटक में 'गंगा-वर्णन' तथा चन्द्रावली नाटिका में 'यमुना-वर्णन' अवश्य आए हैं; किन्तु इनमें भी परम्परागत पद्धति ही अधिक है।

भारतेन्दु के उपरान्त ठाकुर जगमोहनसिंह ने प्रकृति का स्वच्छन्द निरीक्षण कर उसे उद्दीपन-क्षेत्र के बाहर प्रतिष्ठित किया। भाषा के प्रश्न में ठाकुर साहब ब्रजभाषा के अनुयायी ही थे। खड़ी बोली उनके समक्ष प्राण-प्रतिष्ठा न प्राप्त कर सकी थी। यदि खड़ी बोली उनके काव्य का आधार हो पाती तो इसमें सन्देह नहीं कि ठाकुर साहब का अपना स्थान प्रकृति-चित्रण के क्षेत्र में सर्वोपरि होता। तथापि उनका प्रकृति-प्रेम उसी प्रकार का रहा जिस प्रकार वर्ड्सवर्थ अथवा वाल्टर स्कॉट का था। इस प्रकार उनकी काव्योपासना में भी स्वच्छन्दतावादी धारा का सम्पोषण होता रहा।

इस सन्धि-युग में जब काव्य अपनी निश्चित दिशा के शोध में दत्तचित्त था और उसके अभिभावक विविध प्रकार के प्रयोग उस पर कर रहे थे तब

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५६०।

श्रीधर पाठक स्वच्छन्दतावादी काव्य के महाप्रणेता के रूप में हिन्दी-विश्व के समक्ष अवतरित हुए। उन्होंने प्रमुखरूपेण खड़ी बोली को अपने काव्य में प्रयुक्त किया और काव्य की अब तक की प्रचलित शास्त्रीय पद्धति की अवहेलना कर काव्य में स्वच्छन्दतावाद को प्रोत्साहन दिया। इस सम्बन्ध में उन्हें अंग्रेजी काव्य के ऑगस्टन-युग (Augustan Period) तथा रोमांटिक नवोन्मेष (Romantic Revival) के मध्य के सन्धि-युग की काव्यगत प्रवृत्तियों से अत्यधिक प्रेरणाएँ मिलीं। इस सन्धि-काल के ही स्वच्छन्दतावादी कलाकार गोल्डस्मिथ का पाठक जी पर बड़ा ही प्रभाव पड़ा और सर्वप्रथम १८८६ में उन्होंने गोल्डस्मिथ के Hermit नामक खण्डकाव्य का 'एकान्तवासी योगी' के नाम से खड़ी बोली में प्रचलित लावनी छन्द में अनुवाद कर डाला। वस्तुतः इस काव्य से ही हिन्दी काव्य की स्वच्छन्दतावादी धारा का प्रारम्भ हो गया। कालान्तर में उन्होंने गोल्डस्मिथ के अन्य काव्यों का अनुवाद किया। इन अनुवादों के अतिरिक्त भी उन्होंने अपनी निजी प्रतिभा का परिचय अपने स्वतन्त्र काव्यों द्वारा भी कराया। 'एकान्तवासी योगी' का प्रेमपरक वायुमंडल और सरल उपर्युक्त स्वच्छन्द भावना, जिसका विवेचन पाठक जी के काव्यों से उद्धृत अंशों द्वारा किया जाएगा, पाठक जी के जीवन-पर्यन्त (१९२८ ई०) तक प्रवाहशालिनी रही। पाठक जी अपने काव्य में ही नहीं अपने गद्य में भी स्वच्छन्दतावादी रहे। वह अपनी रचनाओं में ही नहीं अपने व्यावहारिक जीवन में भी इस पन्थ के पथिक रहे। युगों-युगों से रूढ़ियों में आबद्ध नारी के स्वतन्त्र अस्तित्व के वह पूर्ण अनुयायी थे। वस्तुतः उनके सम्पूर्ण साहित्य और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में स्वच्छन्द भावना का समावेश था, जिसका विशद विवेचन आगे के पृष्ठों में किया जाएगा।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्ण स्पष्ट है कि पाठक जी भारतेन्दु-युग की समाप्ति तक खड़ी बोली के काव्य में अपना स्थान निर्मित कर चुके थे। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि भारतेन्दु ने जिन सामयिक परिस्थितियों से प्रभावित हो अपने काव्य को नवीन दिशाओं की ओर मोड़ा, पाठक जी ने उस मार्ग को प्रशस्त किया। भारतेन्दु की भक्ति और रीति की पद्धति जो उनमें तथा उनके सामयिक कवियों में प्राण-प्रतिष्ठा प्राप्त किए रही, उसको रत्नाकर जी ने अपनी शास्त्रीय भावनाओं द्वारा सजीव रखा। रत्नाकर जी अपरिवर्तनकारी कवि थे। इससे उनके काव्य का टेकनीक भी वही प्राचीन ही रहा। पाठक जी का काव्य यद्यपि खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रजभाषा में अधिक

है तथापि उनका उद्देश्य खड़ी बोली को ही सम्पन्न और नवीन विषयों से समाविष्ट करने का ही प्रतीत होता है। इससे रत्नाकर जी और पाठक जी के विचारों में पर्याप्त अन्तर है। प्रथम शास्त्रीय पक्ष के अधिनायक हैं तो द्वितीय स्वच्छन्दतावादी के।

पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी के 'सरस्वती' में आगमन से पूर्व ही पाठक जी खड़ी बोली में नवीन विषयों पर रचनाएँ कर चुके थे। इस प्रकार द्विवेदी जी के काव्यक्षेत्र में उतरने पर खड़ी बोली के साफल्य के लिए पाठक जी एवं द्विवेदी जी दो प्रमुख विभूतियाँ थीं। काव्य-क्षेत्र का एक क्षेत्र होते हुए भी पाठक जी तथा द्विवेदी जी विषय एवं उनके विधान के सम्बन्ध में वैषम्य रखते थे। द्विवेदी जी में नीतिवादिता, इतिवृत्तात्मकता, उपदेश-भावना एवं काव्य-विधान के सम्बन्ध में संस्कृत के वृत्त तथा वही प्राचीन अभिव्यंजना शैली थी। पाठक जी में स्वच्छन्दता की पूर्ण सामग्री थी। विषयों के क्षेत्र में उनकी वैयक्तिकता एवं स्वच्छन्द भावना (काश्मीर-सुषमा) अधिक मुखर हो गई। छन्द आदि के लिए उनका द्विवेदी जी के समान कोई आग्रह नहीं रहा। उनके द्वारा लोक-प्रचलित छन्द एवं सरल तथा सरस भाषा का प्रयोग किया गया।

इन दोनों गुरुओं के अखाड़ों में दो प्रकार के शिष्य भी उतरते हैं। जयशंकर 'प्रसाद' एवं मैथिलीशरण गुप्त। प्रसाद जी ने पाठक जी की प्रवृत्तियों का आधार लेकर स्वच्छन्दतावाद को आगे बढ़ाया और गुप्त जी ने अपने आचार्य के वरद हस्त के संकेत पर काव्य का शास्त्रीय मार्ग अपनाया। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व भाषा आदि के निर्माण के कारण विशेष रूप से प्रशस्त था और सर्व-ग्राह्य भी था। इससे पाठक जी की स्वच्छन्द परम्परा के अनुयायियों पर भी बिना प्रभाव पड़े नहीं रहा। इससे तत्कालीन युग का नामकरण ही 'द्विवेदी-युग' हुआ।

द्विवेदी-युग में स्वच्छन्दतावादिता की प्रगति स्पष्टरूपेण देखी जा सकती है। १६०० ई० से १६२५ ई० तक हिन्दी काव्य पर आचार्य द्विवेदी जी की भावनाओं का पूर्ण एकाधिपत्य था। १६२५ ई० के उपरान्त छायावाद और रहस्यवाद तीव्र गति से प्रवाहित हो उठे। इस युग पर गान्धी-रवीन्द्र की विचार-धाराओं का भी प्रभाव था तथा पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन से भी नवीन प्रवृत्तियों का सन्निवेश हुआ।

इस पच्चीस वर्षों के समय को सरलतापूर्वक हम दो भागों में विभाजित कर सकते हैं। (१) १६०० ई० से १६१६ ई० तक की काव्यप्रगति जिसमें

शैली-विषयक शैथिल्य-परित्याग का प्रयास किया गया और नवीन विषयों के प्रयोग किये गये। (२) १६१६ ई० से १६२५ ई० तक का काव्योत्कर्ष काल जो पाश्चात्य आदर्श और काव्य के सिद्धान्तों पर आधारित रहा।

(१) प्रथम १६ वर्ष के समय में अभ्यासस्वरूप खड़ी बोली को व्याकरण आदि से अनुशासित कर साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र में उपयोग के अनुकूल बनाने का प्रयत्न किया गया। सर्वप्रथम इसका प्रयोग गद्य-क्षेत्र में किया गया। अनुवादित उपन्यासों, नाटकों एवं गोपालराम गहमरी, किशोरीलाल गोस्वामी, रामचन्द्र शुक्ल एवं बंग महिला की कहानियों में इसका शुद्ध रूप निखर आया। कालान्तर में कवियों ने भी गद्य को पद्य में स्थान देने का सफल प्रयोग किया। उन्होंने अपनी शैली को भी गद्यात्मक (Prosaic) कर लिया। रीतिकालीन काव्य की शृंगार की भौतिक अभिव्यक्ति, अलंकार-बहुलता तथा रससिद्धि के कृत्रिम प्रयास—इन सभी की उपेक्षा कर दी गई।

यह सुन्दरी कहाँ से आई, सुन्दरता अति अद्भुत पाई।
सूरत इसकी अति भोली है, और न इसकी हमजोली है।
इसका चरित बाण ने गाया, जिसने कादम्बरी बनाया।
यह कोमल किन्नर-कन्या है, रूप-राशि गुण-गण धन्या है॥[1]

कवि को केवल विषय-प्रतिपादन की ही चिन्ता है। वह सरलतापूर्वक सरल गद्य में ही संगीतात्मक लय देकर अग्रसर होता जाता है। उसमें अन्य काव्य-गुण भरने का किसी प्रकार का आग्रह नहीं है।

१६०८ ई० के उपरान्त से ही काव्य के क्षेत्र में सुव्यवस्था का समय आने लगता है। इस समय उनके समक्ष दो आदर्श प्रस्तुत थे। (१) संस्कृत काव्य में प्रयुक्त भावधारा और आदर्श तथा (२) पाश्चात्य काव्य की भावधारा एवं उनके विधान एवं आदर्श।

हिन्दी के कवि एवं विद्वान् इस समय दोनों भावधाराओं के सम्मिश्रण से अपनी रचनाओं को सुशोभित करते थे। श्रीधर पाठक एक ओर संस्कृत काव्य पर आसक्त हो कालिदास के 'ऋतु संहार' से प्राच्य आदर्श काव्य में प्रसूत कर रहे थे :—

वारि फुहार भरे बदरा,
सोइ सोहत कुंजर हैं मतवारे।

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'द्विवेदी काव्यमाला' महाश्वेता, पृष्ठ ३७६।

बीजुरी जोति धुजा फहरे,
घन गर्जन शब्द सोई हैं नगारे।
रोर को घोर को ओर न छोर,
नरेसन की सी छटा छवि धारे।
कामिन के मन को प्रिय पावस,
आयो प्रिये नव मोहिनी डारे॥[1]

दूसरी ओर :—

'Far far away, thy children leave the land
Ill fairs the land, to hastening ills a prey,
Where wealth accumulates and men decay
Princes and lords may flourish or may fade.
A breath can make them as a breath has made
But a bold peasantary, their country's pride
When once destroyed, can never be supplied.[2]

धन वैभव जहँ बढ़त प्रजा छीजत जहँ जाई
नहिं मंगल तेहि भूमि अमंगल नित नियराई
कुमर और उमराय बने बिगरे कछु नाहीं,
फूँक माहिं वे बनत, फूँक ही सों मिट जाहीं
पै दृढ़ कृषक समाज देस को सांचौ गौरव
नास भये एक बार फेरि उपजन नहिं संभव।[3]

उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा अंग्रेजी-काव्य का हिन्दी-काव्य में रूपान्तर भी कर रहे थे।

यद्यपि रामचन्द्र शुक्ल भारतीय संस्कृत काव्य-शास्त्र के परम अनुयायी थे तथापि 'शिशिर-पथिक' में उन्होंने यथार्थवाद का ही समावेश किया है :—

कँपत आय भयो छिन में खड़ो
दृढ़ कपाट लगे एक द्वार पै।
सुनि पर्‌यो 'तुम कौन ?' कह्यो तबै,
'पथिक दीन दया एक चाहतो।'

---

१. श्रीधर पाठक, 'ऋतु संहार', वर्षा वर्णन, मनोविनोद, द्वितीय भाग, पृ० १७, शिमला, १६-६-१६०३।

2. Goldsmith—'The Deserted Village'.

३. पं० श्रीधर पाठक, 'ऊजड़ ग्राम', १६०६।

खुलि गये झट द्वार धड़ाक तें,
धुनि परी मधुरी यह कान में—
'निकसि आय बसौ यहि गेह में,
पथिक बेगि संकोच बिहाय कै।'
लखि फिरी दिसि आवन द्वार के
विमल आसन इंगित सों दयौ,
अतिथि बैठि असीस दयौ तबै—
'फलवती सिगरी तब आस हौ।'
मृदु हँसी करुणा रस सों मिली
तरुण आनन ऊपर धारि कै
कहति 'हाय पथी, सुनु बात रे,
उकठि बेलि कहाँ फल लावई।'[1]

वैज्ञानिक विकास के दृष्टिकोण से मानव बौद्धिक और तार्किक हो उठा था। कोरे आदर्श में उसका विश्वास घट चला था। यही कारण रहा कि काव्य के विषय सामाजिक हो उठे। साहित्य हमारे जीवन की आलोचना होता है—इस नूतन प्रगति से यह प्रमाणित हुआ। राम एवं कृष्ण में परमात्म तत्व का ही केवल समावेश न आँका गया, उनमें अन्य मानवीय गुण भी आँके गए। 'प्रिय प्रवास' में 'हरिऔध' जी ने राधाकृष्ण के सामाजिक रूप को ही प्रमुखता दी है।

(२) १९१६ ई० के उपरान्त आलोच्य-काल का द्वितीय भाग प्रारम्भ होता है। इस समय का नवीन खेवे का काव्य पाश्चात्य सिद्धान्तों का अनुकरण कर चला। वस्तुतः चित्र-कल्पना, नाद एवं प्रतीक शैली सभी के लिए वे अंग्रेजी काव्य की ओर उन्मुख हुए। इस काल की साहित्यिक प्रगति में तीन बातों का प्राधान्य है :—

१—गद्य एवं पद्य दोनों क्षेत्रों में पाश्चात्य आदर्शों का अनुकरण।
२—गीतकाव्य का प्राधान्य।
३—कला के नवीन मापदण्ड।

हिन्दी के कवि पर पाश्चात्य काव्य-सिद्धान्त का ही नहीं अपितु वहाँ की सामाजिक, सांस्कृतिक एवं वैज्ञानिक परिस्थितियों का भी प्रभाव पड़ा। फलतः

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'शिशिर-पथिक', कविता-कौमुदी, पृष्ठ ३९४–९५, सं० रामनरेश त्रिपाठी।

हिन्दी का कवि भी व्यक्तिवादी हो उठा। बाह्य जीवन को समाप्त कर उसे भी अन्तर में आनन्द आने लगा।

सुमित्रानन्दन पन्त की १९१८ की निम्न पंक्तियाँ बाह्य से अपना सम्बन्ध स्थापित रखने के लिए कितनी आकुल हैं :—

छोड़ द्रुमों की मृदु छाया
तोड़ प्रकृति से भी माया,
बाले, तेरे बाल-जाल में कैसे उलझा दूँ लोचन ?
भूल अभी से इस जग को।
तजकर तरल तरंगों को
इन्द्र-धनुष के रंगों को
तेरे भ्रूभंगों से कैसे बिंधवा दूँ निज मृग-सा मन ?
भूल अभी से इस जग को।
कोयल का वह कोमल बोल
मधुकर की वीणा अनमोल,
कह, तब तेरे ही प्रिय स्वर से कैसे भरलूँ सजनि, श्रवन ?
भूल अभी से इस जग को।
ऊषा सस्मित किसलय दल
सुधा रश्मि से उतरा जल,
ना, अधरामृत ही के मद में कैसे बहला दूँ जीवन ?
भूल अभी से इस जग को।

१९२२ ई० की पन्त की 'मधुकरी' कविता भी देखिए :—

सिखादो ना, हे मधुप कुमारि,
मुझे भी अपने मीठे गान।
कुसुम के चुने कटोरों से
करादो ना कुछ-कुछ मधुपान
नवल कलियों के धोरे झूम,
प्रसूनों के अधरों को चूम,
मुदित कवि-सी तुम अपना पाठ,
सीखती हो सखि जग में घूम,

सुनादो ना, तब हे सुकुमारि,
मुझे भी ये केसर के गान।

पन्त की प्रथम कविता व्यक्त करती है कि कवि प्रकृति के प्रिय वातावरण से इतना हिला है कि 'बाला' की माया और उसके आकर्षण का प्रकृति के समक्ष कुछ भी गुरुत्व नहीं। इससे कवि दृढ़ता से प्रकृति के पाश में ही अपने को आबद्ध रखना चाहता है। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि पन्त का प्रकृति-प्रेम जो जन्म से उनके साथ लगा है इस काल तक अक्षुण्ण है। लोक प्रकृति के उस कवि को भटकाना चाहता है; परन्तु वह अपने श्रद्धेय के प्रति विश्वस्त है। पन्त का यह प्रकृति-प्रेम उनके 'पल्लव' काव्य का मेरुदण्ड है। द्वितीय कविता में ऐसा लगता है कि कवि अपने युगों की निधि को विश्व में खो बैठा है। आज उसी खोई निधि को पुनः प्राप्त करने के लिए वह आकुल है।

समाज के दृष्टिकोण जब सीमित हो गये और व्यक्ति केवल अपने व्यक्तित्व को ही प्रधान मान बैठा तब वह निज के ही गीत अलाप उठा। गीतितत्व का ही प्राधान्य हो उठा। स्वयं ही कवि अपने काव्य-क्षेत्र का नायक हो उठा :—

छिल-छिल कर छाले फोड़े
मल-मल कर मृदुल चरण से,
घुल-घुल कर वह रह जाते
आँसू करुणा के कण से।
इस विकल वेदना को ले
किसने सुख को ललकारा,
वह एक अबोध अकिंचन,
बेसुध चैतन्य हमारा।
अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त व्यथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना,
भीगी पलकों का लगना।[1]

कवि भक्ति-काल एवं रीति-काल के नायक एवं नायिकाओं के स्थान पर निज को जो हृदय में बन्द था, काव्य की भूमि पर ले आया। गीतों की हिन्दी-काव्य में बाढ़-सी आ गई।

१. जयशंकर प्रसाद, 'आँसू', पृष्ठ १६।

तुम तुंग हिमालय शृंग और मैं चंचल गति सुर-सरिता।
तुम विमल हृदय उच्छ्वास और मैं कान्त कामिनी कविता॥
तुम प्रेम और मैं शान्ति, तुम सुरापान घन अंधकार
मैं हूँ मतवाली भ्रान्ति।[1]

उपर्युक्त परिवर्तन के समान ही काव्यकला पर भी प्रभाव पड़ा। छन्द-गीत-लय आदि को कवि ने नवीन ढंग से देखा :—

'अहे वासुकि सहस्र फन,
लक्ष अलक्षित चरण तुम्हारे चिह्न निरन्तर
छोड़ रहे हैं जग के विक्षत वक्षस्थल पर
शत-शत फेनोच्छ्वसित स्फीत फूत्कार भयंकर
घुमा रहे हैं घनाकार जगती का अम्बर।
मृत्यु तुम्हारा गरल दन्त, कंचुक कल्पान्तर
अखिल विश्व ही विवर
वक्र कुण्डल।
दिङ्मण्डल॥[2]

उपर्युक्त पन्त के 'परिवर्तन' का एक अंश है। कवि ने परिवर्तन का प्रतीक वासुकि को मानकर उसका चित्रण किया है। 'स्फीत फूत्कार भयंकर' शब्दों से सर्प की फुसकार का अनुभव होता है। छन्दों को भी कवियों ने अपनी भाव-धारा के अनुसार चुना। १९१५ ई० के लगभग निराला ने 'जूही की कली' के लिए निम्न मुक्तक छन्द को अपनाया :—

विजन-वन वल्लरी पर
सोती थी सुहाग-भरी-स्नेह-स्वप्न-मग्न
अमल-कोमल-तनु तरुणी, जूही की कली
दृग बन्द किये, शिथिल पत्रांक में।[3]

इस प्रकार १९१६ ई० से १९२५ ई० का काल काव्य के निर्माण के दृष्टिकोण से भक्तिकाल के कुछ ही पीछे पड़ेगा। ३०–४० वर्ष की कवियों की साधना ने खड़ी बोली को माँजकर ब्रजभाषा के समान ही मधुर बना दिया। छायावाद एवं रहस्यवाद भी हमारे काव्य के अंतर्गत आ गए।

---

१. निराला—'तुम और मैं'।
२. पन्त—'परिवर्तन'।
३. निराला—'जूही की कली'।

हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों का प्रारम्भ

विगत पृष्ठों द्वारा भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युग की मूल प्रवृत्तियों को स्पर्श करने का प्रयास किया गया है। आधुनिक-युग जब भारतेन्दु जैसे अधिनायक के नेतृत्व में संचरणशील हुआ तब रीतिकाल की प्रमुख प्रवृत्तियाँ पराभूत हो उठीं और स्वच्छन्दवादिता द्विवेदी-युग को पार करती हुई छायावाद के प्रारम्भ काल के पूर्व तक चलती चली आई। इस प्रकार इस आलोच्य विषय का सम्बन्ध १८७५ ई० से १९२५ ई० तक प्रवाहित स्वच्छन्दवादिता का विवेचन करना है। इन दोनों युगों के मध्य में रूढ़ियों के सबसे अधिक विरोधी के रूप में पं० श्रीधर पाठक आते हैं। उन्होंने अपने साहित्य एवं विचारों से सनातनी शृंखलाओं को सस्मित हो तोड़ा है, इसमे उनके सम्पूर्ण साहित्य का अनुशीलन भी इस आलोच्य विषय का अंग बना लिया गया है।

भारतेन्दु एवं उनका युग प्राचीन और नवीन का संमिश्रण रहा है। इस युग की जो रचनाएँ भक्ति और रीतिपरक हैं उनमें कृत्रिमता है और वे जीवन की व्याख्या से कोसों दूर हैं।

आगे के सुकवि रीझिहैं तो कविताई
न तु राधिका-कन्हाई-सुमिरन को बहानो है।

—पंक्तियाँ भारतेन्दु-युग की न होती हुई भी इस युग की प्रवृत्तियों (भक्ति एवं रीति) का छिछलापन सिद्ध करती हैं। कवि अपने विश्वास को खो बैठा था और हृदय के विकारों के साथ आँख-मिचौनी खेल रहा था। स्वच्छन्दतावादी भावना ऐसी कृत्रिम भावनाओं की उपेक्षा करती है। इससे इनके अध्ययन के सन्निवेश को नमस्कार कर भारतेन्दु-युग के उसी स्वाभाविक अंश को लिया गया है जिसमें जीवन का स्पन्दन है और हृदय का उपयोग है। भारतेन्दु-युग का नवीन स्वच्छन्दतावादी अंश जिसे भारतीय क्रान्ति (१८५७) से प्रेरणा मिली थी तथा देश की निर्धनता और जर्जरता, मातृभाषा का अपमान एवं समाज की पतनशीलता आदि-आदि ऐसे विषय थे जिन्हें वे अपने नेत्रों से देखकर वर्णन करने का प्रोत्साहन प्राप्त करते थे—इस विवेचन के अंश बना लिए गये हैं। भाषा के क्षेत्र में खड़ी बोली विषयों के क्षेत्र में नित्यप्रति के व्यावहारिक एवं छन्दों के क्षेत्रों में लावनी एवं कजली आदि लोक-प्रचलित छन्द तथा युगों-युगों की सुषुप्त राष्ट्रीयता को इस अध्ययन में सम्मिलित कर लिया गया है।

भारतेन्दु का स्वच्छन्दवादिता के प्रति जितना प्रोत्साहन था, महावीरप्रसाद द्विवेदी उस भावना से उतने ही दूर थे। उनकी नीतिवादिता और उपदेशात्मक

इतिवृत्तात्मकता ने भारतेन्दु-युग की पल्लवित स्वच्छन्दवादिता का गला ही घोंट दिया। भाषा-संस्कार का उनका आग्रह इतना अधिक बढ़ा कि संस्कृतगर्भिता भाषा का प्रयोग समीचीन समझा जाने लगा। लोक-प्रचलित भाषा का जो स्वरूप भारतेन्दु एवं प्रेमघन जी ने रखा था और श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' एवं 'जगत सचाई सार' द्वारा जिसे पोषित किया था, वह उपेक्षित हो गया। इस प्रकार वस्तुतः स्वच्छन्दवादिता के लिए संकट भी आ गया, परन्तु श्रीधर पाठक जैसे सफल साधक और सम्पोषक ने उसे म्रियमाण न होने दिया। स्वच्छन्दवादिता को उनसे आश्वासन मिला। पाठक जी ने उसे संकट से ही मुक्त नहीं किया; किन्तु उसे अपने काव्यों द्वारा प्रगति दी। कालान्तर में रामनरेश त्रिपाठी तथा अन्यों ने अपने स्वच्छन्दतावादी काव्य द्वारा उक्त धारा को चिरंजीवी बनाया।

यह स्वच्छन्दतावादी धारा आगे भी अग्रसर होती है, जिसके स्पष्ट लक्षण प्रसाद, पन्त एवं निराला के प्रारम्भिक काव्यों में उपलब्ध होते हैं। इस प्रकार हमारे आलोच्य विषय की सीमा छायावाद के प्रारम्भिक युग तक आती है।

पं० श्रीधर पाठक ने भारतेन्दु-युग में जब काव्य की स्पष्ट रूपरेखा सामने न आ पा रही थी उस समय 'एकान्तवासी योगी' द्वारा भाव, भाषा एवं छन्द आदि का नूतन विधान रखा था, जिससे उस युग ने इस काव्य को काव्य की कसौटी समझ लिया था। 'काश्मीर-सुषमा', 'वनाष्टक' एवं 'सान्ध्य अटन' नाम्नी रचनाओं ने ठाकुर जगमोहनसिंह की संवेदनशील प्रकृति-काव्य परम्परा को अग्रसर किया। प्रकृति का यह निरीक्षण भी स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्राण है। इस प्रकार पाठक जी को हम सभी प्रकार से स्वच्छन्दतावादी काव्य की साधना से पुष्ट पाते हैं। इसी से द्विवेदी-युग में उक्त काव्य के समक्ष जो भी व्यवधान थे उनकी उपेक्षा करते हुए उन्होंने अपना मार्ग बनाया था।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि १८७५ ई० से १९२५ ई० तक स्वच्छन्दधारा प्रवाहित रही है। वह बड़ी ही महत्त्वपूर्ण है और साथ में पं० श्रीधर पाठक का व्यक्तित्व भी महामहिम है। इससे उक्त पचास वर्ष के स्वच्छन्दतावादी काव्य के अध्ययन में पाठक जी के जीवन एवं उनकी कृतियों का अनुशीलन भी सम्मिलित कर लिया गया है।

* * *

शास्त्रीय एवं स्वच्छन्दतावादी काव्य का सैद्धान्तिक मतभेद

ललित कलाओं के मध्य में तो काव्य का सर्वोच्च स्थान है ही। उपादेयता के दृष्टिकोण से भी वह विज्ञान की अपेक्षा मानव-संस्कृति के लिए कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। विज्ञान विश्व के सत्य को ही मानव के समक्ष प्रस्तुत कर पाता है। काव्य की भी यही प्रक्रिया होती है; किन्तु प्रथम का सत्योद्घाटन निरपेक्ष होता है जब कि द्वितीय का सापेक्ष। विज्ञान विश्व के किसी पदार्थ के संबन्ध में उसके अणु-परमाणु एवं अन्य तत्व जिनसे वह निर्मित है, स्पष्ट विश्लेषण कर देता है। जब कि काव्य उस सत्य का उद्घाटन मनोमोहक रूप-विधान द्वारा करता है। विज्ञान का सत्य नग्न सत्य होता है, काव्य का सत्य आवृत सत्य होता है। कवि के मानस के अन्तरतम में प्रसूत भावनाएँ ही किसी काव्य के आवरण होते हैं, जिनका आधार लेकर कवि अपने मानस-पटल के सत्य को प्रकट करने में आकुल हो उठता है।

कवि सामाजिक प्राणी है। उसके निज के मनोविकार एवं भावनाएँ भी समाज की होती हैं। इससे वह उन भावनाओं को काव्य द्वारा समाज के सामने प्रकट कर देता है। प्रत्येक प्रकार की कला-निष्पत्ति के मूल में यही भावना काम करती है।

काव्य का प्रारम्भ कब से है ? निश्चयात्मक ढंग से कह सकना एक समस्या है। अन्य बातों के समान ही काव्य के प्रारंभ के सम्बन्ध में जन-समाज आस्तिक भाव का पक्ष-ग्रहण कर उसे दैवी प्रसाद ही मानता है। आज बौद्धिक एवं तार्किक होकर हम भले ही उपर्युक्त सिद्धांत से सहमत न हों; परंतु विकासवाद के सिद्धांत से सहमत होकर यह मानने में हमें जरा भी कठिनाई नहीं कि काव्य का प्रारंभ मानव के आदि संवेदनों तथा मनोविकारों से है। सर्वप्रथम उसके समक्ष जब किसी स्थायी भाव का प्रादुर्भाव हो गया होगा वह उस भाव से अभिभूत हो मूक न बैठा रहा होगा। अवश्य ही उसने अपने मनोविकारों के प्रदर्शन के लिए अपने मुख की भंगिमा, दैहिक संचालन एवं वाणी का आधार लिया होगा। क्रौंच-युग्म के पुरुष पक्षी के असामयिक निधन पर स्त्री-पक्षी के कारुणिक रव से महर्षि वाल्मीकि भी मूक न रह सके :—

> **मा निषाद प्रतिष्ठांत्वमगमः शाश्वतीः समाः**
> **यत्क्रौंच-मिथुनादेकमवधीः काममोहितम् ।**

इस कारुणिक घटना के सम्बन्ध में मनोविकार का स्थायी भाव शोक महर्षि के मानस में उत्पन्न हुआ और उनकी वाणी तत्काल ही मुखरित हो

उठी। यहीं से भारतीय काव्य-सृजन की एक स्पष्ट रूपरेखा हमारे सामने आ उपस्थित हुई। भारतीय साहित्य में केवल उपर्युक्त प्रस्फुटन के आधार पर महर्षि वाल्मीकि आदि-कवि के पद पर आसीन हैं; परन्तु उनसे विगत काल में भारतीयों की संवेदनशीलता अवश्य चलती रही होगी। वे जड़ न रहे होंगे। फलतः काव्य अपने लक्षण उन्हीं संवेदनाओं में अन्तर्निहित किये हैं। यह निस्संदेह सत्य है कि उनका इतिहास और उनकी प्रक्रिया आदि हमारे समक्ष प्रस्तुत नहीं, जिससे हम अधिकारपूर्वक भारतीय काव्य के सूत्रपात के काल को और पीछे ले जाएँ। विकासवाद के सिद्धान्त के अनुसार उपर्युक्त सभी काव्यों के मूल में घटित हुआ है, जो विश्वस्त भी है।

आदि का काव्य बिना किसी बन्धन और विधि-विधान के प्रस्फुटित होता रहा—प्रवाहशीला सरिता के जीवन के समान ही काव्य का जीवन भी अबाध-रूप से प्रगतिशील रहा। कवि बनाये नहीं जाते, जन्मजात होते हैं (Poets are born not made) की लोकोक्ति काव्य के इसी सरल जीवन का परिचय कराती है। काव्य का इतिहास यहीं पर समाप्त न होकर आगे मोड़ लेता हुआ चलता है। कालान्तर में 'करत करत अभ्यास के जड़मति होत सुजान' की भावना भी विवेकी मानव के समक्ष अवश्य आई होगी। उसने काव्य के सिद्धान्त निर्मित किये और आदर्शवाद का अमोघ शस्त्र जनसमाज के समक्ष प्रस्तुत कर दिया। रीति-ग्रन्थों की परम्परा इसी परिपाटी का पोषण करती है। किसी भी साहित्य में रीति-पद्धति उसकी शास्त्रीय कसौटी होती है, जिस का अनुशीलन शास्त्रीय परिपाटियां करती हैं। संस्कृत साहित्य में वामन, दंडी एवं मम्मट और पाश्चात्य साहित्य में अरस्तू, होरेस एवं सिसरो आदि इसी प्रकार के आचार्य थे, जिन्होंने जनवर्ग के समक्ष रीति-ग्रन्थों के स्तम्भ खड़े कर दिये। कलाकारों ने उनका अनुकरण भी किया।

वस्तुतः शास्त्रीय (Classicism) एवं स्वच्छन्दवादिता (Romanticism) में स्वरूपगत एवं प्रवृत्तिगत अन्तर है। अठारहवीं शताब्दी में योरोपीय महाद्वीप की जागीरदारी प्रथा, कैथोलिक धर्म एवं स्वेच्छाचारी साम्राज्यवादिता आदि की प्रतिक्रियास्वरूप स्वच्छन्दवादिता का जन्म हुआ। वाल्टेयर एवं रूसो ने सरल मानवीय विचारधाराओं का आधार लेकर सामन्तीयता की जड़ें हिला दीं और शास्त्रीयता के विरुद्ध स्वच्छन्दवादिता का बीज-वपन किया। क्रमशः यह विचारधारा जर्मनी से फ्रान्स और अनन्तर फ्रान्स से इंगलैण्ड में प्रवाहित हुई।

योरोप के वे साहित्यिक जो ग्रीस की प्राचीन साहित्यिक परम्परा के अनुयायी हैं तथा प्राचीन लैटिन एवं अंग्रेज़ी साहित्य के अनुकरण पर अपनी साहित्यिक प्रगति चिरंजीव रखते हैं शास्त्रीय कवि अथवा साहित्यिक (Classics) कहे जाते हैं। इस श्रेणी के लोग पौराणिक एवं धार्मिक प्रवृत्ति के होते हैं और वैसे ही पात्रों का वे चित्रण करते हैं। वे लोग आदर्श एवं सुधारवादी भावना को स्वच्छन्द मानवीय भावना से अधिक सम्मान प्रदान करते हैं। इनकी काव्यात्मक अभिव्यंजना शैली भी विशेष प्रकार की होती है। परम्परा के समक्ष जीवन की नवीन परिस्थितियों और संघटनों का इन लोगों के समक्ष अधिक मूल्य नहीं।

वाल्टेयर और रूसो की मानवीय विचारधाराओं ने ललित कलाओं के क्षेत्र में भी नवीन प्राण फूंक दिये। कृत्रिमता के स्थान पर अकृत्रिमता और यथार्थ का चित्रण साहित्य के सत्य की कसौटी समझी गई। लोकप्रचलित भाषा-शैली, मानवीय चरित्र, स्वाभाविक अभिव्यंजना शैली, हृदयगत स्वच्छन्द कल्पना-प्रधान भावनाओं का स्वच्छन्दवादिता के क्षेत्र में अधिक मूल्य समझा गया।

शास्त्रीयता (Classicism) में भले ही आदर्श और परम्परा का देवता निवास करता हो; किन्तु मानव मानव ही रहता है। इससे स्वच्छन्दतावाद (Romanticism) में ही नवीन मानवता को संरक्षण मिला। योरोपीय प्रदेशों के समान अवशेष विश्व ने भी इस भावना का सम्मान किया। स्टाडार्ड (Stoddard) के शास्त्रीय (Classic) एवं स्वच्छन्द (Romantic) काव्यों के विधि-विधान के सम्बन्ध में निम्न कथन युक्तियुक्त है। इस कथन से दोनों की भावनाओं का अन्तर भी स्पष्ट हो जाता है :—

"विशुद्ध शास्त्रीय रचना रूप (अंग-संगठन), आशय (लक्ष्यपरता) या सम्बन्ध (बौद्धिकता) के नियमों का अनुवर्तन करती है। शास्त्रीय बौद्धिकता रूप, आशय या सम्बन्ध के सिद्धान्त-स्वीकृति की ही स्थिति होती है। शास्त्रीय रचना की पृष्ठभूमि में एक स्थिर आदर्श, स्वीकृत अंग-संगठित लक्ष्य, सुचारुता, योग्यता और एक तारतम्य रहा करते हैं। इस प्रकार के आदर्श की स्वीकृति शास्त्रीय एकता या वस्तु-सन्तुलन की सूचना देती है। इसके बाह्य लक्षण क्रमबद्धता, आनुषंगिकता, नियमानुवर्तिता, आलंकारिकता होते हैं। काव्य की शास्त्रीय पद्धति का सूत्रपात वैधानिक है। इसका परिपोषण अनुशासित वाक्यों से होता है, इसके आदर्श ज्ञात होते हैं। शास्त्रीय कवि अपरिवर्तनवादी होता है। स्वच्छन्दवादिता का प्रमुख भाव स्वीकृति नहीं अस्वीकृति है। स्वच्छन्दतावादी

इतिवृत्ति की उपेक्षा करता है और अन्योक्ति की शरण लेता है। प्रत्यक्ष को छोड़कर यह अप्रत्यक्ष की जिज्ञासा करता है। यह निर्णीत को त्यागकर गहन तत्व का अनुसंधान करता है। स्वीकृत विधान के प्रति असन्तोष में स्वच्छन्दवादिता का जन्म होता है। यह निरन्तर सजग होकर एक ऐसी नवीन व्यवस्था की खोज करता है, जो पुरानी और मान्य व्यवस्था का अतिक्रमण कर सके। अतः परम्परावादी कवि की तुलना में स्वच्छन्दतावादी कवि अनुपात, सन्तुलन एवं परिष्कार के गुणों की न्यूनता लेकर आता है। शास्त्रीयतावाद शालीन स्वीकृति है जब कि स्वच्छन्दतावाद उद्दाम आकांक्षा है।"[1]

उपर्युक्त पंक्तियों से इतना तो अवश्य ही स्पष्ट है कि शास्त्रीय काव्य परिपाटियों के बन्धन से आबद्ध परतन्त्र जीवन-यापन करता है। उसकी प्रेरणा और चेतना आदर्श एवं मर्यादा पर आधारित रहती है। गाड़ी के पहियों के समान उक्त काव्य एक पिटी हुई लीक को पकड़कर चलता है। उस पथ से वह विपथ भी नहीं हो सकता। स्वच्छन्दतावादी काव्य ठीक इसकी विपरीत प्रकृति

1. **Stoddard :**—A purely classical work is a portrayal strictly in consonance with a law of form, motive or relation. A classical attitude of mind is an attitude of acceptance of laws of form, motive or relation. Behind the classical work seems to stand a fixed ideal, a recognised ideal of proportion, grace, fitness, harmony. The acceptance of such an ideal as a guide indicates a classical harmony, spirit; of it the outward indication is order, harmony, system, light. Classicism is born of law ; it is nourished by authority, its ideals are known. The classicist is the conservative in literature. The cardinal notion of romanticism is not acceptance, but rejection. Romanticism rejects the literal and seeks the allegorical ; it leaves the seen and searches the unseen; it casts aside the evident and seeks a symbol of the deeper thought. Romanticism is born of dissatisfaction with the canons of authority ; it constantly and consciously searches for a new law in place of that which has ruled. So to the classicist, the romantic work lacks proportion, harmony, finish. Classicism is cultured acceptance, romanticism is unschooled desire.

—K. K. Sharma—An Introduction to the Poetry of the Romantic Revival (Students' Friends, Allahabad) से उद्धृत

का होता है। उसकी अन्तर्भावनाएँ मुक्त पक्षी-सी लोकभूमि पर पोषित होती हुई भी मुक्त वायुमण्डल में फड़फड़ाती रहती हैं। बन्धन एवं मर्यादा में वस्तुतः उसका निधन अन्तर्निहित है।

इस प्रकार 'शास्त्रीय' एवं 'स्वच्छन्दतावादी' शब्द विषयपरक ही न होकर साधन और शैली पर भी आश्रित होते हैं। यों तो कोई भी स्वच्छन्दतावादी विषय शास्त्रीय एवं कोई भी शास्त्रीय विषय स्वच्छन्दतावादी हो सकता है। यह तो जीवन-दृष्टि और शैली के ही दो भेद हैं जो किसी भी काव्य को शास्त्रीय अथवा स्वच्छन्दतावादी बना देते हैं।

स्वच्छन्दतावादी काव्य की सामाजिक प्रेरक स्थितियां

लैफकैडियो हर्न (Lafcadio Hearn) का कथन है—"साहित्यिक संघर्ष के प्रत्येक परिवर्तन का परिणाम स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति का शास्त्रीय और शास्त्रीय प्रवृत्ति का स्वच्छन्दतावाद में परिणति ही परिलक्षित होता है। परम्परा के विरोध द्वारा ही उनमें से प्रत्येक एक दूसरे से अनुप्रेरित है।"[1]

उपर्युक्त धारणा के अनुसार यदि काव्य की प्रगति को युगों पूर्व ले जाया जा सके तो यह निस्सन्देह सत्य है कि काव्य अपने प्रारम्भिक स्वरूप में सरल और अकृत्रिम तथा उसका आधार कवि की मानसिक वासना ही प्रमाणित होगी। कवि ने इस स्थिति में जो कुछ कहा भी है उसमें आवेश, वैयक्तिक भावना तथा प्रकृति के प्रति अनन्य अनुराग ही उपलब्ध होगा। मूलतः यह काव्य स्वच्छन्दतावादी कोटि में रहेगा। सभ्यता के आदि-युग में स्वच्छन्दतावादी भावना उस समय तक अविरल गति से प्रवाहित रही जब कोविदों द्वारा इस प्रवाहित काव्य की परीक्षा करके उसके सृजन के सम्बन्ध में आदर्श तथा विधि-विधानों का निर्माण प्रस्तुत कर दिया गया। विश्व-साहित्य में रीति-परम्परा उसके संस्कार का ही प्रयास है। यह संस्कारवादी काव्य ही शास्त्रीय कक्षा में रखा जा सकेगा।

1. Lafcadio Hearn says : Every alteration of the literary battle seems to result in making the romantic spirit more classic and the classic spirit more romantic. Each learns from the other by opposing it.

—K. K. Sharma, 'An Introduction to the Romantic Revival' से उद्धृत

अन्य देशों के काव्य के समान हमारे देश में भी पूर्णत: परम्परावादी शास्त्रीय काव्य सृजित नहीं हुआ है। कवि ने जहाँ-जहाँ मानवीय स्तर की भावनाओं से काव्य की रचना प्रारम्भ की वहाँ-वहाँ ही वैयक्तिकता के साथ स्वच्छन्दतावादी भावना अभिव्यक्त हुई। संस्कृत में कालिदास आदि के कुछेक काव्य और उसी प्रकार हिन्दी के भक्तिकालीन काव्य का कुछ अंश ही स्वच्छन्दतावादी कहा जायेगा। अनन्तर रीतिकालीन काव्य से इसका स्रोत लुप्त हो गया था। जिसका पुन: प्रस्फुटन १८५७ ई० के उपरान्त हुआ और जो द्वितीय विश्व-महायुद्ध तक अबाध गति से प्रवाहित रहा।

काव्य-प्रवृत्ति के अनुसार स्वच्छन्दतावादी काव्य में व्यक्तिवादी भावना प्रधान होती है जिसके मूल में रोमांटिक चेतना काम करती है। इस विशेष चेतना के सम्भार में क्रान्ति की भावनाओं को प्रमुखता मिलती है। स्वच्छन्दतावादी कवि केवल रूढ़िवादी विचारधाराओं का ही विद्रोही नहीं होता; किन्तु वह विश्व की प्रत्येक प्रकार की परम्पराओं एवं रूढ़ियों का विरोधी होता है। उसके सृजित काव्य में संवेदनशीलता और वैयक्तिक अनुभूति रहती है।

प्रत्येक प्रकार के काव्य के तीन अंग होते हैं—(१) प्रतिपादित सामग्री (२) कवि की प्रवृत्ति तथा (३) काव्य के साधन। स्वच्छन्दतावादी काव्य के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त तीनों अंगों को लेकर विचार करने से उसकी सामाजिक स्थितियों पर प्रकाश पड़ सकेगा। इन अंगों के तत्वों को लेकर डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी के अपने निम्न दृष्टिकोण हैं :—

"रोमाण्टिक कवियों द्वारा निबद्ध वक्तव्य वस्तु (प्रतिपादित सामग्री) में निम्नलिखित बातें बताई जाती हैं—(१) शास्त्र-वहिर्भूत कल्पित देशों, मध्य-युग या अतीत-युग के राष्ट्रीय गौरव के आकर्षक दृश्य तथा मोहक संस्कृति का लोभनीय चित्रण, (२) सामान्य की अपेक्षा विशेष पर जोर—रंगगत सामञ्जस्य की अपेक्षा उत्तेजक एकांगी रंगों पर बल देना, (३) प्रकृति को व्यक्तिगत और अव्यवहृत प्रत्यक्ष अनुभूति का विषय समझना और विशेष भाव से उसके उद्धत और उद्दाम वेग वाले रूप पर बल देना, (४) रहस्यवाद और अतिप्राकृत तत्व में विश्वास, (५) कालरात्रि, श्मशान, मकबरा, विनाश, नियति-चक्र, प्रलय, झंझा आदि भूरिश: आश्रमण और (६) स्वप्नलोक, अवचेतन चित्त और आवेशावस्था की बातें।

"लेखक की प्रवृत्तियों का भी छायावादी कवियों से अधिक मेल है। ये प्रवृत्तियाँ (कवि की प्रवृत्तियाँ) इस प्रकार बताई जाती हैं—(१) अत्यन्त

वैयक्तिक दृष्टिकोण, (२) इनके द्वारा निबद्ध नायक या तो वेदनाग्रस्त, विरक्तिक्लान्त, आत्म-केन्द्रित व्यक्ति होता है या समाज के विरुद्ध भभकता हुआ विद्रोही, और दोनों ही अवस्था में उसका व्यक्तित्व रहस्यमय होता है। (३) कवि द्वारा निबद्ध काव्य-नायक तो इस प्रकार का व्यक्ति होता है; किन्तु स्वयं कवि अन्तर्दर्शी मर्मज्ञ व्यक्ति होता है, (४) वह तर्क की अपेक्षा भावावेग को, यथार्थ की अपेक्षा आदर्शवाद को, परिस्थितियों से समझौता करने की अपेक्षा महत्वाकांक्षा को अधिक गौरव देता है।

"जहाँ तक अभिव्यक्ति शैली (काव्य के साधन) का प्रश्न है, रोमाण्टिक कवि भी हिन्दी के छायावादी कवि की ही भाँति (१) नियमों और रूढ़ियों से स्वतन्त्र रहने का दावा करता है (२) स्वतः प्रवृत्त भावावेग पर बल देता है (३) दिवास्वप्न जैसी अलीक कल्पना या असंलग्न चिन्ता-प्रवाह, अस्पष्टता, युगपत सौन्दर्यानुभूति तथा कलात्मक प्रक्रिया की पौनःपुनिकता की ओर प्रवृत्त होता है।"[1]

स्वच्छन्दतावादी काव्य में जैसा निवेदन किया जा चुका है व्यक्ति प्रधान हो जाता है और समाज गौण। ऐसे काव्य में लोकादर्श, लोक-भावना एवं लोक-नीति आदि तिरोहित हो जाते हैं। उनके समक्ष केवल व्यक्ति और उसकी क्रान्तिकारी भावना रह जाती है। वह अपने लोक का स्वयं ही अधिनायक होता है और निर्णायक भी। स्वच्छन्दतावादी काव्य के एकच्छत्र साम्राज्य में वह किसी प्रकार के बन्धन का अनुभव न कर अपने को मुक्त पक्षी-सा स्वच्छन्द समझता है। उसे रूढ़िवादिता का बन्धन असह्य लगता है। वह भोंडी और कृत्रिम परम्पराओं को केवल तोड़ता ही नहीं, किन्तु चुनौती देता हुआ सामाजिकों को उनकी यथार्थता दिखलाता है और बतलाता है—देख लो अपने चर्म-चक्षुओं से जिसे तुम अपने लोक-जीवन की आधार-शिला समझे हो वह भीतर से कितनी खोखली और असत्य है।

स्वच्छन्दतावादी काव्य में व्यक्ति ही काव्य का विषय, व्यक्ति ही कवि की प्रवृत्ति और व्यक्ति ही अभिव्यंजना का साधन है। इस प्रकार यह काव्य व्यक्ति का इतिहास संरक्षित रखने के कारण विशेष लोभनीय हो जाता है। अब देखना यह है कि महत्वपूर्ण स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रेरक स्थितियाँ क्या हैं जिनसे इसके सृजन और विकास में पूर्ण सहयोग मिलता है।

---

१. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, छायावादी कविता की प्रेरणा-भूमि, 'अवन्तिका' पटना, काव्यालोचनांक, वर्ष २, अंक १ (जन० १९५४), पृष्ठ २१२।

व्यक्ति-प्रधान इस प्रकार के काव्य की प्रेरक स्थितियों में पूंजीवाद एवं राष्ट्रीयता का प्रमुख स्थान है। यही वे परिस्थितियाँ हैं जिनसे मानव को अपने मानसिक विकास एवं स्वतन्त्र विचार-धाराओं के निर्माण में सहयोग मिलता है। पूँजीवाद को ही इसका श्रेय है कि वह सामन्तशाही को ध्वस्त करके मानव को उनके उत्पीड़न से मुक्त कराता है। इस प्रतिक्रिया में निस्संदेह सत्य है कि संपूर्ण पूंजी कुछेक पूंजीपतियों के समीप ही एकत्रित हो जाती है। समाज में भी व्यक्ति स्वतन्त्र हो जाते हैं और सामन्तीय आदेशों के पालन करने में वे कभी भी बाध्य नहीं होते। इसके अतिरिक्त पूंजीवादिता के प्रसार से समाज में शोषण और दमन भी प्रारम्भ हो जाता है। मज़दूर और गरीब जो पूंजीपतियों के चाकर होते हैं भरपूर वेतन प्राप्त न करने के कारण भुखमरी के शिकार होते हैं। इस प्रकार शेष समाज में त्राहि-त्राहि हो उठती है और सामन्तवादी परतंत्रता के समक्ष मानवता का हनन और भी दयनीय तथा करुण हो उठता है।

इस पूँजीवाद के विकास के साथ कवि की कविता में भी परिवर्तन उपस्थित हो जाते हैं। काव्य-निर्माण में यह नवीन परिपाटी अपनाने के लिए प्रेरित हो जाता है। उसका कवि-कर्म दो रूपों में हमारे सामने आता है। प्रथम में वह पूँजीवादी समाज के साथ सामन्तीयता का विरोध करके व्यक्तिवाद के निर्माण में भरसक सहायक होता है। इस व्यक्ति-स्वातंत्र्य के सम्बन्ध में वह आत्माभिव्यक्ति कर उठता है, जिससे स्वच्छन्दतावाद का सम्पोषण होता है। कालान्तर में यह पूंजीवादी व्यक्ति-स्वातन्त्र्य मृगतृष्णा-सा निराशाजनक लगता है। पूंजीपतियों का शोषण असह्य मनोव्यथा का कारण बन जाता है, जिससे कवि जीवन से निराश और उदासीन हो उठता है।

'पूँजीवादी अर्थ-व्यवस्था की भाँति पूंजीवाद की स्वच्छंदतावादी कविता में भी जहाँ एक ओर क्रान्तिकारी तत्व होते हैं वहाँ दूसरी ओर असामाजिक प्रतिक्रियावाद के बीज भी होते हैं, जो पूँजीवाद के अन्तर्विरोध की वृद्धि के साथ अंकुरित और पल्लवित होते हैं। जब तक वह पुरानी सामन्तीय संस्कृति के बन्धनों को तोड़ने का कार्य करती है, तब तक क्रान्तिकारी और प्रगतिशील रहती है। किन्तु जब वह नये पूँजीवादी बन्धनों का कारण बनती और ह्रासशील होकर उन बन्धनों को स्थिर रखने में सहायता करती है तब उसका रूप प्रतिक्रियावादी हो जाता है। ऐसी परिस्थिति उत्पन्न होने पर स्वच्छन्दतावादी

कविता का अन्तर्विरोध ही उसे यथार्थवाद की नई दिशाओं में मुड़ने के लिए विवश करता है।

राष्ट्रीयता भी स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रेरक स्थिति है। समाज की विकास और परिवर्तनशील परिस्थितियों में राष्ट्रीयता का स्वरूप भी बदलता रहता है। पूँजीवाद समाज के रूप को बदलता है और समाज का रूप राष्ट्रीयता की भावना को जन्म देता है। इस प्रकार पूँजीवाद से राष्ट्रीयता भी अनुप्रेरित रहती है। राष्ट्रीयता का विकास उसी के आधार पर होता है। समाज में शोषण के कारण राष्ट्रीयता का जन्म होता है। यह शोषण जितना ही प्रबल होगा राष्ट्रीयता का विकास भी उसी उद्दाम प्रगति से होगा।

राष्ट्रीयता के जन्म और विकास में कवि को नव-चेतना मिलती है। समाज की परिस्थितियों से विवश वह अपने साथ मानवता की निष्कृति के लिए छटपटा उठता है। समाज का एक वर्ग शोषण करे—वह आजन्म शोषित रहे। कवि को यह असह्य हो उठता है। वह व्यक्तिवादी होकर व्यक्ति-प्रधान काव्य का सृजन करने लगता है।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि पूँजीवादिता और राष्ट्रीयता व्यक्तिवादी भावना को अग्रसर करती है। व्यक्तिवादी भाव से ही अप्रतिम स्वच्छन्दतावादी काव्य सृजित होता है। फलतः ये दोनों स्थितियाँ ही मूलतः उसके सृजन में भावुक कवियों को प्रेरणा देती रहती हैं।

स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ

उपर्युक्त विवेचन से स्वच्छन्दतावादी काव्य की निम्न प्रवृत्तियों एवं उपकरणों पर प्रकाश पड़ता है :

(१) इस प्रकार के काव्य में बन्धनहीनता स्वाभाविक होती है। निज की भावनाओं और अनुभूतियों के आधार पर कवि अपने स्वच्छन्द मार्ग का निर्माण करता है।

(२) इस प्रकार के काव्य में शैली सरल एवं पूर्णरूपेण स्वाभाविक होती है। कवि अपनी हृदयगत अनुभूतियों को मुक्त छन्द और स्वतन्त्र अभिव्यंजना शैली से गुंफित कर स्वाभाविक संगीत द्वारा व्यक्त करता है।

(३) इस क्षेत्र के नायक-नायिकाएँ तथा अन्य पात्र सामान्य जीवन में ही

---

१. शम्भूनाथसिंह, 'छायावाद के आविर्भाव के सामाजिक कारण', 'अवन्तिका', काव्यालोचनांक, जनवरी, १९५४ (वर्ष २, अंक १) पटना, पृ० २०३।

पल्लवित होते हैं। जीवन के बनाव-शृंगार तथा आडम्बर में विश्वास न होने के कारण स्वच्छन्दतावादी कवि कृत्रिम जीवन के पात्र नहीं चुनता है।

(४) इस प्रकार की कविताओं में प्रकृति का प्रमुख स्थान रहता है। प्रकृति को दर्शक की भाँति न देखकर वह उसके अन्तस्तल में बैठकर उसको देखता है। उसके इस देखने में आत्मीयता की एक झलक प्राप्त होती है।

(५) स्वच्छन्दतावादी काव्य में उसका काव्य-सौष्ठव कवि की अन्तर्ज्योति से आभासित रहता है। शब्द, छन्द एवं अलंकार आदि के निर्माण में वह पूर्ण स्वतन्त्र रहता है।

उपर्युक्त प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियाँ सम्पूर्ण स्वच्छन्दतावादी काव्य में उपलब्ध होती हैं।

'स्वच्छन्दवादिता' की परिभाषा

योरुप महाद्वीप में रोम और ग्रीस दोनों राष्ट्रों ने अन्य प्रदेशों से सर्वप्रथम प्रबुद्ध एवं प्रगतिशील होकर काव्य तथा अन्य ललित कलाओं के लिए चिन्तन-सामग्री प्रस्तुत की। मौलिकता के अतिरिक्त यह सामग्री अनुकरणीय भी थी। फलतः १५वीं-१६वीं शताब्दी में योरुप के 'पुनर्जाग्रति-युग' (रेनेशां) में ललित कलाओं के उपासकों ने उनसे अनुप्रेरित हो अपने क्षेत्र में प्रगति की। साहित्य-क्षेत्र में भाव, भाषा, पात्र एवं कथानक आदि सभी की योजनाओं और अनुशासन के संबंध में सम्पूर्ण योरुप उन्हीं पर आधारित था। इससे नवीन साहित्य-सृजन पर प्राचीनता और पौराणिकता की अमिट छाप थी। फलस्वरूप उस साहित्य को क्लासिक संज्ञा प्रदान की गई और उनके अनुकरण पर जो साहित्य सृजित हुआ उसे क्लासिकल साहित्य के नाम से अभिहित किया गया।

१६६० ई० से लेकर १७९८ ई० तक का अंग्रेजी काव्य शास्त्रीय युग (Classical Age) के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इस युग में ड्रायडन, पोप, एडिसन एवं जॉनसन आदि प्रमुख आचार्य थे। जिनके सिद्धान्तों एवं विचारों से सम्पूर्ण अंग्रेजी काव्य प्रभावित था। ये आचार्य भी काव्य के अन्तरंग एवं वहिरंग दोनों स्वरूपों के लिए अरस्तू, होमर, वरजिल एवं होरेस के सिद्धान्तों के अनुकरणकर्त्ता थे।

भारतीय काव्य-भूमि में आदि-कवि वाल्मीकि की रामायण एवं महर्षि वेदव्यास का महाभारत—दोनों महाकाव्य ही अनुकरणीय बने। कबीर, सूर, तुलसी आदि की वाणियाँ यद्यपि लोक-भाषा और भावना के द्वारा यथार्थ

स्वच्छन्दतावादी स्तर पर उतर आई थीं, तथापि आगे चलकर उन्हीं के आधार पर शास्त्रीय काव्य रचा गया। हिन्दी का रीति-काव्य तो संस्कृत आचार्यों के रीति-सिद्धान्तों का भण्डार ही है। इससे उसके शास्त्रीय न होने का प्रश्न उठता हीं नहीं।

हिन्दी के आदि-काल से लेकर रीतिकाल की समाप्ति (१०५० वि० स० से १९०० वि० स०) तक अधिकतर शास्त्रीय काव्य-परम्परा का स्वरूप ही सर्वोपरि रहा है। भारतेन्दु-युग के प्रारम्भ होने पर देश-काल और समाज की परिस्थितियों ने मानव को जीवन के यथार्थ का परिचय कराया, जिनका अति-क्रमण करना युगों-युगों के विनीत भारतीय के लिए असम्भव नहीं, दुष्कर अवश्य हो गया। फलतः भाषा, छन्द एवं भाव आदि सभी क्षेत्रों में परम्परागत शास्त्रीयता की प्रतिक्रिया हुई और स्वच्छन्दवादिता (Romanticism) का सूत्रपात हो गया।

उपर्युक्त के समान योरुपीय वातावरण में भी युगों से प्रचलित शास्त्रीयता (Classicism) का विरोध हुआ है। फ्रांस की राज्यक्रान्ति, औद्योगिक क्रान्ति, विज्ञान एवं मानवता आदि के नवीन विकास के कारण योरुपीय साहित्य शास्त्रीयता के संकुचित कटघरों में बन्द न रह सका।

"विभाजन रेखा की एक ओर जो घटित हुआ उसमें प्राचीन के प्रति निष्ठा थी, दूसरी ओर जो घटित हुआ वह नवीन विचारों और शब्दों पर आधारित है। प्राचीन प्रकार के विचार और अभिव्यंजना-शैली का सम्बन्ध कार्नीले, पोप, एडिसन और जॉनसन से है और नवीन का सम्बन्ध है लैंसिंग, गेटे, कालरिज, वर्डस्वर्थ और एकान्त-जीवी ब्लैक से। प्रथम का सम्बन्ध अतीत से है और द्वितीय का वर्तमान से।"[1]

1. All that happened on one side of the dividing line has the flavour of the antique, all that happened on the other side is vibrating with modern thought-currents and modern words. To the old way of thought and expression belong Corneille, Pope, Addison and even Johnson—to the new Lessing, Goethe, Coleridge, Wordsworth and the solitary Blake. The first belong to the past the second to the present.

—R. A. Scott-James : 'The making of Literature—Classic and Romantic, Page 161.

इस नवीन भावना को ही इसका श्रेय है कि १९वीं शताब्दी में १७९८ ई० से १८५० ई० तक योरुप के काव्य में शास्त्रीयता पृष्ठभूमि में जा पड़ी और उसके स्थान पर स्वच्छन्दवादिता (Romanticism) सुशोभित हो उठी। इस युग के प्रारम्भ हो जाने पर काव्य के क्षेत्र में नवीन विषयों के समावेश के साथ ही अभिव्यंजना-शैली में भी आशातीत परिवर्तन हुए। उपेक्षिता प्रकृति और मानवता की उपासना हो उठी और कृत्रिमता के स्थान पर लोक-भूमि के यथार्थ का चित्रण हो उठा।

स्वच्छन्दवादिता (Romanticism) को विद्वानों और विचारकों ने अपने-अपने दृष्टिकोण से देखा और उसकी विविध परिभाषाएँ दी हैं।

विक्टर ह्यूगो स्वच्छन्दवादिता को 'साहित्य में स्वतन्त्र भावना'[१] वाट्स डण्टन 'काव्य और कला में कुतूहल की भावना का पुनर्जन्म'[२] डा० हेज 'स्वच्छंदवादिता का मूलतत्व भाव-प्रवणता है।'[3] स्टॅडार्ड ने उसकी यों परिभाषा दी है—"स्वच्छन्दवादिता का सच्ची भावना में—नवीन विधान, नवीन तथ्य, अनुरूपता एवं नवीन स्वरूप के अन्वेषण में विधान, तथ्य, अनुरूपता और स्वरूप से विदा लेना है।"[४] डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी का रोमाण्टिक साहित्य के सम्बन्ध में यह कथन है—"रोमांटिक साहित्य की वास्तविक उत्सभूमि वह मानसिक गठन है जिसमें कल्पना के अविरल प्रवाह से घन संश्लिष्ट-निविड़ आवेग की ही प्रधानता होती है। इस प्रकार कल्पना का अविरल प्रवाह और निविड़ आवेग—वे दो निरन्तर घनीभूत मानसिक वृत्तियाँ ही इस व्यक्तित्व-प्रधान साहित्यिक रूप की प्रधान जननी हैं।"[५]

स्वच्छन्दतावाद और परम्परावाद का स्वरूपगत अन्तर आचार्य नन्ददुलारे

---

1. Victor Hugo : 'Liberalism in literature'.
2. Watts Dunton : 'The renascence of the feeling of wonder in poetry and art.'
3. Dr. Hedge : 'The essence of romanticism is inspiration.'
4. Stoddard : 'Romanticism in its noblest expression is a departure from law, from fact, from harmony, from perspective, in quest of new law, a new fact, a new harmony, a new perspective.'

५. डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी—देवराज उपाध्याय, 'रोमांटिक साहित्य शास्त्र' भूमिका, पृष्ठ २ (आत्माराम एण्ड संस, देहली)।

बाजपेयी जी ने इन शब्दों में प्रकट किया है। इन्हें उक्त दोनों वादों की सामान्य परिभाषा भी कह सकते हैं—

"यह काव्य-धारा जो काव्य और कला के व्यक्त सौन्दर्य-प्रसाधनों, सुन्दर शब्दों और आकृतियों आदि का आग्रह करके चलती है, क्लासीसिज़्म की प्रतिनिधि कही जाती है। दूसरी अतिवादी स्थिति तब आती है, जब वह निर्माण-सम्बन्धी नियमों में बंध जाती है और स्वतन्त्रतापूर्वक हाथ-पैर भी नहीं हिला सकती। इसी प्रकार जो काव्य-धारा अत्यन्त अनियमित पद्धति, संयम-रहित प्रवृत्ति को प्रोत्साहन देती है, वह रोमांटिक गति की सूचक है। काव्य में भावना के अतिरेक से जो असंयम आता है, नियमों की भी अवहेलना होती है, रोमांटिसिज़्म की अति का परिचायक है। एक में (क्लैसिक अतिवाद में) काव्य के शरीर पक्ष का आग्रह सीमा को पार कर जाता है और दूसरे में (रोमांटिक अति में) शरीर पक्ष या आकृति की पूर्ण उपेक्षा होने लगती है।"[1]

उपर्युक्त विविध दृष्टिकोणों से स्वच्छन्दतावादी काव्य की निम्नलिखित परिभाषा, सर्वमान्य हो सकती है :—

"स्वच्छन्दतावादी काव्य, काव्य की वह विशेष सर्जना है जो कल्पना और आवेग से युक्त परम्परागत विधान और वाह्यांग नियंत्रण से विमुक्त और मानसिक सरलता तथा अकृत्रिमता से सम्पन्न मानसिक तथा लोक-भूमि की भावनाओं से युक्त हो।"

१. श्री नन्ददुलारे बाजपेयी, 'स्वच्छन्दता और परम्परा', 'आधुनिक साहित्य', पृष्ठ ३८८, लीडर प्रेस, प्रयाग (प्रथम संस्करण, सं० २००७)।

अध्याय २

आधुनिक हिन्दी साहित्य में स्वच्छन्दतावाद की पृष्ठभूमि

विषय-प्रवेश

अ—अंग्रेजी राज्य पर विहंगम दृष्टि

भारत में अंग्रेजों के आगमन एवं राज्य-संस्थापन से देश में एक नवीन युग का प्रारम्भ होता है। मुग़ल-साम्राज्य की केन्द्रीय शक्ति के शिथिल हो जाने का अंग्रेजों ने पूर्ण लाभ उठाया। धीरे-धीरे भारतीय राजाओं और नवाबों को पराजित करते हुए उन्होंने सम्पूर्ण देश पर अपना एकाधिपत्य स्थापित कर लिया और अपने विधि-विधान से देश का शासन आरम्भ कर दिया। विजयी शक्ति के समक्ष विजित देश की सभ्यता, संस्कृति एवं उसके विधान उपेक्षित कर दिये गए। भारतीय अपने अधिकारों को खोकर अपमानित होकर रह गये। साधन ही क्या था ? सभी प्रकार से अशक्त थे और सर्वत्र ही राष्ट्रीय अनैक्य था।

अंग्रेजी साम्राज्य के सूत्रपात के साथ-साथ अंग्रेजी सभ्यता, अंग्रेजी विचार-धारा, अंग्रेजी संस्कृति एवं अंग्रेजी शिक्षा के प्रचार एवं प्रसार का सुअवसर भी आया। आँख के अन्धे स्वार्थी भारतीयों ने उपर्युक्त प्रगतियों को प्रोत्साहन देने में अपना गौरव समझा। देश की सभ्यता एवं संस्कृति निस्सन्देह पृष्ठभूमि में जा पड़े। भारत जैसे अतीत के प्रशस्त राष्ट्र के लिए इस प्रकार का पतन निस्सन्देह लज्जास्पद था।

भारतीय एवं अंग्रेजी सभ्यता तथा संस्कृति के सम्मिलन से देश का केवल

अहित ही नहीं हुआ; किन्तु भारत की सुषुप्त प्रगति और चेतना अंग्रेजी सभ्यता एवं संस्कृति से टकराकर उद्बुद्ध हो उठी। इस जागरण से देश, जो अब भी अपनी मध्यकालीन रीति-नीति और विचारधाराओं में अपनी निष्कृति समझता था, सतर्क हो उठा। उसकी प्राचीन परम्पराओं को एक धक्का लगा, राष्ट्र के कोने-कोने और विचारधारा के प्रत्येक क्षेत्र में नव-चेतना की अनुभूति हुई और सम्पूर्ण देश नवीन विकास की ओर अग्रसर होने के लिए उद्यत हो गया।

इस नवीन जागरण से देश के राष्ट्रीय, धार्मिक एवं ललित कलाओं के जीवन में एक क्रान्ति उपस्थित हो उठी। इन क्षेत्रों में आत्मविश्वास एवं शास्त्रीयता का क्रमशः उन्मूलन हो उठा और इनके स्थान पर तर्क एवं यथार्थ का स्वागत किया जाने लगा।

१८५७ ई० का ग़दर इस नवचेतना एवं जागरण का प्रथम प्रभात था। देश में यदि राष्ट्रीय एकता एवं सामूहिक प्रयास होता तो निस्सन्देह देश का इतिहास आज कुछ और ही प्रकार का होता।

देश की साहित्यिक एवं सांस्कृतिक प्रगति में तद्देशीय राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक आदि स्थितियों का अमिट प्रभाव पड़ता है। इनकी उत्पन्न परिस्थितियों से मानव अनुशासित होता रहता है, जिससे जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में उसमें विकार उपन्न होते रहते हैं। साहित्य का निर्माण शत-प्रतिशत मानवीय भावनाओं पर आधारित रहता है। इससे किसी भी प्रकार की साहित्यिक प्रगति जानने के लिए अन्य बाह्य परिस्थितियों का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी हो जाता है।

ब—आलोच्य-काल का विभाजन

प्रबन्ध का आलोच्य विषय १८७५ ई० से १९२५ ई० तक के अध्ययन को प्रस्तुत करता है। यह पचास वर्ष का समय भी भारतेन्दु-युग (१८७५ ई० से १९०० ई०), द्विवेदी-युग (१९००-१९२० ई०) एवं छायावादी-युग (१९२०-१९२५ ई०) तीन विभागों में सरलतापूर्वक विभाजित किया जा सकता है। यों भारतेन्दु-युग हिन्दी-साहित्य के इतिहास में १८६८ ई० से प्रारम्भ होता है; किन्तु हमारा आलोच्य विषय १८७५ ई० से प्रारम्भ होता है, इससे १८७५ ई० से १९०० ई० तक के २५ वर्ष के समय को ही मैंने 'भारतेन्दु-युग' माना है। साथ ही छायावादी युग के सम्बन्ध में यह निवेदन करना है कि यह युग हिन्दी-साहित्य में १९२५ ई० से प्रारम्भ होता है। द्विवेदी-युग की समाप्ति के

उपरान्त यह पाँच वर्ष का समय छायावाद के लिए उर्वर क्षेत्र तैयार करता है। यों इसके लक्षण १९१५ ई० के आस-पास रवीन्द्र बाबू की 'गीताञ्जलि' के प्रभाव और मैथिलीशरण गुप्त की 'झंकार' और मुकुटधर पाण्डेय की रचनाओं के प्रकाशन से प्रस्फुटित हो उठे थे। अब यह देखना है कि प्रत्येक युग में इन बाह्य परिस्थितियों की क्या प्रगति रही, जिससे देश का मानसिक संस्थान निर्मित हुआ। इनके प्रभाव के कारण साहित्य अपनी शास्त्रीयता को त्यागने के लिए बाध्य हुआ और उसके स्थान पर जीवन की यथार्थ एवं स्वच्छन्द भाव-धारा को अपनाकर अपने को गौरवान्वित समझा।

(क) भारतेन्दु-युग (१८७५ ई०—१९०० ई०)

भारतेन्दु जी का जन्म ९ सितम्बर सन् १८५० ई० में और मृत्यु ६ जनवरी, सन् १८८५ ई० को हुई थी। उनके काव्य में मध्यकालीन परम्पराओं का पालन और नवीन युग के सूत्रपात के नूतन लक्षण विद्यमान थे। इस प्रकार प्राचीन एवं नवीन का संम्मिश्रण भारतेन्दु-काव्य की विशेषता है। यह विशेषता आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी के सरस्वती-सम्पादन के कार्य को प्रारम्भ करने के पूर्व तक रही। यद्यपि भारतेन्दु जी का निधन १८८५ ई०में ही हो गया था तथापि उनके काव्य की प्रवृत्तियाँ १९०० ई० तक अपरिवर्तित रूप में चलती रहीं।

१—राजनीतिक प्रगति

(क) अंग्रेजी साम्राज्यवादिता

मई १८२१ ई० के 'एशियाटिक जर्नल' में कारनेटीकस का कथन है :—

"हमें यह तत्काल मान लेना चाहिये कि प्रत्येक युद्ध में हमारी भारत की विजय उत्तम कृत्यों की अपेक्षा एशियायी स्वभाव की दुर्बलता के कारण हुई। इसी सिद्धान्त के आधार पर हम निश्चित रूप से यह मान सकते हैं कि जब कभी भारतीय जनवर्ग का बीसवाँ भाग भी हमारे समान ही अग्रदर्शी एवं योजना-विधायक हो जायगा हम उसी अनुपात से पूर्ववत् महत्वहीन हो जायेंगे।"[1]

---

1. We must at once admit that our conquest of India was through every struggle more owing to the weakness of the Asiatic character than to the bare effect of our own brilliant achievements.........on the same principle we may set down as certain that whenever one-twentieth part of the population of India becomes as provident and as scheming as ourselves, we shall run back again in the same ratio of velocity, the same course of our original insignificance. —Carnaticus in Asiatic Journal, May 1821,
(कर्मवीर श्री सुन्दरलाल लिखित 'भारत में अंग्रेज़ी राज' भाग ३ से उद्धृत)

राजपूत-काल के उपरान्त से ही मुस्लिम शासन के अन्तर्गत रहने के कारण भारतीयों की आत्माएँ मर सी गई थीं। यही कारण था कि मुसलमानों के आगमन पर एकता के सूत्र में बँधकर वे मुसलमानों को देश के बाहर न निकाल सके। एक शक्ति दूसरी शक्ति से विरोध रखती थी। इससे विदेशी आक्रान्ता के समक्ष भी मिलकर वे उसका सामना करने में विवश हो गये। एक-एक कर सभी राजे कुचल दिये गये और उन्हें अधीनता स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा। यह भारतीय चरित्र की बहुत बड़ी दुर्बलता थी। इसके कारण ही वे स्वाधीनता का मूल्य खो बैठे थे। जो त्रुटि मुस्लिम काल में हुई थी वही त्रुटि अंग्रेजों के समय में पुनः दुहर गई। अंग्रेजी शासन के जमाने में निस्संदेह पारस्परिक द्वेष-भाव ने बहुत योग दिया और देश के दुर्भाग्य से बहुत से अमीचन्द और मीरजाफ़र भी जीवित थे, जिन्हें देश की स्वतन्त्रता बेचने में ज़रा भी भय और लज्जा न थी।

१८५७ ई० के ग़दर तक सम्पूर्ण देश अंग्रेजों के अधीन हो चुका था। जो लोग अधीनता को घृणित समझते थे और जिनका स्वतन्त्रता के प्रति आकर्षण था, वे शक्तियाँ ग़दर में अंग्रेजों की विरोधी बन उनसे भिड़ गईं और एक-एक करके कुचल डाली गईं।

विद्रोह के उपरान्त आलोच्य काल के प्रारम्भ तक केनिंग (१८५६–६१), एल्गिन (१८६२–६३), लारेन्स (१८६४–६९), मेयो (१८६९–७२), नार्थब्रुक (१८७२–७६), का शासन पूर्ण शान्त रहा। राजनीतिक दृष्टिकोण से यह सभी अफ़ग़ानिस्तान की समस्याओं में ही उलझे रहे। १८६३ ई० में अफ़ग़ानिस्तान के अमीर दोस्त मुहम्मद के मर जाने के बाद उसके उत्तराधिकारियों में एक प्रकार का असन्तोष फैल गया। अंग्रेजों को रूस के आक्रमण का भय था। इससे विवश हो उन्हें उधर आकर्षित होना पड़ा। लार्ड लारेन्स की निष्क्रियता की नीति (Masterly Inactivity) से अंग्रेजों की प्रतिष्ठा को काफ़ी धक्का पहुँचा। इस नीति से लार्ड नार्थब्रुक भी असफल रहे। उसके अनन्तर १८७६ ई० में लार्ड लिटन भारत के वायसराय नियुक्त हुए। लिटन की अग्रगामी नीति के कारण अफ़ग़ानिस्तान से अंग्रेजी युद्ध का सूत्रपात हुआ। यद्यपि वहाँ के अमीर शेरअली के निधन के उपरान्त उसके पुत्र याकूब खां ने अंग्रेजों से सन्धि कर ली; पर यह सन्धि सामयिक ही सिद्ध हुई। थोड़े ही समय में अफ़ग़ानों की स्वतन्त्र भावना के कारण अंग्रेजी राजदूत केवेनगरी की हत्या के कारण तृतीय 'अफ़ग़ान युद्ध' प्रारम्भ हुआ। विजय अंग्रेजों के ही पक्ष में

हुई। इस युद्ध-काल में लार्ड रिपन भारत के वायसराय [illegible]। वह बड़े शान्तिप्रिय शासक थे। भारतेन्दु, श्रीधर पाठक एवं राधाकृष्णदास आदि ने उनकी उदारता की भूरि-भूरि प्रशंसा की। लार्ड डफरिन, लेन्सडाउन एवं कर्जन के समय में भी अफग़ानिस्तान एवं पश्चिमोत्तर सीमा का प्रश्न चलता रहा। इसी समय चितराल और भूटान के उपद्रवों को भी शान्त किया गया और थीबो के विरुद्ध युद्ध करके उत्तरी ब्रह्मा अंग्रेजी राज्य में सम्मिलित कर लिया गया। लार्ड डफरिन के शासन-काल में ही १८८५ ई० में अखिल भारतीय राष्ट्रीय समिति (All-India National Congress) की स्थापना हुई थी, जिसका यथा-स्थल वर्णन किया जायेगा।

सन् १८९९ ई० में लार्ड कर्जन के भारत में पधारने पर देश में प्लेग और दुर्भिक्ष का प्रकोप था। जनता में इन सामयिक कष्टों के कारण त्राहि-त्राहि मची हुई थी। लार्ड कर्जन ने देश में भ्रमण कर इन कष्टों के निवारणार्थ प्रयत्न भी किया; किन्तु अंग्रेजों की स्वार्थ-नीति के कारण देश में असन्तोष ही रहा। कर्जन के शासन-काल में बङ्ग-भङ्ग की घटना ने उसे विशेष अप्रिय बना दिया।

(ख) भारतीय राष्ट्रीयता

१८८५ ई० से पूर्व भारतवर्ष में राष्ट्रीय जीवन का चिह्नमात्र भी न था। राष्ट्रीयता के नाते स्वराज्य या सरकार के विषय में कोई सोचता भी न था। ब्रिटिश शासन में सभी प्रसन्न थे और विदेशी सत्ता के अधीन रहने में भारतीय किसी प्रकार के अपमान और पतन का अनुभव भी न करते थे; किन्तु धीरे-धीरे राष्ट्रीयता के बीज वपन हुए और आगे चलकर इसी राष्ट्रीय भावना ने देश को स्वतन्त्र किया।

राष्ट्रीय जागरण की सहायक परिस्थितियाँ

(अ) धार्मिक जाग्रति :—१८८५ ई० से पूर्व भारतीयों की आध्यात्मिक एवं सांस्कृतिक जाग्रति ने देश को राष्ट्रीयता के प्रति जागरूक किया। भारतीय राष्ट्रीय जाग्रति का बहुत कुछ श्रेय राजा राममोहनराय को है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी भारतीयों में स्वतंत्रता, स्वदेश एवं स्वदेशी के प्रति अनुराग जगाया। थियोसोफिकल सोसायटी के द्वारा कर्नल आलकाट, मेडम ब्लेवेस्की एवं एनीबेसेन्ट ने भारत के गौरवपूर्ण अतीत एवं ब्रह्म-ज्ञान का गान कर राष्ट्रीयता का प्रचार किया। इस प्रकार स्वामी रामकृष्ण परमहंस एवं उनके

शिष्य विवेकानन्द से इस ओर अधिक प्रोत्साहन मिला।

(आ) **पश्चिमी शिक्षा** :—पश्चिमी शिक्षा एवं साहित्य के संसर्ग से भी भारतीय राष्ट्रीयता के जन्म होने में सहयोग मिला। मिल्टन, बर्क, मिल, मेकाले और हर्बर्ट स्पेन्सर के साहित्य ने भारतीयों में राष्ट्रीयता एवं स्वराज्य के विचार भर दिये। अंग्रेजी साहित्य मानवता, न्याय और स्वतन्त्रता की भावना से ओत-प्रोत था। इससे भारतीय युवकों का उनका उपासक बनना स्वाभाविक होगया।

(इ) **आर्थिक कारण** :—देश क्रमशः निर्धन हो रहा था। घरेलू उद्योग-धंधों के नष्ट हो जाने से भारतीयों में बेकारी फैल रही थी। इससे शिक्षित भारतीयों को अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति का विरोध करने के लिये उद्यत होना पड़ा।

(ई) **साम्राज्यवादी नीति** :—राष्ट्रीयता के जन्म में अंग्रेजी साम्राज्यवादिता का भी बहुत बड़ा हाथ था। १८३३ ई० के एक्ट के अनुसार भारतीयों को योग्य होने पर भी उच्च सरकारी पदों पर आसीन नहीं किया गया। १८५८ ई० की महारानी विक्टोरिया की घोषणा से भी भारतीयों के प्रति सहृदयता-पूर्ण व्यवहार न किया गया। इससे भी भारतीय अपनी निष्कृति का उपाय सोचने लगे।

उपर्युक्त तथा अन्य परिस्थितियों के कारण इण्डियन नेशनल कांग्रेस की स्थापना ह्यूम महोदय द्वारा १८८५ ई० में की गई। प्रारम्भ में सर फीरोज-शाह मेहता और दादाभाई नौरोजी से इसे सम्पोषण मिला। १८८५ ई० में कांग्रेस का प्रथम अधिवेशन श्री उमेशचन्द्र बनर्जी के सभापतित्व में हुआ। उसके प्रारम्भिक काल में सुधार-सम्बन्धी प्रश्न भी किये जाते थे। व्यवस्थापिका सभा में सुधार करना इसका एक खास कार्य था। १८९० ई० में इसने व्यवस्थापिका सभा में जनतन्त्रात्मक सुधार एवं प्रतिनिधित्व के लिये अपना एक प्रतिनिधि मण्डल इंगलैंड भेजा था। कांग्रेस ने पचास प्रतिशत जनता के प्रतिनिधित्व के लिये माँग की। दादाभाई नौरोजी, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, फीरोज़शाह मेहता, महादेव गोविन्द रानाडे, गोपालकृष्ण गोखले एवं मदनमोहन मालवीय नरम दल (Liberal) के नेता थे, जो शासन-विधान में क्रमशः सुधार चाहते थे। उन्नीसवीं शताब्दी के अन्तिम वर्ष में लोकमान्य तिलक, राष्ट्रीय आन्दोलन के अग्रणी हुए। इनके द्वारा राजनीतिक आन्दोलन जन-आन्दोलन बना दिया गया।

२—सांस्कृतिक प्रगति

भारतीय स्वतन्त्रता के अपहरण से उसके समाज और संस्कृति की विशुद्धता भी लोप हो गई थी। वस्तुतः योरुपीय सभ्यता एवं संस्कृति द्वारा यहाँ की संस्कृति एवं सभ्यता झकझोर डाली गई।

भारतीय अपनी धार्मिक भावनाओं के लिए वेदों, उपनिषदों, ब्राह्मण-ग्रन्थों, महाकाव्यों एवं पुराणों पर पूर्णरूपेण आधारित थे। पूर्ववत् वैष्णवता एवं शैववाद का पूर्ण प्रचार था। इस युग में भी बहुदेववाद, मूर्तिपूजा, भाग्यवाद, एवं तीर्थ-यात्रा आदि में उनकी पूर्ण आस्था थी। समाज में प्रचलित गुरुडमों से धर्म के मूल सिद्धान्तों का उन्मूलन हो चुका था।

भारतीय धर्म-ग्रन्थ संस्कृत में थे। अंग्रेजों के आगमन से पूर्व संस्कृत की हिन्दू समाज में मान्यता थी; किन्तु मुसलमानों के समय से ही अरबी और फ़ारसी राजकीय भाषा के पद पर आसीन कर देने के कारण इसका ह्रास हो उठा था। अंग्रेजी काल में अंग्रेजी शिक्षा का माध्यम होने से संस्कृत के विकास का अवसर ही समाप्त हो गया। संस्कृत के विद्वान् राजकीय सेवा के अयोग्य समझे जाते थे। सामाजिक संस्कार एवं अन्य भारतीय समारोहों के अवसर पर कुल-पुरोहितों द्वारा संस्कृत में संस्कार कराये जाते थे। फिर पुरोहितों और धर्म के ठेकेदारों में अपने पूर्वजों के समान संयम, अध्ययन एवं विद्वत्ता भी न रह गई थी। इससे वे भी स्वार्थ के वशीभूत हो वाग्जाल फैलाकर समाज को ठगने लगे।

वैदिक काल से ही वर्ण-व्यवस्था एवं सम्मिलित कुटुम्ब भारतीय समाज के प्रमुख आधार रहे हैं। इन दोनों ने ही वैयक्तिक प्रतिभा एवं व्यक्तिगत उत्थान की रेढ़ मारी है। जिस जाति में वह जन्म लेता है उसी के निर्धारित सामाजिक घट्टों पर वह चलता चला जाता है। यदि वह अन्यथा करता है तो रूढ़ियाँ उसे मसल देती हैं। फलतः मानव घुट-घुटकर रह गया। पाश्चात्य सभ्यता में व्यक्ति की महत्ता का प्रदर्शन जब उसके समक्ष हुआ, तब भारतीय व्यक्ति ने भी अपने स्वच्छन्द अस्तित्व को समझा और वह भी नियन्त्रणों को तोड़ फेंकने के लिए आकुल हो उठा। धर्म और समाज के ठेकेदारों के समक्ष ही उनके सिद्धान्तों की धूल हो उठी। उस समय ही कुछ धार्मिक सुधारक धर्म के मूल सिद्धान्तों के प्रतिपादन के लिए अग्रसर हुए।

(अ) ब्रह्मसमाज :—सामाजिक, धार्मिक एवं राष्ट्रीय क्षेत्र के अग्रणी राजा

राममोहनराय (१७७२–१८३३) ने १८२८ ई० में ब्रह्मसमाज की स्थापना कर देश को नवचेतना का सन्देश दिया। ईस्ट इंडिया कम्पनी की नौकरी में ईसाई पादरियों के संसर्ग से उन्हें मूर्ति-पूजा, बाल-विवाह, सती-प्रथा, बहु-विवाह एवं छुआछूत बड़े ही पाखंडपूर्ण लगे। उनके हृदय में सच्चे हिन्दू-धर्म एवं भारतीय सांस्कृतिक निधि के लिए उच्च स्थान था। उन्होंने वेद और उपनिषदों से प्रेरणा लेकर समाज में प्रसारित कृत्रिमता और अन्ध-विश्वासों को नष्ट करने का बीड़ा उठाया। उनका ब्रह्मसमाज एक सहनशील संस्था थी, जिसमें दया, उदारता तथा अन्य सभी धर्मों के विश्वस्त सिद्धान्तों का समावेश था।

राजा राममोहनराय के धार्मिक उत्तराधिकारी महर्षि देवेन्द्रनाथ ठाकुर (१८४२ ई०) थे। उन्होंने अपने साधु-जीवन से इसे बड़ा विकासशील बनाया। बंगाल के बाहर भी ब्रह्मसमाज की शाखाएँ स्थापित हुईं। १८६२ ई० में दूसरे महान् व्यक्ति केशवचन्द सेन भी ब्रह्मसमाज में सम्मिलित हो गये। इनके द्वारा ब्रह्मसमाज ईसाई धर्म की ओर झुका।

१८७८ ई० से ब्रह्मसमाज की तीन शाखाएँ हो गईं : "आदि ब्रह्मसमाज" जिससे टैगोर-परिवार सम्बन्धित है, जिसमें भारतीयता प्रमुख है, "नव विधान" जिसमें ईसाई धर्म का अधिक प्रभाव है, इन सब में "साधारण समाज" सबसे अधिक प्रभावशाली और क्रियाशील है। रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी ब्रह्मसमाजी थे। उनका साहित्य मुख्यतः गीतांजलि, जिसने भारतीय काव्य को रहस्यवादी प्रेरणा दी, इसी समाज की एकेश्वरवादिता से ओत-प्रोत है।

(ब) आर्य-समाज :—सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में ब्रह्मसमाज से भी अधिक क्रान्ति लाने का श्रेय 'आर्य-समाज' को है जिसके प्रवर्तक स्वामी दयानन्द सरस्वती (१८२४-१८८३) थे। उन्होंने १८७५ ई० में आर्य-समाज की स्थापना की थी। दयानन्द सरस्वती वेद को ही प्रमाण मानते थे। इससे वैदिक सांस्कृतिक भावना का ही उनके द्वारा प्रचार हुआ। वह भी मूर्ति-पूजा, छुआ-छूत, जाति-भेद एवं बाल-विवाह के विरोधी थे। आर्य-समाज के दार्शनिक सिद्धान्तों ने उत्तर भारत में विकास की नवीन चेतना दी।

"गतानुगतिकता के विरोध और बौद्धिकता के समावेश में आर्य-समाज और ब्रह्मसमाज दोनों समान हैं; किन्तु जहाँ "ब्रह्म समाज" समाज के उच्च स्तर में बौद्धिक और आत्मिक चेतना ला सका, वहां आर्य-समाज ने निम्न स्तर में भी जागरण को स्थान दिया।"[१]

---

१. डा० सुधीन्द्र—'हिन्दी कविता में युगान्तर', पृष्ठ १४।

आर्य-समाज ने धार्मिक, सामाजिक, शैक्षिक एवं राजनीतिक सभी क्षेत्रों में देश को नवीन स्फूर्ति प्रदान की।

(स) थियोसोफिकल सोसायटी :—मेडम ब्लेवेस्की एवं कर्नल आलकाट ने १८७५ में इसकी स्थापना न्यूयार्क में की थी। कालान्तर में यह दोनों संस्थापक भारत में भी पधारे और देश का भ्रमण कर भारतीयों को उनके गौरवपूर्ण अतीत का ध्यान दिलाया और हिन्दू-धर्म में जो भी बुराइयां प्रचलित थीं उनको दूर करने का उपदेश दिया। इस प्रकार इस सोसायटी ने भारतीयों को राष्ट्रीय धर्म का सम्मान कराना सिखाया। अनन्तर एनीबेसेन्ट (१८९३) ने आकर इस सोसायटी का बड़ा कार्य किया। सर वैलेण्टायन चिरोल ने अपने "इण्डियन अनरेस्ट" में लिखा है :

"मेडम ब्लेवेस्की और कर्नल आलकाट के नेतृत्व में थियोसोफिस्टों के आने से हिन्दू जाग्रति को एक नई शक्ति मिली और किसी भी हिन्दू ने इस आन्दोलन को संगठित एवं व्यवस्थित करने के लिये उतना काम नहीं किया जितना एनी-बेसेन्ट ने। उन्होंने सेण्ट्रल हिन्दू कालेज, बनारस और मद्रास के समीप अदयार-वाली थियोसोफिकल संस्था द्वारा पश्चिमी भौतिक सभ्यता के सामने हिन्दू-धर्म की महानता की घोषणा कर दी है। हिन्दुओं का हमारी सभ्यता की तरफ से मुँह मोड़ लेना तक क्या आश्चर्य की बात है जब कि एक योरुपीयन महिला जो बहुत ही पढ़ी-लिखी और बुद्धि में तेज व भाषण देने की असाधारण शक्ति वाली हैं, आकर उन्हें यह बताती हैं कि सर्वोच्च ज्ञान की कुंजी उन्हीं के पास है और हमेशा से रही है। उनके देवता, उनके तत्वदर्शन और उनकी नैतिकता विचार की उससे भी ऊँची सीमा पर है, जहाँ पच्छिम कभी पहुँचा है।"

(द) रामकृष्ण-मिशन—ब्रह्म-समाज और आर्य-समाज के समान रामकृष्ण-मिशन ने भी देश को नवीन दिशा की ओर जाग्रत किया। रामकृष्ण परमहंस (१८३४-१८८६) के सिद्धान्तों एवं थियोसोफिकल सोसायटी के सिद्धान्तों ने देश में ईसाई-धर्म के प्रचार को रोका। रामकृष्ण परमहंस के सिद्धान्त भारतीय आध्यात्मिक जीवन के सम्पोषक थे। इस मिशन द्वारा हिन्दू-शास्त्रों के विचारों को सरल और ज्ञानप्रद व्याख्या द्वारा समाज तक पहुँचाया गया। स्वामी विवेकानन्द इसके दृढ़ स्तम्भ थे।

उपर्युक्त धार्मिक सुधारों से देश को अपना अस्तित्व समझने का बल मिला। भारतवासी समझ सके कि अतीत के पुण्य, जो उनमें अब भी अवशेष हैं, उनके आधार पर जीवन में उत्थान हो सकता है, वही सत्य भी हुआ।

देश नये विकास और नई विचारधारा को स्वीकार करने के लिये तैयार हो गया।

३—आर्थिक प्रगति

अंग्रेजों के आगमन से राष्ट्रीय जीवन के समान ही आर्थिक जीवन को भी बड़ा धक्का लगा। अंग्रेज ने नवीन आविष्कारों से सभी प्रकार के उत्पादनों को बढ़ाकर भारत को अपना बाजार बनाया। वे सदैव से ही सफल व्यापारी थे। व्यापार के साथ वे राजनैतिक चालों का भी प्रयोग करते थे। इससे दोनों क्षेत्रों में उनका एकाधिपत्य हो गया।

भारत में आदि-काल से आर्थिक जीवन परस्पर के आदान-प्रदान पर निर्भर था। ग्रामों और नगरों में पूर्ण समृद्धता थी। पटना, ढाका, मुंगेर, बनारस, कन्नौज, आगरा और इटावा आदि बहुत काल तक व्यापारिक केन्द्र रहे; किन्तु उनका उत्पादन मशीनों के उत्पादन की प्रतियोगिता में खड़ा न हो सकने के कारण बाजार में उपेक्षित हो उठा।

"गाँवों के धन्धों की बर्बादी से इन लोगों को बहुत बड़ा धक्का लगा। कृषि और उद्योग का संतुलन बिगड़ गया। श्रम का परम्परा से चला आया विभाजन टूट गया और अलग-अलग काम करने वाले आदमियों की बहुत बड़ी संख्या को किसी काम में आसानी से नहीं लगाया जा सकता था।"[1]

भारत के माल की खपत न हो सकने के कारण यहाँ का उत्पादन समाप्त हो गया। भारतीय कारीगर जैसे जुलाहे आदि मशीनों की प्रतियोगिता के स्थिर न हो सकने के कारण भूखों मरने लगे, युगों से परतन्त्रता की बेड़ियों में आबद्ध भारतीय अपनी राष्ट्रीय भावना को खो ही चुके थे, फिर उनका ध्यान अपने इस अहित की ओर कैसे आकृष्ट होता।

देश की इस शोचनीय आर्थिक परिस्थिति के लिये अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीति ही उत्तरदायी है। देश में भुखमरी फैल गई। ग्रामीण क्षेत्र का सुख और आनन्द सदैव के लिये तिरोहित हो गए। १८६१ ई० से १८९९ ई० तक देश में ६-७ दुर्भिक्ष पड़े।

"१८६० ई० में पश्चिमोत्तर प्रान्त एवं अलवर राज्य में, १८६६-१८६७ ई० में कलकत्ता से मद्रास तक सभी समुद्री किनारों पर, १८६८-६९ ई० में

१. जवाहरलाल नेहरू—'हिन्दुस्तान की कहानी', पृष्ठ ३७३ (सस्ता साहित्य मंडल, दिल्ली)

पंजाब और राजपूताना में, १८७३ ई० में बिहार में, १८७६-७८ ई० में मद्रास, मैसूर, हैदराबाद, बम्बई तथा अवध में, १८८०-९६ ई० में सम्पूर्ण देश में तथा १८९६-९७ में अवध, बिहार, मध्यभारत, मद्रास, बम्बई तथा पंजाब में अकाल पड़े।"[1]

समाज की आर्थिक स्थिति वास्तव में बड़ी ही शोचनीय थी :—

अंग्रेज राज सुख-साज सजे सब भारी।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी॥
ताहू पै मँहगी काल रोग विस्तारी।
दिन-दिन दूने दुख ईस देत हा हा री॥[2]

◇ ◇ ◇

जहाँ कृषी वाणिज्य शिल्प सेवा सब माहीं।
देसिन के हित कछू तत्व कहूँ कैसहु नाहीं॥[3]

कांग्रेस के आन्दोलन का मूलाधार भी देश की बढ़ती हुई निर्धनता को रोकना था।

४—युग का स्वच्छन्दतावादी काव्य

रीतिकाल में काव्य की जिन प्रवृत्तियों का प्रारम्भ केशवदास, चिन्तामणि एवं मतिराम द्वारा किया गया था, उनका अबाध प्रवाह पद्माकर तक आते-आते मन्द पड़ चुका था। काव्य जीवन की व्याख्या है—कवि इसे भूल चुका था। इससे जीवन से दूर विलास-भवन एवं केलि-उद्यान के गान-गाने में ही वह प्रवृत्त रहा। वियोग-जनित नायिकाओं की निश्वासों और अभिसारिकाओं की साज-सज्जा में उसने अपने को भुला दिया। काव्य अपनी वास्तविक भूमि से भटक गया।

धीरे-धीरे परिस्थितियों में परिवर्तन उपस्थित हुए। राजनीतिक परिवर्तनों के उपस्थित होने के कारण भारतीय परम्पराओं और उसकी संस्कृति को धक्का लगा। अंग्रेज़ों के अत्याचार एवं अनाचारों से समाज में 'टिक्कस' बढ़े और

---

१. भारत का इतिहास, भाग २—डा० ईश्वरीप्रसाद, पृष्ठ ४९७-९८ (इण्डियन प्रेस, प्रयाग)।
२. भारत दुर्दशा, 'भारतेन्दु ग्रंथावली' भाग १, पृष्ठ ४७० (ना० प्र० स०, काशी)।
३. 'प्रेमघन सर्वस्व'—भूमिका, पृष्ठ १० (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

अकालों की संख्या बढ़ गई। अंग्रेज़ी साहित्य के संसर्ग से भी देश-वासियों को प्रेरणाएँ मिलीं। अभी तक जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामन्त-भावना प्रधान थी; किन्तु नवीन परिवर्तनों के कारण मानव को जीवन का सत्य एवं न्याय समझने के लिये बाध्य होना पड़ा। इससे परिस्थितियों के अनुरूप ही जागरण के गान-गाने के लिए कवि को बाध्य होना पड़ा।

भारतेन्दु के समय से ही वर्तमान हिन्दी काव्य की जो धारा बही है, उसमें प्राचीन काव्य-धारा की कई प्रवृत्तियों जैसे वैष्णव-भक्ति एवं शृंगार आदि के साथ कुछ नई भावनाओं का भी समावेश हुआ। इनमें सबसे प्रधान राष्ट्रीयता, देश-प्रेम अथवा स्वतन्त्रता की भावनाएँ हैं। राष्ट्रीय वीरों के गान, राष्ट्र-पतन के लिए दुःख, समाज की अवनति के लिए क्षोभ, कुरीतियों के परिहार के लिए अधीरता और तत्परता आदि भारतेन्दु-युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं।

इस प्रकार विषयों के क्षेत्र में शास्त्रीय विषयों के साथ-साथ स्वच्छन्दतावादी विषयों का समावेश भी अनिवार्य हो गया। यह स्वच्छन्दवादिता (Romanticism) केवल विषयों के क्षेत्र तक ही सीमित न रही; किन्तु छन्द एवं भाषा के क्षेत्र में भी उसका सफल प्रयोग हुआ। अभी तक छन्दों के क्षेत्र में कवित्त, सवैया एवं पदों का ही प्रयोग था; किन्तु अब लावनी, ख्याल, कजली एवं होली आदि छन्दों का भी प्रयोग होने लगा। भाषा के क्षेत्र में भी परिवर्तन उपस्थित हुए, अभी तक ब्रजभाषा ही काव्य की भाषा थी; किन्तु अब सरल और स्वाभाविक बोल-चाल की भाषा को भी काव्य में प्रयुक्त किया जाने लगा। नवीन भाव-धारा के अनुकूल ही यत्र-तत्र खड़ी बोली का प्रयोग कवि की स्वच्छन्द-भावना को ही व्यक्त करता है।

उपर्युक्त स्वच्छन्दवादिता भारतेन्दु, डा० जगमोहन सिंह, प्रेमघन एवं श्रीधर पाठक में उपलब्ध होती है। इस सम्बन्ध में डा० रघुवंश का कथन है :—

"भारतेन्दु-युग की कविता में कोई क्रान्तिकारी परिवर्तन नहीं हुआ, ऐसा माना जाता है पर यदि उसकी मूल भावना पर विचार किया जाय तो स्पष्ट हो जाय कि इस युग में ही आगे के विद्रोही युग की भूमिका की नींव पड़ चुकी थी। यद्यपि इस युग की कविता में भाषा, भाव तथा शैली सभी कुछ एक प्रकार से प्राचीन परम्परा का है, पर यदि ध्यान दिया जाय तो नव-चेतना का उद्बोधन इस युग के कवियों में पाया जाता है। ब्रजभाषा के साथ खड़ी बोली का प्रयोग होने लगा था, प्राचीन छन्दों के स्थान पर लोक-प्रचलित छंदों—जैसे

कजली, विरहा, रेखता तथा मलार आदि का प्रयोग किया गया। इस काव्य में नवीन आदर्शों के प्रति आग्रह भी मिलता है। रीतिकालीन रूढ़िगत प्रेम के आदर्श के स्थान पर इस युग में प्रेम को अधिक स्वस्थ तथा उन्मुक्त वातावरण मिला है। व्यक्ति-स्वातंत्र्य तथा राष्ट्रीय भावना की भी अपने ढंग से अभिव्यक्ति हुई है, यद्यपि इस समय उनको आज के अर्थ में नहीं समझा जा सकता। इन कवियों में मस्ती तथा निर्द्वन्द्वता कल्पनाशील तथा संवेदनशील होने के साक्षी हैं। वर्तमान परिस्थिति के प्रति असन्तोष, परम्परागत रूढ़ियों के प्रति विद्रोह तथा सामाजिक बन्धनों के प्रति क्षोभ इस युग में जन्म ले रहा था, जिस भूमिका पर रोमांटिक काव्य विकसित होता है। परन्तु देश की राजनीतिक तथा सांस्कृतिक प्रगति देशी सामन्तवाद तथा विदेशी साम्राज्यवाद के दो किनारों से टकराकर आगे बढ़ रही थी।"[1]

(ख) द्विवेदी-युग (१९००–१९२० ई०)

हिन्दी-साहित्य के इतिहास के आधुनिक युग में 'द्विवेदी-युग' सुधारवादी प्रवृत्तियों के कारण अपनी महत्ता रखता है। यद्यपि विषय, छंद एवं भाषा के संबंध में क्रान्ति के बीज भारतेन्दु जी के समय ही से अंकुरित हो उठे थे; किन्तु भाषा का शैथिल्य एवं लचरपन पूर्ववत् ही था। भाषा में एकरूपता अभी तक न आ पाई थी। इससे एक शब्द विविध रूपों में प्रयुक्त होता था। शब्दों और वाक्यों के निर्माण में भी किसी भी प्रकार का अनुशासन न था। द्विवेदी-युग में महावीरप्रसाद द्विवेदी के व्यक्तित्व से यह सुधार कार्यान्वित हुए और युग में साहित्य की प्रत्येक शाखा पर द्विवेदी जी का प्रभाव अक्षुण्ण था, इससे उन्हीं के नाम से यह युग प्रसिद्ध हुआ।

द्विवेदी जी का प्रभाव सरस्वती-सम्पादन के प्रारम्भ से साहित्य-क्षेत्र पर पड़ने लगा था और उनके सम्पादन-काल में एक नवीन सजीवता थी। यों उनके द्वारा उसका सम्पादन फरवरी, १९०३ ई० से प्रारम्भ हुआ और जनवरी, १९२१ ई० में उनका सम्पादन-काल समाप्त हुआ; किन्तु साहित्य-क्षेत्र में उनके अवतरित होने से पूर्व भाषा का सुधार आवश्यक ही नहीं अनिवार्य समझा जाने लगा था। इससे इस युग का प्रारम्भ १९०३ ई० से न करके १९०० ई० से करते हैं और उनके पूर्ण सम्पादन-काल को न लेकर १९२० ई० तक उसे सीमित करते हैं।

---

१. डा० रघुवंश—'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां' भूमिका अंश, पृष्ठ २ (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)।

१. राजनीतिक प्रगति

(क) अंग्रेजी साम्राज्यवादिता

लार्ड कर्जन का शासन-काल भारतीय जनता के लिए बड़ा ही असन्तोष-जनक रहा। उसने अपने हठी स्वभाव से भारतीयों को रुष्ट कर दिया। भारतीयों ने अंग्रेजी शासन का विरोध करना निश्चित कर लिया। वैधानिक साधनों से सफलता मिलते न देखकर उन्होंने हिंसात्मक ढंगों को भी अपनाना प्रारम्भ कर दिया। १९०५ ई० में जापान ने रूस को परास्त कर दिया, इससे भारत एवं अन्य परतन्त्र देशों को अपने स्वतंत्र होने की बड़ी प्रेरणाएँ मिलीं, क्योंकि इस पराजय से अजेय योरुप के सम्मान को काफी धक्का लगा था।

इस समय ही अफ्रीका और इंगलैण्ड आदि में रहने वाले भारतीयों के प्रति बड़े ही अनादर एवं उपेक्षापूर्ण व्यवहार किये गये। इससे भी भारत-निवासियों को बड़ी ही व्यथा और क्षोभ हुआ। देश की आन्तरिक स्थिति भी प्लेग, दुर्भिक्ष एवं महामारी के कारण बड़ी जर्जरित थी। इससे भारतीयों ने अपने को स्वतन्त्र करने का दृढ़ निश्चय कर लिया। इन असन्तोषों के कारण १९०५ ई० में मिण्टो वायसराय नियुक्त हुए। मिण्टो और भारत-सचिव मार्ले ने मिलकर १९०९ ई० में कुछ सुधार "मिण्टो-मार्ले सुधार" के नाम से घोषित किये। केन्द्रीय एवं प्रान्तीय धारा-सभाओं में सदस्यों की संख्या अवश्य बढ़ा दी गई; किन्तु जनता को किसी प्रकार का संतोष न हुआ। यह सुधार अंग्रेजों की दुर्बलता ही समझी गई। फलतः राष्ट्रीय आन्दोलन और भी प्रबलता से प्रगतिशील हुआ। १९०९ ई० के सुधारों से हिन्दू-मुस्लिम विभाजित प्रणाली के निर्वाचन की स्वीकृति से मुस्लिम लीग को अपना अस्तित्व जमाने में प्रोत्साहन अवश्य मिला; किन्तु देश का भाग्य भी उसी क्षण से फूट गया।

लार्ड हार्डिंज के समय में १९११ ई० में जार्ज पंचम एवं उनकी सम्राज्ञी मेरी के पधारने पर दिल्ली में दरबार किया गया। इसमें हुई घोषणा के अनुसार भारत की राजधानी कलकत्ता से हटाकर दिल्ली बनाई गई तथा विभाजित बंगाल पूर्ववत् एक कर दिये गये। १९१२ ई० में जब लार्ड हार्डिंज नवीन राजधानी दिल्ली में प्रवेश कर रहे थे, उनके ऊपर बम फेंका गया। यह घटना ही व्यक्त करती है कि जनता अंग्रेजी शासन से बड़ी क्रुद्ध थी।

इसी समय १९१४ ई० में योरुपीय महायुद्ध का प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजों ने इस युद्ध के उद्देश्य स्वतन्त्रता, जनतन्त्र एवं नागरिक अधिकारों के संरक्षण बतलाए। उन्होंने युद्ध के उपरान्त भारत को स्वतन्त्र कर देने का

वचन भी दिया। फलतः कांग्रेस ने अंग्रेजों की जन-धन से सहायता भी की। किन्तु युद्धोपरान्त भारत को कुछ न मिला।

(ख) भारतीय राष्ट्रीयता

१८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना अवश्य हो गई थी; किन्तु १९०५ ई० तक कांग्रेस ने कोई भी प्रमुख रूप धारण न कर पाया।

"कांग्रेसियों के दिलों में कभी-कभी कुछ उत्तेजना और रोष के भाव आ गये हों, पर इसमें कोई शक नहीं कि ठेठ १८८५ ई० से १९०५ ई० तक कांग्रेस की जो प्रगति हुई उसकी बुनियाद थी—वैध आन्दोलन के प्रति उनका दृढ़ और अंग्रेजों की न्यायप्रियता पर अटल विश्वास ही।"[1]

१९०५ ई० में जब कर्जन द्वारा बंग-भंग हुआ तब अंग्रेजों के दमन ने भारतीयों के विश्वास को कुचल डाला।

"बंग-भंग ने बंगाली भाषा-भाषी जनता को उनकी इच्छाओं के विरुद्ध दो प्रान्तों में बाँट दिया था। इसके परिणामस्वरूप जहाँ जनता में एक व्यापक और जबर्दस्त आन्दोलन प्रारम्भ हुआ वहाँ सरकार ने भी उग्रता से दमन शुरू कर दिया। जुलूस, सभा तथा अन्य प्रदर्शन किये जाते थे, उधर सरकार उन्हें रोक देती थी। हड़तालें होती थीं और विद्यार्थी तथा नागरिक एक-सी सजा पाते थे।"[2]

"इस आन्दोलन में विद्यार्थियों ने भी सहयोग दिया; किन्तु जब सरकार द्वारा विद्यार्थियों को सहयोग देने से रोका गया तब अंग्रेजी स्कूलों और कालेजों का वहिष्कार किया गया और राष्ट्रीय शिक्षा के प्रचार को प्रमुखता दी गई। इसमें विपिनबाबू और अरविन्दबाबू ने सक्रिय भाग लिया। १९०६ ई० में कांग्रेस के सभापति-पद से दादाभाई नौरोजी ने 'स्वराज्य' को कांग्रेस का लक्ष्य बतलाया। १९०७ ई० के सिडीसम-एक्ट के कारण सभाएँ राजद्रोही सिद्ध की गईं तथा १९०८ ई० के 'न्यूज पेपर्स एक्ट' द्वारा तत्कालीन प्रगतिशील 'वन्देमातरम्', 'युगान्तर' और 'संध्या' आदि बहुत से पत्र बन्द हो गये। इसी एक्ट के अन्तर्गत 'केसरी' के सम्पादक लोकमान्य तिलक पर मुकदमा चला। उनका ६ मास का निर्वासन हुआ तथा एक हज़ार रुपये का आर्थिक दण्ड दिया गया।"[3]

---

१. डा० पट्टाभि सीतारमय्या—'कांग्रेस का इतिहास' भाग १, पृ० १५।
२. " " " " पृ० ५८।
३. डा० ईश्वरीप्रसाद—'भारत का इतिहास' भाग २, पृ० ५५०।

१९११ ई० में जार्ज पंचम के राज्याभिषेक-महोत्सव पर विभाजित बंगाल एक कर दिया गया। 'माण्टफोर्ड' सुधारों से देश को अच्छे भविष्य की आशा जान पड़ी; किन्तु लार्ड हार्डिंज पर बम फेंके जाने के कारण दमन जोरों से चला। यद्यपि कांग्रेस के सभापति-पद से इस पर दुःख प्रकट किया गया और सहानुभूति का तार भी लार्ड हार्डिंज के पास भेजा गया।

१९१३ ई० में १९०६ ई० की स्थापित मुस्लिम लीग ने भी स्वराज्य प्राप्त करना अपना उद्देश्य बतलाया। सौभाग्य से इसी समय टर्की का बादशाह कमाल पाशा, जो मुसलमानों का खलीफा भी था, अपने राज्य से अंग्रेजी साम्राज्यवादिता को समूल नष्ट कर देने के लिये अग्रसर हुआ। इस कारण भारतीय मुसलमानों का दृष्टिकोण भी अंग्रेजों के विरुद्ध हो गया। फलतः कांग्रस और मुस्लिम लीग दोनों ने एक होकर अपने स्वराज्य आन्दोलन को आगे बढ़ाया।

१९१४ ई० में एनीबेसेन्ट कांग्रेस में सम्मिलित हुई और १९१५ ई० में महात्मा गांधी अफ्रीका से भारत में पधारे। सत्य और अहिंसा उनके प्रचण्ड अस्त्र थे। इस प्रकार उनके पधारते ही देश की राष्ट्रीयता के साथ इन तत्वों का भी स्वतः सम्मिश्रण हो गया।

२. सांस्कृतिक प्रगति

सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्र में द्विवेदी-युग में हम किसी प्रकार का परिवर्तन नहीं पाते हैं। भारतेन्दु-युग की जो भी प्रगतियाँ थीं अथवा उस युग में या उससे पूर्व भी सुधार-प्रवर्तक नवीन सन्देश लेकर अवतरित हुये थे वे सब विचार-धाराएँ इस युग में भी विकासशील रहीं। भारतेन्दु-युग के साहित्य के समान द्विवेदी-युग का साहित्य भी इन प्रगतियों से प्रभावित रहा है।

द्विवेदी-युग (१९००–१९२०) में इस प्रकार की एक नवीन शक्ति का जन-वर्ग को निश्चय हुआ, जिसका प्रभाव अब तक अजर और अमर है। इस शक्ति ने भारत को ही नहीं; किन्तु सम्पूर्ण विश्व को बन्धुत्व, मानवता, सत्यता एवं अहिंसा का पाठ पढ़ाया है। यह शक्ति थी महात्मा गांधी का 'अहिंसावाद'।

भारत के राष्ट्रीय आन्दोलन को नवीन मोड़ देने का श्रेय महात्मा गान्धी को है। उन्होंने सत्य एवं अहिंसा जैसे गुणों को अपनाया और सत्याग्रह को देश के इस स्वातंत्र्य-संग्राम के लिये अपना अस्त्र बनाया। गांधी जी ने जब भी अन्याय एवं अत्याचार देखा उन्होंने उसका घोर विरोध किया। उनका 'सत्याग्रह'

बुद्ध एवं ईसा के अहिंसावाद पर आधारित था। इससे इस प्रकार के आन्दोलनों में उन्हें सुख का अनुभव होता था।

महात्मा गांधी ने अपनी उपर्युक्त धार्मिक विचारधारा को राजनीतिक विचारधारा से जोड़ दिया था। उनका विश्वास था, जिस प्रकार जीवन से राजनीति सम्बन्धित है उसी प्रकार राजनीति से धर्म सम्बन्धित है। यों १९१५ ई० में महात्मा गांधी भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में सम्मिलित हुए थे; किन्तु धर्मपरक उनके राजनीतिक सिद्धान्तों का परिचय देश को १९०८–९ से ही होने लगा था। अफ्रीका के गोरों के विरुद्ध गांधी जी की विजय इन्हीं धर्म-प्रधान राजनीतिक विचारों के कारण हुई थी।

थोड़े समय में गांधी जी के विचारों से सम्पूर्ण देश प्रभावित हो उठा। राष्ट्रीय आन्दोलन का उनके द्वारा प्रतिनिधित्व किया गया।

महात्मा गांधी के अहिंसावादी सिद्धान्तों का साहित्य पर भी काफी प्रभाव पड़ा। १९१५ ई० के उपरान्त के साहित्य में गांधी-विचारधारा का प्रभाव अक्षुण्ण है। आधुनिक-युग के काव्य और कला को रवीन्द्र बाबू से तथा राजनीति में गांधी जी से प्रेरणाएँ मिली हैं। इससे 'आधुनिक-युग' को 'गांधी-रवीन्द्र-युग' की संज्ञा भी दी गई है।

३. आर्थिक प्रगति

देश की आर्थिक प्रगति पूर्ववत् ही असन्तोषजनक थी। अकाल और भुखमरी से देश बड़ा पीड़ित और जर्जरित था। कृषकों एवं कारीगरों की दशा दिनानुदिन शोचनीय हो रही थी। अंग्रेजी सरकार स्वार्थ-प्रधान थी। इससे उनके द्वारा सहृदयतापूर्वक देश की दीन-हीन दशा को सुधारने का प्रयास किया ही नहीं गया।

४. युग का स्वच्छन्दतावादी काव्य

ब्रजभाषा काव्य में १९वीं शताब्दी के उपरान्त किसी प्रकार का विकास नहीं है। बीसवीं शताब्दी में काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का प्रयोग किया गया। इस प्रकार के नवीन प्रयोग भारतेन्दु जी द्वारा अपने नाटकों में और श्रीधर पाठक द्वारा काव्यों में प्रयुक्त हुये थे। २०वीं शताब्दी में तो अधिकांशतः कवियों का खड़ी बोली के प्रयोग का आग्रह ही रहा है। संस्कृत वृत्तों के प्रयोग एवं अतुकान्त रचना करने का संकेत भी द्विवेदी जी ने

अपने अनुयायियों को दिया है, इन क्षेत्रों में वह स्वयं भी बढ़े और दूसरों को बढ़ने का सन्देश भी दिया। द्विवेदी-युग में इतिवृत्तात्मक काव्य का प्राधान्य है। उन्होंने भाषा के क्षेत्र में नवीनता का आग्रह अवश्य किया; परन्तु द्विवेदी जी की विचारधाराओं में शास्त्रीयता का पूर्ण प्रतिपादन है। उनके शास्त्रीय सिद्धान्तों का पालन मैथिलीशरण गुप्त, माधव शुक्ल रामचरित उपाध्याय एवं लोचन प्रसाद पाण्डेय आदि ने किया है।

उपर्युक्त कवियों के द्वारा भारतेन्दुयुगीन स्वच्छन्दतावादी धारा की प्रगति में व्यवधान अवश्य पड़ा; परन्तु यह धारा पूर्ण अवरुद्ध नहीं हो पाई। इससे स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति क्रमशः प्रवाहशील बनी ही रही। स्वच्छन्द-वादिता के क्षेत्र में स्वयं श्रीधर पाठक अपने मौलिक एवं अनूदित काव्यों द्वारा उसे बल और जीवन प्रदान कर रहे थे।

डा० रघुवंश ने 'द्विवेदी-युग' की स्वच्छन्द भावना की प्रगति के सम्बन्ध में निम्न विचार प्रकट किये हैं :—

"द्विवेदी-युग रोमाण्टिक काव्य का स्वच्छन्द युग न होकर पुनरुत्थान की भावधारा को सामने लाया। सुधारवादी आन्दोलनों से प्रेरणा ग्रहण कर काव्य जीवन के व्यापक स्तर पर उतरने लगा, यह भावना केवल पाश्चात्य साहित्य के प्रभाव से विकसित हुई हो, ऐसी बात नहीं है। यह काव्य जिस मध्यवर्ग से सम्बन्धित है वह अपनी भावनाओं, आकांक्षाओं तथा आदर्शों को अभिव्यक्ति का रूप दे रहा था। इसमें भी वर्तमान के प्रति बहुत बड़ा क्षोभ और असन्तोष है और रूढ़ियों के प्रति विद्रोह की भावना भी है, पर वे कवि नवीन मूल्यों तथा आदर्शों की स्थापना के लिये गौरवपूर्ण अतीत की ओर मुड़ गये हैं। इस मोड़ के कारण साहित्य में रोमाण्टिक काव्य की उन्मुक्त तथा स्वच्छन्द मनोवृत्ति दब गई है और उनके स्थान पर आदर्श, मर्यादा तथा नीतिमत्ता का आग्रह बढ़ गया है। पर इस युग के काव्य में शुद्ध रोमाण्टिक धारा भी रक्षित रही है। श्रीधर पाठक, रामनरेश त्रिपाठी, मुकुटधर पाण्डेय आदि में भाषा शैली के साथ-साथ जीवन तथा जगत् के प्रति रोमाण्टिक दृष्टिकोण मिलता है।"[१]

---

१. डा० रघुवंश—'हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियां,' भूमिका अंश, पृष्ठ ३। (राजकमल प्रकाशन, दिल्ली)

(ग) छायावादी युग (१६२०–१६२५)

आचार्य द्विवेदी की प्रेरणा से 'द्विवेदी-युग' में स्थूल इतिवृत्तात्मक काव्य प्रभूत मात्रा में रचा जा चुका था। उपदेशात्मक एवं नीतिवादी काव्य से वातावरण तृप्त दिखलाई पड़ता था। इससे उसकी प्रतिक्रिया होनी स्वाभाविक थी। फलस्वरूप कवि सूक्ष्म भावों से युक्त विषयों को लेकर चला। यह नवीन परिवर्तन बड़ा आशाजनक तथा प्रगतिशील सिद्ध हुआ।

स्थूल की प्रतिक्रिया-स्वरूप सूक्ष्म मनोभावों का प्रतीकात्मक शैली में काव्य-सृजन छायावादी काव्य की प्रवृत्ति है। दुःखवाद, व्यक्तिवाद, मानव-गौरव, स्वदेश-प्रेम एवं प्रकृति में मानवीय भावों का आरोपादि छायावादी काव्य की काव्यगत विशेषताएं हैं। इस शैली में जब ईश्वर की अजर और अमर शक्ति की ओर कवि अपने काव्य में संकेत करता है, तब रहस्यवादी काव्य का सृजन हो उठता है।

रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि ने इस प्रकार के काव्य की प्रेरणा हिन्दी को प्रदान की। वस्तुतः १६१५ ई० में मुकुटधर पाण्डेय, मैथिलीशरण गुप्त एवं बदरीनाथ भट्ट के काव्य में मुक्तक एवं छायावादी काव्य के लक्षण प्रसूत होने लगे थे। इस प्रकार १६२५ ई० तक छायावादी काव्य अपना स्थान बनाने में प्रवृत्त रहा है। इसके प्रारम्भिक स्वरूप को प्रस्तुत करने में प्रसाद, पन्त और निराला सभी व्यस्त हैं। १६२५ ई० के उपरान्त तो छायावादी काव्य का अबाध प्रवाह ही बह उठता है, जो १६४० ई० तक विद्यमान रहता है।

अब हमें छायावाद की पृष्ठभूमि को देखना है, जिससे अभिप्रेरित हो छायावादात्मक काव्य के सृजन की प्रेरणाएं मिली हैं। देश की राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं आर्थिक परिस्थितियां इस भावधारा को लाने में अत्यधिक उत्तरदायी भी हैं।

१—राजनीतिक प्रगति

(क) अंग्रेजी साम्राज्यवादी नीति

निवेदन किया जा चुका है कि योरुपीय महायुद्ध में भारतीयों ने अपने उन्मुक्त हृदय से अंग्रेजों को सहयोग दिया था। भारतीय युवक देश की निष्कृति के लिए योरुपीय भूमि पर साहस और वीरता से अपना रक्त बहा रहे थे। देश

के राजे-महाराजे और धनी-मानी गण्यमान व्यक्ति धन-जन से सहायता देकर भविष्य की सदाशा में थे; किन्तु १६१६ ई० में 'माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट' के आधार पर जो सुधार मिले, वे पूर्ण रूप से अपर्याप्त थे। केवल इन सुधारों से केन्द्रीय एवं प्रान्तीय धारासभाओं में भारतीय सदस्यों की संख्या की ही अभि-वृद्धि हुई थी। वायसराय एवं गवर्नरों के अधिकार अभी पूर्ववत् ही थे। फलतः भारतीय खिसियाकर रह गये। खिलाफत के प्रश्न पर मुसलमान चिढ़े हुए थे। इतना होने पर भी सरकार देश के वैधानिक एवं राजनीतिक संघर्ष को भी कुचलने के लिये तुली हुई थी। जलियाँवाले बाग के अमानुषिक हत्याकाण्ड एवं पंजाब के सैनिक शासन से भारतीयों के असंतोष की वृद्धि ही हुई।

१६१६ ई० के सुधारों की प्रतिक्रिया देखकर १६२४ ई० में 'मुडीमैन कमेटी' की स्थापना की गई। १६२५ ई० में उस कमेटी की रिपोर्ट पर धारासभा में विचार हुआ। मोतीलाल नेहरू ने द्वैध शासन प्रणाली को अनुपयुक्त सिद्ध किया। देश में हिन्दू-मुस्लिम सांप्रदायिक दंगे निरन्तर चल रहे थे, जिससे लाभ उठाकर अंग्रेज अपने को शक्तिशाली बनाये हुए था। देश का ऐक्य भाव नष्ट हो रहा था, जिससे राष्ट्रीयता का ह्रास होना स्वाभाविक ही था तथापि महात्मा गांधी के नेतृत्व में जनता को संतोष और धैर्य था। सामयिक व्यवधानों के होते हुए भी देश भविष्य में मुक्ति की आशा से अंग्रेजों से जूझता चला आ रहा था।

(ख) भारतीय राष्ट्रीयता

अंग्रेजी साम्राज्यवादिता की खोखली नीति से 'माण्टेग्यू-चैम्स्फोर्ड' के सुधार एवं 'रॉलेट एक्ट' से जनता का असंतोष बढ़ा ही। पंजाब के हत्याकाण्डों की जांच के लिए सरकार ने 'हण्टर कमेटी' स्थापित की थी। कांग्रेस ने भी इसकी अलग से जांच करवाई थी। कांग्रेस की रिपोर्ट से अंग्रेजी सत्ता की पोल खुल गई। राष्ट्रीय आन्दोलन पुनः वेग से चल पड़ा।······कांग्रेस का अगला आन्दोलन महात्मा गांधी के नेतृत्व में चला और स्वतन्त्रता उपलब्धि तक कांग्रेस के जितने भी आन्दोलन हुए सभी उन्हीं के निरीक्षण में चले। इससे १६२० ई० से देश के इतिहास में 'गांधी-युग' का सूत्रपात होता है।

१६२० ई० के कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में गांधी जी के असहयोग आन्दोलन के सिद्धान्तों को स्वीकार कर लिया गया। इस आन्दोलन के वशी-भूत होकर बड़े-बड़े उपाधिधारी, व्यापारी, विद्यार्थी तथा किसानों आदि ने अपनी खोई हुई स्वतन्त्रता को पुनः प्राप्त करने के लिये अपना सर्वस्व लगा दिया।

देश को नया बल मिला। असहयोग आन्दोलन के कारण अलीभाई, अबुल-कलाम आजाद, मोतीलाल नेहरू तथा लाला लाजपतराय को जेलें हुईं। चौरी-चौरा तथा अन्य हत्याकाण्डों के कारण गांधी जी ने इस आन्दोलन को स्थगित कर दिया। १० मार्च १९२२ ई० को गांधी जी क़ैद कर लिये गये और छः वर्ष का उनको कारावास मिला।

इस समय बहुत से लोग गांधी जी की असहयोग नीति को पसन्द भी न करते थे। इसका फल यह हुआ कि आन्दोलन को नवीन दिशा की ओर उन्मुख करने के लिये देशबन्धु चितरंजनदास और मोतीलाल नेहरू ने कांग्रेस के अंतर्गत ही 'स्वराज्य पार्टी' की स्थापना करली। इन लोगों ने धारा-सभाओं और कौंसिल में जाकर वैधानिक प्रगति की सफलता के लिए प्रयास किये। कांग्रेस इस समय अपने जीवन के चौराहे पर खड़ी थी। जिन्ना कांग्रेसियों के समान त्याग करने को उद्यत न थे। इससे उन्होंने अपने को अलग कर लिया। उनके द्वारा मुस्लिम लीग को सांप्रदायिक मोड़ दी गई। इस समय देश में हिन्दू-मुस्लिम दंगे चल रहे थे। इन दंगों के विरोध में गांधी जी ने २१ दिन का अनशन भी किया था।

१९२५ ई० में देश की बड़ी ही कारुणिक स्थिति थी। मुख्यतः मुस्लिम लीग की असहयोग नीति से देश को बड़े ही दुर्दिन देखने पड़े। फिर भी गांधी जी की प्रेरणाएं देश के साथ थीं। इससे देशभक्त निराश भी न थे।

देश की राष्ट्रीय प्रगति ने भावुक कवियों को भी प्रेरणाएं दीं। फलतः श्रीधर पाठक, नाथूराम शंकर शर्मा, महावीर प्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त तथा सनेही आदि की रचनाओं में देशभक्ति और राष्ट्रीय चेतना का प्रस्फुटन दृष्टिगोचर हुआ।

२—सांस्कृतिक प्रगति

१९०९ ई० के मार्ले-मिण्टो के सुधारों के द्वारा साम्प्रदायिक चुनावों का प्रस्ताव आचुका था। राष्ट्रीय व लोकतन्त्र दोनों के विरोध के कारण कांग्रेस भी साम्प्रदायिक प्रतिनिधित्व के पक्ष में न थी तथापि १९१६ ई० में कांग्रेस को मुस्लिम लीग के सामने झुकना पड़ा। अनन्तर साम्प्रदायिक चुनाव का क्षेत्र बढ़ता गया। फल यह हुआ कि केन्द्रीय और प्रान्तीय धारा-सभाओं तथा देश में सर्वत्र जहाँ भी इस प्रकार के प्रतिनिधियों का सम्मिलन हो जाता था, परस्पर द्वेष-भाव से लड़ उठते थे, जिससे देश को काफ़ी क्षति उठानी पड़ी।

३—आर्थिक प्रगति

पिछले युगों के समान देश की आर्थिक परिस्थिति शोचनीय ही थी। उनमें किसी भी प्रकार का सुधार नहीं था। फलतः अभावों से पीड़ित जनता में त्राहि-त्राहि मची हुई थी। पराधीनता के दुष्प्रभाव इस समय के काव्य में उपलब्ध होते हैं, जिनका वर्णन यथास्थल किया जावेगा।

४—युग का स्वच्छन्दतावादी काव्य

द्विवेदी-युग की समाप्ति पर ही कल्पनायुक्त मनोरम काव्य प्रसूत हो उठा था; किन्तु योरुपीय महायुद्ध (१९१४-१८) के पश्चात् हिन्दी काव्य स्वच्छन्द गति से अग्रसर हुआ।

"भारतेन्दु-काल के कवियों ने जिन जर्जर रूढ़ि-शृंखलाओं को हिला दिया था उनको तोड़ने में 'द्विवेदी-काल' के कवि सफल नहीं हुए क्योंकि उनके विचार अधिकतर पुराने ही थे। वे सुधारवादी विचार और व्यवहार में थोड़ा अन्तर रखते थे। छायावाद के कवि सुधार मात्र से सन्तुष्ट न थे, बल्कि वे उन रूढ़ियों को हटाकर एक नवीन संस्कृति की प्रतिष्ठा करना चाहते थे। फलतः व्यक्तिगत, सामाजिक और राजनीतिक स्वतन्त्रता के लिये उनके हृदय में अदम्य उत्साह दिखाई देता है और उनकी वाणी में विद्रोह का स्वर सुनाई पड़ता है।"[1]

इस प्रकार व्यक्ति-प्रधान काव्य के सृजन के अवसर देश के सामने आये। हिन्दी काव्य में इस समय सौन्दर्य-भावना, प्रेम-भावना, करुणा एवं दुःखवाद की भावना, प्रकृति-भावना, देश-प्रेम, नीति-विद्रोह आदि को लेकर रचनाएं प्रस्तुत हुईं, जिनमें स्वच्छन्दतावादी काव्य के लक्षण पूर्ण रूप से विद्यमान थे।

---

१. विजय शंकरमल्ल—'हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद', पृष्ठ १८-१९ (सरस्वती मन्दिर, बनारस)।

अध्याय ३

भारतेन्दु-युग एवं तत्कालीन स्वच्छन्दतावादी प्रेरक प्रवृत्तियाँ

विषय-प्रवेश

कालगत परिस्थितियां भावजगत् में सदैव ही विकार प्रस्तुत करती रही हैं। विश्व के महान् से महान् परिवर्तन एवं क्रान्तियां भी इन्हीं पर आधारित रही हैं। इससे साहित्य तथा अन्य ललित कलाओं में जो परिवर्तन उपस्थित भी होते हैं, मूलतः उनके लिये यह परिस्थितियां ही उत्तरदायी हैं।

अंग्रेजों की साम्राज्यवादिता ने जिस प्रकार देश को जर्जरित और विवश कर दिया, उसका चित्रण पिछले अध्याय में किया जा चुका है। १८५७ की भारतीय क्रान्ति अवश्य अंग्रेजों के विरुद्ध उठी; किन्तु देश के अनैक्य और राष्ट्रीय भावनाओं के अभाव के कारण वह क्रान्ति कुचल दी गई। अंग्रेजों की स्वेच्छाचारिता पूर्ववत् चलती रही। इस क्रान्ति का सामयिक लाभ अवश्य परिलक्षित नहीं हुआ; किन्तु यह सत्य है कि इस क्रान्ति ने देश-वासियों को अपने को समझने के लिये बाध्य किया, जिससे देश के इतिहास में आधुनिक युग का सूत्रपात हो उठा।

उपर्युक्त प्रभाव हमें हिन्दी-साहित्य में भी उपलब्ध होता है। भारतेन्दु जी आधुनिक काल की नव चेतना और जागरण का सफल प्रतिनिधित्व करते हैं। देश अपनी दयनीय अवस्था के कारण आठ-आठ आंसू रोता था। भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी के कवियों ने उसे सान्त्वना प्रदान की। उसे अपने पर विश्वास करने का अमोघ मन्त्र दिया। भारत के अतीत के गौरव, सामयिक पतन तथा शोचनीय स्थितियों के चित्रणों से इन लोगों ने देश के प्रति करुणा का उद्रेक

करते हुए भारतीयों में जीवन का साहस तथा देशोत्थान की भावना भरी। यह कवि भावुक होने के कारण विशेष मर्माहत भी थे। इससे इन महत्वपूर्ण भावनाओं की उपेक्षा कर परम्परागत भक्ति एवं रीति की पद्धतियों में सोलहो आने लगे रहना, उन्हें समय का अपव्यय लगा। इन कवियों ने समझ लिया था कि कृत्रिम भावनाओं से युक्त रीतिकाल, जो अब भी मोहिनी डालने का प्रयास कर रहा था, समाज के लिये हितकर न था।

"उसमें चपल वारवनिता का क्रीत विलास और कृत्रिम शृंगार ही अधिक था, अभिजात कुल-वधू की प्रकृत अंग-सुषमा और स्वाभाविक हृदय-सौन्दर्य की बहुत कमी थी।"[१]

इस प्रकार का कृत्रिम काव्य उनके लिए छलावा ही होता, इससे उन्होंने ऐसे काव्य का परित्याग ही कर दिया। उनके सामने काव्य के नवीन उपादान उपस्थित हुए। नवीन भाव, नवीन भाषा तथा नवीन लोक-छन्दों को उन्होंने प्रधानता दी।

यह अवश्य सत्य है कि प्रस्तुत विषयों की ओर उन्मुख होते हुए भी, भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी में प्राचीन परम्परा-पालन का भी आग्रह है। वह पूर्णरूपेण अपने को परम्परागत साहित्य से दूर न ले जा सके, यह इसलिये अस्वाभाविक न था कि एक साथ ही किसी प्रवृत्ति को नहीं बदला जा सकता। नवीन प्रवृत्ति की भित्ति प्राचीन प्रवृत्ति पर ही बनती है। यह साहित्य का अमर सत्य है। क्योंकि साहित्य का प्रवाह अविच्छेद होता है।

"उस सन्धिकाल के कवियों में ध्यान देने की बात यह है कि यह प्राचीन तथा नवीन का योग इस ढंग से करते थे कि कहीं से जोड़ नहीं जान पड़ता था, उनके हाथ में पड़कर नवीन भी प्राचीन का ही एक विकसित रूप जान पड़ता था।"[२]

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि भारतेन्दु-युगीन काव्य-साहित्य में प्राचीन और नवीन का अभिन्न गठबन्धन था। यह दोनों परम्पराएं अपने मध्य में एक विभाजन रेखा प्रस्तुत किये हुये अबाध रूप से भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युग को पार करती हुई छायावादी युग के प्रारम्भ (१९२५ ई०) तक चली गई हैं।

१. डा० श्यामसुन्दरदास, 'हिन्दी-साहित्य' (आधुनिक काल), पृष्ठ २३५ (इण्डियन प्रेस)।

२. 'प्रेमघन-सर्वस्व' भाग १, भूमिका, पृष्ठ ९, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल (हिन्दी साहित्य सम्मेलन)।

प्राचीन परम्परा-पालन में भारतेन्दु-युग में हमें भारतेन्दु और समकालीन कवियों में रीतिपरक रचनाओं का ही बाहुल्य मिलता है। कवि अपने कविकर्म में बड़ा संकीर्ण और रूढ़िवादी है। द्विवेदी-युग मौलिक न होते हुए भी भारतेन्दु-युग का ही एक अंग है। इससे भारतेन्दु-युग की प्रवृत्तियां ही कुछ परिवर्तित रूप में द्विवेदी-युग में प्रस्तुत हो जाती हैं। इस प्राचीन परम्परा-पालन में भारतेन्दु-युग की भक्ति एवं रीतिपरक रचनाओं की प्रवृत्तियां द्विवेदी-युग की जीवन-निर्माण सम्बन्धी उपदेश-मूलक और सुधारवादी प्रवृत्तियों की ओर झुक जाती हैं। राम और कृष्ण तथा अन्य ऐतिहासिक एवं पौराणिक कथावृत्तों को लेकर द्विवेदी-युग चला। इनमें नीतिवादिता और इतिवृत्तात्मकता का बाहुल्य था। द्विवेदी जी द्वारा भाषा-सुधार की जो समस्या उठाई भी गई, वह सुधारवादी और सांस्कृतिक सिद्ध हुई।

प्राचीन और नवीन के मध्य की विभाजक रेखा के एक ओर परम्परा-पालन का आग्रह चल रहा था—यह जीवन के यथार्थ और स्वाभाविकता से कोसों दूर था। नवीन धारा जो प्रस्फुटित भी हुई उसमें जीवन की सामयिक समस्याएं और राष्ट्रोद्धार की भावनाएं थीं। यह नवीन प्रवृत्ति ही काव्य की नवीन प्रगति की प्रेरणा थी। इस युग में ही समाज के यथार्थ चित्रण के उपरान्त कवि क्रमशः व्यक्तिवादी हो गया। वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी काव्य के यह दोनों पहलू भी भारतेन्दु-युग में स्पष्ट दृष्टिगोचर होते हैं। विषय, भाषा और छन्द में जिस परम्परा का त्याग उपलब्ध होता है, वह सीधे रूप से स्वच्छन्दवादिता नहीं है। भारतेन्दु और उनकी गोष्ठी में इस सम्बन्ध की जो उन्मुखता है वह वस्तुतः स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रेरक प्रवृत्तियां हैं। ये केवल उस प्रवृत्ति के लिए आधारशिला ही प्रशस्त कर देती हैं। फलस्वरूप भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के सहायक प्रेरक के ही रूप में आते हैं। उन्हीं को स्वच्छन्दतावादी कहने लगना साहित्यिक त्रुटि होगी। हाँ, हिन्दी काव्य की स्वच्छन्दवादिता का प्रारम्भ इन्हीं प्रेरणाओं पर अवश्य आधारित है, यह सत्य है। इस काव्य के अस्तित्व में वैयक्तिकता की महत्ता ही विशेषरूपेण मान्य होती है। यह वैयक्तिकता ही इस काव्य की प्राण है। भारतेन्दु-युग में इस प्रकार की स्वच्छन्दवादिता का प्रथम प्रस्फुटन यों पं० श्रीधर पाठक में स्पष्ट रूप से मिलता है, जिसके लिए आचार्य शुक्ल जी ने उन्हें प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि माना है। किन्तु पाठक जी से पूर्व ठाकुर जगमोहन सिंह जी का व्यक्तित्व भी नहीं भुलाया जा सकता। ठाकुर साहब में यों पाठक जी के समान स्वच्छन्दतावादी काव्य की

प्रवृत्तियां अवश्य नहीं हैं। उनमें भाषा और छन्द का मोह भी वही पुराना का पुराना ही है; किन्तु प्रकृति-काव्य के उन्होंने जो संश्लिष्ट चित्रण दिये हैं, वही उनकी मौलिकता है। इसके अतिरिक्त उनके काव्य में प्रेम का स्वरूप भी बड़ा ही उदात्त है। प्रेम एवं प्रकृति का सूक्ष्म-दर्शन स्वच्छन्दतावादी काव्य की विशेष प्रवृत्तियां हैं। फलस्वरूप ठाकुर साहब का व्यक्तित्व भी स्वच्छन्दतावादी काव्य में महत्वपूर्ण सिद्ध होता है। यों भारतेन्दु जी में भी प्रकृति-चित्रण (यमुना और गंगा का वर्णन) आदि हैं; किन्तु वह रीतिकालीन परम्परा से भाराक्रान्त हैं। इससे स्वच्छन्दवादिता के नाम पर उसमें कोई तथ्य नहीं।

भारतेन्दु-युग के आगे द्विवेदी-युग और छायावादी-युग के प्रारम्भ तक यह स्वच्छन्दवादिता चलती चली जाती है। पं० श्रीधर पाठक तो इस विशेष धारा के जनक ही थे। वह द्विवेदी-युग में भी पूर्ववत् चलते रहे। पाठक जी के अतिरिक्त राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय एवं मुकुटधर पाण्डेय आदि ने इस धारा को अक्षुण्ण रूप से प्रवाहित रखा।

१९२५ ई० के उपरान्त जब हम छायावादी-युग में प्रवेश करते हैं तब हम देखते हैं कि छायावाद इसी स्वच्छन्दवादिता पर अपनी भित्ति बनाता है। प्रसाद, पन्त और निराला आदि में उनकी निजी मौलिकताएँ भी हैं, किन्तु उनके युग-संस्थापन का आधार यह स्वच्छन्दवादिता ही थी। उपर्युक्त महत्ता के कारण ही इस प्रवाहित स्वच्छन्दवादिता की प्रगति का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो जाता है। स्वच्छन्दवादिता की प्रेरक प्रवृत्तियाँ १८७५ ई० के इधर-उधर भारतेन्दु जी की प्रेम-सरोवर (१८७३), प्रेमाश्रु-वर्णन (१८७३), प्रेम-माधुरी (१८७५), कर्पूर-मंजरी (१८७६) प्रेम-तरंग (१८७७) एवं प्रेम-प्रलाप (१८७७) आदि रचनाओं द्वारा व्यक्त होने लगती हैं। इसी से भारतेन्दु-युग से हमारा चलना आवश्यक हो गया है।

इस स्थल पर यह स्पष्ट करना भी उचित ही होगा कि मेरे इस आलोच्य विषय का अध्ययन पं० श्रीधर पाठक और उनकी कृतियों के अनुशीलन को प्रधानता देकर चला है। इससे पं० श्रीधर पाठक के स्वच्छन्दतावादी काव्य का विवेचन इस प्रबन्ध में न भारतेन्दु-युग में सम्मिलित किया गया है और न द्विवेदी-युग में ही। इनमें तो उनका संकेत ही मिलेगा। पाठक जी के व्यक्तित्व एवं उनकी कृतियों के अनुशीलन का विवेचन अलग से दिया गया है।

अ—स्वच्छन्दवादिता के प्रेरक तत्व

१. विषयों के क्षेत्र में

देश में मुसलमानों के आगमन और उनके आतंकों से परम्परागत भारतीय संस्कृति, समाजगत परिस्थितियों तथा ललित कलाओं के अस्तित्व की प्रगति में दारुण संघात लगे थे। उसी प्रकार अंग्रेजों के आगमन से उनकी अविश्वासी कूटनीति और स्वार्थ के कारण भारत को, जो मुसलमानों के शिथिल शासन में कालयापन कर रहा था, दुस्सह आघात लगे। अंग्रेजों की अधीनता देश को सर्वनाश की ओर लिये जा रही थी। फलतः उसके दुर्वह भार को उतार फेंकने के लिये भारतीयों ने १८५७ ई० के विद्रोह के रूप में अपना असंतोष प्रकट किया था; किन्तु उसके परिणाम में अंग्रेज ही भाग्य के धनी सिद्ध हुए।

देश के इस प्रकार के ह्रास और अधःपतन के मूल में केवल केन्द्रीय शक्ति का दुर्बल होना ही नहीं था, उसके साथ धार्मिक, साम्प्रदायिक और वर्णाश्रमी विषमताएं तथा पारस्परिक एकता के अभाव आदि ऐसे कारण थे, जिससे देश की इस प्रकार की शोचनीय स्थिति का होना स्वाभाविक ही था।

भारतेन्दु जी भी देश के इस पतन का अनुभव कर दुखी थे :—

बैर फूट ही सों भयो सब भारत को नास।
तबहु न छाँड़त याहि सब बँधे मोह के फाँस॥[1]

राधाकृष्णदास जी के भी इस सम्बन्ध में निम्न विचार थे

पृथ्वीराज जयचंद कासु प्रेरण सों बैर बढ़ाई।
आयुस में कटि मरे विदेशी यवनहि लियो बुलाई॥
वाही दिन भारत स्वतन्त्रता जड़ में तेल मिलाई।
बैठे आप तमाशा देखत फिरैं सबै बिलखाई॥
मथि लीने सब सहज प्राकृतिक गुण भारतवासिन के।
रहि गये सीठी छाछ सदृश ये दर-दर चुनते तिनके॥[2]

उपर्युक्त वचनों के आधार पर हमें यह कहते जरा भी संकोच नहीं कि अपनी पराधीनता और परवशता के मूल में हमीं ही कारण थे। यदि राष्ट्रीय

---

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' भाग २, पृष्ठ ७३८ (हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान)।
२. 'राधाकृष्ण ग्रंथावली' विजयिनी विलाप, सं० श्यामसुन्दर दास (इंडियन प्रेस)।

एकता और अपनत्व की भावना से हमने व्यवहार किया होता तो सम्भवतः देश का इतिहास ही कुछ अन्य प्रकार का होता। न हम मुसलमानों के पराधीन हुए होते और न अंग्रेजों के। अपने इस परिणाम-स्वरूप हम स्वयं अपने ब्रह्म के समक्ष भी लज्जित थे।

> **केहि विधि वैदिक कर्म होत कब कहा बखानत रिक, यजु, साम,**
> **हम सपनेहू में नहिं जाने रहैं पेट के बने गुलाम ॥**
> **तुमहि लजावत जगत जनम धरि दुहुँ लोकन में निपट निकाम।**
> **कहैं कौन मुख लाय हाय फिर ब्रह्मा बाबा तृप्यंताम् ॥**[1]

देश की सामयिक स्थिति वस्तुतः जीवन की कटु सत्य थी। उससे पीछा छुड़ा सकना एक अनहोनी घटना होती। फलतः देश पराधीनता की बेड़ी में फँसा हुआ, निष्प्राण होता हुआ घुट रहा था। देश की इन दयनीय परिस्थितियों ने भारत को वस्तुस्थिति का ज्ञान करने का मार्ग अवश्य सुलभ कर दिया। अभी तक कल्पना और विलासमय जीवन के कारण वे क्या थे—इस प्रश्न पर विचार हुआ ही न था; किन्तु अब उस मार्ग पर चल सकना कठिन था। इससे उन्हें जीवन के यथार्थ सत्य को टटोलना भी परमावश्यक हो गया।

१९०० विक्रमीय सम्वत् तक हिन्दी-काव्य में रीति-युग का अस्तित्व सुरक्षित है। इस युग की काव्य-प्रगति में हमें कृत्रिमता और व्यर्थ की आलंकारिकता का अनुभव होता है। काव्य नायक और नायिकाओं के विलास और शृंगार में ही खो गया था। इस रीति-विषयक शास्त्रीय काव्य के कारण काव्य का वास्तविक स्वरूप जो जीवन की व्याख्या होता है, धूमिल हो उठा था। लोक-भावनाएं काव्य में स्थान पाने की अधिकारिणी ही न थीं।

"रीति-ग्रन्थों की इस परम्परा द्वारा साहित्य के विस्तृत विकास में कुछ बाधा भी पड़ी। प्रकृति की अनेकरूपता, जीवन की भिन्न-भिन्न चिन्त्य बातों तथा जगत के नाना रहस्यों की ओर कवियों की दृष्टि नहीं जाने पाई। वह एक प्रकार से बद्ध और परिमित-सी हो गई, उसका क्षेत्र संकुचित हो गया। वाग्धारा बँधी हुई नालियों में प्रवाहित होने लगी, जिससे अनुभव के बहुत से गोचर और अगोचर विषय रस-सिक्त होकर सामने आने से रह गये। दूसरी बात यह हुई कि कवियों की व्यक्तिगत विशेषता की अभिव्यक्ति का अवसर बहुत कम रह गया। कुछ कवियों के बीच भाषा-शैली, पद-विन्यास, अलंकार-विधान आदि

---

१. **प्रतापनारायण मिश्र, तृप्यंताम, खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, १८९० ई०।**

बाहरी बातों का भेद हम थोड़ा-बहुत दिखा सकें तो दिखा सकें पर उनकी आभ्यन्तर प्रकृति के अन्वीक्षण में समर्थ उच्च कोटि की आलोचना की सामग्री बहुत पा सकते हैं।"[1]

इस काल के शास्त्रीय काव्य में केवल शृङ्गार, अलंकार एवं नायिका-भेद के विषयों को ही प्रधानता दी गई है। छन्द वैविध्य की ओर भी ध्यान न दिया गया। केवल कवित्त एवं सवैये ही उपर्युक्त विषयों के अनुरूप प्रमुखता प्राप्त कर सके। भाषा इस प्रकार अलंकारों के अभिसार से परिपूर्ण थी कि काव्य के मूल सौंदर्य को देख और परख सकना दुर्लभ था। काव्य की भाषा (ब्रजभाषा) की कक्षा ही निर्मित हो गई थी, जिससे लोकभाषा आदि का कोई स्थान ही नहीं था। उपर्युक्त प्रवृत्तियों से ही पता चल जाता है कि यह शास्त्रीय काव्य भले ही काव्य के लिये हों; किन्तु साहित्य की संज्ञा को विभूषित करने के लिए यह थोड़ा-सा भी अनुकूल न था। इससे उपर्युक्त प्रवृत्तियों का परित्याग परम आवश्यक हो गया, जो स्वाभाविक भी था।

भारतेन्दु और उनकी गोष्ठी के कवि आधुनिक युग के संक्रांति युग के कवियों की कक्षा में स्थान पाते हैं। इन सभी ने काव्य की विगत प्रवृत्तियों को भी काव्य में स्थान दिया और साथ में नवीन विषय भी व्यवहृत किए। इस प्रकार प्राचीन और नवीन का समन्वय बड़ा ही महत्वपूर्ण रहा। नवीन विषयों का जहाँ तक संबंध था कवि अपने संसर्गी विषयों का अनुभव करके चले, जिनके सम्बन्ध में निम्न पंक्तियों में विवेचन प्रस्तुत किया जाएगा। शास्त्रीय विषयों की उपेक्षा कर इस प्रकार के यथार्थ विषयों को अपनाना स्वच्छंदतावादी काव्य की प्रेरक भावना का ही द्योतक है। यह स्वच्छन्दतावादी भावना केवल विषयों तक ही सीमित न रह कर भाव और छन्द को भी प्रभावित किए बिना न रही। यही आधुनिक हिन्दी काव्य में स्वच्छन्दतावादी आन्दोलन का प्रारम्भ है।

मुसलमानों के अत्याचार और साम्प्रदायिक कट्टरता को भारतीय अभी तक भूले नहीं थे और औरंगजेब की नंगी खूनी तलवार उस समय भी भारतीयों को दहला देती थी। अंग्रेजों के राज्य में इस प्रकार के भयभीत होने की कोई आशंका ही न उठती थी। सभी आनन्द और सुख का अनुभव करते थे। इससे समाज अंग्रेजों के शासन को सम्मान की दृष्टि से देखता था।

इस युग के सभी ही कवियों में अंग्रेजों की प्रशंसा-सूचक पंक्तियाँ उपलब्ध

---

१. रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', रीतिकाल—सामान्य परिचय।

होती हैं। इन पंक्तियों में राजभक्ति की चेतना का अनुभव होता है। राधाकृष्ण दास महारानी विक्टोरिया के निधन पर देश-व्यापी दुःख और शोक प्रकट करते हैं। तत्कालीन देश में राष्ट्रीय भावनाओं का प्रस्फुटन न होने के कारण अंग्रेजों के शासन में देशवासियों को पूर्ण विश्वास था। उनके क्रिया-कलापों को हिन्दू और मुसलमान राजाओं के समान प्रजा-हित में ही देखते हैं।

कहा तुम्हें नहिं खबर, खबर अनरथ की आई।
भारतेश्वरी विजयिनी यह जग छोड़ि सिधाई॥

* * *

मातृहीन सब प्रजावृन्द करि जगत रुलाई।
मातु विजयिनी हाय-हाय सुरलोक सिधाई॥
भई अनाथिनि दिग-दिगन्त लौं पृथ्वी सारी।
सब भू-मण्डल आज शोक की मूरति धारी॥
हाय दया की मूर्ति हाय विकटुरिया माता।
हा! अनाथ भारत को दुख में आश्रय-दाता॥[1]

राजभक्ति और राजनिष्ठा की उपर्युक्त बातें आज के किसी भी राष्ट्र-प्रेमी को निकृष्ट ही लगेंगी; किन्तु परिस्थिति को देखते हुए यह सब क्षम्य है। भारतीयों में अपने राजा के प्रति महान् विश्वास और भक्ति के तत्व सदैव ही रहे हैं। वही उनके अंग्रेजों के प्रति भी हैं। राष्ट्रीय चेतना के अंकुर अभी जन-समाज के मानस-पटल पर प्रस्फुटित भी नहीं हुए थे, इससे भी यह विकार क्षम्य ही है।

राजभक्ति-समन्वित इन पंक्तियों का अन्य साहित्यिक मूल्य भी हो सकता है। अभी तक का कवि-कुल प्रेम और शृंगार-विषयक रचनाओं की सर्जना में ही दत्तचित्त था; किन्तु इन विचारधाराओं ने उन्हें एकान्त विषयों की अपेक्षा समाजगत विषयों की ओर दृष्टिपात करने की प्रेरणा दी। यह विषय परिवर्तन ही कवि को वस्तुतः लोकभूमि के विषयों को चित्रित और वर्णित करने के लिये एक क्षेत्र प्रस्तुत कर सके हैं।

भारतेन्दु-युग के कवि क्रमशः जीवन की अन्य समस्याओं को लेकर भी अग्रसर हुए। देश पराधीनता की बेड़ियों में ग्रस्त था, जिससे आर्थिक स्थिति बड़ी शोचनीय होती जाती थी। देश को बाह्य रूप से कुचलने में अंग्रेजों ने कुछ

---

१. **'राधाकृष्ण ग्रंथावली', पृष्ठ ६ (इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद)।**

उठा न रखा था। यहाँ के व्यापार, उद्योग तथा कलाओं को मिटाकर भारतीय सम्पन्नता को उन्होंने मटियामेट कर दिया था। पाश्चात्य रहन-सहन एवं सभ्यता के दृष्टिकोण अंग्रेज़ों के सहवास के कारण भारतीयों में प्रविष्ट हो चुके थे। दासता के कारण अपनी प्राचीन सभ्यता और विचारधाराओं को खो बैठने के कारण फैशन और दिखावे की वस्तुओं में ही देश का अधिक से अधिक धन विदेश में जाने लगा। वैज्ञानिक विकास के कारण पाश्चात्य देश विभिन्न प्रकार की उपयोगी भड़कीली चीजें बनाकर इस देश में भी भेजते थे, जिनका प्रयोग अंग्रेजी सभ्यता के कारण अनिवार्य-सा था। आँख के अन्धे गाँठ के मोटे, इस देश के नौनिहाल अपने को नियन्त्रित न कर सके। फल यह हुआ कि स्वदेशी वस्त्र और पदार्थ हमारे आकर्षण के विषय रह ही न गए। देश के मानसिक पतन के साथ उसका आर्थिक पतन भी हुआ।

भारतेन्दु और उनकी गोष्ठी के कवि देशव्यापी इस अर्थ-संकट को समझते थे। उन्होंने वस्तुस्थिति को स्पष्ट करने का यथासाध्य प्रयास भी किया।

> भीतर-भीतर सब रस चूसै,
> हँसि-हँसि के तन-मन-धन मूसै।
>
> जाहिर बातन में अति तेज,
> क्यों सखि सज्जन नहिं अंग्रेज।[1]

विजित देश होने के कारण अंग्रेज़ों का भारत के प्रति किसी प्रकार का ममत्व भी न था। फलतः उचित और अनुचित सभी प्रकार के साधनों से वे देश को जर्जरित कर रहे थे।

> मारकीन मलमल बिना चलत कछु नहिं काम।
> परदेसी जुलहान के मानहुँ भए गुलाम॥
> वस्त्र कांच कागज कलम चित्र खिलौने आदि।
> आवत सब परदेस सों नितहि जहाजन लादि॥
> इत की रुई सींग अरु चरमहि नित लै जाय॥
> ताहि स्वच्छ करि वस्तु बहु भेजत इतहि बनाय॥
> तिनही को हम पाइकैं साजत निज आमोद।
> तिन बिन छिन तृन सकल सुख स्वाद विनोद प्रमोद॥

---

१. नये जमाने की मुकरी—'भारतेन्दु ग्रंथावली', भाग २, पृष्ठ ८११ (ना० प्र० सभा)।

कछु तो वेतन में गयो कछुक राज-कर माँहि।
बाकी सब व्योहार में गयो रह्यौ कछु नाहिं ।।
निरधन दिन-दिन होत हैं भारत भुवि सब भांति।
ताहि बचाय न कोउ सकत निज भुज-बुधि-बल कांति ।। [१]

लूटि विलायत भारत खाय। माल ताल बहु विधि फैलाय ।।
ताको मासूली छूटि जाय। जामैं लागै लाभ दिखाय ।।
देसी मालन इहाँ बिचाय। घाटा भारत के सिर जाय ।।
रहै विलायत जो हरखाय। भारत सौं धन रोज कमाय ।।
चैन करैं जो मजे उड़ाय। तिसका टिक्कस भी छुटि जाय ।।
यह अचरज देखो तो आय। सोचत बुद्धि विकल हो जाय ।। [२]

देश के इस प्रकार से दीन-हीन होने से व्यथा का एक कारुणिक विकार सम्पूर्ण भारतीय वायुमण्डल पर छाया हुआ था ; परन्तु भारतीय इस प्रकार विवश थे कि उसका अनुभव करके ही रह जाते थे। परतन्त्रता को उतार फेंकना उनके लिए असम्भव था।

अंग्रेजों के संसर्ग से भारतीय अपनी आन्तरिक स्थिति को क्रमशः समझने लगे थे, जिसके फलस्वरूप अपना ही अहित अपने नेत्रों के समक्ष होते देखना, उन्हें असह्य हो उठा। देशवासियों की इस प्रकार की विचारधारा का ही परिणाम १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना है, जिसकी प्रगति सम्पूर्ण राष्ट्र की राष्ट्रीय भावनाओं को जागरूक करने में प्रमुख रही है।

देश अपनी तत्कालीन परिस्थितियों में सभी प्रकार से ही दीन-हीन था। उसके समक्ष वर्तमान में कुछ भी ऐसा न था, जिसको लेकर वह गर्व करता। आज वह योग्य होते हुए भी अयोग्य था, धनी होते हुए भी निर्धन था तथा सुशासक होते हुए भी शासन से वंचित था। वर्तमान में तो वह लड़खड़ा रहा ही था, उसका भविष्य भी अन्धकार और चिन्तामय ही था। पूर्वजों का अब भी कुछ पुण्य अवशेष था। जिसके बल पर निर्जीव और निष्प्राण होते हुए भी उसे अपने को सजीव और सप्राण समझने का साहस हुआ। फलतः तत्कालीन कवियों ने पूर्व पुरुषों की विभूतियों और महत्ताओं का गान गाकर अपनी वाणी को विभूषित किया और सहृदयों को अपने को समझने के लिए प्रभूत सामग्री

१. भारतेन्दु ग्रंथावली—'हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान', पृष्ठ ७३५–३६।
२. प्रेमघन-सर्वस्व—'होली की नकल या मोहर्रम की शक्ल', पृष्ठ १८५।

प्रदान की। देश की राष्ट्रीय भावनाओं की जाग्रति की पृष्ठभूमि में मूलतः पूर्वजों के गौरव-गान की यह सामग्री ही थी, जिसने सम्पूर्ण देश को राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत कर दिया।

राष्ट्रीय चेतना का इस प्रकार का बीज-वपन भारतेन्दु और उनकी मंडली के कवियों द्वारा सम्पादित हुआ जो आगे चलकर अंकुरित होकर पल्लवित भी हुआ।

१८८२ ई० में अंग्रेजों द्वारा प्रेषित भारतीय सेना ने मिश्र प्रदेश पर गौरव-पूर्ण विजय प्राप्त की। इस विजय से मुसलमान एवं अंग्रेजों से परास्त भारतीय जो युगों से विनत एवं निष्प्रभ थे, आह्लादित हो उठे। आज पूर्वजों के समान ही वे अपने वीरत्व एवं शूरत्व को व्यावहारिक रूप से प्रदर्शित कर फूले न समाते थे। भारतेन्दु की इस सम्बन्ध में निम्न पंक्तियां दृष्टव्य हैं :—

कित अरजन कित भीम कित करन नकुल सहदेव।
कित बिराट, अभिमन्यु कित द्रुपद सल्य नरदेव॥
कित पुरु, रघु, अज, यदु कितै परशुराम अभिराम।
कित रावन सुग्रीव कित हनुमान गुनधाम॥

* * * *

कहहु लखहिं सब आय निज संतति को उत्साह।
सजे साज रन को खरे मरन हेत करि चाह॥
तुमरी कीरति कुल-कथा सांची करिबे हेत।
लखहु लखहु नृपगन सबै फहरावत जय-केतु॥[1]

भारत में श्रेष्ठ वीर, विद्वान् एवं नृपति थे जिनके कृत्यों से भारत विश्व-विश्रुत था; किन्तु पारस्परिक विद्वेष एवं दुर्भाग्य के प्रकोप के कारण दिग-दिगंत में परिव्याप्त भारत का वह गौरव एवं यश भस्मसात् हो गया। चौधरी बद्री-नारायण प्रेमघन इस प्रकार के पतन से महान दुखी हैं—

सदा सत्रु सौं हीन, अभय सुरपति छवि छाजत।
पालि प्रजा भारत के राजा रहे बिराजत॥
पै कछु कही न जाय, दिनन के फेर फिरे सब।
दुरभागिन सों इत फैले फल फूट वैर जब॥

---

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' विजयिनी विजय-वैजयन्ती, पृष्ठ ८०१।

भयो भूमि भारत में महा भयंकर भारत।
भये बीरबल सकल सुभट एकहि संग गारत॥
मरे विबुध, नरनाह, सकल चतुर गुन मंडित।
बिगरो जन समुदाय बिन पथ दर्शक पंडित॥
सत्य धर्म के नसत गयौ बल विक्रम साहस।
विद्या बुद्धि विवेक बिचाराचार रह्यो जस॥[1]

भारत की विद्या, कला एवं कौशल सभी ही महत्तम थे। इनके उत्कर्ष से देश सर्वप्रकारेण सुख-सम्पन्न था। विश्व भी उसकी इन महत्ताओं के कारण उसके समक्ष विनत था और उसे जगद्गुरु समझता था; किन्तु आज सभी ही विलोम हैं।

जाकी विद्या, कला और कौशल की छटा लुभाई।
　　इक टक देखत रहत जगत मोहित ह्वै सुधि बिसराई॥
होई यवन-पद-दलित सोई सब माटी ही ह्वै जैहे।
　　चारहु दिसि मूढ़ता बेवसी कछु दिन मांहि लखैहे॥
जा भारत प्रताप दिसि लख जग चख चकचौंधी लागै।
　　हाय, कहा सो लुटिहैं पद-तर सोचत ही बुधि भागे॥[2]

पूर्वजों के इस ज्ञान से भारतीयों की धमनियों में राष्ट्र के प्रति नव चेतना का प्रस्फुटन हो उठा। यह चेतना और राष्ट्रीय जागरण अबाध रूप से आज तक प्रवाहित है। इस परम्परा का पोषण श्रीधर पाठक जी द्वारा हुआ और आगे चलकर मैथिलीशरण गुप्त के काव्य में इस राष्ट्रीय चेतना का श्रेष्ठतम उत्कर्ष एवं विकास हुआ।

देश की सुगति एवं सुख-सुविधा के लिए इस समय के कवि अपने हृदयों में ईश्वर के प्रति आस्था रखे हुए अर्चना और वन्दना करने में व्यस्त हैं। ईश्वर से प्रार्थना के अतिरिक्त उनके समक्ष और साधन ही क्या थे? इसी से यह भाव-धारा भी तत्कालीन कवियों के काव्य में समान रूप से प्रवाहित है।

भारत सभी प्रकार से पतन को प्राप्त कर अपने अस्तित्व को मिटा रहा है। भारतवासी स्वयं इस पतन का समाधान ढूंढ़ नहीं पा रहे हैं। इसी से भारतेन्दु जैसे भावुक एवं शालीन कवि ईश्वर से निवेदन करते हैं :—

---

१. 'प्रेमघन-सर्वस्व'—हार्दिक हर्षादर्श, पृष्ठ २६८—६९।
२. 'राधाकृष्ण ग्रंथावली'—पृथ्वीराज प्रयाण, पृष्ठ १३।

डूबत भारत नाथ बेगि जागो अब जागो।
आलस-दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो ॥
महा मूढ़ता बायु बढ़ावत तेहि अनुरागो ।
कृपा-दृष्टि की वृष्टि बुझावहु आलस त्यागो ॥
अपुनो अपुनायौ जानिकै करहु कृपा गिरिवर-धरन ।
जागो बलि बेगहि नाथ अब देहु दीन हिन्दुन सरन ॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में राष्ट्रीय चेतना का केवल स्फुरण मात्र ही उपलब्ध होता है। इससे अधिक आगे जाने का उनके पास न अवकाश था और न क्षेत्र ही। अंग्रेजों के संसर्ग से अपने सामाजिक अहित को वे देख सके थे। इससे उन्हीं का उल्लेख करके वे रह गये। राष्ट्र-सेवा के लिए किसान, मजदूर, धार्मिक सहिष्णुता एवं मानवीय प्रेम आदि कितनी समस्याएँ थीं जिनको काव्य का विषय बनाना आवश्यक ही नहीं नितांत अनिवार्य भी था; किन्तु भारतेन्दु-युग ने इन समस्याओं को स्पर्श न करके द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय भावना के विकास के लिए इन्हें छोड़ दिया। द्विवेदी-युग में कांग्रेस में गांधी जी के सन्निवेश से ये सभी ही प्रवृत्तियां जागरूक होकर उत्कर्ष पर पहुँचती दिखाई पड़ती हैं। इनका विवेचन आगे के अध्याय के लिए सुरक्षित है।

राष्ट्रीय भावना की सहयोगी भावना वस्तुतः भाषा की विचारधारा भी होती है। जब-जब राष्ट्रोत्थान होता है तद्देशीय भाषा भी उसके साथ जाग्रत होती है। भाषा किसी भी राष्ट्र की संस्कृति की प्रतीक होने के कारण राष्ट्रीय भावना के साथ ही अन्योन्याश्रित होकर चलती है। मुस्लिम-शासन-काल में यद्यपि हिन्दी भाषा के साहित्य का स्वाभाविक विकास हुआ; किन्तु उर्दू एक नवीन भाषा का रूप लेकर खड़ी हो गई। अरबी एवं फ़ारसी मिश्रित होकर वह मुसलमानों की भाषा बनी और हिन्दी के समकक्षीय होकर वह भी देश में अपनी प्रगति और अस्तित्व के लिये ताल ठोकती चली। उर्दू के प्रचलन से तो हिन्दी का अहित हुआ ही; किन्तु अंग्रेजी के राष्ट्रभाषा हो जाने से हिन्दी दूर पृष्ठभूमि में पहुँच गई। भारतेन्दु-युग में यह भाषा की भावना बल लेकर चली। तत्कालीन अधिकांश कवियों में यह भावना उपलब्ध होती है।

उर्दू, अंग्रेजी आदि के कारण हिन्दी और उसके काव्य की बड़ी ही शोचनीय परिस्थिति थी, जिसके कारण भारतेन्दु जी बड़े ही निराश थे।

---

१. **भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २—'प्रबोधिनी', पृष्ठ ६८३।**

भोज मरे अरु विक्रमहू किनको अब रोइ के काव्य सुनाइये ।
भाषा भई उरदू जग की अब तो इन ग्रंथन नीर डुबाइये ।।
राजा भये सब स्वारथ पीन अमीर हू हीन किन्है दरसाइये ।
नाहक देनी समस्या अबै यह "ग्रीषमैं में प्यारे हिमन्त बनाइये ।।"[1]

हताश और निराश होने पर भी अब राष्ट्रीय जागरण के साथ भाषा के संरक्षण का अनुभव भी किया गया ।

निज भाषा उन्नति अहै सब उन्नति को मूल ।
बिन निज भाषा ज्ञान के मिटत न हिय को शूल ।।
इक भाषा इक जीव इक मति सब घर के लोग ।
तबै बनत है सबन सों मिटत मूढ़ता सोग ।।
निज भाषा उन्नति बिना कबहुँ न ह्वै है सोय ।
लाख अनेक उपाय यों भले करो किन कोय ।।[2]

मातृभाषा के पोषण एवं संरक्षण से ही हम सभी का कल्याण और सम्मान है । इस सम्बन्ध में प्रतापनारायण मिश्र की निम्न पंक्तियां स्मरणीय हैं—

चाहहु जु साँचो निज कल्याण । तो सब मिलि भारत सन्तान ।।
जपो निरन्तर एक जबान । हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ।।
जबहिं सुधरिहै जन्म निदान । तबहि भलो करिहै भगवान ।।
जब रहिहै निस दिन यह ध्यान । हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान ।।[3]

जन-समाज में हिन्दी के प्रति अनुराग जगाने पर उसका विकास हो उठा । उर्दू जो अभी तक राजरानी के रूप में सिंहासनारूढ़ थी अपने पतन के प्रारम्भ को देखकर उसका विलाप करना स्वाभाविक हो उठा—

"जो हो बहर हाल हमें उर्दू का ग़म वाजिब है तो हम भी इस स्यापे का प्रकर्ण यहाँ सुनाते हैं । हमारे पाठकों को रुलाई न आवे तो हँसने की भी सौगंद है, क्योंकि हाँसा तमाशा नहीं बीबी उर्दू तीन दिन की पट्ठी अभी जवान कट्ठी मरी है ।"

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' भाग २—स्फुट कविताएँ, पृष्ठ ८६६ ।
२. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' भाग २—हिन्दी की उन्नति पर व्याख्यान ।
३. 'कविता कौमुदी' भाग २—हिन्दी की हिमायत, पृष्ठ ५, (सं० रामनरेश त्रिपाठी) ।

है है उर्दू हाय हाय। कहाँ सिधारी हाय हाय॥
मेरी प्यारी हाय हाय। मुंशी मुल्ला हाय हाय॥
बात फरोशी हाय हाय। वह लस्सानी हाय हाय॥
अरब जुबानी हाय हाय। शोख़ बयानी हाय हाय॥
फिर नहिं आना हाय हाय।[1]

उर्दू के विरोध और हिन्दी के सम्पोषण में उस समय एक आन्दोलन ही चल रहा था। उर्दू लिपि की बुराइयाँ बतलाते हुए यह आन्दोलन आगे बढ़ाया गया था। हिन्दी और उर्दू दोनों का ही क्षेत्र उत्तर-प्रदेश होने के कारण यहाँ ही उस आन्दोलन की प्रगति विशेषरूपेण दिखलाई पड़ी। प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास, महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं बालमुकुन्द गुप्त आदि के द्वारा हिन्दी पक्ष की रचनाएं सृजित हुई।

भारतीय विद्रोह एवं अंग्रेजी संसर्ग से भारतीय समाज एवं धर्म दोनों ही प्रभावित हुए। अभी तक इन क्षेत्रों मे कृत्रिमता और आडम्बर का पूर्ण साम्राज्य था। रूढ़िवादी भावनाएँ समाज की धमनियों में इस प्रकार प्रविष्ट हो गई थीं कि सनातनी विचारधाराओं के अतिरिक्त अन्य साधन सोचे ही नहीं जा सकते थे। वेद, पुराण तथा अन्य शास्त्रों में जो भी शास्त्रीय दृष्टिकोण थे वे ही केवल अनुकरणीय थे। इधर १९वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में ब्रह्मसमाज, थियोसोफिकल सोसाइटी एवं आर्यसमाज के निर्मित हो जाने से सुधारवादी भावनाएँ प्रबल हो गई। पाश्चात्य सभ्यता में रँगे हुए भारतीय कट्टर एवं सनातनी विचारधाराओं का अनुकरण करने में अपने को पूर्ण असमर्थ पाकर इन्हीं के अनुयायी बने।

समाज एवं धर्म दोनों ही क्षेत्रों में कट्टरता के स्थान पर शीलता एवं समदर्शिता आवश्यक थी। तत्कालीन कवियों ने भी इन क्षेत्रों को अछूता न छोड़ा। उस समय समाज में स्थित निर्धनता, टैक्स, विद्वेष, अकाल, कायरता तथा धर्मान्धता आदि ऐसे कितने ही कारण थे, जिनको दूर करने के लिये उपदेशात्मक काव्य का आधार लिया गया। इस प्रकार के नैतिक काव्य का संस्थापन केवल समाजगत विकारों एवं अभावों के कारण ही था। आगे चलकर द्विवेदी-युग में भी नैतिक काव्य की यह धारा अक्षुण्ण रही।

देश के क्लेशप्रद इन पतनों को देखकर राधाकृष्णदास जी मार्मिक शब्दों में प्रार्थना करते हैं—

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली'—"उर्दू का स्यापा" पृष्ठ, ६७७-६७८।

प्रभु हो पुनि-पुनि भूतल अवतरिये।
अपुने या प्यारे भारत को पुनि दुःख दारिद हरिये।
धरम गिलानि होति जब ही जब तब-तब तुम बपु धारत।
दुष्टन हरि साधुन निरभय करि तबहीं धरम उबारत।
महा अविद्या राच्छस ने या देसहि बहुत सतायो।
सारथ पुरुषारथ उद्यम धन सब ही निधिन गँवायो।[1]

ब्रह्मसमाज एवं आर्यसमाज ने समाज के दूषित विकारों को देखकर उन्हें दूर करने का भरसक प्रयास किया; किन्तु 'हरिऔध' जी इन मतों को व्यर्थ बतलाते हैं।

ब्रह्मो समाज आरज समाज मतवाले।
कहने ही को बनते हैं भारत वाले॥
दुनियाँ भर से हैं इनके ढंग निराले।
इन लोगों ने अपने ही घर हैं घाले॥
यह निज मनमानी सदा किया चहते हैं।
हिन्दू रहकर ही भारत के रहते हैं॥[2]

समाज एवं धर्म आदि मानव के अभिन्न अंग हैं। कालगत प्रभावों के कारण उनमें विकारों का समुपस्थित हो जाना स्वाभाविक है। अनन्तर यथा-समय ही उनमें सुधार भी उपस्थित हो जाते हैं जिससे जितने भी कलंक और अभाव आ जाते हैं, सब भस्मसात हो जाते हैं। मानव ही इन सभी प्रकार के उत्थान-पतनों का प्रणेता होता है। फलतः भारतेन्दु-युग में कवि-वर्ग ने आर्य-धर्म की आलोचना करके एक नूतन पथ निर्मित करने का प्रयास किया। यह पथ मानवता एवं बन्धुता का था, जिसको अपनाना देश की भावी प्रगति के लिये परम आवश्यक था।

भारतेन्दु-युग में 'प्रकृति-चित्रण' की ओर भी विशेष अनुराग प्रदर्शित हुआ। भारतेन्दु से पूर्व सम्पूर्ण रीतिकाल में प्रकृति-वर्णन संस्कृत की पद्धति पर ही होता रहा। विशेषरूपेण शृंगार के अन्तर्गत उद्दीपन के लिए ही इसका उपयोग हुआ। कवि ने प्रकृति के स्वतन्त्र उपयोग की ओर कभी ध्यान ही नहीं दिया। इसी से तत्सम्बन्धी काव्य का सृजन न हो सका। रीति-परि-

---

१. राधाकृष्ण ग्रंथावली—पृष्ठ ६१ (इंडियन प्रेस, प्रयाग)।
२. हरिऔध—काव्योपवन, खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर।

पाटी के आधार पर प्राकृतिक पदार्थों की गणना कराके शृंगार के लिये इनके द्वारा साज-सज्जा की पृष्ठभूमि ही तैयार की जाती रही है। निस्सन्देह इस भावना के कारण प्रकृति-सम्बन्धी स्वच्छन्द काव्य अवश्य निर्मित नहीं हो सका—यह हिन्दी काव्य का अवश्य दुर्भाग्य है; किन्तु भारतेन्दु-युग में प्रकृति-काव्य पर भी ध्यान दिया गया।

"......दूसरी बात उनके (भारतेन्दु के) सम्बन्ध में ध्यान देने की यह है कि वे केवल नर-प्रकृति के कवि थे, बाह्य प्रकृति की अनेकरूपता के साथ उनके हृदय का सामंजस्य नहीं पाया जाता।" इसके आगे ही आचार्य शुक्ल का कथन है—"नाटकों में दो एक जगह उन्होंने जो प्राकृतिक वर्णन रक्खे हैं (सत्य हरिश्चन्द्र में 'गंगा-वर्णन' तथा चन्द्रावली में 'यमुना-वर्णन') वे केवल परम्परा-पालन के रूप में हैं। उनके भीतर उनका हृदय नहीं पाया जाता। वे केवल उपमा और उत्प्रेक्षा के लिये लिखे जान पड़ते हैं।"[1]

आचार्य शुक्ल द्वारा इंगित परम्परा-पालन के लिये लिखे गये दोनों स्थल द्रष्टव्य हैं।

काशी में गंगाजी के घाटों पर घूमते हुए राजा हरिश्चन्द्र गंगा जी के सौंदर्य का वर्णन करते हैं—

नव उज्ज्वल जल-धार हार हीरक सी सोहति।
बिच-बिच छहरति बूँद मध्य मुक्ता-मनि पोहति॥
लोल लहर लहि पवन एक पै इक इमि आवत।
जिमि नर-गन-मन विविध मनोरथ करत मिटावत॥
सुभग स्वर्ग-सोपान सरिस सब के मन भावत।
दर्शन-मज्जन-पान त्रिविध भय दूर मिटावत॥
श्री हरि-पद-नख-चन्द्रकान्त-मनि द्रवित सुधारस।
ब्रह्म कमण्डल-मण्डन भव-खण्डन सुर-सरवस॥[2]

उपर्युक्त के समान ही ललिता चन्द्रावली की प्रतीक्षा में खड़ी हुई यमुना के सौन्दर्य का वर्णन करती है—

तरनि-तनूजा-तट तमाल तरुवर बहु छाये।
झुके कूल सों जल-परसन-हित मनहुँ सुहाये॥

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५६०।

२. 'भारतेन्दु नाटकावली,' सत्य हरिश्चन्द्र, पृष्ठ ७२-७३ (रामनारायण लाल, प्रयाग)।

किधौं मुकुर में लखत उझकि सब निज-निज शोभा ।।
कै प्रनवत जल जानि परम पावन फल लोभा ।
मनु आतप वारन तीर कों सिमिटि सबै छाये रहत ।
कै हरि-सेवा-हित नै रहै निरखि नैन मन सुख लहत ।।[1]

आचार्य शुक्ल के कथनानुसार निस्सन्देह ही यह सत्य है कि गंगा और यमुना का यह वर्णन प्रकृति-चित्रण के दृष्टिकोण से नहीं किया गया है और पँक्तियां उपमा और उत्प्रेक्षा का भार ही वहन करती हैं, तथापि यह सत्य है कि प्रकृति, जो श्रृंगार के उद्दीपन विभाव के विधान में खो-सी गई थी, पुनः उपमा, उत्प्रेक्षा एवं अप्रस्तुत-विधान का आश्रय लेकर अपना अस्तित्व संरक्षित कर लेती है । शताब्दियों के उपरान्त प्रकृति का यह रूप काव्य को नवीन दिशा की ओर उन्मुख करता है । दूसरे शब्दों में यह कहना भी युक्तियुक्त है कि प्रकृति का इस प्रकार का उपयोग उद्दीपन विभाव वाले उपयोग की अपेक्षा अधिक लोक-संग्रही एवं व्यापक है ।

भारतेन्दु के अतिरिक्त ठा० जगमोहनसिंह, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्ण-दास एवं बालमुकुंद गुप्त में प्रकृति के प्रति उपासना का भाव उपलब्ध होता है । राधाकृष्णदास जी के 'भारत बारहमासा' में परम्परागत बारहों महीने का चित्रण है; किन्तु पृष्ठभूमि में प्रत्येक मास की प्राकृतिक स्थिति का वर्णन करते हुए देश-दशा का चित्रण भी समन्वित कर दिया गया है । यह भावना भी प्रकृति के प्रति अनुराग उत्पन्न करने में जागरूक है ।

माघ मास बसन्त आयौ हम बसन्त निजै भये ।
खोइ सब धन मान विद्या फूलि के उमँगे नये ।।
पतझार सब धन होइगो अरु पीयरे हमहीं भये ।
अरु आम से बौरे हमी दुख रोग चारहु दिसि छये ।।[2]

भारतेन्दु-काल में ठाकुर जगमोहनसिंह प्रकृति-वर्णन के प्रति विशेष अभिरुचि लेकर हिन्दी काव्य-क्षेत्र में उतरते हैं । इनके काव्य के सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल जी का कथन है :

"यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंह जी अपनी कविता को नये विषयों की ओर नहीं ले गये, पर प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन

---

१. **'भारतेन्दु नाटकावली'—श्री चन्द्रावली, पृष्ठ २४४-४५ (रामनारायण लाल, प्रयाग)**

२. **'राधाकृष्ण ग्रंथावली, 'भारत बारहमासा', पृष्ठ १५-१६ ।**

में लिये हुए, प्रेमचर्या की मधुर स्मृति से समन्वित विंध्य प्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिन्दी काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था।"[1]

ठाकुर जगमोहनसिंह के प्रकृति-वर्णन में शिशिर-सम्बन्धी यह छन्द देखने योग्य है :

> **आई शिशिर बरोरु शालि अरु ऊखन संकुल धरनी।**
> **प्रमदा प्यारी ऋतु सोहावनी क्रौंच रोर मन हरनी॥**
> **मूँदे मन्दिर उदर झरोखे भानु किरन अरु आगी।**
> **भारी बसन हसन मुख बाला नव यौवन अनुरागी॥**[2]

ठाकुर जगमोहनसिंह के प्रकृति-वर्णन के रूप को यदि हम ध्यान से देखें तो हमें यह कहने में ज़रा भी संकोच नहीं कि उपर्युक्त में ज़रा भी परम्परा-पालन नहीं; किन्तु प्रकृति का सीधा-सादा सूक्ष्म दर्शन है।

भारतेन्दु-युग में इस प्रकार हम देख चुके हैं कि किस प्रकार भारतेन्दु एवं उनके सहयोगी अपने काव्यों में नवीन विषयों का समावेश कर चले हैं। भारतेन्दु अपने युग के सूत्रधार रहे हैं। उनके द्वारा साहित्य की प्रत्येक धारा को उनसे प्रेरणाएँ मिलीं और उन्होंने सफल मार्ग-प्रदर्शन भी किया। इस युग में भी यद्यपि राधाकृष्ण के शृंगार-परक माधुर्य का परित्याग नहीं किया जा सका; किन्तु कवियों ने उनके समान ही राजनीतिक, सामाजिक, भाषा-विषयक, धार्मिक आदि नवीन विषयों को अपनाने में संकोच नहीं किया। इस प्रकार प्राचीन के साथ नवीन का सम्मिश्रण काव्य को विशेष दिशा की ओर ले चला।

इस प्रकार विषयों के क्षेत्र में हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि शृंगारात्मक रीतिकालीन जो शास्त्रीय परिपाटी भारतेन्दु जी तक प्रवाहित हो कर आती है, उसमें नवीन विषयों का यह सन्निवेश स्वच्छन्दतावादी धारा की प्रेरक प्रवृत्तियों का द्योतक है।

---

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृष्ठ ५६४।

२. ठा० जगमोहनसिंह—'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ'।

आ—स्वच्छन्दवादिता के प्रेरक तत्व

२. भाषा के क्षेत्र में

जब लौं भारत भूमि मध्य आरज कुल वासा।
जब लौं आरज धर्म माँहि आरज विश्वासा॥
जब लौं गुण आगरी नागरी आरज-बानी।
जब लौं आरज बानी के आरज अभिमानी॥
तब लौं यह तुम्हरो नाम थिर चिरजीवी रहिहै अटल।
नित चन्द सूर सम सुमिरिहैं हरिचन्दहु सज्जन सकल॥[1]

१८८० ई० के 'सारसुधा निधि' में श्री हरिश्चन्द्र को 'भारतेन्दु' नामक उपाधि देने का सर्वग्राह्य और सर्वप्रिय प्रस्ताव प्रस्तुत किया था, जिसे तत्काल ही देश ने सर्वसम्मत रूप से स्वीकृत कर लिया। उनका व्यक्तित्व लोकोपयोगी एवं लोकसंग्रही था। उनका तन-मन-धन समाज, राष्ट्र, साहित्य और धर्म के लिये सदैव प्रस्तुत रहता था। फलतः साहित्य-सेवा के लिये उन्होंने परिवार की चिन्ता न की और न अंग्रेजी सरकार की। बंगला में उनकी अच्छी पैठ थी। साथ ही हिन्दी, संस्कृत और उर्दू पर उनका समान अधिकार था। बारह वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने नव रसों के स्थान पर चार अन्य रसों का विद्वत्तापूर्ण प्रतिपादन किया था, जिसके कारण प्रौढ़ कवि एवं आलंकारिक पं० ताराचन्द तर्करत्न को अपने 'श्रृंगार रत्नाकर' में—"हरिश्चन्द्रस्तु वात्सल्य सख्य भक्त्यानन्दाख्यमधिकं रस चतुष्टयं मन्यते"—लिखने के लिए बाध्य होना पड़ा।

विचारों एवं विषयों के क्षेत्र में वह पूर्ण मौलिक और क्रान्तिकारी थे। राष्ट्रीयता का बीज जिसे उन्होंने अपने जीवन में बपन किया था, उनके निधन-संवत्सर १८८५ ई० में राष्ट्रीय समिति (Indian National Congress) की स्थापना के रूप में अंकुरित हुआ। हिन्दी क्षेत्र में द्विवेदी-युग में इसका चरम उत्कर्ष वस्तुतः भारतेन्दु जी का ही चिर आभारी है।

भारतेन्दु-युग हिन्दी के आधुनिक काल के लिए संक्रान्त-युग था। जिन विचार-धाराओं को २०वीं शताब्दी के युग-प्रतिनिधियों ने प्रमुखता दी, उन सभी को भारतेन्दु एवं उनकी मण्डली के कवि-कलाकार प्रारम्भ कर चुके थे, जिनका संकेत और विवेचन पिछले पृष्ठों में किया जा चुका है। जिस प्रकार प्राचीन

१. श्रीधर पाठक—'हरिश्चन्द्राष्टक'—(१८८८ ई०)।

विषयों के मध्य में नवीन विषयों को काव्य में स्थान देकर उन्होंने परम्परा पर आघात किया था, उसी प्रकार काव्य में ब्रजभाषा के समक्ष खड़ी बोली के प्रयोग का आदर्श रख भाषा के क्षेत्र में भी उन्होंने नवीनता की प्रेरणा दी थी।

भारतेन्दु के साहित्य में प्राचीन और नवीन का सुन्दर सामंजस्य था, जिन्हें सरलतापूर्वक क्रमशः आदर्श और यथार्थ की संज्ञा दी जा सकती है। भाषा के रूप में ब्रजभाषा हो उन्हें और उनके गोष्ठी के सदस्यों को पैतृक धरोहर के रूप में मिली, जिसका उन लोगों ने भक्ति एवं रीतिपरक रचनाओं में सफलता-पूर्वक उपयोग किया। राधाकृष्ण-विषयक शास्त्रीय काव्य द्वारा उन्होंने निस्संदेह परम्परागत आदर्श की रक्षा कर ली; किन्तु देश की तत्कालीन परिस्थितियों ने उन्हें स्वप्निल न रहने दिया। जीवन के कटु सत्यों को देखकर वे उसकी उपेक्षा न कर सके। फलतः यथार्थ की ओर उन्मुख होने के लिए उन्हें बाध्य होना पड़ा। काव्य के विषय बदले, भाषा का माध्यम भी बदल चला।

"इसलिए हिन्दी में भी यदि कुछ परिवर्तन हों तो स्वाभाविक ही समझना चाहिए क्योंकि भाषा और भाव का परिवर्तन समाज की अवस्था और आचार-विचार से अधिक सम्बन्ध रखता है। अब ब्रजभाषा के दिन बीत गये। इस-लिए संस्कृत की भांति उसका मान तो अवश्य करना चाहिये, पर उसे राष्ट्र-भाषा बनाने की और नायिका-भेद और अलंकार-शास्त्र बढ़ाने की चिन्ता छोड़ देनी चाहिए।......ब्रजभाषा और खड़ी बोली की उत्पत्ति करीब-करीब साथ-साथ ही हुई। मुसलमानों के आने पर उर्दू की नींव पड़ी थी। उस समय उस में कविता खड़ी बोली की ही होती थी। फ़ारसी-मिश्रित उर्दू खड़ी बोली का ही रूपांतर है।"[1]

भारतेन्दु जी ने भी खड़ी बोली का प्रयोग करना प्रारम्भ किया; किन्तु यह अभ्यास गद्य-साहित्य तक ही सीमित रहा। पद्य-साहित्य में खड़ी बोली के प्रयोग उन्होंने प्रारम्भ भी किये थे; किन्तु उन्हें सफलता न मिली थी। इस सम्बन्ध में उन्होंने 'भारत-मित्र' के सम्पादक को लिखा था।

"पश्चिोत्तर देश की जनता की भाषा ब्रजभाषा है, यह निश्चित हो चुका है। मैंने आप कई बेर परिश्रम किये कि खड़ी बोली में कुछ कविता बनाऊँ पर

१. बदरीनाथ भट्ट—'खड़ी बोली की कविता', सरस्वती, मार्च १९१३।

वह मेरी चित्तानुसार नहीं बनी। इससे यह निश्चय होता है कि ब्रज-भाषा ही में कविता करना उत्तम होता है। × × × तीन भिन्न छन्दों में यह अनुभव करने के ही लिये कि किस छन्द में इस भाषा (खड़ी बोली) का काव्य अच्छा होगा, कविता लिखी है। मेरा चित्त इसमें सन्तुष्ट न हुआ और न जाने क्यों ब्रजभाषा से मुझे इसके लिखने में दूना परिश्रम हुआ, इस भाषा की दीर्घ क्रियाओं में दीर्घ मात्रा होने के कारण बहुत असुविधा होती है।"[1]

ब्रजभाषा और खड़ी बोली के इस संघर्ष में प्रतापनारायण मिश्र एवं राधाचरण गोस्वामी ब्रजभाषा के पक्ष में थे जब कि श्रीधर पाठक खड़ी बोली के पक्ष में। एक लम्बा वाद-विवाद कालाकाँकर से प्रकाशित 'हिन्दोस्तान' में चला।

भारतेन्दु के उपरान्त द्विवेदी-युग में ब्रजभाषा के अनन्य प्रेमी नित्यानन्द की 'होली में खड़ी बोली' कविता बदरीनारायण भट्ट द्वारा मार्च १९१३ की 'सरस्वती' में प्रकाशित 'खड़ी बोली की कविता' में उद्धृत की गई है।

बोल-चाल की भाषा में है कविता करना खेल नहीं।
अविकृत शब्दों का छन्दों से मिलता मेल नहीं॥
भारतेन्दु जी तक ने इसको इसीलिये था छोड़ दिया।
हार मानकर अब हमने भी है इससे मुँह मोड़ लिया॥

विचारणीय यह है कि कवि खड़ी बोली का विरोधी है; किन्तु स्वयं उपर्युक्त पंक्तियों को खड़ी बोली ही में प्रस्तुत कर रहा है।

पूज्य भारतेन्दु जी ने प्राकृत श्लोक के आश्रय पर 'कर्पूर-मञ्जरी' में बहुत ठीक कहा है—

जामैं रस कछु होत है पढ़त ताहि सब कोय।
बात अनूठी चाहिये भाषा कोऊ होय॥[2]

इन पंक्तियों के आधार पर यह पूर्णरूपेण स्पष्ट है कि काव्य की भाषा के सम्बन्ध में भारतेन्दु का किसी प्रकार का आग्रह नहीं था। काव्य के क्षेत्र में भाषा-विषयक उस समय दो विचार-धाराएँ थीं।

---

१. 'भारत-मित्र' (काशी) १ सितम्बर, १८८१।
२. राधाकृष्ण-ग्रंथावली, 'भाषा कविता की भाषा', पृष्ठ १४२ (इं० प्रे०)।

"कुछ लोगों की सम्मति है कि ब्रजभाषा के अतिरिक्त प्रचलित बोलचाल की भाषा में कविता हो ही नहीं सकती और कुछ कहते हैं कि ब्रजभाषा की कविता हिन्दी भाषा की कविता ही नही है। वह केवल एक प्रान्त की भाषा-कविता कही जा सकती है; कविता जब खड़ी बोली में होगी तभी वह हिन्दी कविता कहलाने योग्य होगी।"[1]

भारतेन्दु और उनकी मण्डली के कवि ब्रजभाषा-काव्य के शत-प्रतिशत पोषक थे; किन्तु शास्त्रीय विषयों की रक्षा में नवीन लोकोपयोगी विषयों को रखकर जिस प्रकार उन्होंने स्वच्छन्दतावादी भावना की प्रेरणा का सूत्रपात किया था, उसी प्रकार काव्य की भाषा के रूप में लोकभाषा खड़ी बोली को स्थान देकर उन्होंने भाषा के क्षेत्र में भी स्वच्छन्द भावना को एक नवीन प्रेरणा दी।

भारतेन्दु जी ने प्राचीन और नवीन विषयों को भी अधिकांशत: ब्रजभाषा में ही लिखने का प्रयास किया, तथापि उस समय तक खड़ी बोली में जो छन्द प्रचलित थे उन्हें उन्होंने अपनाया और खड़ी बोली का सफल आदर्श प्रस्तुत किया।

भारतेन्दु जी ने उर्दू के छंद-ग़ज़लों को अपनाया था, जिसमें उर्दू शब्दों का बाहुल्य था। भारतेन्दु ने उर्दू कविता के लिए अपना 'रसा' नाम रख छोड़ा था।

उसको शाहनशाही हर बार मुबारक होवे।
कैसरे हिन्द का दरबार मुबारक होवे॥
बाद मुद्दत के हैं देहली के फिरे दिन या रब।
तख्त ताऊस तिलाकार मुबारक होवे॥
बागबां फूलों से आबाद रहे सहने चमन।
बुलबुलों गुलशन बे खार मुबारक होवे॥
एक इस्तूद में हैं शेखो विरहमन दोनों।
सिजदः इनको उन्हें जुन्नार मुबारक होवे॥[2]

इस शैली में निस्संदेह अरबी-फ़ारसी के शब्दों का प्राधान्य मिलता है; किन्तु आगे चलकर हिन्दी शब्दों के समावेश से खड़ी बोली का रूप प्रमाणित होने लगता है।

जहाँ देखो वहाँ मौजूद मेरा कृष्ण प्यारा है।
उसी का सब है जलवा जो जहाँ में आशकारा है॥

---

१. राधाकृष्ण ग्रंथावली, 'भाषा कविता की भाषा', पृष्ठ १३१ (इं० प्रे०)।
२. भारतेन्दु ग्रंथावली भाग २, 'गजल मादये तारीख', पृष्ठ ७४७।

भला मख़लूक खालिक़ की सिफत समझे कहाँ कुदरत।
इसी से नेति नेति ऐ यार वेदों ने पुकारा है।।
न कुछ चारा चला लाचार चारों हारकर बैठे।
बिचारे वेद ने प्यारे बहुत तुमको विचारा है।।[१]

काव्य में अभी तक अमीर खुसरो की मुकरियां बड़ी ही प्रसिद्ध थीं। अरबी, फ़ारसी तथा खड़ी बोली के शब्दों के समन्वय से निर्मित यह बड़ी ही सजीव थीं; किन्तु विषय बदलने एवं नवीन परिस्थितियों के घटित होने से भारतेन्दु जी ने "नए ज़माने की मुकरी" भी लिखी। इन मुकरियों में खड़ी बोली के प्रयोगों का आधिक्य है।

सब गुरुजन को बुरो बतावै।
अपनी खिचड़ी अलग पकावै।।
भीतर तत्व न झूठी तेजी।
क्यों सखि, सज्जन? नहिं अंगरेजी।।

सीटी देकर पास बुलावै।
रुपया ले तो निकट बिठावै।।
ले भागे मोहि खेलहि खेल।
क्यों सखि सज्जन? नहिं सखि रेल।।

मुँह जब लागै तब नहिं छूटै।
जाति मान धन सब कुछ लूटै।।
पागल करि मोहि करै खराब।
क्यों सखि सज्जन? नहीं सराब।।[२]

कबीर द्वारा प्रचलित 'रेखता' की परिपाटी पर भारतेन्दु जी ने भी लिखा है। इन पंक्तियों में खड़ी बोली के शब्दों का ही प्रयोग किया गया है।

मोहन पिय प्यारे टुक मेरे ढिग आव।
बारी गई सूरत के बदन तो दिखाव।।
तरस गये अँग-अँग गर में लपटाव।
तेरी मैं चेरी मुझे मरत सों जिलाव।।

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २, 'स्फुट कविताएं', पृष्ठ ८५१ (ना० प्र० स०)।
२. " 'नये जमाने की मुकरी', पृष्ठ ८१०-११।

वही रूप वही अदा दीने निज घाव।
प्यारे 'हरिचन्दहि' फिर आज भी दरसाव ॥[1]

◇ ◇ ◇

बचे रहो जरा यह बनाम फाग है।
आँखों की भी हमसे तुमसे लाग है॥
इस ब्रज का तो सभी चबाई लोग है।
आँख लगाना यहाँ बड़ा एक रोग है॥
मेरी तेरी प्रीति बहुत मशहूर है।
तिसमें भी होरी चकनाचूर है॥[2]

इस समय तक गद्य खड़ी बोली में लिखा जाने लगा था जो सर्व-सम्मत था; किन्तु काव्य के क्षेत्र में ब्रजभाषा का ही एकच्छत्र साम्राज्य था। साहित्य के इन दो अंगों को लेकर भाषाओं में जो वैषम्य था यह कम अखरने वाला नहीं था। भारतेन्दु जी के जीवन काल से ही यह विषमता चिन्तनीय थी। खड़ी बोली के समर्थन में प्रतापनारायण मिश्र के प्रतिवादस्वरूप श्रीधर पाठक का कथन है—

"हम यह नहीं कहते कि नवीन हिन्दी की कविता ब्रजभाषा की कविता से मधुर होती है। हमारा तो केवल इतना ही मन्तव्य है कि नवीन हिन्दी में जैसे गद्य है वैसे पद्य भी होना चाहिये।...... यह कभी भूल से मत बोलना कि खड़ी हिन्दी कविता के उपयुक्त नहीं है।... गद्य और पद्य की भिन्न भाषा होना हमारे लिये उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।"[3]

अब तक खड़ी बोली की व्यावहारिकता पर कविजनों को विश्वास हो चला था। स्वयं भारतेन्दु जी की गोष्ठी के प्रमुख कवि प्रेमघन ने खड़ी बोली में काव्य का निम्न आदर्श प्रस्तुत किया—

हुआ प्रबुद्ध वृद्ध भारत निज आरत दशा निशा का।
समझ अंत अतिशय प्रमुदित हो तनिक तब उसने ताका॥

---

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' भाग २, प्रेम तरंग, पृ० २०८ (ना० प्र० स०)।
२. " " होली, पृ० ३७९ "
३. हिन्दोस्तान, ८ मार्च, १८८८ ई०।

अरुणोदय एकता दिवाकर प्राची दिशा दिखाती।
देखो नव उत्साह परम पावन प्रकाश फैलाती ॥[१]

खड़ी बोली के प्रति कवि-समाज आश्वस्त हो उठा था। क्रमशः ब्रजभाषा जो शास्त्रीय भाषा थी, के स्थान पर खड़ी बोली का सम्मान बढ़ने लगा। श्रीधर पाठक ने खड़ी बोली को प्रशस्त करने के लिये उसमें 'एकान्तवासी योगी' की सफल अनूदित रचना १८८६ ई० में प्रस्तुत की। यह रचना खड़ी बोली के काव्य के विकास में महत्वपूर्ण पद-चिह्न थी।

प्राण पियारे की गुन-गाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते-गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥
विश्व निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर ॥[२]

इस प्रकार खड़ी बोली क्रमशः समाज में सम्मानित हो उठी। भारतेन्दु के उपरान्त श्रीधर पाठक जी के सहयोग से अयोध्याप्रसाद खत्री ने १८८८ ई० में खड़ी बोली का आन्दोलन प्रारम्भ किया। उन्होंने घूम-घूमकर खड़ी बोली के गान गाये। लोगों के समक्ष खड़ी बोली के अंशों को रखकर उसे व्यावहारिक रूप देने के लिए बाध्य किया।

उपर्युक्त प्रगति खड़ी बोली के पक्ष में बड़ी ही आशाजनक थी। इस समय से पद्य के क्षेत्र में भी इसका व्यवहार एवं उपयोग बढ़ा और लोग इसी समय से उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन देखने के स्वप्न देखने लगे।

खड़ी बोली लोक-भाषा के रूप में अपना अस्तित्व संरक्षित किये थी। वस्तुतः ब्रजभाषा के स्थान पर उसके प्रत्यावर्तन ने काव्य का स्वाभाविक स्वरूप ही प्रस्तुत किया। लोकभाषा की सफलता एवं बोधगम्यता सर्वसुलभ होती है। इससे काव्य लोक-भाषा से विभूषित होकर अपने को गौरवान्वित करने में कृतकृत्य हुआ और स्वच्छन्दतावादी भावना के संरक्षण के लिये लोक-भाषा का माध्यम प्राप्त कर फूला न समाया।

इ—स्वच्छन्दवादिता के प्रेरक तत्व

३. छन्दों के क्षेत्र में

भारतेन्दु-युग 'रीतिकाल' और 'आधुनिक काल' के मध्य की एक कड़ी है।

---

१. 'प्रेमघन-सर्वस्व', आनन्द अरुणोदय, पृ० ३७३ (साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।
२. श्रीधर पाठक—'एकान्तवासी योगी'।

काव्य में प्रयुक्त विषय, भाषा और छन्द के सम्बन्ध में कवियों का परम्परा-पालन में केवल प्राचीन के प्रति ही अनुराग नहीं रहा। उन्होंने उनके नवीन स्वरूपों की भी प्रतिष्ठा की थी। विषय और भाषा के क्षेत्र में जो नवीनताएं समाविष्ट हो चुकी थीं उनका विवेचन पिछले पृष्ठों में हो चुका है। अब देखना है—परम्परागत छन्दों में—क्या प्रगति रही है और इस सम्बन्ध में भारतेन्दु-युगीन कवियों ने स्वच्छन्दवादिता के विकास में कहाँ तक प्रेरणा दी है।

भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी के कवि अपनी पृष्ठभूमि में भक्ति एवं रीतिकाल को छोड़ चुके थे। फलतः विषयों के साथ-साथ छन्दों की निधि उनके समक्ष प्रस्तुत थी, जिसका उन्होंने अनुकरण किया। कवित्त, सवैया, दोहा, चौपाई, सोरठा, चौपई, मालिनी, द्रुतविलम्बित आदि छन्द परम्परागत परिपाटी के अनुसार इन लोगों ने ग्रहण किये। फलतः इस युग का काव्य-निर्माण इन्हीं छन्दों के अन्तर्गत हुआ है। नवीन विषयों के वर्णन के लिए रोला एवं छप्पय छंद तथा समस्या-पूर्तियों के लिए घनाक्षरी एवं सवैया छन्दों को विशेष मान प्राप्त हुआ है। शास्त्रीय-साहित्य के अतिरिक्त इस युग में जन-साहित्य का भी सृजन हुआ है, जिसमें लोक-प्रचलित छन्द अपनाये गये हैं। खड़ी बोली, उर्दू एवं उर्दू-मिश्रित हिन्दी-काव्य के लिए लावनी, ग़ज़ल एवं रेखता आदि छन्दों के सफल प्रयोग हुए हैं। कजली एवं कबीर छन्दों के प्रयोग ने तो कवि को लोक-भूमि पर ही आसीन कर दिया।

इस युग के राधाकृष्ण-विषयक जो भी पद लिखे गये सब भक्तिकालीन 'पद शैली' पर आधारित हैं।

सवैयों में दुर्मिल, किरीट, अरसात एवं मत्तगयंद सवैये तथा दोहा, चौपाई, झूलना आदि सभी छन्द-शास्त्र की प्राचीन परिपाटी पर ही अपनाये गये हैं। छन्दों के सम्बन्ध में भारतेन्दु ने एकाध अवश्य नवीन प्रयोग किये हैं।

वर्णिक छन्दों में भारतेन्दु ने बंगला के 'पयार' छन्द का प्रयोग किया है। इसका निर्माण आठ और छः वर्णों के सहयोग से होता है।

मन्द-मन्द आवै देखो प्रात समीरन।
करत सुगन्ध चारों ओर विकीरन॥
गात सिहरात तन लगत सीतल।
रैन निद्रालस जन-सुखद चंचल॥[1]

---

१. 'भारतेन्दु ग्रन्थावली' भाग २, 'प्रात समीरन', पृष्ठ ६८६ (ना० प्र० स०)।

'अथ बंगला गान' में भारतेन्दु जी ने कई छन्दों का प्रयोग किया है। आठ और छः वर्णों की अर्द्धालियां जोड़कर कवि ने कितने ही बंगला के छन्द बनाये हैं।

शुनियाछी तव कृपा पतित गामिनी। (८+६ वर्ण)
पाइये कोथाये तबे पतित अमार तुल्य। (८+८ वर्ण)
पाप मात्र कर्मजार दिवस यामिनी। (८+६ वर्ण)
सर्वस्व स्वरूप जार मिथ्याचार व्यवहार। (८+८ वर्ण)
हिंसा छल द्यूत मद्य मांस ओ कामिनी।[1] (८+६ वर्ण)

इसी प्रकार आठ और छः वर्णों की टेक देकर प्रत्येक चरण में १६ (८+८) वर्ण रखकर नया छन्द बनाया गया है।

ओहे श्याम आछे कि आर आमाय मने।
सुन हे श्याम त्रिभंग दिया ए प्रनय भंग।
सेथाय कुबजा संग भूले ए दुःखिनी जने।
सुन हरि प्रानधन आमार ए निवेदन।
बार कि ओहे दर्शन दिबे नाए बृन्दाबने।[2]

किसी-किसी छन्द में ६। ५। ११ वर्णों की टेक देकर ६-६ वर्णों की चार अर्द्धालियों को संयुक्त कर चौबीस वर्णों के चरण रचित हैं :—

अमार नाथ बड़ दयामय।
करुना-आकर दयार सागर दयामय नाम जगत भीतर।
एक मुखे गुन वर्णना और आर कहि छे चंद्रिका-भाविया हृदये।[3]

उपर्युक्त प्रकार से हिन्दी में बंगला का पयार-छन्द प्रयुक्त हुआ है और बंगला-भाषा में पयार छन्द को लेकर पदों के चरणों का निर्माण हुआ है। भारतेन्दु इस प्रकार के प्रयास में अप्रतिम रहे हैं। हिन्दी-काव्य में इस सम्बन्ध में उनका अनुकरण नहीं किया गया है।

इसी प्रकार से अन्य अनुकरणीय प्रयोग भारतेन्दु जी ने संस्कृत-भाषा में भी किये हैं। संस्कृत को उन्होंने छन्द और लोक-छन्द (लावनी) में प्रयोग किया है। कहीं-कहीं अभिनव जयदेव की छन्द-शैली को भी उन्होंने ग्रहण किया है।

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली, भाग २—'अथ बंगला गान', पृष्ठ २१८ (ना० प्र० स०)
२. ,, ,, ,, ,, २१९ ,,
३. ,, ,, ,, ,, २१२ ,,

दोहा-शैली पर—

तद्वन्दे कनकप्रभं किमपि जानकीधाम।
मत प्रसादतस्सार्थतामेति राम इति नाम ॥[1]

लावनी छन्द में—

कुंजं कुंजं सखि सत्वरं।
चल-चल दयितः प्रतीक्षते त्वां तनोति बहु आदरं ॥
सर्वा अपि संगताः।
नो दृष्ट्वा त्वां तासु प्रिय सखि हरिणाऽहं प्रेषिता ॥
मानं त्यज वल्लभे ।
नास्ति श्री हरिसदृशो दयितो वच्मि इदं ते शुभे ॥[2]

अभिनव जयदेव की संस्कृत-वृत्त-शैली पर—

हरिरिह विलसति सखि ऋतुराजे।
मदन महोत्सव वेषविभूषित वल्लभरमणि समाजे ॥[3]

उपर्युक्त पद्धति पर ही भारतेन्दु जी ने संस्कृत में कजली भी लिखी है।

हरि हरि हरिरिह विहरति कुंजे मन्मथ मोहन बनमाली।
श्री राधाय समेतो शिखिशेखर शोभाशाली ॥
गोपीजन-बिधुबदन-बनज-बन मोहन मत्तालो।
गायति निज दासे 'हरिचन्दे' गल-जालक माया-जाली ॥[4]

उपर्युक्त छन्दों के प्रयोग में भारतेन्दु जी अप्रतिम ही रहे हैं। इन सभी विशेष प्रयोगों में भारतेन्दु की विद्वत्ता एवं अध्ययन-शीलता ही स्पष्ट व्यक्त होती है।

इस युग में प्रमुख कवियों द्वारा लोक-गीतों में भी रचनाएँ की गई हैं। ग़ज़ल, लावनी एवं कजली आदि इस समय के बड़े ही लोकप्रिय छन्द थे। लावनियाँ भारतेन्दु जी, प्रतापनारायण मिश्र, राधाचरण गोस्वामी एवं बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आदि के द्वारा लिखी गई हैं। कजली जैसे लोकप्रिय छन्द में भारतेन्दु के अतिरिक्त अन्य कवियों ने भी इस सम्बन्ध में विशेष सफलता प्राप्त की।

---

१. भारतेन्दु ग्रंथावली—श्री सीतावल्लभ स्तोत्र, पृष्ठ ७६६ (ना० प्र० स०)
२. भारतेन्दु ग्रंथावली—संस्कृत लावनी, पृष्ठ ६६६ ,,
३. भारतेन्दु ग्रंथावली—संस्कृत राग बसन्त, पृष्ठ ४३० ,,
४. भारतेन्दु ग्रंथावली—वर्षा-विनोद, पृष्ठ ४६२ ,,

खड़ी बोली के प्रगति-काल में कवि-वर्ग का ध्यान उर्दू भाषा की ओर भी गया था। उन्होंने केवल भाषा से ही काव्य को विभूषित नहीं किया; किन्तु उसके छन्दों को भी अपनाया। इन छन्दों में से ग़ज़ल को ही प्रमुखता प्राप्त हुई। उर्दू का काव्य रचने में भारतेन्दु को बड़ी सफलता मिली थी।

क़लक़ की ग़ज़ल 'बाद अज़ फना तो रहने दे इस ख़ाकसार को' पर भारतेन्दुजी ने चार शेर कहे हैं :—

अल्ला रे लुत्फे ज़बह की कहता हूँ बार-बार।
कातिल गले से खींच न खंजर की धार को॥
तड़पा न करदे ज़बह मुझे बानिए-जफ़ा।
कुरबाँ गले प फेर दे खंजर की धार को॥
दे दो जवाब साफ कि किस्सा तमाम हो।
दौड़ाते किस लिये हो इस उम्मीदवार को॥
होगी कशिश वहाँ से पस अज़ मर्ग जो 'रसा'।
पायगी गर हवा मेरे मुश्ते-गुबार को॥[1]

◇ ◇ ◇

कूचये दिलदार से वादे सदा आने लगी।
ज़ुल्फ मुश्की रुख प बल खा खा के लहराने लगी ॥टेक॥
देखकर दर पर खड़ा मुझ नातवाँ को वो परी।
खींचकर तेगे अदा बेतर्ह झुंझलाने लगी॥
ज़ुल्फ मुश्की मार की बढ़-बढ़ के अब तो पैर तक।
नातवाँ नाकाम उशाकों को उलझाने लगी॥[2]

* * *

विवादी बढ़े हैं यहाँ कैसे-कैसे।
कलाम आते हैं दरमियाँ कैसे-कैसे॥
जहाँ देखिए म्लेच्छ सेना के हाथों।
मिटे नामियों के निशाँ कैसे-कैसे।

---

१. 'भारतेन्दु ग्रंथावली' भाग २—स्फुट कविताएँ, पृष्ठ ८५८-५९ (ना० प्र० स०)।

२. 'प्रेमघन सर्वस्व'—उर्दू बिन्दु, पृष्ठ ४६५ (हिं० सा० सम्मेलन)।

बने पढ़ के गौरण्ड-भाषा द्विजाती।
मुरीदाने पीरे मुगाँ कैसे-कैसे ॥[1]

हिन्दी-काव्य के साथ कवियों के द्वारा उर्दू को भी प्रोत्साहन मिल रहा था। भारतेन्दु की उर्दू की पंक्तियाँ उर्दू के बड़े-बड़े कवियों के लिए भी अनुकरण का विषय रहीं। भाषा एवं साहित्य के दृष्टिकोण से इस प्रकार के काव्य से हिन्दी को कोई विशेष लाभ भले ही न हुआ हो ; किन्तु यह सत्य है कि उर्दू भाषा में जो चुलबुलापन और प्रवाह है उसको सीखने की आवश्यकता थी। वस्तुतः खड़ी बोली के प्रचार में इस प्रकार के उर्दू-काव्य रचने की भावना पृष्ठभूमि में आती है, जिससे खड़ी बोली का काव्य अपने अस्तित्व को स्थिर करने में सफल हो सका।

भारतेन्दु-युग में लावनी छन्द का भी प्रचार होता है। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार मिर्जापुर-निवासी तुकनगिरि गोसाईं ने सधुक्कड़ी भाषा में ज्ञानोपदेश देने के लिए लावनी की लय चलाई। धीरे-धीरे इसका काव्य-क्षेत्र में भी प्रवेश हुआ और इस छन्द में सभी ही प्रमुख कवियों ने कविताएँ कीं। इस छन्द में खड़ी बोली का ही प्रयोग होता था। कहीं-कहीं खड़ी बोली और उर्दू-मिश्रित भाषा का भी प्रयोग हुआ है।

बिना उसके जल्वा के दिखाती कोई परी या हूर नहीं।
सिवा यार के, दूसरे का इस दुनियाँ में नूर नहीं॥
जहाँ में देखो जिसे खूबरू वहाँ हुस्न उसका समझो।
झलक उसी की सभी माशूकों में यारो मानो।[2]

* * *

तुकनगिरि गोसाईं का उद्देश्य लावनी के द्वारा निर्गुण एवं सगुण दोनों भक्ति-पद्धतियों को प्रोत्साहन देना था। इन पंक्तियों के द्वारा 'यार' अथवा श्याम के सर्वव्यापकत्व का दिग्दर्शन कराया जा रहा है।

प्रेमघन जी अपने प्रियतम की रूप-माधुरी पर मोहित हैं—

क्या कहूँ चाँद से मुखड़े की छवि तेरे।
पाता हूँ नहीं मिसाल जगत में हेरे।
गुल दोपहरी लखि मधुर अधर मुरझेरे।
दाने अनार दाँतों को रे।

---

१. प्रतापनारायण मिश्र—'कविता कौमुदी', भाग २, पृष्ठ ६०।
२. 'भारतेन्दु ग्रंथावली'—प्रेम-तरंग, पृष्ठ १९४ (ना० प्र० स०)।

खुश रंग अंग दुति दामिन देखि लजानी ।
मन मेरा मस्त हो दिलजानी ।।[1]

भारतेन्दु जी के निधन के उपरान्त इसी लावनी छन्द में श्रीधर पाठक जी ने १८८६ ई० में गोल्डस्मिथ के The Hermit का 'एकान्तवासी योगी' के नाम से अनुवाद किया था।

आधुनिक काव्य-धारा के द्वितीय उत्थान में 'एकान्तवासी योगी' अपनी सार्वभौम मार्मिक कथा के कारण स्वच्छन्दतावादी धारा में प्रमुख स्थान रखता है। केवल कथा के कारण ही इस काव्य को इतनी मान्यता नहीं प्राप्त हुई; किन्तु इसका श्रेय लोकप्रिय लावनी की लय पर भी आधारित है।

लावनी के समान ही कजली में भी काफी साहित्य रचा गया है। इस राग के निर्माण और प्रचार का क्षेत्र वस्तुतः मिर्जापुर ही रहा है। इस के द्वारा कान्तित प्रदेश के गहरवार राजा दादूराय एवं उनकी पत्नी नागमती की कीर्ति अक्षुण्ण रही है। इस राग के नामकरण का कारण उक्त गहरवार वंश के राजा का कजलीबन और पुराण-वर्णित कज्जली तीज है। यह कजलियाँ श्रावण मास में विशेष रूप से गाई जाती हैं। इसमें भी लावनी के समान ही लौकिक-अलौकिक संयोग और वियोग के चित्रण प्रस्तुत किये जाते रहे हैं।

अगगग अगगग अगगग घन गरजै ।
सुनि-सुनि मोरा जिय लरजै ।।
जुगनू चमकै बादल रमकै ।
बिजुरी दमकै झमकै तरजै ।।
ऐसी समय चले परदेसवाँ ।
पिय नहिं मानत मोरी अरजै ।।
ऐसन नहिं कोइ पटुका गहिकै ।
पिय 'हरिचन्दहि' जो बरजै ।।[2]

प्रेमघन जी का निवास-स्थान मिर्जापुर में था। इससे उनकी कजलियों की सफलता विशेष स्तुत्य है। उनके द्वारा कजली के मूल एवं उसके विकृत रूप के

---

१. प्रेमघन सर्वस्व, लावनी—पृष्ठ ४७६ (हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग)
२. 'भारतेन्दु ग्रंथावली'—वर्षा विनोद, पृष्ठ ४८७, (ना० प्र० स०)।

चित्रण किए जाने के कारण निम्न स्तर से लेकर उच्च स्तर तक के समाज में समाहृत कजलियाँ उनके काव्य में उपलब्ध होती हैं।

जय-जय प्यारी राधारानी, जय-जय मनमोहन ब्रजराज।
दोउ चकोर, दोउ चन्द, दोऊ घन, दोउ चातक सिरताज॥
दोऊ अमल कमल, अलि दोऊ सजे सजीले साज।
दोउ प्रेम-भाजन, दोऊ प्रेमी, दोऊ रूप जहाज॥
सुकवि प्रेमघन के मिलि दोऊ सबै सँवारौ काज॥[1]

प्रेमघन जी ने परिहास-मूलक कजली भी निर्मित की हैं, जिसमें कोट-पेण्ट-धारी बाबुओं की खबर ली गई है।

सोहै न तोके पतलून साँवर गोरवा।
कोट बूट जाकट कमीच क्यों पहिनि बनै बैबून। साँ० गो०
काली सूरत पर काला कपड़ा देत किये रंग दून। ,, ,,
अंगरेजी कपड़ा छोड़हु कितौ ल्याय लगावः मुहें चून। ,, ,,
दाढ़ी रखिकै बार कटावत और बढ़ाये नाखून। ,, ,,
चलत चाल बिगड़ैल घोड़ सम बोलत जैसे मजनून। ,, ,,
चन्दन तजि मुँह ऊपर साबुन काहै मलहु दुओ जून। ,, ,,
चूसहु चुरुट लाख पर लागत पान बिना मुँह सून। ,, ,,
अच्छर चारि पढेहु अंग्रेजी बनि गयः अफलातून। ,, ,,
मिलहि मेम तो हैं कैसे जेकर फेयर फेस लाइक दी मून। ,, ,,
बिस्कुट केक कहाँ तूँ पैव्यः चायः चना भले भून। ,, ,,
डियर, प्रेमघन हियर दयाकर गीत न गावो लैम्पून।[2] ,, ,,

प्रेम-विषयक गान ही कवि ने नहीं गाए हैं; किन्तु कजली को स्वदेश-दशा-गान गाने के लिए भी प्रेरित किया गया है।

गारत भयो भले भारत यह आरत रोय रह्यो चिल्लाय।
बल को परम पराक्रम खोयो विद्या गरब नसाय।
मन मलीन धनहीन दीन ह्वै पर्‌यो विवस बिलखाय॥[3]

---

१. 'प्रेमघन सर्वस्व', कजली, पृष्ठ ४८५ (हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग)।
२. ,, ,, ५४२-४३ ,,
३. ,, ,, ५४६ ,,

कजली को सामाजिक सुधार के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। अनमेल-विवाह के सम्बन्ध में प्रेमघन जी का कथन है—

नैहर में देबै बिताय बरु बिरथा बैस जवानी रामा।
हरि, हरि का करबै लै ई छोटा साजनवाँ रे हरी ॥[1]

* * *

चेतो हे हे बामन भाई, सुधि बुधि काहे रहे गँवाय।
तुमरेई पुरखे मनु, पाणिनि, भृगु, कणाद, मुनि राय।
व्यास, पतंजलि, याज्ञवल्क्य, गुरु गये शास्त्र जे गाय ॥

* * *

बूड़त देस तुमारेहि आलस अधरम तापन ताय।
विप्र वंस मिलि सबै प्रेमघन सोचहु बेगि उपाय ॥[2]

प्रेमघन जी कजली के इस प्रकार के प्रयोग में पूर्ण मौलिक थे। उनकी कजलियों में लौकिक प्रेम और माधुर्य का अपूर्व समावेश है। पंक्तियों में वियोग के संबंध में नायिकाओं में नारी-सुलभ आकुलता एवं भावुकता है। उनकी सरस एवं ललित भावनाएँ हृदय से छलकी पड़ती हैं।

साधारण लोगों के गान के लिए होली के उपलक्ष में प्रेमघन जी ने 'कबीर' भी लिखे हैं :—

कबीर भर र र र र र र हाँ,
विजय कांग्रेस की भई अंटी-अंटी खाय,
पकड़ि गई पड़ि-पड़ि वह सुसकत मुँह बाय,
भला सब देस के बैरी रोवत हैं।[3]

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि भक्ति एवं शृंगार-विषयक काव्य अब भी पूर्णरूपेण शास्त्रीय पद्धति पर परम्परागत छन्दों में ही रचा जा रहा था; किंतु परिस्थितिवश कवियों को काव्य के लिए नवीन विषय चुनने के लिए बाध्य होना पड़ा। फलतः नवीन विषयों के साथ नवीन छन्दों के विधान पर भी ध्यान जाना स्वाभाविक हो गया। भारतेन्दु-युग के कवियों में जहाँ तक नवीन विषयों

---

१. 'प्रेमघन सर्वस्व', पृष्ठ ५४६, (हि० सा० सम्मेलन, प्रयाग)।
२. „ पृष्ठ ५५०-५१ „ „
३. 'प्रेमघन सर्वस्व', कजली, पृष्ठ ६२६ „ „

के चित्रण का सम्बन्ध है वे अकृत्रिम हैं और अपनी अभिव्यञ्जना में भी आडम्बर-विहीन हैं। उनके द्वारा लौकिक-प्रेम के गीत विशेष मादकता से गाए गए हैं, जिनमें तज्जनित भावनाओं का सगुम्फन जीवन की सरल स्वच्छन्दवादिता का अनुभव कराए बिना नहीं रहता। इस प्रकार के गान अथवा चित्रणों का समाज पर सीधा प्रभाव पड़ा। इस प्रकार विषय के माध्यम का प्रश्न लौकिक जन-गीतों के द्वारा पूर्ण कर लिया गया। फलतः उपर्युक्त छन्द-विषयक प्रवृत्तियों में स्वच्छन्दतावादी भावना व्यक्त होती है।

अध्याय ४

भारतेन्दु-युग में स्वच्छन्दतावादी काव्य और ठाकुर जगमोहनसिंह

भारतेन्दु-युग जीवन की नवीन परिस्थितियों एवं नव चेतना को लेकर आया। उससे पूर्व के काव्य में मध्ययुग (रीतिकाल) की सामन्तीय भावना का प्रचार और कृत्रिम भावात्मक आदर्श का बाहुल्य था। यथार्थ जीवन का भाव एवं विचारों की सत्यता तिरोहित थी; किन्तु भारतीय विद्रोह (१८५७) एवं अंग्रेजों के आतंक ने भारतीयों को जीवन में यथार्थ निरीक्षण का बल दिया। इस समय के काव्य में रूढ़िवादिता का विरोध, प्राचीन भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रीयता के प्रति आकर्षण तथा सामाजिक विकारों का उल्लेख आदि साहित्य के विषय थे। इन प्रवृत्तियों में ही हिन्दी का गद्य और पद्य साहित्य सृजित हो रहा था। इस प्रकार की नूतन प्रेरणाओं का सन्निवेश होने पर भी काव्य-कला के सम्बन्ध में कविवर्ग मध्ययुगीन ही था तथापि नव-युग की अरुणिमा भावुकों को सुखप्रद थी और वे संतोष का अनुभव कर रहे थे।

परम्परागत एवं नूतन प्रगतियों को लेकर कवि-वर्ग में उस समय दो विभाजन थे। एक वर्ग पूर्ण परम्परावादी और प्राचीनतावादी तथा द्वितीय वर्ग परम्परावादी और नूतनतावादी था। प्रथम वर्ग में रूढ़िवादिता का आग्रह था और द्वितीय वर्ग रूढ़िवादिता के साथ नवीन परिस्थिति-विषयक भावनाओं का सन्निवेश करता था। यदि प्रथम वर्ग भक्ति एवं शृंगारिक आदि विषयों का और पद, कवित्त एवं सवैया आदि छन्दों का आधार लेकर चलता था तो द्वितीय इनके अतिरिक्त देश की निर्धनता, अकाल, महँगी, कलह, आलस्य, कायरता, टैक्स, अनैक्य, पुलिस के अत्याचार, फैशन, घूँस, नैतिक पतन एवं विविध कुप्रथाओं

आदि का भी वर्णन करता था। छन्दों में भी उन्होंने लावनी, ख्याल, होली, कजली, रेखता एवं अन्य लोक-प्रचलित छन्दों को अपनाया। ब्रजभाषा के स्थान पर लोक-प्रचलित खड़ी बोली को भी उन्होंने काव्य में प्रयोग किया। उपर्युक्त प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में पर्याप्त उदाहरण इस अध्याय के विगत पृष्ठों में मिलेंगे। इससे इस स्थल पर उनकी सूचनामात्र ही दी जा रही है।

प्रमुखरूपेण इस स्थल पर युग की स्वच्छन्दतावादी भावना के सम्बन्ध में यह विचार करना है कि यह किस मात्रा तक इस युग में सुरक्षित है। यों प्राचीन-परम्परावादी कवियों (स्वयं भारतेन्दु जी एवं उनकी गोष्ठी) में यह प्रवृत्ति उतनी उभरी हुई नहीं है, जितनी अकेले पं० श्रीधर पाठक के काव्य में है। कहना यों चाहिये मानों भारतेन्दु-युग ने स्वच्छन्दतावादी काव्य के युग-प्रतिनिधि के रूप में पाठक जी को प्रस्तुत कर दिया। उपर्युक्त विभूतियों में स्वच्छन्दता का अंश न होते हुए भी उनकी काव्य-प्रवृत्तियों ने पाठक जी की स्वच्छन्दतावादी भावना के लिये क्षेत्र अवश्य तैयार कर दिया। ये काव्य-प्रवृत्तियाँ स्वच्छन्दतावादी काव्य-क्षेत्र के लिये उर्वर थीं। इस उद्देश्य को लेकर भी विगत पृष्ठों में विवेचन किया जा चुका है।

स्वच्छन्दतावादी हिन्दी-काव्य के अन्तर्गत पं० श्रीधर पाठक, उनका जीवन एवं उनकी कृतियों का अनुशीलन आदि मेरे आलोच्य विषय हैं। इससे पं० श्रीधर पाठक के काव्य को भी इस स्थल पर छोड़ दिया गया है। इनके सम्बन्ध में विशद विवेचन अगले पृष्ठों में मिलेगा। पाठक जी जैसे स्वच्छन्दतावादी कवि को जन्म देकर वस्तुतः भारतेन्दु-युग ने हिन्दी-काव्य को चिर आभारी किया है। अब देखना यह है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्तियाँ किस अंश तक भारतेन्दु-युग के अवशिष्ट काव्य में उपलब्ध होती हैं।

भारतेन्दु जी के समय तक प्राचीन परिपाटी पर कविता करने वाले कवियों में सेवक, रीवाँ-नरेश रघुराजसिंह, ललित किशोरी, राजा लक्ष्मणसिंह एवं लछिराम (ब्रह्म भट्ट) प्रमुख थे। इन कवियों में सभी रूढ़िवादी एवं प्राचीनतावादी रहे हैं। अकेले राजा लक्ष्मणसिंह ने परम्पराओं को तोड़ने का प्रयास किया है। यद्यपि भाषा एवं छन्द-योजना के सम्बन्ध में वह अपरिवर्तनवादी हैं। फिर भी उनमें विषय-परिवर्तन की अभिरुचि है। भारतेन्दु-युग में केवल उन्हीं को यह श्रेय है कि उन्होंने परम्परागत विषयों के बाहर देखने की चेष्टा की। उस युग में उनके

द्वारा कालिदास विरचित 'अभिज्ञान शाकुन्तल' (१८६१ ई०) एवं 'मेघदूत' (२४ जून, १८८२ ई०) के सुन्दर अनुवाद प्रस्तुत किये गये। अनूदित 'शकुन्तला' के प्रथम संस्करण में काव्यांश नहीं थे; किन्तु १८८९ ई० के द्वितीय संस्करण में यह सभी सन्निविष्ट कर दिये गये थे। इन दोनों अनुवादों ने हिन्दी-काव्य को नवीन दिशा प्रदान की।

यों युग में प्रचलित एवं वर्णित शृंगारात्मक प्रेम ने राजा लक्ष्मणसिंह को, सम्भव है, इन रचनाओं का अनुवाद प्रस्तुत करने की प्रेरणा दी हो तथापि कालिदास की इन कृतियों में जो प्रेम का स्वरूप है वह पूर्ण मानवीय है अमानवीय नहीं। उनमें कृत्रिमता लेशमात्र नहीं है।

चक्रवर्ती अधिपति दुष्यन्त एवं कण्व ऋषि के संरक्षण में पोषिता शकुन्तला दोनों ही समाज के शिष्ट एवं सम्मानित वर्ग से थे। मानवीय प्रेम ने उन्हें चंचल कर दिया। इस प्रकार कालिदास की 'शकुन्तला' विश्व के अमर प्रेम का संदेश प्रदान करती है। 'मेघदूत' में भी यक्ष ने अपनी पत्नी के प्रति अगाध प्रेम और उत्कंठा प्रकट की है, जिससे वह अपने स्वामी कुबेर की सेवा में त्रुटि कर बैठा। फलस्वरूप कुबेर के आदेश से अलकापुरी त्यागकर उसे दक्षिण में रामगिरि पर्वत पर निवास करने के लिये बाध्य होना पड़ा। जब वहाँ आषाढ़ में आकाश में उड़ते हुए मेघ दिखलाई पड़े तब अपनी प्रियतमा को प्रेम-सन्देश भेजने के लिए वह बाध्य हो गया।

समाज में प्रचलित मर्यादित प्रेम के स्थान पर इन दोनों कृतियों में जिस प्रेम का सन्निवेश है, उसमें हृदय अवश्य है। इसमें किसी प्रकार की मर्यादा एवं नियन्त्रण नहीं है। प्रेम अपने उन्मुक्त स्वरूप में विश्व के समक्ष प्रस्तुत होता है। यही प्रेम का स्वच्छन्दतावादी स्वरूप है, जो 'शकुन्तला' एवं 'मेघदूत' में व्यक्त हुआ है।

मण्डप है माधवीलता को रमणीक तहाँ,
सुन्दर कुरे की बारि ओर-पास छाई है।
नेरे ही अशोक लाल सोहे लोल पल्लव लै,
दूजी ओर केशर हू ठाड़ो सुखदाई है।
दोहद बहाने एक तेरी वा सखी को पाँव,
वायों छूयवों को आस मेरी सी लगाई है।

प्यारी मुख आसव के लेन काज दूसरे में,
ताही मिस मेरी भाँति लालसा समाई है ।[1]

यक्ष मेघ को अपनी प्रियतमा के निवास के सम्बन्ध में परिचय प्रदान करता है । माधवी लता का मण्डप है और उसके चतुर्दिक कुरबक की बाड़ी है । इस श्लोक में कालिदास ने अशोक एवं केशर (वकुल) के सुन्दर पुष्पों का वर्णन दिया है । इनके सम्बन्ध में जो कवि-प्रसिद्धियाँ हैं कवि ने उनका सदुपयोग किया है । अशोक सौभाग्यवती युवती के बायें पैर के स्पर्श एवं वकुल युवती के मुख के कुल्ला से प्रफुल्लित हो उठता है । इन दोनों पौधों के हृदय में यक्ष के समान ही उत्कंठा एवं लालसा है । यक्ष के हृदय में जो उदात्त प्रेम है उसके आधार पर ही कवि उस सुन्दरी के अस्तित्व को प्रमाणित कर देता है ।

राजा दुष्यन्त कण्व ऋषि के आश्रम में सद्भावना लेकर गये थे; किन्तु राज-रानियों को भी लज्जित करने वाले स्वाभाविक सौन्दर्य को देखकर उन्हें महान् कौतूहल हुआ । शकुन्तला के अप्रतिम सौन्दर्य का माधुर्य-पान करते हुए भ्रमर के भनभनाने से उसके मुख पर जो भंगिमाएँ प्रस्फुटित होती हैं—कवि उनका सफल वर्णन करता है ।

दृग चौंकत कोए चलें चहुधाँ अंग बारहि बार लगावत तू ।
लगि कानन गूँजत मन्द कछू मनो मन की बात सुनावत तू ।
कर रोकती को अधरामृत लै रति कों सुख सार उठावत तू ।
हम खोजत जातिहि पांति मरे धनि रे धनि भोंर कहावत तू ।[2]

---

१. **रक्ताशोकश्चल किशलयः केशरश्चात्र कान्तः**
प्रत्यासन्नः कुरुवकवृतेर्माधवी मण्डपस्य ॥
एक सख्यास्तव सह मया वाम पादाभिलाषी,
कांक्षत्यन्यो वदनमदिरां दोहदच्छद्मनास्याः ॥

(मेघदूत–७७)

२. **चलापागां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं**
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः ।
करं व्याधुन्वत्या पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्वान्वेषान्मधुकर, हतास्त्वं खलु कृती ।।

—कालिदास, 'अभिज्ञान शाकुन्तल' अंक १–२५

इस प्रकार कालिदास की ये दोनों रचनाएँ ही प्रेम के स्वच्छन्दतावादी स्वरूप को काव्य में प्रस्तुत कर देती हैं। सम्भवतः इन काव्यों के अनुवादों ने पं० श्रीधर पाठक को गोल्डस्मिथ के अंग्रेजी काव्य Hermit का 'एकान्तवासी योगी' (१८८५ ई०) नाम से अनुवाद करने की प्रेरणा दी हो।

भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी में स्वच्छन्दतावादी भावना स्पष्ट नहीं है। यों भाव, भाषा एवं छन्द आदि के सम्बन्ध में उनके काव्य में नूतनता अवश्य है, जो रूढ़िवादिता को विनष्ट करती है; किन्तु स्वच्छन्दवादिता की प्रवृत्तियाँ स्पष्ट नहीं हो सकी थीं। १८७५ ई० के पूर्व और अनन्तर भारतेन्दु जी के साहित्य में, 'प्रेम' के विषयों का बाहुल्य उपलब्ध होता है। १८७५ ई० में भारतेन्दु जी ने राजशेखर-कृत 'कर्पूर-मंजरी' का अनुवाद किया था और उसी सम्वत् में 'प्रेम-माधुरी' काव्य की मौलिक रचना हुई थी। उससे पूर्व भारतेन्दु जी ने 'प्रेम-सरोवर' (१८७३ ई०) प्रेमाश्रुवर्षण (१८७३ ई०) एवं अनन्तर 'प्रेम-तरंग' (१८७७ ई०) तथा 'प्रेम-प्रलाप' (१८७७ ई०) आदि रचनाएँ प्रस्तुत की थीं। प्रेम में रूढ़िवादिता का ही पालन है। उसमें स्वच्छंद प्रेम की अनुभूति नहीं है।

भारतेन्दु के काव्य में अपने युग के किसी भी कवि से अधिक गंभीरता और व्यापकता थी। स्वच्छन्दतावादी भावना के दृष्टिकोण से बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' भारतेन्दु से कुछ आगे पड़ेंगे। प्रेमघन जी की कजलियाँ एवं लावनियाँ अधिक लौकिक और ग्रामीण हैं। अवशिष्ट कवियों में नवीन परि-स्थितियों का समावेश ही मिलेगा। अन्य कोई उल्लेखनीय बात नहीं। केवल काव्य में प्राकृतिक दृश्यों में संश्लिष्ट योजना के कारण ठाकुर जगमोहनसिंह का व्यक्तित्व ही उल्लेखनीय है। स्वच्छन्दतावादी काव्य के लिए प्रकृति का इस विशेष प्रकार से निरीक्षण परमावश्यक है।

उपर्युक्त महत्ता के कारण ही ठाकुर जगमोहनसिंह का काव्य हिन्दी-साहित्य में बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उनकी इस महत्ता के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचंद्र शुक्ल की निम्न पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं:—

"यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंह जी अपनी कविता को नये विषयों की ओर नहीं ले गये, पर प्राचीन संस्कृत-काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन मे लिये हुये प्रेमचर्या की मधुर-स्मृति से समन्वित विन्ध्य प्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है, वह ध्यान देने योग्य है। उसके

द्वारा उन्होंने हिन्दी काव्य में एक नूतन विधान का आभास दिया था। ××× संस्कृत के प्राचीन कवियों की प्रणाली पर हिन्दी काव्य के संस्कार का जो संकेत ठाकुर साहब ने दिया, खेद है कि उसकी ओर किसी ने ध्यान न दिया। ××× प्राकृतिक दृश्यों की ओर यह प्यार भरी सूक्ष्म दृष्टि प्राचीन संस्कृत काव्य की एक ऐसी विशेषता है जो फ़ारसी या अरबी के काव्य-क्षेत्र में नहीं पाई जाती।"

श्रीधर पाठक तो मेरे अध्ययन के विषय हैं ही; किन्तु ठाकुर साहब का व्यक्तित्व एवं काव्य भी कम महत्वपूर्ण नहीं है। इससे मैं उनके सम्बन्ध में भी अपना अध्ययन प्रस्तुत करके देखूंगा कि प्रेम एवं प्रकृति आदि की प्रवृत्तियाँ किस मात्रा तक उनके काव्य में विद्यमान थीं।

ठाकुर जगमोहनसिंह

जीवन-वृत्त एवं व्यक्तित्व

ठाकुर जगमोहनसिंह के कवि-जीवन में भारतेन्दु-युग के कवियों के समान ही परम्परा-पालन था; किन्तु अपनी इस प्रवृत्ति में उनमें उतना आग्रह न था जितना अन्यों में था। इस प्रकार अपने सहयोगियों एवं सहकर्मियों के साथ रहते हुए भी उनमें नूतन भावनाओं का विशेष समावेश था।

प्रकृति एवं प्रेम को लेकर उन्होंने काव्य-क्षेत्र में नवीन प्रयोग किये थे। इस सम्बन्ध में वह अपने किसी भी समकालीन से अधिक मौलिक थे। उनके काव्य में अधिक व्यावहारिकता और लोकरूपता विद्यमान थी। प्रकृति-काव्य में संश्लिष्ट योजना और प्रेम-काव्य में स्वानुभूति ने स्वच्छन्दतावादी काव्य में उनके जीवन को महामहिम बना दिया था।

ठाकुर जगमोहनसिंह के जीवन-वृत्त एवं व्यक्तित्व के अध्ययन के लिये अंतःसाक्ष्य के आधार पर ठाकुर साहब की दैनन्दिनी एवं उनके काव्य और वहिःसाक्ष्य के आधार पर उनके प्रमाणपत्र, द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ में राय-बहादुर हीरालाल बी० ए० लिखित 'कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह' तथा जबलपुर-

निवासी श्री रामेश्वरप्रसाद गुरु के समीप सोहागपुर, मध्य-प्रदेश के श्री देवीप्रसाद गुप्त का १६ जनवरी, १९५५ का पत्रादि की सामग्री प्रस्तुत की जा सकती है ।

यों वहि:साक्ष्य से अन्त:साक्ष्य की सामग्री अधिक प्रमाणित एवं विश्वस्त होती है । यदि प्रथम में बाह्य जीवन-विषयक सामग्री की बहुलता है तो द्वितीय में मानसिक विचारधारा से भी अवगत हुआ जा सकता है । यदि यह सामग्री उपलब्ध हो सके तो एक व्यक्तित्व के अध्ययन में इस प्रकार की सामग्री अत्यधिक मूल्यवान है । उक्त सामग्री के प्रकाश में न आ सकने के कारण जीवन की कितनी ही घटनाएँ और विचारधाराएँ दबी ही रह जाती हैं ।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण ही ठाकुर साहब की दैनन्दिनी के वृत्त इस स्थल पर मेरे उपयोग के साधन न बन सके। इस स्थल पर यह कहना भी असंगत न होगा कि भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युग की कितनी ही साहित्यिक विभूतियों के वृत्त एवं कृतियाँ उपर्युक्त मनोवृत्ति के कारण दबी पड़ी हैं । यदि वे सभी प्रकाश में आ सकें तो इन दोनों युगों पर पर्याप्त प्रकाश पड़ सकता है। फलत: जो सामग्री उपलब्ध हो सकी है उसी का इस स्थल पर उपयोग किया जा सका है ।

ठा० जगमोहनसिंह अपनी वंशीय परम्परा के सम्बन्ध में राठौर आमेराधिपति के वंशज थे । यह वंश 'लहुरे भाई' की परम्परा में होने के कारण के जागीरें ही प्राप्त करने का अधिकारी हो सका । पारिवारिक संघर्ष आदि के कारण इस वंश का एक स्वाभिमानी व्यक्ति अपनी 'घाट-खुटेटा' नामक जागीर का ममत्व छोड़कर बुन्देलखंड में पन्ना-नरेश की शरण में आया । उसने अपने पराक्रम एवं वीरत्व से पन्ना-नरेश को प्रसन्न कर लिया । उसने युद्ध-क्षेत्र में ही वीरगति प्राप्त की । उसके पौत्र वेणीसिंह ने, जो अपने पितामह की अपेक्षा अधिक बुद्धिमान और वीर था, पन्ना-नरेश को राज्याभिवृद्धि में पूर्ण सहयोग दिया । फलस्वरूप मुड़वारा (वर्तमान कटनी के समीपस्थ) में उन्हें पन्ना-नरेश से जागीरें मिलीं। अंतत: मैहर की जागीर प्राप्त होने पर वेणीसिंह का एक पुत्र दुर्जनसिंह उस जागीर की व्यवस्था करने लगा। दुर्जनसिंह के विष्णुसिंह एवं प्रयागदाससिंह दो पुत्र थे । पिता के निधनोपरान्त दोनों भ्राताओं में संघर्ष प्रारम्भ हो गया। अंग्रेजी सरकार ने मैहर-राज्य के दो समान विभाजन कर दिये। विष्णुसिंह मैहर में रहे और प्रयागदाससिंह अपने प्राप्त

प्रदेश के अन्तर्गत विजयराघवगढ़ के दुर्ग को स्थापित कर उसमें रहने लगे।[1]

ठा० प्रयागदाससिंह ने १८२६ ई० में एक नवीन बस्ती बसाकर उसमें एक दुर्ग बनवाया था। इस दुर्ग के भीतर श्री विजयराघव की स्थापना की गई थी। इसी से इष्टदेवता के नाम पर इस बस्ती का नाम विजयराघवगढ़ पड़ा। प्रयागदाससिंह का यह राज्य बघेलखण्ड एवं बुन्देलखण्ड की सीमाओं से स्पर्श करता था। ठाकुर साहब ने अपने पराक्रम द्वारा और अंग्रेजों को सहायता प्रदान कर अपने राज्य की अभिवृद्धि की थी। ठाकुर साहब उन्नीस वर्ष बड़ी योग्यता से राज्य कर १८४६ ई० में मृत्यु को प्राप्त हुए। मृत्यु के समय उनके पुत्र सरयूप्रसादसिंह केवल ५ वर्ष के थे। अल्पवयस्कता के कारण यह राज्य कोर्ट आव वार्ड्स के शासन में चला गया। १८५७ ई० के ग़दर में वहाँ नियुक्त सरकारी मैनेजर उपद्रवियों द्वारा मार डाला गया, जिससे यह राज्य अंग्रेजी राज्य में मिला लिया गया। सरयूप्रसादसिंह को कालेपानी का दण्ड हुआ। उन्होंने स्वयं आत्महत्या कर ली।

इन्हीं सरयूप्रसादसिंह के पुत्र ठा० जगमोहनसिंह थे। इनका जन्म श्रावण सुदी चतुर्दशी सम्वत् १९१४ वि० को विजयराघवगढ़ में हुआ था। नौ वर्ष की अवस्था में सरकार की ओर से उन्हें पढ़ने के लिये Wards Institute Queen's College, Benares भेजा गया। उन्होंने वहां बड़ी तत्परता और अध्यवसाय से अध्ययन कर हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी में योग्यता प्राप्त की। इस सम्वन्ध में उनके निम्न प्रमाण-पत्र बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। ये प्रमाण-पत्र ठा० जगमोहनसिंह के पुत्र ठा० ब्रजमोहनसिंह के पास सुरक्षित हैं।

Wards' Institution

Benares.

Certified that Thakur Jagmohan Singh joined the Wards' Institution, Benares on the 19th of March, 1866. He is now the most advanced ward in the Institution and reads in the First class, Anglo-Sanskrit Department of the Benares College. He has acquired a very fair knowledge of English, Sanskrit and Hindi. He can compose Sanskrit and Hindi

---

१. 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ', रायबहादुर हीरालाल बी० ए०।

verses with facility and correctness. His conduct, to the best of my behalf, is an exceptionable.

Sd. Kedarnath Paladhi
Superintendent
Counter signed.
Sd. Archibald E. Gough
Offg. Principal of the Benares
College.

The llth of December, 1876.

राजकुमार विद्यालय,
बनारस।

प्रमाणित किया जाता है कि ठाकुर जगमोहनसिंह १६ मार्च १८६६ ई० को राजकुमार विद्यालय में प्रविष्ट हुए थे। अब वह विद्यालय में अवस्था प्राप्त राजकुमार हैं और बनारस कालेज के अंग्रेजी-संस्कृत विभाग की प्रथम श्रेणी में अध्ययन करते है। उन्होंने अंग्रेजी, संस्कृत और हिन्दी में सुन्दर योग्यता प्राप्त कर ली है। वह संस्कृत और हिन्दी की कविताएं बड़ी ही सरलता और विशुद्धता से रच सकते हैं। मेरे विश्वासानुसार उनका आचरण अनुकरणीय है।

ह० प्र० केदारनाथ पालधि
अधीक्षक
ह० प्र० आरची वाल्ड ई० गफ
स्थानापन्न प्रधानाचार्य,
बनारस कालेज, बनारस।

राजकुमार विद्यालय
बनारस
११ दिसम्बर, १८७६ ई०

बनारस कालेज के संस्कृत-विभाग ने भी ठाकुर साहब को उनके संस्कृत अध्ययन एवं योग्यता आदि के सम्बन्ध में निम्नलिखित प्रमाणपत्र दिया था—

"मध्यदेशस्थ जब्बलपुर मण्डलान्तर्गत विजयराघवगढाधिपति श्री ठक्कुर सरयूप्रसाद सिंहस्यात्मजः श्री ठक्कुर जगमोहनसिंहेऽमरकोशं लघुकौमुदीं चाधीत्यधिक बोध संपिपादयिषया चतुःषष्ठ्याधिकाष्टादशशततमेख्रीष्टाब्दे वाराणसीस्थ राजकीय संस्कृत विद्यालयेऽध्येतुं प्रविष्टः। काव्ये कुमारसम्भवं, रघुवंशं मेघदूतमृतुसंहारं महाकाव्यं किरातार्जुनीयं नैषधचरितं नाटकेऽभिज्ञान शाकुन्तलं विक्रमोर्वशीयं मालविकाग्निमित्रं वेणीसंहारं मालतीमाधवमुत्तररामचरितमलंकारे कुवलयानन्दं छन्दसि श्रुतबोधं छन्दोमंजरीं चाध्यैष्ट। अध्ययन समयेच सदाचारेण नियतोपपस्थित्याध्ययनानुवृत्या च गुरुन् समतोषयत्। अयं काव्य नाटक ग्रन्थेषु

समीचीनं व्युत्पत्तिं समासादितवान् । अस्य मध्यदेशीय भाषा ज्ञानमप्यति समीचीनं । अनेन खल्वेतत् प्रशंसापत्र लाभात्पूर्वं मेघदूतमृतुसंहार प्रभृतयः कतिपये ग्रन्थाः छन्दोबद्ध मध्यदेशीय भाषायां सम्यगवतारिताः । इत्येतत्सकलार्थ बोधकमिदं प्रशंसापत्रयस्मैसत्कुलोत्पन्नाय सुशीलाय मेधाविने च निम्ननिवेशितनामधेयाः पण्डितवर्य्याश्च साहेबवर्याश्च वितरन्ति ।

Sd. G. Thibaut
Anglo-Sanskrit Professor

ह० प्र० बेचनराम त्रिपाठी	ह० प्र० काली प्रसाद शर्मा
ह० प्र० बापूदेव शास्त्री	ह० प्र० शिवकुमार शर्मा मिश्र
ह० प्र० पं० शीतला प्रसाद त्रिपाठी	ह० प्र० कैलाशचन्द्र शर्मा
ह० प्र० पं० बाल शास्त्री	ह० प्र० राममिश्र शास्त्री
ह० प्र० वामनाचार्य्यः	ह० प्र० देवकृष्ण शर्मा
ह० प्र० पं० बैंकटेश	ह० प्र० विंध्येश्वरी प्रसाद शर्मा

उपर्युक्त प्रमाणपत्रों से यह स्पष्ट है कि वह अपने विद्यार्थी-जीवन से ही मेधावी और अध्यवसायी थे । हिन्दी, संस्कृत और अंग्रेजी का उन्होंने समुचित ज्ञानार्जन कर लिया था । इन भाषाओं में रचना करने की भी क्षमता उनमें आ चुकी थी ।

अपने 'देवयानी' (१८८५ ई०) काव्य में ठाकुर साहब ने अपने सम्बन्ध के कुछ विवरण दिये हैं ।

हौं नरेस सुत देस जबलपुर रेवा तट जो राजै ।
विजैसुराघवगढ़ सो सुन्दर धन जन सों बहु छाजै ।।४८।।

◇ ◇ ◇

उपर्युक्त विवरण के अतिरिक्त ठाकुर साहब ने अपनी प्रारम्भिक रचनाओं के सम्बन्ध में यों उल्लेख किया है—

रचे अनेक ग्रंथ जिन बालापन में काशीवासी ।
द्वादस बरस बिताय चैन सों विद्यारस गुन राशी ।।५१।।
प्रथम पंजिका अंग्रेजी में पुनि पिंगल ग्रंथ विचारा ।
करै भंजिका मान विमानन प्रमिताक्षर कवि सारा ।।५२।।
बाल प्रमाद रची जुग पोथी लखी प्रेम रस खासी ।
दोहा जाल प्रेम रतनाकर सो न जोग परकासी ।।५३।।

कालिदास के काव्य मनोहर उलथा किये विचारा ।
रितु संहारहि मेघदूत पुनि संभव ईश कुमारा ॥५४॥
अंत बीसई वरस रच्यो पुनि प्रेम हजारा खासी ।
जीवन चरित रामलोचन को जो मम प्रान सखासी । ५५॥[1]

उपर्युक्त से स्पष्ट है कि अपने विद्यार्थी-जीवन में ही वह पंजिका-जंत्री (१८७०-७१ ई०), दोहावली (१८७० ई०), प्रेम-रत्नाकर (१८७३ ई०), प्रमिताक्षर दीपिका (१८७४ ई०), ऋतु-संहार अनुवाद (१८७४ ई०), प्रेम-हज़ारा (१८७६ ई०) आदि रचनाएँ हिन्दी-साहित्य को भेंट कर चुके थे ।

"विद्याध्ययन पूरा करने पर सरकार ने आपको तहसीलदार के पद पर नियुक्त किया, जिससे आपको मध्यप्रदेश के अनेक भागों में भ्रमण करने और वनश्री का प्रकृत-सौन्दर्य देखने का अवसर मिला ।......आप सरकारी नौकरी में आदि से अन्त तक तहसीलदार ही बने रहे, क्योंकि आप बड़ी स्वतन्त्र प्रकृति के व्यक्ति थे—डिप्टी कमिश्नरों अथवा कमिश्नरों की भी कुछ परवा न करते थे ।"[2]

ठाकुर साहब के व्यक्तिगत जीवन पर पर्याप्त प्रकाश डालने के लिए सोहागपुर (म०प्र०) निवासी श्री देवीप्रसाद गुप्त का १६-१-५५ का पत्र, जो जबलपुर के साहित्यिक जीवन के प्राण श्री रामेश्वर प्रसाद गुरु के लिये लिखा गया था, बड़ा ही महत्वपूर्ण है । श्री गुरु ने ठाकुर साहब के जीवन-वृत्त एवं उनकी रचनाओं के सम्बन्ध में परिचय प्राप्त करने के लिए उन्हें पत्र लिखा था, उसके उत्तर-स्वरूप उन्हें निम्नांकित पंक्तियाँ प्राप्त हुई थीं ।

सोहागपुर
१६-१-५५

"प्रिय रामेश्वर गुरु,

'श्यामा-स्वप्न' नामी पुस्तक सरस्वती विकास प्रेस, नरसिंहपुर में छपी है । इसकी एक प्रति मेरे पास थी जो कदाचित् स० वि० प्रे० नरसिंहपुर से ही मुझे प्राप्त हुई थी । दीमक ने मेरी प्रति साफ़ कर दी । कदाचित् अब भी उक्त प्रेस के अधिकारियों से वह पुस्तक तुम्हें मिल सके ।

---

१. **ठाकुर जगमोहनसिंह—'देवयानी' (१८८६) भारत जीवन प्रेस, बनारस, पृष्ठ ९५ ।**

२. **रायबहादुर हीरालाल बी० ए०—'कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह', द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ, पृष्ठ १४६ (ना० प्र० स०) ।**

(२) सुनने में आया है कि गीता का छन्दोबद्ध अनुवाद भी उन्होंने किया था और वह पुस्तक नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ में छपी थी।

(३) उनके कई नीति के दोहे भी मैंने कहीं पढ़े थे। जहाँ तक ख्याल आता है, वे भी पुस्तकाकार थे और नवलकिशोर प्रेस में ही छपे थे।

(४) उनके कुछ नीति के दोहे तुमको स्कूलों में प्रचलित पुरानी पाठ्य पुस्तकों में भी मिलेंगे। दूसरी, तीसरी, चौथी कक्षाओं में पढ़ाई जाने वाली पुस्तकों में जरा ढूँढ़ो।

ठाकुर साहब के विषय में अन्य जो जानकारी प्राप्त हुई है, वह इस प्रकार है :—(१) ठाकुर साहब तहसीलदार होकर सोहागपुर आये, लगभग ४ वर्ष यहाँ रहे। फिर तबादला होकर होशंगाबाद चले गये (या शायद और कहीं)। मुन्शी कृष्णकुमार जो कायस्थ थे और सोहागपुर के ही निवासी थे, उनके अभिन्न मित्रों में से थे। कृष्णकुमार पेंशन लेकर सोहागपुर आ गये थे। दूसरी बार ठाकुर साहब कदाचित् १८९८ ई० में कृष्णप्रसाद तहसीलदार की जगह पर आये। कृष्णप्रसाद तहसीलदार का देहान्त सोहागपुर में ही हुआ। वे विष खाकर मरे। कारण यह बताया जाता है कि होशंगाबाद का अंग्रेज डिप्टी कमिश्नर उनको गाली दे बैठा था और उन्होंने भी कुछ उलटा-सीधा बोल दिया था। रात को वे जहर खाकर सो गये। इनके रिक्त स्थान पर ठाकुर जगमोहनसिंह जी दुबारा आये और लगभग एक साल तहसीलदार रहकर उनका अकस्मात देहान्त हो गया।

(२) जिस समय वे दुबारा आये उस समय उनके मित्र मुन्शी कृष्णकुमार रिटायर्ड तहसीलदार यहीं रहते थे। यह मुलताई (जिला बेतूल) से रिटायर होकर अपने घर सोहागपुर आ गये थे। दोनों की बहुत ही घनिष्ठता थी। मुन्शी कृष्णकुमार की प्रेमिका पहले एक कलारिन थी, जिसको वे साथ रखते थे। मुलताई से जब वे आये तब एक राजपूत जाति की स्त्री को वहीं से ले आये थे। ठाकुर साहब की प्रेमिका श्यामा थी जो जाति की सुनारिन थी। वह उनके साथ ही रहती थी। उस राजपूतिन और श्यामा का भी बहुत अधिक मेल-जोल था और दोनों का हमेशा बैठना-उठना, आना-जाना, खेलना-कूदना और घनिष्ठता का व्यवहार रहता था।

(३) ठाकुर साहब श्यामा के हाथ का बना हुआ भोजन न करते थे। बालाराम ब्राह्मण उनका चपरासी था और एक भोले नाम का ब्राह्मण उनकी रसोई बनाता था। कृष्णकुमार भी राजपूतिन के हाथ का भोजन नहीं करते

थे। उन दिनों अक्सर कृष्णकुमार और ठाकुर साहब भोले के हाथ का पका हुआ भोजन साथ-साथ ही करते थे।

(४) इसी श्यामा के प्रेम में 'श्यामा-स्वप्न' पुस्तक की रचना ठाकुर साहब की लेखनी से हुई थी। तुमने 'श्यामा-सरोजिनी' एक नाम नया लिखा है। यदि इस नाम की कोई पुस्तक उनकी लिखी हुई है तो वह भी श्यामा के प्रेम में ही लिखी हुई होनी चाहिये। श्यामा को वे विजयराघवगढ़ नहीं लाये थे। श्यामा के कारण उनकी स्त्री ठाकुर साहब के पास नहीं रहती थी। उनके मरने पर कृष्णकुमार के द्वारा खबर पाकर उनकी स्त्री-बच्चे सुहागपुर आये थे। जो कुछ पैसा-धेला-ज़ेवर आदि सम्पत्ति ठाकुर साहब ने कृष्णकुमार को सुपुर्दगी में दे दी थी वह उन्होंने उनकी स्त्री को उसके आने पर दे दी थी। उसके पश्चात् श्यामा का क्या हुआ और कहाँ गई इसका पता नहीं लगता।

(५) ४ मार्च १८९९ को उनका देहान्त हुआ। यह तिथि ठीक ही है। ठाकुर साहब के पण्डित सुहागपुर में पं० हरकिसन नाम के थे। कुँआर वदी १ को ठाकुर साहब का देहान्त हुआ था अर्थात् पितृपक्ष आरम्भ होने के प्रथम दिन। कृष्णकुमार के भी यही पुरोहित थे। कृष्णकुमार ने पुरोहित को जमीन दी थी जो उनके पुत्र पं० गुरुप्रसाद के पास अब भी है जो जिजवाड़ा में है।

(६) ठाकुर साहब की स्त्री-बाल-बच्चे उनका क्रिया-कर्म करके चले गये। बाद में कृष्णकुमार ने ही एक छोटी-सी समाधि (स्मारक) बनवा दिया था। यह सूखा नदी और पलकमना नदी के संगम पर जहाँ उनकी चिता बनाई गई थी बनवाया था। उससे कोई तीस-चालीस हाथ दूर एक सेठ ब्रजपालदास का स्मारक था, जिसके ऊपर छतरी थी। सेठ तीर्थ करके लौटे थे। रेल में ही हैज़ा हो गया, सुहागपुर के स्टेशन पर उतार दिये गये और यहीं उनका देहान्त हो गया था। दोनों स्मारकों के भग्नावशेष सन् १९४३ तक थे। इस साल १९४३ में दोनों नदियों का बहुत बड़ा पूर आया, जिसमें जो कुछ बचा था वह भी सब बह गया। अब कोई चिह्न तक नहीं है।

सोहागपुर में पं० गुरुप्रसाद की आयु का कोई भी आदमी ऐसा नहीं है जो कुछ भी ठाकुर साहब के विषय में बता सके। मुन्शी कृष्णकुमार के वंश में एक सरस्वतीप्रसाद हैं, जिनसे पूछने पर मालूम हुआ कि कृष्णकुमार का देहान्त ३१

जून १६०४ को हुआ था अर्थात् ठाकुर साहब के लगभग दस वर्ष बाद।

दे० प्र० गुप्त"

उपर्युक्त पत्र ठाकुर साहब के व्यक्तिगत, पारिवारिक एवं अन्तिम जीवन के पूर्ण विवरण प्रस्तुत करता है। पत्र में ठाकुर साहब की निधन-तिथि ४ मार्च १८६६ ई० है। यह तिथि द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ में 'कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह' के अन्तर्गत रायबहादुर हीरालाल द्वारा दी हुई निधन-तिथि से मिल जाती है। उक्त निबंध में भी उनके तहसीलदार होने का उल्लेख है। सब से विशेष बात जिसका उल्लेख श्री देवीप्रसाद गुप्त ने किया है, वह है उनकी प्रेयसी श्यामा की बात। श्यामा प्रेयसी की बात भी पूर्णरूपेण सत्य है; क्योंकि श्री रामेश्वरप्रसाद गुरु ने अपनी विजयराघवगढ़ की यात्रा में ठाकुर साहब के चित्र-संग्रह (Album) में श्यामा के चित्र देखे थे। वह अपने रूप में अप्रतिम सुन्दरी थी। श्यामा के सम्बन्ध में अधिक ज्ञात न होने के कारण विशेष विवरण नही दिये जा सकते हैं; किन्तु ठाकुर साहब-रचित 'ओंकार चन्द्रिका' में इस पर कुछ प्रकाश पड़ जाता है। नीमाड़ मण्डलान्तर्गत ओंकार मान्धाता प्राचीन विख्यात तीर्थस्थान है। कवि ने बड़ी भक्ति-भावना से उस तीर्थ का वर्णन किया है। 'ओंकार चन्द्रिका' के काव्य में अन्तिम पृष्ठ पर कवि कहता है—

जब सों जान्यों सदा विषय कीन्हो अनुरागा।
परदारा अपहरन चाटु पटु यह रस मागा ॥७१॥
तुम्हरे सन्मुख किये सकल अपराध कबूला।
जो चाहो सो करो परो तुअ चरनन मूला ॥७२॥
छमिहो जो तुम आशुतोष करि गहि अपनाई।
तो निहचै जग होय उमापति आपु बड़ाई ॥७३॥[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में 'परदारा अपहरन' के उल्लेख में सम्भव है कि ठाकुर साहब के मन में श्यामा को लेकर ही यह भावना उठी हो। अपने जीवन के अन्तिम वर्षों में इस कर्म को पाप-कर्म समझ कर ही कवि का हृदय अपने देवता के समक्ष नत हो गया है। श्यामा किन परिस्थितियों में उनकी हुई, इसके पूर्ण विवरण अनुपलब्ध हैं। इससे इस

१. ठा० जगमोहनसिंह—(ओंकार चन्द्रिका)···हरिप्रकाश प्रेस, बनारस, १८६४ ई०, पृष्ठ ८।

सम्बन्ध में विशेष कहना अनधिकार चेष्टा होगी; किन्तु यह सत्य है कि ठाकुर जगमोहनसिंह का सम्पूर्ण प्रेमपरक काव्य श्यामा की प्रेम-माधुरी से अनुप्रेरित है। उनके काव्य में भक्ति-भावना मान लेना एक साहित्यिक त्रुटि होगी।

छत्तीसगढ़ की शवरीनारायण तहसील में वह तहसीलदार रहे थे। महानदी की बाढ़ से ही उन्हें 'प्रलय' (१८८६) नामक रचना प्रस्तुत करने की प्रेरणा मिली थी।

" 'वह बड़े ही मधुर और विनोदी स्वभाव के थे'—आप बड़े विनोदी और आशु कवि थे। एक बार आपकी अदालत में एक बडी तोंदवाले बंगाली कवि उपस्थित हुए। आपने मुकदमा लेने के पहले उनकी तोंद पर कविता कर डाली, जिसको सुनकर अन्य लोग ही नहीं, वरन तोंद वाले महाशय भी खुश हुए।"[1]

निस्सन्देह ठाकुर साहब का जीवन साहित्य की कितनी ही समस्याओं और तथ्यों को छिपाये है। यदि तत्सम्बन्धी संपूर्ण सामग्री मिल सके तो भारतेन्दु-युग पर नवीन प्रकाश पड़ सकेगा; किन्तु यह आशा अभी भविष्य के गर्भ में अन्तर्निहित है। फिर भी यह सत्य है कि वह अपने हृदय से उदार और महान् थे तथा अपने समकालीन किसी भी साहित्यिक के समान ही भावनाओं के धनी थे।

ठाकुर साहब की कृतियों का परिचय

ठाकुर जगमोहनसिंह ने अपने किसी समसामयिक कवि के समान ही काव्य सृजन किया है। अभी उनका इतना हस्तलिखित अप्रकाशित साहित्य उनके आत्मज ठा० ब्रजमोहन सिंह के पास सुरक्षित है। यदि वह सभी प्रकाश में आ सके तो निस्सन्देह भारतेन्दु-युग का विद्यार्थी आश्चर्य-चकित हो जावेगा।

यों रायबहादुर हीरालाल बी० ए० ने 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ' में कविवर ठाकुर जगमोहनसिंह के जीवन-वृत्त के साथ उनकी कुछेक कृतियों का भी उल्लेख किया है। इस स्थल पर ठाकुर साहब की कृतियों में आए विवरणों तथा श्री रामेश्वर गुरु से उनकी जिन रचनाओं के विवरण मिले हैं, उनके आधार पर उनकी कृतियों का परिचय प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. पत्रा (पंजिका) १८७० एवं १८७१ ई०—ठाकुर साहब ने दो वर्ष के पत्रे अंग्रेजी में बनाये थे। १८७० ई० का पत्रा E. I. Lazrus से प्रकाशित भी हुआ था। १८७१ ई० का पत्रा अवश्य अप्रकाशित है।

---

१. द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ, पृष्ठ १४६।

२. **दोहावली** (२८-३-१८७० ई०)—आठ पृष्ठ का यह काव्य है। इसमें बालोपयोगी दोहों का संग्रह है। २८-३-१८७० ई० को इसका प्रकाशन हुआ था। सोहागपुर के श्री देवीप्रसाद गुप्त इसका प्रकाशन नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से बतलाते हैं।

३. **प्रेम-रत्नाकर** (१८७३ ई०)—इसका प्रकाशन ए० एन० एल० ब्रजभूषणदास प्रेस से हुआ था और कूंच विहार के महाराजाधिराज के चचेरे भाई को यह समर्पित की गई थी। 'देवयानी' काव्य में इस काव्य के सम्बन्ध में निम्न दोहा उपलब्ध होता है :—

> **बाल प्रमाद रची जुग पोथी खची प्रेम रस खासी।**
> **दोहा जाल प्रेम-रतनाकर सो न जोग परकासी॥**

इससे ज्ञात होता है कि प्रेम के माहात्म्य पर लिखे हुए दोहों का यह संग्रह है।

४. **प्रमिताक्षर-दीपिका** (१८७४ ई०)—ठाकुर साहब द्वारा यह छन्द-शास्त्र पर लिखा हुआ काव्य है। इसके सम्बन्ध में भी 'देवयानी' काव्य में निम्न उल्लेख है—

> **प्रथम पंजिका अंग्रेजी में, पुनि पिंगल ग्रंथ विचारा।**
> **करै भंजिका मान विमानन प्रमिताक्षर कवि सारा॥**

इस दोहे के आधार पर ही यह काव्य पिंगल ग्रंथ सिद्ध है।

५. **कालिदास—ऋतुसंहार** (१८७४–७५ ई०)—यह अनूदित काव्य है। कन्हौली राज्य के मैनेजर मंगलीप्रसाद को समर्पित किया गया है। १८७६ ई० में इसे प्रकाश में आने का सौभाग्य मिला था।

६. **पं० रामलोचन प्रसाद का जीवन** (१८७६ ई०)—इसमें चौबीस पृष्ठ हैं और यह कन्हौली राज्य के बा० जमुनाप्रसाद को भेंट किया गया है। पी० सी० चौधरी के द्वारा न्यू मेडिकल हाल प्रेस, बनारस में इसका मुद्रण हुआ था।

७. **प्रेम-हजारा** (१८७७-१८७८ ई०)—यह काव्य अब तक अप्रकाशित है। इसमें प्रेम सम्बन्धी स्फुट रचनाएँ हैं। 'अन्त बीसई बरस रच्यो पुनि प्रेम हजारा खासी'—से उसके रचना काल पर प्रकाश पड़ता है।

८. **श्री विजयराघवगढ़ पचीसी**—यह काव्य ठाकुर जगमोहनसिंह के पितामह ठा० प्रयागदास के द्वारा रचित है। ठा० जगमोहनसिंह द्वारा संपादित यह काव्य न्यू मेडिकल हाल प्रेस, बनारस से प्रकाशित हुआ था।

९. **कालिदास—कुमारसम्भव** (१८७६-१८८० ई०)—यह भी अनूदित काव्य है। ठाकुर साहब इसे अपने जीवन में पूर्ण न कर सके थे।

१०. **प्रेम सम्पत्ति नाटिका** (१८७९ ई०)—चार अंकों का यह अप्रकाशित नाटक है।

११. **इक्केवाला-नाटक**—चार अंक का यह अप्रकाशित प्रहसन है।

१२. **दम्पति-विलाप**—प्रथम बच्चे के देहान्त पर ठाकुर साहब द्वारा रचा हुआ यह मार्मिक शोक-काव्य है। यह शोक-काव्य अभी तक अप्रकाशित है।

१३. **पवनदूत** (१८७७ ई०)—३९ छन्दों का यह अप्रकाशित काव्य है।

१४. **चित्रकूट वर्णन** (१८७८)—अप्रकाशित काव्य है।

१५. **कपोत विरहाष्टक** (१८७७ ई०)—यह भी अप्रकाशित शोक-काव्य है। बिडाल द्वारा कपोत के प्राणान्त कर दिये जाने पर कवि ने इस करुणा-प्रधान काव्य की रचना की थी।

१६. **कालिदास—मेघदूत** (१८८३ ई०)—यह भी अनूदित काव्य है। इसका प्रकाशन बेपेटिस्ट मिशन प्रेस, कलकत्ता से हुआ था।

१७. **सज्जनाष्टक** (१८८४ ई०)—शिवरीनारायण (म० प्र०) के आठ सज्जनों का इसमें वर्णन है। 'देवयानी' में इस काव्य के सम्बन्ध में कवि का यह कथन है :

'सज्जन अष्टक कष्ट माँहि मैं विरच्यो मति अनुसारा'

इस काव्य में ६ पृष्ठ हैं और ३४ छन्दों में पूर्ण विवरण सन्निविष्ट है। इसका प्रकाशन भारत जीवन प्रेस, बनारस से हुआ था।

१८. **श्यामालता** (१८८५ ई०) :—स्वयं ठाकुर जगमोहनसिंह का इस काव्य के सम्बन्ध में कथन है—"इसका आरम्भ मैंने २५ दिसम्बर, १८८४ ई० को किया था। आधे से अधिक सोनाखान के विदित पर्वतों के तट पर बनाया है। मुझे आशा है कि रसिक लोग इसे पढ़कर मेरे श्रम को सफल करेंगे × × × जिसके लिये यह कविता की है उसी को समर्पित भी है।" इसमें अनेक प्रकार के १३२ छन्द हैं। कवि की प्रेम की अधिष्ठात्री देवी श्यामा को यह काव्य समर्पित है। कवि ने श्री-स्वरूप श्यामा को स्वप्न में देखा और कवि ने कहना प्रारम्भ किया—"मैं तुम्हें कितना चाहता हूँ—ईश्वर से पूछो क्योंकि वह सर्वव्यापी और अन्तर्यामी है। तुम चाहो या न चाहो।—यहाँ तेरे नाम की माला सदा जपते हैं—जपना क्या तेरा नाम मेरी हरएक हड्डी में मुद्रित हो गया है। चाहे तो देख लेव—कहूँ कहाँ तक 'गिरा अनयन नयन बिनु बानी' और

जहाँ तक तुम्हें जाँच करनी हो कर लो। मेरी भक्ति इतने ही से जान लेना—'लोचन मगु रामहिं उर आनी। दीन्हें पलक कपाट सयानी।'" कवि ने रचना-स्थल और रचना-समय के सम्बन्ध में निम्न कथन किया है—

जगमोहनसिंह दीन स्त्री सुरस श्यामालता
ललित गिरा रस लीन शवरिनरायन माँहि रहि।

शवरीनारायण (म० प्र०) में इसकी रचना हुई थी। काल के सम्बन्ध में कवि का कथन है—

नैन वेद ग्रह एक सम्वत् मास सुजेठ को।
विरच्यो सहित विवेक भूल चूक छमहूँ सकल॥

इस प्रकार ज्येष्ठ १९४२ वि० सं० में इस काव्य का निर्माण हुआ है। इसका प्रकाशन भारतजीवन प्रेस, बनारस से हुआ था। इसका निम्नलिखित काव्य-विषय है—

लखी जौन दिन ते सखी मन्द-मन्द मुसकान।
छकी फिरत ता दिनन सों जकी रहत मनमान॥

फलस्वरूप नायिका के लिये वियोग उपस्थित हो उठा है—

कैसी करौं कहँ पाऊँ तुम्हें मन मोहि लियौ करिके बतियाँ।
बतियाँ करि हास-विलास किये बिनु मोल को मोलि लिये छतियाँ॥
छतियाँ न लगो उलटी यह रीति पिरीति की क्यों न लिखो पतियाँ।
पतियाँ न लिखो मुख से न कहो जगमोहन कैसे कटैं रतियाँ॥

प्रियतम को भी विरह की अनुभूति है। उसने अपने को प्रियतमा को समर्पित कर रखा है। अपने 'जीवन मूरि' को आया जान नायिका 'फूली फली हुलसी जगमोहन बाँधत द्वारन बन्दनवारे' की स्थिति में है।

इस प्रकार श्यामालता 'संयोग' और 'वियोग' की मनोरम भावनाओं से परिपूर्ण है।

श्यामालता अनूप जोग वियोग बिहार बन।
सींचहु घन अभिरूप नेह सलिल बरषाय महि।

१९. प्रेम-सम्पत्ति-लता (१८८५ ई०)—यह १७ पृष्ठ का काव्य है। इसमें ४७ सवैया और ४ दोहे हैं। इसका प्रकाशन भारतजीवन प्रेस, बनारस, से हुआ था। इस काव्य में भी श्याम और श्यामा के पारस्परिक प्रेम का वर्णन है। श्याम के अप्रतिम सौन्दर्य से श्यामा आकर्षित हो गई है। प्रथम नायिका वियोग का अनुभव करती है। अनन्तर नायक भी वियोग-व्यथा से ग्रस्त हो जाता

है। स्वप्न में उसकी नायिका से भेंट होती है। विरह से दोनों पक्ष पीड़ित हैं। अन्त में सखी नायिका से कहती है—

पैयाँ परौं बलि हा हा करौं चलि वेगि बुझाइय ताप जो वाको।
दीजै दिखाय अली मुखचन्द न जीवहि गौ पिय तेरे बिना को॥
बैठो वहाँ मन मोहन है मिलि भेंटि अनंद लहौ जु छिना को।
पाछे भले पछितावहुगी यह जोबन पाहुनौ चार दिना को॥

अन्तिम दोहे में ठाकुर साहब का कथन है—

लता प्रेम सम्पति की होय लहलही नित्त।
श्री जगमोहनसिंह रचि पढ़ियौ यह दै चित्त॥

इस प्रकार इसमें विशुद्ध प्रेम का चित्रण है।

२०. **श्यामा-स्वप्न** (१८८५ ई०)—ठाकुर जगमोहनसिंह का गद्य-पद्य-मय अमर उपन्यास है। इसकी रचना के सम्बन्ध में ठाकुर साहब ने उपसंहार में इन पंक्तियों का समावेश किया है—

पूस वदी गुरुवार तीज दिन शिशिर रायपुर माहीं।
नैन वेद ग्रह चन्द वर्ष यह संवत्सर हरषाहीं॥
गद्य-पद्य-मय विरचि कथा शुभ श्यामापद परसादा।
श्यामास्वप्न नाम की पोथी प्रकटाई बहु स्वादा॥

*　　*　　*

या जग नारि नैन के शर सों को बचि रह्यौ बताओ।
आँखिन देखि पियत घट विष यह सो मदिरा बौराओ॥

*　　*　　*

पढ़ि यह स्वप्न विचारि लीजिये कितने दुख की खानी।
नारी अहै जगत पुरुषन कों कहिये कथा बखानी॥

उपर्युक्त पंक्तियों से इस रचना पर निम्न प्रकाश पड़ता है। शिशिर ऋतु में रायपुर के मध्य में १९४२ वि० में पूसवदी तृतीया गुरुवार को गद्य-पद्य-मय 'श्यामा-स्वप्न' नाम की रचना हुई थी। नारी के नेत्रों के प्रभाव से कौन बच सका है। यह प्रभाव ही परम दुखदायी है, यही श्यामा-स्वप्न में वर्णित है। ठाकुर जगमोहनसिंह ने अपनी यह रचना कन्हौली राज्य के बाबू मंगलप्रसाद मणिजू को समर्पित की है। अपने समर्पण में ठाकुर साहब का कथन है—

"'श्यामालता' के वेत्ता तो आप हो न। यह उसी सम्बन्ध का श्यामास्वप्न

भी बनाकर प्रकट करता हूँ। रात्रि के चार पहर होते हैं। इस स्वप्न में भी चार पहर के चार स्वप्न हैं। जगत् स्वप्नवत् है—तो यह भी स्वप्न ही है। मेरे लेख तो प्रत्यक्ष भी स्वप्न हैं—पर मेरा श्यामास्वप्न स्वप्न ही है। अधिक कहने का अवसर नहीं।" यह रचना चार यामों में विभाजित है।

प्रथम याम का स्वप्न—एक अँधेरे कारागार में हतभागे बन्दियों में कमलाकान्त नाम का विद्यार्थी भी बन्दी था। उसका अपराध यह था कि वह कपट नाम के कार्याध्यक्ष वशिष्ठ जी की कन्या को, जिसकी सगाई जन्म से ही रत्नधाम के महाराज प्रबोध चन्द्रोदय के पुत्र से हो चुकी थी, प्रेम करता था। जेलर के द्वारा भीत पर बन्दी विद्वान द्वारा डेढ सौ वर्ष पूर्व अंकित महामंत्र का संकेत करने पर विद्यार्थी उसे पढ़ने के लिये आतुर हो उठा। उसके द्वारा वह मंत्र पढ़ने पर डायन प्रकट हुई। उसने उसे कारागार से मुक्त करने का आदेश दिया। वह क्षणभर में ही अपनी कवि-कुटीर में पहुँच गया। अपनी प्राणप्रिया के समीप उसने जाने की इच्छा की। विद्यार्थी (कमलाकान्त) ने अपनी प्राण-प्रिया को उसी स्थान पर ले आने का आदेश दिया। थोड़ी देर में एक चन्द्रमुखी गिरि-शिखर पर प्रकट हुई। वह अप्रतिम सुन्दरी थी। युवक द्वारा परिचय पूछने पर उसने अपना ग्राम श्यामापुर और अपनी वंश-परम्परा बतलाई। अपने पिता की तीन सन्तानों में सबसे बड़ी वह श्यामा, मँझली सत्यवती और छोटी सुशीला थी। उसने श्यामसुन्दर को भी उसी ग्राम का निवासी बतलाया था। युवक यह विवरण सुन संज्ञा-शून्य होकर पृथ्वी पर गिर पड़ा।

दूसरे याम का स्वप्न—युवक मूर्छित हो गया था। सचेत होने पर उसकी कथा पुनः चली। उसके पिता कपट नाग के राजकुल के कार्याध्यक्ष थे। बड़ा सम्मान और प्रतिष्ठा थी। उसी ग्राम में एक कुलीन क्षत्रिय वंश से श्यामसुन्दर का जन्म था। वह विद्वान कवि थे। उनका भी बड़ा सम्मान था। श्यामसुन्दर का श्यामा के परिवार में आना-जाना बढ़ा। दोनों प्रेम-सूत्र में आबद्ध हो गये। दोनों ओर से पत्रों का आना-जाना प्रारम्भ हो गया। श्यामसुन्दर के प्रवास में जाने पर भी पत्रों का यह क्रम रहा। प्रवास से लौट आने पर श्यामसुन्दर के निवास पर स्वयं श्यामा गई। उसका यह कृत्य विष्णु शर्मा एवं उनकी सखियों को भी ज्ञात हुआ। उसी दिन वीणाकण्ठ नामक गायक ने श्यामसुन्दर के समीप आकर अपने गान से उन्हें मुग्ध किया। रात का कटना कठिन जानकर उसने आत्महत्या के लिए अपनी तलवार उठाई। उसी समय श्यामा द्वारा भेजे हुए

ऊधो ने उन्हें उद्बोधन किया। दूसरे दिन चित्रोत्पला के दूसरे किनारे पर श्यामसुन्दर और श्यामा की भेंट हुई।

तृतीय पहर का स्वप्न—तृतीय पहर के स्वप्न को देखने के लिए श्रोता को एक जोड़ी चश्मा लेने की आवश्यकता हुई। कलकत्ता स्टेशन पर पहुँचा; किन्तु स्टेशन के कपाट बन्द थे। सूर्य के घोड़े कपाट खोलने में परास्त हो गये। गोमुखी, जिसमें माला थी, फट गई, किन्तु 'गंगजराजाय नमः' का स्मरण चलता रहा। गोमुखी सिल न सकी। गंगा की धार फूट निकली। धार गंगासागर में पहुँची। युवक ने डुबकी लगाई। फिर वहाँ श्यामा और वह स्वयं रह गये। चित्रोत्पला के किनारे श्यामसुन्दर और श्यामा ने प्रकृति सम्बन्धी कविताएँ पढ़ीं। उनका बार-बार समागम हुआ।...............एक बार जब श्यामा ने श्यामसुन्दर को कण्ठ लगाना चाहा, उसी समय आँसुओं का सागर उमड़ा। श्यामा बह गई। श्यामसुन्दर भी उसके पीछे बह चला। श्रोता (मैं) भी उनके पीछे चल दिया।

चौथे जाम का स्वप्न—श्यामा और श्यामसुन्दर के पीछे-पीछे श्रोता (मैं) चला। कहीं पता न चला। समुद्र में शिखर हाथ लगा। श्रोता (मैं) वहाँ जा पहुँचा; किन्तु कहीं श्यामा और श्यामसुन्दर न दिखाई पड़े। थोड़ी देर में उसी शिखर पर रामचन्द्र, सीता और लक्ष्मण को सभा के मध्य में सिंहासन पर बैठे देखा। सामने हनुमान् हाथ बाँधे खड़े थे। उसी समय श्रोता (मैं) ने कपालिनी की वन्दना कर उन्हें प्रसन्न किया। श्रोता (मैं) ने श्यामसुन्दर को श्यामा से मिला दो, प्रार्थना की। इसी समय कपालिनी के प्रभाव से फणीश और लुप्त-लोचन दोनों ने श्यामसुन्दर को जकड़ रखा था। श्रोता (मैं) ने श्यामसुन्दर से भेंट करने की इच्छा की; परन्तु श्रोता (मैं) डाँट दिया गया। श्यामापुर में आग लग गई। श्यामापुर यवनपुर हो गया। श्रोता (मैं) ने डाइन से पुनः कहा—यदि तू प्रसन्न है तो श्यामसुन्दर का पता बता दे और श्यामसुन्दर को श्यामा से मिला दे। पुनः डाइन की कृपा से श्रोता (मुझ) को राम-सीता-लक्ष्मण के दर्शन हुए। उन्हीं के समीप श्यामसुन्दर दीन-मलीन बैठा था। प्रेमिका (श्यामा) के पीछे प्रेमी (श्यामसुन्दर) की यह करुण दशा हुई। आचार्य शंकर का कहना सत्य हुआ 'द्वारं किमेकं नरकस्य नारी'। इसी से उपसंहार अंश में ठाकुर जगमोहनसिंह ने कहा है—

या जग नारि नैन के शर सों को बचि रह्यौ बताओ।
आँखिन देखि पियत घट विष यह सो मदिरा बौराओ ॥

यह १९४ पृष्ठ की रचना है और इसका प्रकाशन एजूकेशन सोसाइटी प्रेस, वेचुला बम्बई से हुआ था।

२१. **देवयानी** (१८८६)—इसका प्रकाशन भारतजीवन प्रेस, बनारस से हुआ था। इस काव्य की प्रारम्भिक व्यवस्था के सम्बन्ध में ठाकुर साहब का कथन है—

जेठ श्याम तिथि चारु तेरस मंगलवार शुभ।
करहुँ कथा निरधारु नैन वेद ग्रह इन्दु बल॥
सम्वत् विक्रम मान ग्राम शवरिनारायर्नाहि।
आरम्भो मन ठान चरित ययाति सुराज कर॥
आदि पर्व सों लीन भारत पंचम वेद यह।
गाथा भाषा कीन्ह सुरस छन्द अनुवाद सुह॥

इस काव्य के अन्त में कवि का कथन है—

यह असाढ़ के मास परीवा रविवासर सुभ वारा।
नैन वेद ग्रह चंद सुदल जो विक्रम नृप परचारा॥
पुरी शवरिनारायण सुन्दर पावन भावन नीकी।
महानदी जो तीर मनोहर पीर हरै सब ही की॥
मध्य देश पुर विलासपुर के अन्तर्गत यह सोहै।
बन उपवन पर्वत अनूप सो देश सबन कौ मोहै॥

उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि ठाकुर साहब ने ज्येष्ठ कृष्णपक्ष की त्रयोदशी १९४२ वि० सम्वत् से इस काव्य की रचना प्रारम्भ कर उसे १९४२ वि० सं० की आषाढ़ प्रतिपदा रविवासर को समाप्त किया था। इसकी रचना जिला विलासपुर के अन्तर्गत शवरीनारायण में हुई थी।

काव्य-विषय महाभारत के आदि पर्व से लिया गया है। शुक्राचार्य की संजीवनी विद्या से असुर सुरों पर सदैव विजयी हुए। अन्ततः वृहस्पति का पुत्र कच उस विद्या को सीखने के लिये शुक्राचार्य के पास गया। कच ने आचार्य के साथ उनकी पुत्री देवयानी की भी सेवा की। देवयानी ने उसके साथ पाणिग्रहण करना चाहा; परन्तु गुरु-पुत्री होने के कारण कच को यह प्रस्ताव स्वीकृत न हुआ। उसने कच को शाप दिया कि उसकी संजीवनी विद्या सफल न हो। कच ने भी उसे शाप दिया कि कोई भी ऋषिकुमार उसका पाणिग्रहण न करे। एक दिन देवताओं ने असुरों पर आक्रमण किया। सरोवर में नग्न स्नान करती हुई असुरराज वृषपर्वा की पुत्री शर्मिष्ठा ने देवयानी के

कपड़े पहन लिए। देवयानी ने दुर्वाक्य कहे। अन्त में उसे कुएँ में डालकर शर्मिष्ठा घर आई। नहुष के पुत्र ययाति ने उसे कुएँ से निकाला और उसके पिता की अनुमति से उससे विवाह कर लिया। देवयानी के एक पुत्र हुआ। ययाति का शर्मिष्ठा से भी प्रेम था, इससे उसके गर्भ से भी तीन पुत्र हुए। देवयानी को जब यह ज्ञात हुआ तब उसने अपने पिता के पास जाकर ययाति को एक हजार वर्ष के लिए वृद्धावस्था का शाप दिया। ययाति के पुत्र पुरु ने अपने पिता का यह शाप शिरोधार्य कर उन्हें विलास के लिए मुक्ति दी।

इस प्रेम-कथा में भी श्यामा के प्रेम का स्वरूप विद्यमान है। "इस देवयानी और ययाति के सरल प्रीति के विवरण का सार तुम्हीं (श्यामा) हो—किसी न किसी मिस से तुम्हारा जप, तप, और ध्यान कर ही लेता हूँ। इसमें भी हमारा-तुम्हारा प्रेम गाया गया है।"

श्यामा श्यामा नाम को जीह रटत दिन रैन।
श्यामा की मूरति अजौं टरै न पल भर नैन॥

इस प्रकार यह काव्य भी प्रेम-भावना का एक आधार है।

२२. **श्यामा सरोजिनी** (१८८७ ई०)—इसका प्रकाशन भी भारत जीवन प्रेस, बनारस से हुआ था। इस रचना की तिथि के सम्बन्ध में ठाकुर जगमोहन-सिंह का निम्न कथन है—

चैत बदी तिथि नैन सुचैन सी श्यामा सरोजिनी श्रीपुर माहीं।
संवत् लोचन शंकर वेद सु अंक निशाकर सो हरखाहीं॥

इस प्रकार इस काव्य की रचना चैत्र बदी द्वितीया, १९४३ वि० सं० को हुई थी। इसकी रचना आदि के सम्बन्ध में ठाकुर साहब का कथन है "श्यामा स्वप्न के पीछे इसी में हाथ लगाया और दक्षिण लवण के विख्यात गिरि कन्दरा और तुर्तुरिया के निर्झरों के तीर इसे रचा; कभी-कभी महानदी के तीर, कभी जौंगी जिसका शुद्ध नाम योगिनी है उसके तीर, देवरी कुम्भकाल अथवा कुभाकार जिसका अपभ्रंश नाम कोमलकाल है, काला जंगल इत्यादि विकट पर्वतों के निकट मनोहर-मनोहर बनस्थलियों पर इसकी रचना की, प्रकृति की सहायता से सब ठीक बन गया। श्रीपुर में इसको समाप्त कर वसन्तोत्सव भी समाप्त हुआ।"

इसमें भी श्यामापरक प्रेम का ही प्राधान्य है। श्यामा और श्यामसुन्दर के परस्पर के प्रेम एवं संयोग-वियोग के इसमें मार्मिक चित्रण हैं।

२३. **प्रलय** (१८८९ ई०)—इसका काव्य-विषय महानदी की बाढ़ है।

जिसमें शिवरीनारायण एवं श्रीपुर आदि मध्य प्रदेश के प्रमुख नगर बह गये थे। इस रचना की तिथि आदि के सम्बन्ध में ठाकुर साहब का कथन है—

सम्वत् वेद वेद ग्रह सूरज विरचि कथा सुख खानी।
श्री जगमोहनसिंह मित्रगन हेतु प्रकट कलबानी॥

इस प्रकार १९४४ वि०सं० में बेतूल में इसकी रचना हुई थी। इस काव्य में २१ पृष्ठ हैं और ११६ छन्द हैं।

२४. **ओंकार चन्द्रिका** (१८९४ ई०)—इसका प्रकाशन हरिप्रकाश प्रेस, बनारस से हुआ था। नीमार (जिला खण्डवा) मण्डलान्तर्गत ओंकार मान्धाता प्राचीन विख्यात तीर्थ का वर्णन ही इस रचना का काव्य-विषय है। आठ पृष्ठ का यह काव्य ७५ दोहों में समाप्त है। इस काव्य में नगर एवं शिव-मन्दिर आदि का बड़ा ही सजीव वर्णन है।

यह तीरथ अति रुचिर सुभग रेवा तहँ सोहै।
प्रगटायो प्राचीन रमापति कुल नृप जो है॥
मान्धाता सो नाम पुरानन प्रकटहि गायो।
जेहि श्री रघुकुल तिलक मनोहर सुभग बसायो॥
मन्दिर अति प्राचीन देवकर शैलन सुन्दर।
मेकल कन्या विमल नीर पावन बिच कन्दर॥
यह खँडवा के खंड बीच नीमार कहावै।
राजपुतान रेल शाख ह्वै सब कोउ जावै॥
अहै न यह अति दूर मोरटक्का सो भाई॥
केवल तीनइ कोस शकट मारग बनि आई॥

इस प्रकार प्रारम्भ में नगर का वर्णन है। अनन्तर शिव-मन्दिर का बड़ा सुन्दर वर्णन किया गया है। कवि ने अन्त में शिवजी से अपने पाप-शमन की प्रार्थना की है। इस प्रकार यह काव्य ठाकुर साहब की भक्ति-भावना से परिपूर्ण है। इसके रचनाकाल के सम्बन्ध में इस काव्य में निम्न पंक्तियाँ उपलब्ध हैं:—

गगन बिहारी बान पंच कर मदन जरायो।
गौरी अंकहि रोपि भाल शशि विक्रम भायो॥

इस प्रकार इसकी रचना १९५० वि० सं० में हुई थी।

२५. **श्रवण विलाप**—श्रवण विलाप में श्रवणकुमार की कथा है।

"श्रवण विलाप साप लौ कीन्हों तन की ताप मिटाई।"

उपर्युक्त के अतिरिक्त ठाकुर साहब ने भामिनी-विलास, पंचतंत्र, बायनर के "प्रिज़नर आव शिलन" का 'शिलन का बन्दी', हंसदूत, भागवत एवं वाल्मीकि रामायण आदि के सफल अनुवाद प्रस्तुत किये हैं। इसी प्रकार 'जब कभी' (१८९६) में ठाकुर जगमोहनसिंह की यदा-कदा की रचनाएँ सम्मिलित हैं।

इस प्रकार उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा ठाकुर साहब की यथासाध्य उपलब्ध कृतियों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत किया गया है। यदि निकट-भविष्य में ठाकुर साहब का सम्पूर्ण साहित्य प्रकाश में आ जाता है तो उनकी कृतियों से हिन्दी साहित्य का बड़ा हित होगा, इसमें सन्देह नहीं।

ठाकुर साहब के काव्य में स्वच्छन्दवादिता

हिन्दी साहित्य के इतिहास में नई धारा :—प्रथम उत्थान (सं० १९२५-१९५० वि०) के अन्तर्गत आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने ठाकुर जगमोहनसिंह के काव्य के सम्बन्ध में अपनी निम्न धारणा प्रस्तुत की है।

"यद्यपि ठाकुर जगमोहनसिंह जी अपनी कविता को नये विषयों की ओर नहीं ले गये, पर प्राचीन संस्कृत काव्यों के प्राकृतिक वर्णनों का संस्कार मन में लिये हुये, प्रेमचर्या की मधुर-स्मृति से समन्वित विन्ध्य-प्रदेश के रमणीय स्थलों को जिस सच्चे अनुराग की दृष्टि से उन्होंने देखा है वह ध्यान देने योग्य है। उसके द्वारा उन्होंने हिन्दी-काव्य में एक नूतन-विधान का आभास दिया था।"[१]

उपर्युक्त परम्परागत एवं सामन्तीय प्रवृत्ति के सम्बन्ध में ठाकुर साहब का राजकीय वंश एवं पारिवारिक परिस्थितियाँ अत्यधिक उत्तरदायी हैं। राजकीय वंश के कारण उनमें स्वाभिमान और अहंकार कूट-कूटकर भरा था। साधारण व्यक्तियों का, राजकीय वंश के लिये जो परम्पराएँ अत्यावश्यक हैं उनका पालन किये बिना उनसे किसी प्रकार की भेंट करना कठिन था। परिवार की करुण परिस्थिति होने पर आज भी एक व्यक्ति को ठाकुर साहब के उत्तराधिकारी से भेंट करने के लिये परम्परागत मर्यादाओं का पालन करना पड़ता है। उपर्युक्त के अतिरिक्त ठाकुर साहब आजीवन तहसीलदार रहे। इससे भी जनता पर उनका आतंक था। यही कारण है कि उनके काव्यों में लोक-स्तर उपेक्षित मिलता है। भारतेन्दु जी एवं उनके समकालीन कवियों के काव्यों में देश की तत्कालीन परिस्थितियाँ, निर्धनता, अकाल, भुखमरी एवं टैक्स आदि के विवरण

१. आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास,' पृष्ठ ५९४ (ना० प्र० सा०, काशी) संस्करण २००३ वि०।

मिलते हैं; जब कि ठाकुर साहब का काव्य इनसे विरहित है।

रीतिकाल की प्रचलित प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु-युग से कुछ पूर्व ही समाप्त हुई थीं। इससे उन प्रवृत्तियों का समावेश भारतेन्दु-युग के काव्य में स्वाभाविक ही था; किन्तु जिस प्रकार ये प्रवृत्तियाँ स्वाभाविक थीं उसी प्रकार वे समाज में परिव्याप्त परिस्थितियों से भी मुख न मोड़ सके। उन्होंने उनका स्वागत किया। परम्परागत भाव, भाषा एवं छन्द आदि के विधान में परिवर्तन आवश्यक हो गये। तत्कालीन कवियों ने इन परिवर्तनों का स्वागत कर अपनी सहृदयता एवं युग-प्रतिनिधित्व, जो एक कलाकार से सदैव अपेक्षित है, को प्रमाणित कर दिखाया।

अब प्रश्न यह है कि क्या ठाकुर साहब पूर्ण अपरिवर्तनवादी थे ? क्या उनके काव्य में नूतन संघटनों का समावेश न था ? उपर्युक्त प्रश्नों के उत्तर-स्वरूप यही कहना होगा कि किसी अन्य सहृदय कलाकार के समान वह भी युग के साथ थे। उनका काव्य भी भारतेन्दु-युगीन काव्य की एक सफल कड़ी थी।

रीतिकालीन काव्य की प्रवृत्तियाँ भारतेन्दु-युग के अन्य कवियों के समान ठाकुर जगमोहनसिंह के लिये भी प्रोत्साहन एवं आकर्षण के विषय थे; किन्तु इस स्थल पर यह ध्यान देने योग्य है कि अन्य कवियों ने रीति-परक शृंगारात्मक काव्य की परम्पराओं को ज्यों-का-त्यों अपना लिया। इस सम्बन्ध में वे परम्परा-वादी ही बने रहे। उनमें शृंगार का चित्रण था; किन्तु वह शृङ्गार शृङ्गार के लिये था। उसमें न उनकी अनुभूतियाँ थीं और न थी वैयक्तिकता। ठाकुर साहब केवल इस प्रवृत्ति में अपने समसामयिक कवियों से अधिक मौलिक थे। काव्य का व्यक्तिवाद जो स्वच्छन्दतावादी काव्य का प्राण है, वह भारतेन्दु-युग में केवल ठाकुर साहब में ही मिलता है अथवा ठाकुर साहब के द्वारा उस सम्बन्ध में एक आदर्श प्रस्तुत किया गया।

प्रेम-परक शृंगारी काव्य, जो प्रभूत मात्रा में ठाकुर साहब के काव्य में विद्यमान है, वस्तुतः अभूतपूर्व है। वह स्वयं अपनी श्यामा के श्यामसुन्दर थे। श्यामा के 'नैन-शर' से वह स्वयं भी न बचे थे। इसी से उस प्रेम-काव्य में जो संयोग-वियोग के चित्रण हैं, उनके पीछे ठाकुर साहब के जीवन का यथार्थ भी सन्निविष्ट है। केवल इसी आधार-शिला के कारण ठाकुर साहब के प्रेम-काव्य का स्वरूप बड़ा ही उदात्त हो गया है और वह स्वच्छन्दतावादी काव्य की भित्ति बन गया है।

प्रकृति-काव्य के सम्बन्ध में भी ठाकुर साहब ने संस्कृत काव्य की परम्परा

को अपनाकर हिन्दी को नवीन देन दी। प्रकृति का 'बिम्ब ग्रहण' जो संस्कृत कवियों की महान् सफलता थी, उसका हिन्दी-काव्य में समावेश करने के कारण सर्वांशतः वह मौलिक तो न कहे जावेंगे; किन्तु अग्रगन्ता अवश्य कहे जा सकते हैं। यों प्रकृति के सम्बन्ध में उनका दृष्टिकोण हिन्दी-काव्य में अवश्य नवीन था, इससे यदि इस सम्बन्ध में उन्हें मौलिक भी कहा जाय तो ठाकुर साहब के लिये वह अतिशयोक्ति भी न होगी। इस प्रकार प्रकृति-काव्य में वह अपने किसी भी समकालीन कवि से आगे थे। यह प्रवृत्ति ही आगे चलकर स्वच्छन्दतावादी काव्य के अग्रदूत पं० श्रीधर पाठक में प्रस्फुटित हो उठी थी। स्वयं भारतेन्दु जी, प्रेमघन जी तथा अन्य समसामयिक कवि इस सम्बन्ध में परम्परा का ही पालन कर रहे थे।

उपर्युक्त प्रवृत्तियों के अतिरिक्त उनमें दुःखवाद की भी भावनाएँ थीं तथा अन्य वैयक्तिकता-प्रधान काव्य भी उनके साहित्य में उपलब्ध होता है। इन सभी दृष्टिकोणों से भारतेन्दु-युग में यदि किसी को स्वच्छन्दतावादी कह सकते हैं तो उसका श्रेय केवल ठाकुर जगमोहनसिंह को ही है। 'भारतेन्दु-युग' में भाव, भाषा एवं छन्द आदि के सम्बन्ध में स्वच्छन्दतावादी प्रेरक स्थितियाँ अवश्य उत्पन्न हो गई थीं, जिनका युग की माँग के अनुसार थोड़ा-बहुत अंश प्रमुखतः भारतेन्दु-युग के अधिकांश कवियों में विद्यमान था।

भाषा एवं छन्द आदि के सम्बन्ध में ठाकुर साहब पूर्ण परम्परावादी ही थे। इस प्रकार उनमें शास्त्रीयता का पुट भी विद्यमान था।

ठाकुर साहब की काव्य-गत प्रवृत्तियों को जिनका उपर्युक्त पंक्तियों में संक्षिप्त विवेचन है, उनके काव्य-ग्रन्थों में भी देखना होगा कि वे किस मात्रा में वहाँ विद्यमान होकर हिन्दी के परम्परावादी काव्य को स्वच्छन्दतावादी बना रहे थे।

ठाकुर साहब में काव्य-प्रतिभा थी और सौभाग्य से उन्हें अनुकूल वातावरण भी मिला, जिससे उनके काव्य का सफल विकास भी हुआ। भारतेन्दु एवं जबलपुर के समीपस्थ गढ़ा के अधिपति हिन्दी के नाटककार श्री अमानसिंह से उनकी घनिष्ठता थी। साहित्यकारों की इस मित्रता से ठाकुर साहब को काफी बल और साहस मिला था, जिससे काव्य-क्षेत्र के लिये वे सदैव अनुप्रेरित रहे। उपर्युक्त सुविधा के अतिरिक्त उन्हें अपने परिवार से भी काव्य-परम्परा उपलब्ध हुई थी। स्वयं ठाकुर जगमोहनसिंह के पितामह ठाकुर प्रयागदाससिंह, जो एक सफल कवि थे, राम के अनन्य भक्त थे। कविता में वह अपना उपनाम

'रामनिधि' रखते थे। रामकाव्य-सम्बन्धी उनका अन्य मार्मिक साहित्य भी है। इसके अतिरिक्त उन्होंने 'श्री विजयराघव पचीसी' लिखी थी, जिसके यह निम्न अंश द्रष्टव्य हैं :—

घन घोर मढ्यौ व्योम मण्डल में बिज्जली की छटा छहरावदा है।
नचैं मोर अटन्न में माते चढ़े स्वर सारँग की चारु भावदा है॥
कर कंजन सों मंजु वीना लिये रामनिधि का चित्त चुरावदा है।
विजयराघव महल्ल के मध्य बैठा तान राग मल्लार की गावदा है॥

जहँ सावन कुंज सुहावत है घन घोर घमंड के घूमता था।
मृदु फूलन के स्वच्छ गुच्छन्न में मकरन्द मलिंद में झूमता था॥
बर्नं कैसे कहै रामनिधि सोई छवि देखि मगन्न ह्वै भूलता था।
अँगवाये जनक्क लली कौ लिये विजराघो हिंडोरे मैं झूलता था॥

श्री विजयराघवगढ़ का यह सरस वर्णन स्वाभाविक अभिव्यंजना शैली में होने के कारण विशेष आकर्षण का विषय था। फलस्वरूप काव्य-सर्जना में वह अपने पितामह के अनुगामी बने।

श्यामा के साहचर्य के कारण ठाकुर साहब को प्रेम-तत्व की सच्ची अनुभूति हो चुकी थी। इसी से उनके साहित्य में जो भी प्रेमकाव्य है उसमें श्यामा की ही प्रमुखता है। उसके आधार पर ही ठाकुर साहब संयोग-वियोग की भावनाओं को व्यक्त कर सके हैं।

प्रियतम के सौन्दर्य को देखकर प्रियतमा आनन्दविभोर है। उसके संयोग-सुख के लिये उसकी आत्मा छटपटा रही है। वियोग उसे विशेष पीड़ित किये है।

कैसी करौं कहँ पाऊँ तुम्हें मन मोहि लियौ करि कै बतियाँ।
बतियाँ करि हास विलास कियौ बिनु मोल को मोलि लिये छतियाँ॥
छतियाँ न लगौ उलटी यह रीति पिरीति की क्यों न लिखी पतियाँ।
पतियाँ न लिखौ मुख से न कहौ जगमोहन कैसे कटैं रतियाँ॥
(श्यामालता-७)

वियोग अभिवृद्धि पर है, फलस्वरूप—

यह भाग की मेरी सदा गति री अति रोवति प्यासी रहैं अँखियाँ।
इनको न मिल्यौ सुपने सुख हाय ए पातकी चातकी सी दुखियाँ॥

लगती नहिं बेर इन्हें लगते लखते जगमोहन की सखियाँ।
सुख राम रच्यौ न इन्हैं कबहूँ समुझावति कोउ नहीं सखियाँ॥
(श्यामालता–९)

वियोग ने दोनों को पत्र-व्यवहार के लिये बाध्य कर दिया है। दोनों में संयोग के लिये आकांक्षा बढ़ी। प्रियतम प्रत्येक स्थल में अपनी प्रियतमा के दर्शन कर उठा। जीवन की मादकता ने उसे भाव-विभोर कर दिया।

अंबर में जल में थल में जहाँ देखो तहाँ तरु की पतियान में।
कानन की सरितान सरोज सरोवर सौरभ मैन कमान में॥
मोर में मीन में किंशुक में शुक में शशि श्रीफल सुतियान में।
झूलति है वह झूलनहार अजौ हिय में जिय में अँखियान में॥
(श्यामालता–४७)

'हम तो हाय बिकाने तेरे हाथ'—प्रियतम की यह दशा है। प्रियतमा भी 'सुनि आगम निज मीत को छिन दुआर छिन गेह' के वशीभूत हो चंचल हो उठी है। अपने 'जीवन मूरि' को आया जान 'फूली फली हुलसी जगमोहन बाँधत द्वारन वन्दनवारे'। वह विशेष पुलकित है। वियोग अधिक काल तक वियोग न रहकर संयोग में बदल गया है; किन्तु वह सुख चिरस्थायी न रहा।

श्यामालता अनूप जोग वियोग बिहार बन।
सींचहु घन अभिरूप नेह सलिल बरषाय महि॥
वरषहु घन घनश्याम जामे सो मुरझाय नहिं।
श्यामालता ललाम दुसह विरह की आँच सी॥
(श्यामालता–१२४-१२५)

उपर्युक्त के समान ही 'प्रेम-सम्पत्तिलता', 'श्यामा-सरोजिनी' एवं 'श्यामा-स्वप्न' की भी काव्य-सामग्री है। इन रचनाओं में भी भारतीय प्रेम का स्वरूप विद्यमान है।

निशि द्यौस तिहारई सूरति श्यामली लेखिवे को अँखियाँ ललकैं।
तुव रूप सुधानिधि देखे बिना कहुँ नींदहु में न लगैं पलकैं॥
जगमोहन मूरति जीवन मूरि विना तेहि प्यासी परी झलकैं।
नित तेरी गलीन की पावन धूरि कौ अंजन आँजि सदा कलकैं॥
(प्रेम-सम्पत्तिलता–३)

यह परिस्थिति ही संयोग में परिवर्तित होकर पुनः वियोग का संघटन प्रस्तुत कर देती है। प्रेम का यह स्वरूप ही ठाकुर साहब की 'देवयानी' में भी उपलब्ध होता है। इस काव्य का समर्पण भी श्यामा को किया गया है, जिसके अन्तर्गत ठाकुर साहब ने अपनी निम्न भावना व्यक्त की है :—

"यह 'देवयानी' और ययात्युपाख्यान भी बड़ा विचित्र है। इसमें भी तुम्हारी प्रीति और स्नेह का वर्णन है—हाँ, तुम्हारा नाम भर नहीं प्रकट किया, क्योंकि लोग देखे कल नहीं पाते, फिटकिरी के समान उनके नैनों में गड़ रहे हैं, पर श्यामा एक तेरी दया की कोर चाहिये—फिर मैं इन्द्र को भी नहीं डरता। इस देवयानी और ययाति के सरल प्रीति के विवरन की सार तुम्हीं हो—किसी-न-किसी मिस से तुम्हारा जप, तप और ध्यान कर ही लेता हूँ। इसमें भी हमारा तुम्हारा प्रेम गाया गया है…… ।"

श्यामा श्यामा नाम को जीह रटत दिन रैन।
श्यामा की मूरति अजौं टरैं न पल भर नैन ॥

देवयानी कच के सौन्दर्य पर मंत्रमुग्ध थी। उसने अपने को उसे समर्पित कर दिया था। इसी भावना के वशीभूत होकर—

कबहुँ मदन बस गीतहि गावै।
कबहुँ ललित पद वचन सुनावै।
कबहुँक लाय रहैं मन मूरति।
पलक कपाट मूँदि सुइ सूरति॥

(देवयानी–४२)

कबहुँ चन्द्र मुख निरखि बहोरी।
जुगल नैन जिमि चितव चकोरी॥
अनमिख चितै सु बटु की ओर।
लेय तुरत ता मन कहँ चोर॥

(देवयानी–४३)

असुरों के द्वारा कच के मार दिये जाने पर भी देवयानी अपने पिता शुक्राचार्य से उसे जीवन-दान कराती है। उसने कच के प्रति अपने अनन्य प्रेम को अपने पिता के समक्ष भी व्यक्त किया था।

बिन कच जीवन केर अँदेसा।
सत्य कहौं पितु हरहु कलेसा॥

प्रान पियारे फेरि जियावहु ।
जेहि लखि नैनन निजहि जुड़ावहु ।।

(देवयानी—६८)

उसने कच के समक्ष भी इस प्रकार अपने प्रेम का निवेदन किया—

तन मन सौंपि दियो मैं पहिले अब शरीर एक बाच्यों ।
सोऊ परसि तारिये मोकँह तुम सम और न जाच्यों ।।

निस्सन्देह कच पर देवयानी के कितने ही आभार भी थे । अब वह संजीवनी विद्या प्राप्त कर निश्चिन्त भी था और देवयानी की प्रार्थना के अनुसार—

'विधि सों मंत्र बाँचि अब पकरहु हाथ करहु तन स्वारथ ।'

कच को लेकर देवयानी के हृदय में कितनी ही भावनाएँ और आकांक्षाएँ थीं; किन्तु कच की इस भावना से, 'भगिनी मोर धरम की सुन्दरि या में कछु न बहाना' उसकी आशाएँ निराशा में परिणत हो गईं । फिर दोनों का जिस भाग्य से साक्षात्कार हुआ उसे इतिहास के सभी विद्यार्थी जानते हैं ।

यों ठाकुर साहब के सम्पूर्ण प्रेम-काव्य उनकी एक ही अन्तर्भावना से गुथे हुए हैं, फिर भी 'श्यामा-स्वप्न' में उसका पूर्ण उत्कर्ष है । उसके अन्तर्गत कवि का प्रेम-दर्शन सप्राण हो उठा है । फलस्वरूप इस रचना के प्रथम याम के स्वप्न के अन्तर्गत प्रारम्भ में ही ठाकुर साहब ने निम्न घनाक्षरी को स्थान दिया है ।

सोवत सरोज मुखी सपने मिली री मोहि
तारापति तारन समेत छिति छायो री ।
मंडप वितान लता पातिन को तान तान
चातक चकोर मोर रोरहु मचायो री ।।
कंजकर कोमल पकरि जगमोहन जू
अधर गुलाब चूमि मधुप लुभायो री ।
चकृत सों बैरिन कहा से खुली धौं आँख
हाय प्रान प्यारी हाय कंठ न लगायो री ।।

इस घनाक्षरी की भावना ही 'श्यामा-स्वप्न' के कथानक के साथ पूर्णरूपेण चरितार्थ है । श्यामा और श्यामसुन्दर का पारस्परिक परिचय गाढ़ प्रेम में परिवर्तित होकर संयोग का साधन बनता है । अंततः श्यामा गंगा-प्रवाह में बह जाती है । श्यामसुन्दर उसे प्राप्त करने के लिये उसी पथ के पथिक बनते हैं; किन्तु पुनः उनका सम्मिलन नहीं हो पाता । इस प्रकार श्यामा स्वप्न का विषय

बन जाती है। अन्त में इस उदात्त प्रेम के सम्बन्ध में ठाकुर साहब इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं—

या जग नारि नैन के शर सों को बचि रह्यो बताओ।
आँखिन देखि पियत घट विष यह सो मदिरा बौराओ॥
यासो बार-बार कर जोरे कहहुँ देखि सब रंगा।
विष पूतरि सम वाहि तरकिये तजि वाको परसंगा॥

इस प्रकार श्यामास्वप्न की समाप्ति सुखान्त न होकर दुखान्त है। प्रेम, जिसकी अनुभूति इतनी दुखद और शोचनीय है, क्या यों ही स्वीकार्य है, मानव के समक्ष यही विचारणीय है।

अब इस स्थल पर यह भी विचारणीय है कि श्यामा किस सम्मान की अधिकारिणी है? 'श्यामालता' के 'समर्पण' में ठाकुर साहब ने अपनी निम्न भावनाएँ व्यक्त की हैं—

"मैंने तुम्हारे अनेक नाम धरे हैं क्योंकि तुम मेरे इष्ट हो न—और तुम्हारे तो अनेक नाम शास्त्र, वेद, पुराण, काव्य स्वयं गा रहे हैं। तो फिर मेरे अकेले नाम धरने से क्या होता है। तुम्हारे सब से अच्छे नाम श्यामा, दुर्गा, पार्वती, लक्ष्मी, वैष्णवी, त्रिपुर-सुन्दरी, श्याम-सुन्दरी, मनमोहिनी, त्रिभुवनमोहिनी, त्रैलोक्य विजयिनी, सुभद्रा, ब्रह्माणी, अनादिनी, देवी, जगन्मोहिनी इत्यादि—इनमें से मैं तुम्हें कोई एक नाम से पुकार सकता हूँ पर उपासना भेद से तथा इस काव्य को देख मैं इस समय केवल श्यामा ही कहूँगा।······मुझे तूने बचाया—तूने मेरे प्रान बचाये। तू क्या जानती है कि मैं तुझे आज से जानता और मानता हूँ—नहीं नहीं यह बड़ी भूल है। पर तुझे क्या समझाकर कहना—तू तो अन्तर्यामिनी है। जिस दिन कर्म-वश पंच भौतिक में पचकर प्राण तन-पिंजरे में आये उसी दिन मैं तेरा हो चुका था तू चाहे जान चाहे न जान पर न जानना कैसा—यह मेरी मूर्खता ही तो है। मैं तो 'तत्व प्रेम कर मम अरु तोरा' यह कह चुका। कहा भी नहीं वरन सब जगत को दिखा भी चुका, देवि!"

श्यामा के सम्बन्ध में इसी प्रकार की आध्यात्मिक आस्था और भक्ति ठाकुर साहब के अन्य प्रेम-काव्यों में भी है। यदि यह सत्य है तो श्यामा हमारे दैवी सम्मान की ही अधिकारिणी है; किन्तु काव्य में वर्णित प्रेम और ठाकुर साहब का व्यक्तिगत जीवन इस प्रकार की विचारधारा के लिये भ्रम अवश्य प्रस्तुत कर देते हैं। ठाकुर साहब की भक्ति-भावना के लिये केवल 'ओंकार चन्द्रिका' प्रस्तुत की जा सकती है; किन्तु उक्त काव्य के भी

अन्त में कवि करुण पश्चाताप करता है। फिर यह रचना उतरते जीवन की है। उनके जितने प्रेम-काव्य हैं वे सब उनके अट्ठाईस से बत्तीसवें वर्ष के मध्य की रचनाएँ हैं। इस प्रकार मेरा अपना दृष्टिकोण है कि भले ही श्यामा राधा का प्रतीक हो; किन्तु उनके प्रेम-काव्यों में उनके लौकिक प्रेम की प्रतिच्छाया विद्यमान है। इस प्रकार ठाकुर साहब अपनी श्यामा के श्यामसुन्दर हैं। इसी कारण उनके वर्णित संयोग-वियोग के चित्रणों में सजीवता है और वे सप्राण हैं।

ठाकुर साहब के प्रेम-काव्यों की उपर्युक्त विवेचना से इतना अवश्य स्पष्ट है कि उनमें उदात्त लौकिक प्रेम विद्यमान है, जिससे उसे स्वच्छन्दतावादी काव्य की कोटि में सरलतापूर्वक रखा जा सकता है। ठाकुर साहब प्रतिभा-सम्पन्न कवि थे। इससे उनके काव्य में स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति स्थल-स्थल पर मिलती है। कालिदास के काव्यों के अनुवाद उनकी इस प्रवृत्ति के सम्पोषक हैं। 'मेघदूत', 'कुमार-सम्भव' दोनों ही पद्यबद्ध अनुवादों में क्रमशः यक्ष और यक्षिणी तथा शिव-पार्वती के पारस्परिक गाढ़ प्रणयों द्वारा स्वच्छन्दतावादी भावना उपलब्ध होती है। 'ऋतुसंहार' में कालिदास के प्रकृति-काव्य के बिम्ब पद्यबद्ध अनुवादों के द्वारा हिन्दी-काव्य में सफलतापूर्वक उतर आये हैं।

संस्कृत से 'हंसदूत' एवं विश्व के अन्तर्राष्ट्रीय स्वच्छन्दतावादी अंग्रेजी कवि बायरन के The Prisoner of Chillon का 'शिलान का बन्दी' नाम के अनुवाद भी परम्परावादी काव्य से विरहित स्वच्छन्दतावादी ही हैं।

'पीरा फेंटा', 'परम सुख आनन्द सदन', 'जपा श्रेनी कैसे कमल चरन' तथा 'तमालो लौ कालो पुरुष' श्रीकृष्ण ने राधा को मुग्ध कर लिया है। अपने इस अमर प्रभाव के छोड़ने के उपरान्त उन्होंने तो मधुवन को सनाथ किया, इधर राधा चिन्ता-सरिता में डूब गईं। सुख-दुख की सहानुभूति रखने वाली सखियाँ राधा की इस विरह-पीड़ा को परख यमुना के किनारे की चिर परिचित कुटी में पहुँच गईं और नेत्र मूँदे कृष्ण-ध्यान में लीन राधा को पा ही लिया।

सुषुप्ती में जैसे खबर सब भूली बदन की।
भई राधा जैसे सुधि-बुधि सबै छूट तन की॥
लुटै सो धूलि पै सखिन तिहि घेरी चहुँ तहाँ।
तबै कालिन्दी हू नयन जल बाढ़ी मिलि जहाँ॥

हलेना डोलेना नहिन कछु बोले बिरहिनी।
खिलौना सी बैठी विजन नलिनी पल्लव सनी॥

करे शंका जी की कुशल शत ध्यावै निसि दिना ।
अंदेशो है भारी सखिन अति प्यारी पिय बिना ।।

◇ ◇ ◇

तबै खोले नैना चलत कछु कंठो सुरमई ।
गई आसा स्वासा सबन अब आसा जिय भई ।।
कहाँ है री मेरो उरज अँचरा घूँघट कहाँ ।
सुनै हर्षी सारी करत धुनि भारी मुद कहाँ ।।

(हंसदूत के अनुवाद से)

'शिलन का बन्दी' अपने पिता के धर्म के प्रति उदार-भावना रखने के कारण अपने अन्य छः भ्राताओं के साथ बन्दी हुआ था। उसके पिता का अपराध था तो यही कि उसे धार्मिक अन्धविश्वास पसन्द न था। फलस्वरूप वह स्वयं तो फाँसी पर चढ़ाया ही गया; किन्तु आतंक के कारण उसके सातों पुत्र भी बन्दी बना लिये गये। दारुण सन्ताप और बन्दी-गृह की यातनाओं के कारण उसके छः अनुज काल के गाल में जा पहुँचे। केवल ज्येष्ठ भ्राता ही इस करुण गाथा को सुनाने के लिये अवशिष्ट रहा।

केश सुपेत एक निशि माँही नाहिन जरा जरायो है।
ताहू दुख अरु चिन्ता कारन जर्जर बदन लखायो है ।।
जो न परै श्रम भारी मोकहुँ नाहिन कछुक प्रयास ।
बैठे-बैठे तऊ उबिठगे प्रानहु लेत उसास ।।
जो सब भोग भोगिबौ ठहरो पिता धर्म के लाने जू ।
परी जौन पग बेड़ी मेरे मौतहि मीत कहाने जू ।।
सोतो सरी चढ़्यो हठीलो तज्यो न प्रन निज आप।
वाही के हित मैं हू पायो दारुन दुख संताप ।।
रहे सात भ्राता हम सिगरे पै अब रहे न एको हैं।
बच्यो एक हत्यारो मैं ही गजी न पै निज टेक्यो हैं ।।

◇ ◇ ◇

सात खंभ गाथिक साँचे के रहे पुराने भारी हैं ।।
शिलन भुँइहरे जो गंभीर छुपी अँधियारी कारी है ।

◇ ◇ ◇

प्रति खंभन में लोह मूँदरी जामें इक इक साँकर है ।
खन खनात भारी अति कारी दंता सहित मुख जाकर है ।।

देखु अजी वाके बाँके ए पैने दाँत लखाँय।
जोलौं प्रान रहैं तन मेरे तौ लौं कहु न मिटाँय ॥

'हंसदूत' में निस्सन्देह राधा-कृष्ण के चरित्र परम्परावादी कोटि में ही आते हैं; किन्तु प्रेम की पीर से बाध्य होकर हंस का भेजा जाना रूढ़िवादी परम्परा से बहुत दूर है। फिर कोई भी काव्य कवि के द्वारा परम्परावादी बनाया जा सकता है अथवा स्वच्छन्दतावादी बनाया जा सकता है। 'हंस' को दूत बनाकर भेजने में वैयक्तिकता का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित हो उठता है, इसमें सन्देह नहीं। इससे 'हंस-दूत' का अनुवाद स्वच्छन्दतावादी काव्य की कोटि में रखा जा सकेगा।

'शिलन के बन्दी' की उपर्युक्त तथा अवशिष्ट काव्य की पंक्तियों में रूढ़िवादिता पलायन कर उठी है। स्थल-स्थल पर वैयक्तिक भावना की स्पष्ट छाप है। कारागृह की यातनाओं के कारण काव्य अति करुण हो उठा है। इस प्रकार यह काव्य तथा 'दम्पति विलाप', 'कपोत विरहाष्टक', और 'कुत्ते का शोक काव्य' (The Dog's Elegy) आदि-आदि रचनाएँ इसी स्वच्छन्दतावादी काव्य की कोटि में पहुँचेंगी।

गतरात्रौ विडालेन भक्षिता ते कपोतिका।
हिंसकेन प्रिया सार्थं धृता नीता समाप्तनाम् ॥

('कपोत विरहाष्टक' से)

'कपोत विरहाष्टक' की उपर्युक्त पंक्तियाँ ही कवि की स्वच्छन्दतावादी मनोवृत्ति पर स्पष्ट प्रकाश डालती हैं। कवि का मस्तिष्क परम्परावादी विषयों में ही सीमित न रहकर स्वाभाविक एवं दैनिक विषयों की ओर भी आकृष्ट है। यह विशेषता ही उनको स्वच्छन्दतावादी कवि बनाने में पूर्ण समर्थ है।

प्रकृति-कवि के रूप में ठाकुर साहब द्वारा सृजित काव्य पर विचार करने से वह उसमें भी खरे उतरते हैं। उन्होंने संस्कृत कवियों की प्रकृति-क्षेत्र में बिम्ब-ग्रहण की परिपाटी को अपना कर हिन्दी में सर्वप्रथम प्रकृति को शृङ्गार के उद्दीपन-विभाव से मुक्त किया था। यही उनकी हिन्दी को स्वच्छन्दतावादी मौलिक देन है।

ठाकुर साहब हिन्दी के साथ संस्कृत के भी कवि रहे हैं। संस्कृत में भी उन्होंने अपनी भावनाओं को सफलतापूर्वक गूँथा है। प्रकृति-चित्रण के अतिरिक्त उन्होंने लोक-गीत में भी उसका सफल प्रयोग किया है। उस प्रयोग पर दृष्टिपात करने से पूर्व ठाकुर साहब को प्रकृति-क्षेत्र में देखना ही समीचीन होगा।

क्वचित्सरोजानि हरित्तृणानि
शुकांग नीलानि शुभानि शैले
लसन्ति गावश्च मृगाः सुखेन
दर्भांश्चरन्तो विटपा कुलेऽस्मिन ।
—चित्रकूट वर्णन

साल ताल हिंताल तमालन बंजुल धवा पुनागा ।
चंपक नाग विटप जँह फूलै कर्निकार रस पागा ॥
कँचन गुच्छ विचित्र सुच्छ जँह किसलै लाल लखाहीं ।
लताभार सुकुमार चमेलिन पाटल विलग सजाहीं ॥
तरुण अरुण सम हेम विभूषित दूषित नहिं कोउ भाँती ।
वेदी लसत विदूर फटिक मय सलिल तीर लस भाँती ॥
जँह पुरैन के हरित पात विच पंकज पाँति सुहाई ।
मनु पन्नन के पत्र पत्र पै कनक सुमन छवि छाई ॥
नील पीतजलजात पात पर विहँग मधुर सुर बोलैं ।
मधुकर माधवि मदन मत्तमन मैन अछर से डोलैं ॥
हरिचन्दन चन्दन ललाम मय पीत नील वन वासै ।
स्यंदन विविध बदन जगवंदन सुख कंदन दुख नासै ॥
(श्यामा-स्वप्न—पृष्ठ १२८)

शवरीनारायण में महानदी की बाढ़ का वर्णन—

मटा कीट कीटी कढ़ें धाम छोड़ी ।
चढ़े डार डारे मढ़े जोंक दौड़ी ॥
कहूँ बच्छ के हीन गैया डकारैं ।
कहूँ बच्छ हू मातु माता पुकारैं ॥ (प्रलय—५५)

पड़ाहू पड़े भमि कापैं दुखारी ।
सँसे बच्छ धेनू मरैं सीत भारी ॥
कहूँ पंख ओदे गिरे भूमि पंखी ।
गुहेरेन हेरैं तिन्हें जो असंखी ॥ (प्रलय—५६)

आई शिशिर बरोरु शालि अरु ऊखन संकुल धरनी ।
प्रमदा प्यारी ऋतु सुहावनी क्रौंच रोर मनहरनी ॥

मूँदे मन्दिर उदर झरोखे भानु किरन अरु आगी ।
भारी वसन हसन मुख बाला नवयोवन अनुरागी ।।

—शिशिर ऋतु

ऊपर के प्रकृति-परक सभी उद्धरण ठाकुर साहब के विभिन्न काव्यों से उद्धृत किये गये हैं । कवि ने प्रकृति के स्वरूप के प्रति न्याय करके उसके सार्वभौम रूप को पाठकों के समक्ष रखने का प्रयास किया है । रीतिकालीन एवं अपने समकालीन कवियों के समान उनकी प्रवृत्ति सीमित नहीं । उन्होंने प्रकृति के 'सत्यं शिवं सुन्दरं' को व्यक्त करके अपने हृदय की विशालता और सहृदयता का प्रस्फुटन किया है । इस सम्बन्ध में प्रकृति के रमणीय दृश्यों ने भी उन्हें काफी प्रभावित किया और प्रेरणाएँ दी हैं । प्रकृति के उदर से जिन्होंने जन्म लिया हो, प्रकृति के अंक में जो पल्लवित हुए हों और प्रकृति का विस्तृत क्षेत्र ही जिनका कार्य-क्षेत्र रहा हो—वह व्यक्ति प्रकृति के सम्बन्ध में अपने नेत्र कैसे मींच सकता है । फलस्वरूप संस्कृत के कवियों के समान उन्होंने बिम्ब ग्रहण कर प्रकृति-विषयक काव्य के सम्बन्ध में अपना नया दृष्टिकोण हिन्दी-काव्य में प्रस्तुत किया । इस प्रकार इस क्षेत्र में भी उनका स्वच्छन्दतावादी स्वरूप सुरक्षित है ।

भारतेन्दु के समान ठाकुर साहब ने भी संस्कृत को ग़ज़ल जैसे लोकगीत में सफलतापूर्वक उतार कर अपनी रसिक प्रवृत्ति का परिचय दिया है ।

वसन्तश्चारुरायातो मयानंग प्रदीपोऽयम् ।
प्रभाते वै प्रवातोऽपि निकुंजे भृंग गुंजोऽयम् ।।१।।
बने कच्छे पुरे पराये नदी तीरे तमालेऽपि ।
गिरौ गोदावरी कूले लसत्थाहो रसालोऽयम् ।।२।।
लसत्कालिंदका कूले कदंबानां कदम्बेसु ।
कलापि कोकिल कूजत्यजसं, भू भृंग पुंजोऽयम् ।।३।।
चलन्मंदे समीरे हे शुभे वृन्दावने रम्ये ।
लतापत्रान्तरे नक्तं विलीनश्चैत्र चन्द्रोऽयम् ।।४।।
क्वसा रासस्थली पुराया क्वैव वंशी निनादोऽपि ।
निशा सा क्वास्ति कल्याणी क्व हा में कृष्णचन्द्रोत्यम् ।।५।।
क्वा सा राधा क्वसा गोपी क्व वासा गोकुलारम्या ।
क्व वासस्तव विहंगानां क्व वाशानोऽप्यनाथोऽयम् ।।६।।

सतृष्णा वर्त्तते दीना विना कृष्णान्तु वृन्दैषा ॥
सनाथा द्वारका ज्ञाता विनाथो मोहनः सोऽयम् ॥७॥[1]

'न बोसा देने आता है न दिल बहलाने आता है' की ध्वनि पर ठाकुर साहब ने इस ग़ज़ल का निर्माण किया था। छन्दों के सम्बन्ध में उनके इस प्रकार के प्रयोग और भी हो सकते हैं; किन्तु जब तक ठाकुर साहब का सम्पूर्ण साहित्य प्रकाश में नहीं आता है, इस सम्बन्ध में कुछ भी कहना अनधिकार चेष्टा ही होगी।

भारतेन्दु, प्रेमघन एवं अन्य समसामयिक कवियों के समान ठाकुर साहब ने भारतवर्ष की अत्यधिक प्रशंसा की है—

भुव-मधि जम्बू-द्वीप दीप सम अति छवि छायो।
तामें भारत-खण्ड मनहु विधि आप बनायो॥
ताहू में अति रम्य आरजावर्त मनोहर।
सकल कर्म की भूमि धर्मरत जहँ के नरवर॥
मनु वाल्मीकि व्यासादि से पूजनीय जहँ के अमित।
भे मनुज अवौ जग के सबै मानत जिनकी आन नित॥१॥

जहँ हरि लिय अवतार राम-कृष्ण रूप धरि।
जहँ विक्रम, बलि, भोज धरम नृप गे कीरति करि॥
जहँ की विद्या पाय भये जग के नर शिक्षित।
जहँ के दाता सदा करत पूरन मन-इच्छित॥
जहँ गंगा-सी पावन नदी हिम-सों ऊँचो सैलवर।
जहँ रत्न-खानि अगनित लसत मानहु मानहु मनिमय किलधर॥२॥[2]

इस प्रकार अपने समकालीन कवियों के समान ठाकुर साहब भी देश के प्रति आश्वस्त हैं। उन्हें भी यहाँ की संस्कृति, सभ्यता एव ज्ञान पर गर्व है जिन के कारण देश विश्व में शिरोधार्य रहा है। वस्तुतः इस भावना ने ही देश में राष्ट्रीय भावनाओं के प्रसार और प्रचार में पूर्ण सहयोग दिया है।

ठाकुर साहब ने महर्षि कपिलकृत सांख्यकारिका का ज्ञान प्रदीपिका एवं वाल्मीकि रामायण के कुछ स्थलों के छन्दोबद्ध अनुवाद किये हैं। वे रचनाएँ परम्परावादी एवं रूढ़िवादी भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। इससे वे रचनाएँ

१. ठाकुर साहब की संस्कृत गजल—'प्रहरी' जबलपुर, १५ अगस्त, १९४९।
२. ठाकुर जगमोहनसिंह—'ऋतुसंहार'।

शास्त्रीय काव्य की श्रेणी में ही रखी जा सकेंगी। इसमें सन्देह नहीं।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से ठाकुर साहब के काव्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। भावनाओं एवं छन्दों आदि के सम्बन्ध में ठाकुर साहब अधिकांशतः स्वच्छन्दतावादी रहे हैं। हाँ, यह अवश्य सत्य है कि भाषा के क्षेत्र में उन्होंने कोई नवीन प्रयोग नहीं किये और न लोक-भाषा को काव्य में प्रयोग कर अपनी स्वच्छन्दता का परिचय दिया। फिर भी यह सत्य है कि भारतेन्दु-युग में वह इस सम्बन्ध में सभी से आगे थे। इस प्रवृत्ति में स्वयं भारतेन्दु जी भी उनसे पीछे ही रह जावेंगे। यही कारण है—भारतेन्दु-युग में अपनी इस प्रवृत्ति के कारण वह शीर्ष स्थान पर आसीन किये जा सकते हैं।

अध्याय ५

द्विवेदी-युग : स्वच्छन्दवादिता का प्रतिरोध

विषय-प्रवेश

"यदि कोई मुझसे पूछे कि द्विवेदी जी ने क्या किया तो मैं उसे समग्र आधुनिक हिन्दी-साहित्य दिखलाकर कह सकता हूँ कि यह सब उन्हीं की सेवा का फल है। हिन्दी-साहित्य-गगन में सूर्य, चन्द्रमा और तारागणों का अभाव नहीं है। सूरदास, तुलसीदास, पद्माकर आदि कवि साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र हैं, परन्तु मेघ की तरह ज्ञान की जल-राशि देकर साहित्य के उपवन को हरा-भरा करने वालों में द्विवेदी जी की ही गणना होगी।"[1]

'द्विवेदी-युग' निस्संदेह 'भारतेन्दु-युग' का पूरक है। भारतेन्दु अपने छोटे से जीवन में हिन्दी-साहित्य को अपने कार्य की केवल रूप-रेखा ही दे सके थे। उनके अकाल निधन के कारण वह सब जहाँ का तहाँ ही रह गया और यह अपूर्ण कार्य द्विवेदी जी और उनके युग के मत्थे आ पड़ा।

'भारतेन्दु-युग' में परम्परागत ब्रजभाषा के आवरण में विषय एवं छंद अवश्य बदल चले थे; किन्तु काव्य के बाह्य तत्व परिवर्तित न हो सके थे। भारतेन्दु-युग में गद्य और पद्य में खड़ी बोली का प्रयोग अवश्य प्रारम्भ हो गया था; परन्तु भाषा में बल और चेतना का समावेश न हो पाया था। द्विवेदी जी ने एक अध्यवसायी शिल्पी के समान जुटकर इन सभी की पूर्ति की। द्विवेदी जी की इन सेवाओं के लिए ही श्री रूपनारायण पाण्डेय ने द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ में उनका यों अभिनन्दन किया है—

---

१. श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी—'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ', पृष्ठ ५३८ (ना० प्र० स०, काशी)।

शिल्पी परम प्रवीण मातृ-मंदिर-निर्माता ।
अभिनव-लेखन-कला-लोक के विज्ञ-विधाता ॥
उपयोगी साहित्य आपने लिखा लिखाया ।
सेवा में ही सरस्वती के जन्म बिताया ॥
हिन्दी भाषा के सदा लगे रहे उद्धार में ।
ऋषि दधीचि सम अस्थियाँ दे दीं पर उपकार में ॥

अब द्विवेदी-युग के उन काव्यों को देखना है, जिनके कारण उनकी कीर्ति अक्षुण्ण रह सकी है । उन्होंने भाषा के निर्माण, छन्दों के प्रयोग एवं विषयों की इतिवृत्तात्मकता के सम्बन्ध में अथक परिश्रम किया है ।

द्विवेदी जी के प्रयास से ही खड़ी बोली को व्याकरण-सम्मत रूप प्राप्त हुआ । निस्संदेह भाषा-निर्माण की यह महान् चेष्टा थी । काव्य के क्षेत्र में भी इस विशुद्ध भाषा का सम्मान बढ़ा । हरिऔध, रामचरित उपाध्याय, मैथिलीशरण गुप्त एवं सरस्वती के अन्य बीसियों कवि इस खड़ी बोली को प्रधानता देकर चले । इसके अतिरिक्त छन्दों के प्रयोगों में भी परिवर्तन हुए । महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं मन्नन द्विवेदी गजपुरी ने संस्कृत वृत्तों को अपनाने का प्रोत्साहन दिया ।

भाषा और छन्द आदि के सम्बन्ध में जो उपर्युक्त संकेत है, निस्संदेह वे भारतेन्दु-युग के ही विकसित रूप हैं । उस युग में भाषा के क्षेत्र में सरल शैली एवं लोक-प्रचलित छंदों को अपनाकर, जिस स्वच्छंदतावादी आंदोलन का बीज बपन हुआ था, इस युग में आकर उस आन्दोलन में विराम लग गया । विशुद्ध संस्कृत-गर्भित भाषा एवं शास्त्रीय छन्दों की दुरूहता का ही यह परिणाम हुआ कि हरिऔध जी को 'प्रिय प्रवास' की भूमिका में ही सरल शैली और प्रचलित छन्द में 'वैदेही वनवास' लिखकर जनता-जनार्दन को प्रसन्न करने का वचन देना पड़ा था ।

भाषा एवं छन्दों के सम्बन्ध में शास्त्रीयता पूर्णरूपेण अधिष्ठित हो ही चुकी थी । विषयों के क्षेत्र में भी सर्वत्र परम्परागत विषय ही मान्य हुए । इस युग के परम्परागत काव्य में नैतिक एवं चारित्रिक काव्य की प्रधानता मिलेगी । राष्ट्रीय चेतना को जाग्रत और अतीत के गौरव को प्राप्त करने के लिए नीति, चरित्र, कर्तव्य एवं धर्म-सम्बन्धी उपदेशात्मक रचनाएँ पाठकों के लिए सृजित हुईं । यह पुराण एवं इतिहास से ली हुई होती थीं । उनके द्वारा केवल सामाजिक भाव ही साहित्य के समक्ष आ सके । वैयक्तिक अनुभूति का रूप उपेक्षित ही रहा ।

द्विवेदी-युग के उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि भाषा, छन्द एवं विषय आदि सभी में स्वीकृत शास्त्रीयता का स्थूल स्वरूप ही सामने आ रहा था। यह वास्तव में भारतेन्दु-युग की परम्परागत प्राचीन परिपाटी का ही अगला कदम है।

यों भारतेन्दु-युग की प्रेरित स्वच्छन्दतावादी धारा निष्प्राण अवश्य नहीं हो गई थी; किन्तु उसके प्रवाह में सामयिक व्यवधान अवश्य आ गया। इस सामयिक प्रतिरोध को विवेचित करना ही इस अध्याय का उद्देश्य है।

इस स्थल पर यह समझ लेना अभीष्ट होगा कि द्विवेदी-युग की काव्य-धारा के दो पक्ष थे। एक पक्ष द्विवेदी काव्य-मण्डल से सम्बन्ध रखता था और द्वितीय द्विवेदी काव्य-मण्डल के बाहर का था। द्विवेदी जी की उपर्युक्त शास्त्रीयता के पक्ष में द्विवेदी-काव्य-मण्डल के ही कवि थे, जिनमें कामताप्रसाद गुरु, रामचरित उपाध्याय, लाला भगवानदीन एवं मैथिलीशरण गुप्त आदि प्रमुख हैं। द्वितीय पक्ष के कवि इस संकीर्ण शास्त्रीयता के विरोधी थे। उनमें श्रीधर पाठक जी के अतिरिक्त राय देवीप्रसाद पूर्ण, रामनरेश त्रिपाठी, रूपनारायण पाण्डेय, मुकुटधर पाण्डेय एवं बदरीनारायण भट्ट आदि हैं। वस्तुतः इस द्वितीय पक्ष ने ही स्वच्छन्दवादिता को गतिशील रखा।

हाँ, इस स्थल पर यह उल्लेख कर देना भी उचित होगा कि द्विवेदी जी के इस शास्त्रीय प्रतिरोध के विवेचन में द्विवेदी-काव्य-मण्डल के कवियों और युग की विषय तथा अभिव्यंजना-सम्बन्धी विवेचना सम्मिलित भी करली गई है। इससे यह भी स्पष्ट हो सकेगा कि द्विवेदी जी के अतिरिक्त उनका भी व्यक्तित्व था तथापि वे अपने युग-नियामक की ओर ही प्रवृत्त थे।

स्वच्छन्दवादिता के प्रतिरोधी शास्त्रीय तत्व

१. भाषा के क्षेत्र में

गद्य-साहित्य में ब्रजभाषा के स्थान पर खड़ी बोली का सन्निवेश भारतेन्दु-युग का एक महान् प्रयोग था। उस युग में भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी द्वारा खड़ी बोली गद्य-साहित्य के विभिन्न अंगों में प्रयुक्त हुई थी। अभ्यास से जब यह भाषा गद्य-साहित्य में मँज गई और लोकप्रियता के कारण ब्रजभाषा अपना सुहाग, खड़ी बोली को सौंपकर अस्तित्व विहीन हो गई तब वह गद्य-साहित्य तक ही सीमित होकर न रह गई। अपना क्षेत्र विस्तृत करने के लिए उसने अपने लोकप्रचलित रूप को प्रदर्शित कर अपना सर्वसुलभ रूप व्यक्त किया। फलतः

गद्य और पद्य की भाषा की विषमता को दूर करने के लिए एक आन्दोलन का सूत्रपात हो उठा। 'हिन्दोस्थान' एवं 'भारत-मित्र' के अतिरिक्त ब्रजभाषा और खड़ी बोली के पक्ष और विपक्ष में 'ब्राह्मण', 'बिहार-बन्धु' एवं 'पीयूष-प्रवाह' आदि पत्रों में कवि-कोविदों के द्वारा अपने-अपने विचार प्रकट किये गये। काव्य के क्षेत्र में खुसरो, कबीर, रहीम एवं सूदन द्वारा संस्थापित खड़ी बोली की परम्परा थी ही। इसलिये खड़ी बोली इस क्षेत्र के उपयोग के लिये अनुपयुक्त सिद्ध न हुई। भारतेन्दु-युग में नवीन विचारों के संरक्षण स्वरूप इसका प्रयोग हो ही चुका था, जिनका दिग्दर्शन विगत पृष्ठों में हो चुका है। खड़ी बोली के काव्य की इतनी प्रगति हो जाने पर भी उसके प्रयोग में शैथिल्य एवं त्रुटियाँ थीं। 'सरस्वती' के छठे भाग के ग्यारहवें अंक में उस समय तक प्राप्त लेखकों की त्रुटियों के आधार पर द्विवेदी जी ने अपना प्रसिद्ध निबन्ध 'भाषा और व्याकरण' प्रकाशित किया। बालमुकुन्द गुप्त ने द्विवेदी जी की त्रुटियों का उल्लेख कर उनकी मज़ाक बनाई। वस्तुतः द्विवेदी जी एवं गुप्त जी में एक विवाद खड़ा हुआ, जिसने खड़ी बोली में व्याकरण-असम्मत रूपों में सुधार प्रस्तुत किये। खड़ी बोली की प्रगति के लिए यह मोड़ बड़ा ही महत्वपूर्ण था।

सर्वश्री अयोध्याप्रसाद खत्री एवं श्रीधर पाठक द्वारा काव्य-क्षेत्र में खड़ी बोली के प्रयोग का आन्दोलन १८८८ ई० से चल पड़ा था। द्विवेदी जी ने अपने 'सरस्वती' संपादन-काल में इस दिशा में विशेष कार्य किया। इससे द्विवेदी-युग की यह उल्लेखनीय घटना है। ८ मार्च १८८८ ई० के 'हिन्दोस्थान' में श्रीधर पाठक, प्रतापनारायण मिश्र का इन शब्दों में प्रतिवाद कर चुके थे—"गद्य और पद्य की भिन्न-भिन्न भाषा होना हमारे लिये उतना अहंकार का विषय नहीं है जितना लज्जा और उपहास का है कि जिस भाषा में हम गद्य लिखते हैं उसमें पद्य नहीं लिख सकते।"

यही दृष्टिकोण आचार्य द्विवेदी जी का भी था।

"यह निश्चित है कि किसी समय बोलचाल की हिन्दी भाषा ब्रजभाषा की कविता के स्थान को अवश्य छीन लेगी। इसलिए कवियों को चाहिए कि वे क्रम-क्रम से गद्य की भाषा में भी कविता करना आरम्भ करें। बोलना एक भाषा और कविता में प्रयोग करना दूसरी भाषा, प्राकृतिक नियमों के विरुद्ध है, जो लोग हिन्दी बोलते हैं और हिन्दी ही के गद्य-साहित्य की सेवा करते हैं उनके पद्य में ब्रज की भाषा का आधिपत्य बहुत दिनों तक नहीं रह सकता।"[१]

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी—'रसज्ञ रंजन'—कवि-कर्त्तव्य, पृष्ठ २०।

द्विवेदी जी का उद्‌बोधन बड़ा ही प्राकृतिक एवं व्यावहारिक था। फलतः कविता-क्षेत्र में थोड़े ही समय में इसका सुन्दर सौष्ठव अधिष्ठित हो उठा और यह सर्वत्र सम्मानित होने लगी। खड़ी बोली के काव्य के प्रचार एवं प्रसार के लिये श्रीधर पाठक देवदूत थे और उनका खड़ी बोली का काव्य वरदान स्वरूप था।

खड़ी बोली जितनी प्रकाश में आती गई उतनी ही ब्रजभाषा पृष्ठभूमि में पहुँचती गई। खड़ी बोली के सौभाग्य से द्विवेदी जी ने 'सरस्वती' का सम्पादन स्वीकार कर उसके द्वारा भाषा का आन्दोलन जाग्रत रखा। १९ अक्टूबर १९०० ई० में आचार्य द्विवेदी जी की 'वलीवर्द' नाम की प्रथम खड़ी बोली की कविता 'श्री वेंक्टेश्वर समाचार' में प्रकाशित हुई।

बलीवर्द, तुम पशु होने से अविवेकी कहलाते हो,
मद पर भी निज उन्मदता से विजय-बड़ाई पाते हो।
साभिमान धनवान पास भी नहीं विवेक फटकता है,
अहंकार-मद में वह अपने चूर सर्वदा रहता है ॥[1]

'बलीवर्द' के उपरान्त 'हिन्दी बंगवासी' में प्रकाशित 'मांसाहारी' को हंटर (१९००) छोड़कर द्विवेदी जी काव्य-क्षेत्र में खड़ी बोली की रचनाएँ ही प्रस्तुत करते रहे। इस सम्बन्ध में उनके निम्न सिद्धांत थे।

"कवि को ऐसी भाषा लिखनी चाहिये, जिससे सब कोई सहज में समझ ले और अर्थ को हृदयङ्गम कर सके।...यदि इस उद्देश्य ही की सफलता न हुई तो लिखना ही व्यर्थ हुआ। इसलिये क्लिष्ट की अपेक्षा सरल लिखना ही सब प्रकार वांछनीय है।...कविता लिखने में व्याकरण के नियमों की अवहेलना न करनी चाहिये। मुहावरे का भी विचार रखना चाहिये।...विषय के अनुकूल शब्द स्थापना करनी चाहिये।...रसायन सिद्ध करने में आँच के न्यूनाधिक होने से जैसे रस बिगड़ जाता है वैसे ही यथोचित शब्दों का उपयोग न करने से काव्य रूपी रस भी बिगड़ जाता है।......गद्य और पद्य की भाषा पृथक्-पृथक् न होनी चाहिये।"[2]

---

१. महावीर प्रसाद द्विवेदी, 'द्विवेदी काव्य-माला', बलीवर्द, पृ० २७५ (इं० प्रेस)।
२. " " रसज्ञ रंजन, 'कवि कर्तव्य' के अन्तर्गत (भाषा) साहित्य रत्न भंडार, आगरा।

काव्य की भाषा के सम्बन्ध में उपर्युक्त अंशों से सभी सहमत हो सकते हैं; क्योंकि जो कुछ लिखा जाता है इसी अभिप्राय से लिखा जाता है कि रचना में सन्निविष्ट भाव दूसरे समझ लें। यदि इस उद्देश्य की सफलता न हुई तो लिखना ही व्यर्थ हुआ।

द्विवेदी जी ने सदैव ही शुद्ध व्याकरण-सम्मत भाषा लिखने का आग्रह किया। वह स्वयं इस मार्ग के साधक थे। उनके द्वारा भाषा प्रांजल भी बनाई गई। खड़ी बोली के उनके प्रारम्भिक काव्य में जो शैथिल्य भी था वह दूर हो गया। विशुद्धता के मापदण्ड को अपनाने के कारण द्विवेदी जी को काव्य में उपर्युक्त छन्दों के सम्बन्ध में भी नये अभ्यास करने पड़े थे। खड़ी बोली के प्रोत्साहन स्वरूप उर्दू मिश्रित हिन्दी अथवा उर्दू छन्दों में ही हिन्दी के प्रयोग भारतेन्दु-युग ही से मिलने लगे थे। उर्दू के छन्दों में द्विवेदी-युग में भी रचनाएँ प्रस्तुत हो रही थीं :—

चार डग हमने भरे तो क्या किया,
है यहाँ मैदान कोसों का अभी।
काम जो हैं आज के दिन तक हुये,
हैं न होने के बराबर वे सभी ॥ (हरिऔध)

(नागरी प्रचारिणी सभा के भवन-प्रवेश के समारोह में पठित)

न बीबी बहुत जी में घबराइये,
सँभलिये जरा होश में आइये।
कहो क्या पड़ी तुमपै उफ्ताद है,
सुनाओ मुझे कैसी फरियाद है।[1]

उर्दू-पद्धति पर लिखी जाने वाली कविताओं के यह दो रूप अभी तक प्रचलित थे; किन्तु इनमें वर्णसंकरता का रूप विद्यमान था। लावनी आदि जैसे प्रचलित जन-गीत में खड़ी बोली का विशुद्ध रूप अवश्य सुरक्षित था। आचार्य द्विवेदी जी ने खड़ी बोली को प्रशस्त चौराहे पर खड़ा करने के लिये संस्कृत-वृत्तों को स्वयं अपनाया और दूसरों को अपनाने के लिये प्रेरणा भी दी।

बिना याचना के जो कोई स्वयं सलिल ले आता था।
सरस शशी का किरण-जाल जो यथा समय मिल जाता था ॥

---

१. बालमुकुन्द गुप्त, 'उर्दू को उत्तर', 'कविता कौमुदी', भाग २, पृष्ठ २०६ (१६००)।

उसे छोड़ कर शैल सुता ने और न कुछ मुख में डाला।
वृक्षों के समान, आकाशी-वृत्ति-व्रत उसने पाला ।।
(आचार्य द्विवेदी—'कुमारसम्भव-सार')

इस परम्परापालन में हरिऔध जी क्लिष्ट हो गये हैं।

सद्वस्त्रा-सद्लंकृता-गुणयुता - सर्वत्र-सम्मानिता।
रोगी वृद्ध जनोपकार-निरता सच्छास्त्र चिन्तापरा ।।
सद्भावतिरता अनन्य हृदया सत्प्रेम-संपोषिका।
राधा थीं सुमना प्रसन्न वदना स्त्री जाति रत्नोपमा ।।
(हरिऔध—'प्रिय प्रवास')

द्विवेदी-युग की भाषा अपेक्षाकृत कृत्रिम हो गई। उसमें वैसी सरलता तथा प्रासादिकता नहीं रह गई जैसी श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावादी कृतियों के मध्य में थी।

काव्य की स्वच्छन्दतावादी प्रगति में लोक-भाषा आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। सच तो यह है—जब तक जन-समाज के विषय जन-भाषा की स्वाभाविक अभिव्यंजना पर आधारित हैं, तब तक स्वच्छंदवादिता सप्राण है। अन्यथा भाषा में कृत्रिमता, अस्वाभाविकता और आलंकारिकता के समावेश से काव्य की स्वच्छन्दता पर पटाक्षेप पड़ जावेगा।

'भारतेन्दु-युग' की अपेक्षा 'द्विवेदी-युग' में भाषा की गठन और विशुद्धता का विशेष आग्रह होने के कारण स्वच्छन्दवादिता का पथ अवरुद्ध हो उठा, जिससे भारतेन्दु-युग की अभिप्रेरित स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति में एक सामयिक व्यवधान उपस्थित हो गया।

स्वच्छन्दवादिता के प्रतिरोधी शास्त्रीय तत्व

२. छन्द के विधान में

विषय और भाषा के समान ही 'भारतेन्दु-युग' के छन्द-विधान में भी परिवर्तन प्रस्तुत हो चुके थे। वीरगाथा एवं भक्तिकाल के चिर प्रचलित छन्दों का सफल प्रयोग करते हुए भी भारतेन्दु जी ने बंगला के 'पयार' एवं खड़ी बोली तथा उर्दू में फ़ारसी की 'बहरों', 'गजलों' एवं 'लावनी' छन्दों में कविताएँ की थीं। चौधरी बदरीनारायण 'प्रेमघन' ने भी भारतेन्दु जी के समान ही भक्ति-काल की पद-शैली को अपनाया; किन्तु उनके द्वारा गेय काव्य तत्कालीन

किसी कवि से परिमाण में अधिक रचा गया। संगीत की प्रचलित राग-रागनियों (गजल, ठुमरी, खिमटा एवं पंजाबी-प्यार आदि) में उन्होंने गेय काव्य की रचना की, साथ में जन-गीतों (लावनी, कजली, होली, कबीर आदि) में कविता करके वह लोक-भूमि पर भी उतर आये। जन-गीतों को काव्य का आधार बनाना वस्तुतः काव्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति थी।

छन्द और भाषा-विषयक इस स्वच्छन्दवादिता का विरोध पं० श्रीधर पाठक के प्रतिवाद में पं० प्रतापनारायण मिश्र एवं पं० राधाचरण गोस्वामी ने किया था। प्रतापनारायण मिश्र का छन्द-विधान के सम्बन्ध में निम्न कथन था—

"खड़ी बोली में फ़ारसी छन्दों के सिवाय कोई छन्द बनाइये तो जान पड़े कि हमारी खेलती-कूदती बोली (ब्रजभाषा) के आगे आपकी खड़ी बोली एक मिनट खड़ी रहेगी। यदि इन्साफ कोई वस्तु है तो उसका ध्यान करके कहिये कि जो भाषा लाखों छन्दों में से इक्कीस व बाइस छन्दों में काम आ सकती है उस भाषा को कौन बुद्धिमान् हिन्दी कविता के योग्य कह सकता है।"[१]

राधाचरण गोस्वामी का छन्दों के विषय में यह दृष्टिकोण था—

"अब इस प्रकार की भाषा में छन्द रचना करने में कई आपत्ति हैं। प्रथम तो मात्रा के कवित्त, सवैये आदि छन्दों में ऐसी भाषा का निर्वाह नहीं हो सकता और यदि किया भी जाता है तो बहुत भद्दा मालूम होता है। तब भाषा के प्रसिद्ध छन्द को छोड़कर उर्दू के बेत, शैर, गज़ल आदि का अनुकरण करना पड़ता है।"[२]

उपर्युक्त के सम्बन्ध में पं० श्रीधर पाठक का यह विश्वास था—"घनाक्षरी, सवैया इत्यादि के अतिरिक्त अनेकों छन्द ऐसे हैं कि जिनमें खड़ी बोली की कविता बिना कठिनाई और बड़ी सुघराई के साथ आ सकती है।"[३]

'भारतेन्दु-युग' में लावनी तथा अन्य जन-गीतों में रचना हो रही थी। स्वयं उसी परम्परा-पालन में श्रीधर पाठक ने 'एकान्तवासी योगी' का लावनी छन्द में सफल अनुवाद किया था। पाठक जी इस छन्द में विशुद्ध खड़ी बोली प्रयोग कर सकने के कारण अन्य लावनी रचयिताओं से अधिक मौलिक सिद्ध हुए।

"भारतेन्दु काल की संध्या अर्थात् उन्नीसवीं शताब्दी (ई०) के अन्तिम चरण

१. हिन्दुस्थान, दिसम्बर १८८७।
२. हिन्दुस्थान, नवम्बर १८८६।
३. हिन्दुस्थान, २० दिसम्बर १८८७।

में एक नई प्रवृत्ति का प्रादुर्भाव हुआ था। वह थी संस्कृत वृत्तों (वर्णिक छन्दों) का नवोत्थान।"[१]

इस नवोत्थान के विषय में 'नई धारा' के प्रथम उत्थान के अन्तर्गत आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने इङ्गित किया है।

"मैं समझता हूँ कि हिन्दी साहित्य के आधुनिक काल में संस्कृत वृत्तों में खड़ी बोली के कुछ पद्य पहले पहल मिश्र जी (चम्पारन निवासी पं० चंद्रशेखर मिश्र) ने ही लिखे।"[२]

इसी परम्परा-पालन में श्रीधर पाठक ने कालिदास के 'ऋतुसंहार' का बड़ा ही ललित एवं मधुर अनुवाद प्रस्तुत किया। संस्कृत-वृत्त अन्त्यानुप्रास विहीन होते हैं। कालिदास विरचित 'ऋतुसंहार' के द्वितीय सर्ग के अन्तर्गत पावस का इस प्रकार से वर्णन है—

> **विलोचनेन्दीवरवारि विन्दुभि**
> **निषिक्त बिम्बाधर चारुपल्लवाः।**
> **निरस्तमाल्याभरणानुलेपनाः**
> **स्थिता निराशाः प्रमदा प्रवासिनाम्॥**

उपर्युक्त का श्रीधर पाठक ने इस प्रकार अनुवाद किया—

> **नीले सरोज से नैनन सों,**
> **अँसुआन की बूँदन को झर लावति।**
> **बिम्ब से होंठन के सुठि पल्लव**
> **सींचि तिन्हैं तिनसों अन्हवावति।**
> **छाँड़ि दियो है सिंगार सबै,**
> **नहिं धारति माल न गन्ध लगावति।**
> **छाये विदेस पिया जिनके,**
> **तिया पावस सो ह्वै निरास बितावति॥**[३]

स्वयं आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कालिदास के 'ऋतुसंहार' के समान

---

१. डा० सुधीन्द्र, 'हिन्दी कविता में युगान्तर', पृष्ठ ८७।
२. श्री रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', पृष्ठ ५८६।
३. श्रीधर पाठक—'मनोविनोद', द्वितीय खण्ड, पृष्ठ २१ (रामदयाल अग्रवाल, प्रयाग १६०५ ई०)।

ही 'ऋतुतरंगिणी' लिखी है, जिसमें यत्र-तत्र ऋतुसंहार के भावों का आधार लिया गया है। इसकी भूमिका में द्विवेदी जी ने लिखा है—

"देवनागरी भाषा के काव्यों की पुस्तक मालिका में जहाँ तक मेरे अवलोकन में आया है, विशेष करके दोहा, चौपाई, सोरठा, गीतिका, कवित्त, (घनाक्षरी), सवैया इत्यादि साधारण मात्रा वृत्तों के अतिरिक्त गणात्मक वृत्तों का बहुत ही कम उपयोग किया गया है। कहीं-कहीं भुजंगप्रयात, तोटकादि छन्द दीख पड़ते हैं; परन्तु ऐसी तो कदाचित् ही कोई पुस्तक होगी जिसमें आद्योपान्त संस्कृत योग्य (गण-वृत्त) छन्दों में ही काव्य-कथन हुआ हो। हाँ, कविवर केशवदास जी ने अपनी रामचन्द्रिका में अनेक गणात्मक छन्दों का प्रयोग किया है।"[1]

इसके अतिरिक्त द्विवेदी जी मराठी काव्य के गणात्मक छन्दों से भी प्रेरित हुए हैं। उन्होंने ऋतुतरंगिणी के अतिरिक्त बिहार-वाटिका (१८९०), महिम्न स्तोत्र (१८९१), श्री गंगालहरी (१८९१), देवी-स्तुति-शतक (१८९२); संस्कृत की रचनाएँ शिवाष्टक, प्रभात-वर्णनम्, कान्यकुब्ज लीलामृतम्, समाचारपत्र-सम्पादक-स्तवः, सूर्य-ग्रहणम, मेघमाला, आदि तथा खड़ी बोली की कितनी ही रचनाएँ संस्कृत-वृत्तों में की हैं। संस्कृत-वृत्तों के गणात्मक सिद्धान्तों का पालन करते हुए भी द्विवेदी जी ने काव्य को तुकान्त ही रखा है—

सवारि जीमूत मतंग मान
सुरेन्द्र-चापायुध बुन्द बान।
सशस्त्र देशेश्वर सो सुहायो,
विलोकियो पावस काल आयो॥[2]

द्विवेदी जी की पंक्तियाँ 'वंशस्थ' संस्कृत-वृत्त में रची गई हैं। ये पंक्तियाँ काव्य के निर्वाह में अवश्य निराश करती है; किन्तु हिन्दी-काव्य में संस्कृत-वृत्त संबंधी परम्परा के सूत्रपात और प्रगति में आदर्श हैं। द्विवेदी जी का यह छन्द केवल छन्द के लिये है, जब कि श्रीधर पाठक के ऋतुसंहार के अनूदित अंश भारतेन्दु-युगीन

---

१. **'द्विवेदी-काव्य-माला'—प्रथम संस्करण १९४०, पृष्ठ ७७ (इण्डियन प्रेस, प्रयाग)।**

२. **आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—'द्विवेदी-काव्य-माला', ऋतुतरंगिणी, वर्षावर्णन, पृष्ठ ८५।**

स्वच्छन्दतावादी धारा के मेल में ठीक बैठ जाते हैं। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी की शास्त्रीय भावना ही व्यवधान प्रस्तुत करती है।

छन्द-पद्धति के सम्बन्ध में द्विवेदी जी के विचार भी विचारणीय हैं।

"दोहा, चौपाई, सोरठा, घनाक्षरी, छप्पय और सवैया आदि का प्रयोग हिन्दी में बहुत हो चुका। कवियों को चाहिए कि यदि वे लिख सकते हैं तो इन के अतिरिक्त और भी छन्द लिखा करें। × × × इनके साथ-साथ संस्कृत-काव्यों में प्रयोग किये गये वृत्तों में से द्रुतविलंबित, वंशस्थ, वसन्ततिलका आदि वृत्त ऐसे हैं जिनका प्रचार हिन्दी में होने से हिन्दी-काव्य की विशेष शोभा बढ़ेगी। × × × पादान्त में अनुप्रास-हीन छन्द भी हिन्दी में लिखे जाने चाहिये। × × × संस्कृत ही हिन्दी की माता है। संस्कृत का सारा कविता-साहित्य इस तुकान्तवाद के बखेड़े से वहिर्गत-सा है। अतएव इस विषय में यदि हम संस्कृत का अनुकरण करें तो सफलता की पूरी-पूरी आशा है।"[1]

श्रीधर पाठक एवं द्विवेदी जी के संस्कृत-वृत्तों के अनुकरण पर रचना करने पर भी अन्त्यानुप्रास के प्रति उनका विशेष अनुराग है। इसके अतिरिक्त द्विवेदी-युग में गण-वृत्तों के आधार पर रचना करने वाले मैथिलीशरण गुप्त, रामचरित उपाध्याय एवं लोचनप्रसाद पाण्डेय आदि ने भी इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी का ही अनुकरण किया है।

अन्त्यानुप्रास के बखेड़े को अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' ने 'प्रिय प्रवास' में तोड़ा है, उन्होंने संस्कृत-वृत्तों का अपने काव्य में सफल प्रयोग किया—

दिवस का अवसान समीप था,
गगन था कुछ लोहित हो चला।
तरु-शिखा पर अब थी राजती,
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा॥

* * * *

कलित-किरण-माला बिम्ब सौंदर्यशाली।
सुगगन तल-शोभी दिव्य छायापती का॥
छविमय करती थी दर्शकों के दृगों को,
जब रवि-तनया ले अंक में क्रीड़ती थी॥[2]

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'रसज्ञ रंजन', कवि-कर्त्तव्य, (साहित्य रत्न भण्डार, आगरा)

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध—'प्रिय प्रवास'।

हरिऔध जी का प्रथम छन्द 'द्रुतविलम्बित' एवं द्वितीय 'मालिनी' छन्द में लिखा गया है। इसके अतिरिक्त उनके द्वारा संस्कृत के अन्य वृत्त भी अपनाये गये हैं। इनमें से प्रमुख ये हैं—वंशस्थ, मंदाक्रान्ता, शार्दूलविक्रीड़ित, शिखरणी, वसन्ततिलका आदि। इस परिपाटी पर रामचरित उपाध्याय जी ने भी 'रामचरित चिन्तामणि' की रचना प्रस्तुत की थी—

कुशल से रहना यदि है तुम्हें,
दनुज, तो फिर गर्व न कीजिये।
शरण में गिरिये रघुनाथ के,
निबल के बल केवल राम हैं॥[1]

इस प्रकार संस्कृत-वृत्तों के आधार पर रचना करने की परंपरा का पालन द्विवेदी-युग की प्रमुख प्रवृत्ति रही है। हाँ, भारतेन्दु-युग में उर्दू छन्दों के प्रयोग की जो परम्परा चली थी वह अब भी चली आ रही थी। अयोध्यासिंह उपाध्याय, सनेही, लाला भगवानदीन, माखनलाल चतुर्वेदी ने उर्दू के वृत्तों में रचनाएँ कीं और वे समय-समय पर 'सरस्वती' एवं 'मर्यादा' आदि में स्थान पाती रहीं।

'द्विवेदी-युग' की काव्य-विषयक प्रगति पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग का एक विकसित युग ही है। आलोच्य-विषय का जहाँ तक सम्बन्ध है उसके विषय में यह स्पष्ट है कि नवीन छन्दों का सृजन नहीं हो सका। जो परिपाटियाँ एवं प्रवृत्तियाँ चल रही थीं उन्हीं को विकसित करने का प्रयास किया गया। फलत: पदावली में परिष्कार किये गये और शब्दों को विशुद्ध रूप में ही लिखने का प्रयास किया गया। संस्कृत-वृत्तों को अपनाने से यह अवश्य हुआ कि गणात्मक परिपाटी के कारण विशुद्ध शब्द प्रयुक्त हुए। साथ में यह भी विचारणीय है कि 'भारतेन्दु-युग' की लावनी, कजली, कबीर आदि लोक-गीतों की परिपाटी, जिसमें स्वच्छन्दवादिता की प्रेरणा विद्यमान थी, जहाँ की तहाँ रह गई। इस प्रकार स्वच्छन्दवादिता का ह्रास हो उठा और भाषा के निर्माण एवं प्रचलित छन्दों के प्रयोग के कारण शास्त्रीय भावना ने छन्द-शास्त्र की स्वच्छन्द भावना को ग्रहण लगा दिया।

* * * *

१. रामचरित उपाध्याय—'रामचरित चिन्तामणि'।

स्वच्छन्दवादिता के प्रतिरोधी शास्त्रीय तत्व

३. विषयों के क्षेत्र में

'भारतेन्दु-युग' में विषयों के क्षेत्र में परिवर्तन अवश्य प्रस्तुत हो चुके थे; किन्तु कवि अपनी सीमा के बाहर न जा सका था। इससे उसने अपने चतुर्दिक के विषयों के प्रयोग में ही प्रधानता रखी; किन्तु 'द्विवेदी-युग' में मानव अधिक बौद्धिक हो गया था। फलतः इस युग में विषयों के क्षेत्र में वर्णनातीत परिवर्तन घटित हुए।

युग-नियामक आचार्य द्विवेदी ने कवि-वर्ग को सीमित विषयों में पिष्टपेषण करते देखकर उसे संकीर्ण सीमा से उन्मुक्त किया और व्यापक-क्षेत्र में लाकर खड़ा कर दिया। इस सम्बन्ध में उनकी निम्न विचारधाराएँ थीं—

"कविता का विषय मनोरंजन एवं उपदेश-जनक होना चाहिए। यमुना के किनारे केलि-कौतूहल का अद्भुत-अद्भुत वर्णन बहुत हो चुका। न परकीयाओं पर प्रबन्ध लिखने की अब कोई आवश्यकता है और न स्वकीयाओं के 'गतागत' की पहेली बुझाने की। चींटी से लेकर हाथी पर्यन्त, भिक्षुक से लेकर राजा पर्यन्त मनुष्य, बिन्दु से लेकर समुद्र पर्यन्त जल, अनन्त आकाश, अनन्त पृथ्वी, अनन्त पर्वत—सभी पर कविता हो सकती है। सभी से उपदेश मिल सकता है और सभी के वर्णन से मनोरंजन मिल सकता है। × × × यदि मेघनाद वध अथवा यशवन्तराय महाकाव्य वे नहीं लिख सकते तो उनको ईश्वर की निस्सीम सृष्टि में से छोटे-छोटे सजीव अथवा निर्जीव पदार्थों को चुनकर उन्हीं पर छोटी-छोटी कविताएँ करनी चाहिये। × × × कवि को यदि बड़ी न हो सके तो छोटी ही छोटी स्वतन्त्र कविता करनी चाहिए क्योंकि इस प्रकार की कविताओं का हिन्दी में अभाव है।"[1]

१९०३ ई० में 'सरस्वती'-सम्पादन के कार्य-भार का उत्तरदायित्व आने पर आचार्य द्विवेदी जी ने उपर्युक्त विचारधारा हिन्दी अनुरागियों तक पहुँचाई। कवि साहसिक बने और उन्होंने अपनी भावनाओं को विश्व के प्रत्येक पदार्थ से सप्राण कर उन्हें काव्य का विषय बनाया। 'सरस्वती', जो अपने समय की सर्वश्रेष्ठ हिन्दी की प्रतिनिधि पत्रिका थी, प्रकाशन के लिये काफ़ी सामग्री नहीं

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—'रसज्ञ रंजन', कवि-कर्त्तव्य (साहित्य रत्न भण्डार, आगरा)।

पाती थी। फलतः 'सरस्वती' की विनय अपने अभाव की पूर्ति के लिए इस प्रकार सुनाई पड़ी।

यद्यपि वेश सदैव मनोमोहक धरती हूँ,
वचनों की बहु भाँति रुचिर रचना करती हूँ।
उदर हेतु मैं अन्न नहीं तिस पर पाती हूँ,
हाय हाय आजन्म दुःख सहती आती हूँ॥

* * * *

उन्नति उन्नति उच्च सदा जो चिल्लाते हैं,
मुझ में विविध प्रकार न्यूनता बतलाते हैं।
उनसे विनय विनीत यही मेरी, मन लावें,
भूखे भक्ति विशेष वही करके दिखलावें।[1]

हिन्दी-साहित्य में मौलिक रचनाएँ उस समय बहुत कम थीं, जिससे साहित्य बड़ा ही क्षीणकाय था। द्विवेदी जी कवि और लेखक-वर्ग को अपने-अपने क्षेत्र में अग्रसर करने के लिये केवल प्रोत्साहन ही न दे रहे थे; किन्तु आदर्श स्वरूप काव्य और निबन्ध हिन्दी-विश्व के समक्ष प्रस्तुत भी कर रहे थे। मराठी और बंगाली के सम्पन्न साहित्य से उनका परिचय था। उनमें प्रयुक्त काव्य-प्रणालियों का हिन्दी-काव्य में उनके द्वारा प्रचार किया गया। अंग्रेजी औरसंस्कृत-साहित्य से वे पूर्ण अवगत थे, जिससे आचार्य द्विवेदी जी का कथन था कि हिन्दी का कवि-वर्ग इन भाषाओं के साहित्य और भावनाओं से अपनी मातृभाषा को सम्पन्न करे और गौरवान्वित बनावे।

इँग्लिश का ग्रंथ-समूह बहुत भारी है।
अति विस्तृत-जलधि समान देहधारी है॥
संस्कृत भी सबके लिये सौख्यकारी है।
उसका भी ज्ञानागार हृदय हारी है॥
इन दोनों में से अर्थ-रत्न ले लीजै।
हिन्दी के अर्पण उन्हें प्रेमयुत कीजै॥
वह माता-सम सब भाँति स्नेह अधिकारी।
इतनी ही विनती आज विनम्र हमारी॥[2]

---

१. 'सरस्वती,' फरवरी-मार्च, १९०३।
२. 'सरस्वती,' फरवरी, १९०५।

साहित्य के प्रत्येक क्षेत्र को आचार्य द्विवेदी ने अपने रचनात्मक प्रयास से परिपूर्ण किया। उन्होंने स्वयं लिखा और दूसरों को भी लिखने की प्रेरणाएँ दीं।

"जो कुछ कार्य द्विवेदी जी ने किया वह अनुवाद का हो, काव्य-रचना का हो, आलोचना का हो, अथवा भाषा-संस्कार का हो या केवल साहित्यिक नेतृत्व का ही हो, वह स्थायी महत्व का हो या अस्थायी—हिन्दी में युग-विशेष के परिवर्तन और निर्माण में सहायक हुआ है। उसका ऐतिहासिक महत्व है। उसीके आधार पर नवीन युग का साहित्यिक प्रासाद खड़ा किया जा सका है।"[1]

द्विवेदी-युग की काव्य-प्रगति हम निम्न धाराओं में प्रवाहित होते देखते हैं (१) मानवीय अथवा आख्यान-प्रधान,(२) सामाजिक, (३) राष्ट्रीय,(४) प्राकृतिक आदि।

१—मानवीय अथवा आख्यान-प्रधान

भारतीय सदैव से भावुक रहे हैं और भावनाओं का उन्होंने सदैव ही सम्मान किया है। इसीसे विभूतियों से लेकर ईश्वर की कोटि में आने वाले अवतारों तक सभी उनके श्रद्धा-भाजन रहे हैं। आदर्श-प्रधान इन कथानकों के होने के कारण कवि सामयिक और समाजगत भावनाओं को इन चरित्रों में समन्वित कर लेता है, जिससे यह चरित्र हमें अपने जीवन से अभिन्न प्रतीत होते हैं और रचना में सन्निहित आदर्श हमें लोक-प्रगति के लिये पग-पग पर आश्वासन और उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

राम और कृष्ण के शास्त्रीय चरित्र भारतीय जीवन में इतने घुल-मिल गये हैं कि आदि-युग से लेकर आज तक उनसे भारतीय प्राण-प्रतिष्ठा प्राप्त करते रहे हैं। महर्षि वाल्मीकि की रामायण के 'राम' तथा महर्षि वेदव्यास के महाभारत के 'कृष्ण' अपने आदि रूप में मानव ही थे; किन्तु पौराणिक युग में उनमें ईश्वरीय गुण आँके गये। अनन्तर भक्तिकाल में आकर वे ईश्वर के अवतार ही मान लिये गये। राम की मर्यादा तथा कृष्ण की प्रेम-माधुरी ने जनता-जनार्दन का बड़ा ही हित किया।

द्विवेदी-युग में हरिऔध जी ने खड़ी बोली में संस्कृत-वृत्तों में आधुनिक काल का महाकाव्य 'प्रिय प्रवास' लिखा है। कृष्ण का चरित्र हरिऔध जी के दृष्टि-

---

१. श्री नन्ददुलारे वाजपेयी, 'हिन्दी साहित्य : बीसवी शताब्दी', श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी, पृष्ठ ३ (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) प्र० संस्करण।

कोण से महापुरुष के रूप में ही अंकित किया गया है। ब्रह्म के रूप में नहीं। काव्य के नायक एवं नायिका कृष्ण एवं राधा दोनों ही समाज-सेवक एवं समाज-सेविका के रूप में चित्रित हैं। गोप और ग्वाले कृष्ण के सम्बंध में उद्धव से निवेदन करते हैं—

विचित्र ऐसे गुण हैं ब्रजेन्द्र में,
स्वभाव ऐसा उनका अपूर्व है।
निबद्ध-सी है जिनमें नितांत ही,
ब्रजानुरागी जन की विमुग्धता।।

* * *

अनूप जैसा घन-श्याम-रूप है।
तथैव वाणी उनकी रसाल है।
निकेत वे हैं गुण के, विनीत हैं,
विशेष होगी उनमें न प्रीति क्यों ?[1]

समाज-सेविका के रूप में राधा का चरित्र भी 'प्रिय-प्रवास' में बड़ा ही मधुर एवं शिष्ट बन पड़ा है।

आराध्या थीं ब्रज-अवनि की, प्रेमिका विश्व की थीं।

'प्रिय प्रवास' में मानवता एवं सेवा-भावना की पूर्ण रक्षा हुई है। वस्तुतः 'प्रिय प्रवास' द्विवेदी-युग का एक सबल स्तम्भ है, जिसमें द्विवेदी जी के काव्य-विषयक सभी उद्देश्य पूर्ण हुए।

'प्रिय प्रवास' के समान ही 'साकेत' भी द्विवेदी-युग का महत्वपूर्ण काव्य है। यद्यपि उसकी समाप्ति १९३१ ई० में हुई; किन्तु कवि के कथनानुसार इसकी रचना १५-१६ वर्ष पहले प्रारम्भ हो चुकी थी। इसीसे 'साकेत' भी हमारी विवेचना का विषय है।

साकेत के 'निवेदन' में ही कवि को "आचार्य पूज्य द्विवेदी जी महाराज के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करना मानो उनकी कृपा का मूल्य निर्धारित करने की ढिठाई करना है"—कहना पड़ा है। वस्तुतः 'साकेत' के सृजन में आचार्य द्विवेदी का गुप्त जी पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। उर्मिला तथा काव्य की अन्य उपेक्षिता नायिकाओं को लेकर कवीन्द्र-रवीन्द्र ने 'काव्यों की उपेक्षिताएँ' और आचार्य द्विवेदीजी ने 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता' नामक निबन्ध लिखे

---

१. हरिऔध—'प्रिय प्रवास', एकादश सर्ग।

हैं। द्विवेदी जी के निबन्ध से गुप्त जी को अत्यधिक प्रेरणायें मिलीं। फलतः उन प्रेरणाओं के आधार-स्वरूप ही 'साकेत' इस रूप में हिन्दी-विश्व के समक्ष आ सका।

"हाय वाल्मीकि, जनकपुर में तुम उर्मिला को सिर्फ एक बार, वैवाहिक वधू-वेश में दिखाकर चुप हो बैठे। अयोध्या आने पर ससुराल में इसकी सुधि यदि आपको न आई थी तो न सही, पर क्या लक्ष्मण के वन-प्रयाण-समय में भी उसके दुखाश्रुमोचन करना आपको उचित न जँचा······अपने पति के परमाराध्य राम को राजसिंहासन पर आसीन देख उर्मिला को कितना आनन्द होता, इसका अनुमान क्या आपने नहीं किया ? हाय, वही उर्मिला एक घंटे बाद राम-जानकी के साथ निज पति को चौदह वर्ष के लिये वन जाते देख छिन्न-मूल शाखा की भाँति राज-सदन की एक एकान्त कोठरी में भूमि पर लोटती हुई क्या आपको नयनगोचर नहीं हुई ? फिर भी उसके लिये आपकी 'वचने दरिद्रता'।

"तुलसीदास जी ने भी उर्मिला पर अन्याय किया है। आपने भी इस विषय में आदि-कवि का ही अनुकरण किया है। 'नाना पुराणनिगमागम सम्मत' लेकर जब 'रामचरितमानस' की रचना करने की घोषणा की थी तब यहाँ पर आदि-काव्य के ही वचनों का आधार मानने की वैसी कोई जरूरत न थी। आपने भी चलते वक्त लक्ष्मण को उर्मिला से नहीं मिलने दिया। माता से मिलने के बाद झट कह दिया—

'गये लषण जँह जानकि-नाथा'

"आपके इष्टदेव के अनन्य सेवक 'लषण' पर इतनी सख्ती क्यों ? आपने कमण्डल के करुणा वारि का एक बूँद भी उर्मिला के लिये न रखा। सारा का कारा कमण्डल सीता को समर्पण कर दिया। एक ही चौपाई में उर्मिला की दशा का वर्णन कर देते। उर्मिला को जनकपुर से साकेत पहुंचाकर उसे एकदम ही भूल जाना अच्छा नहीं हुआ।"[1]

फलतः 'साकेत' महाकवियों के द्वारा उपेक्षित उर्मिला के चरित्र को प्रधानता देकर चला है। इससे साकेत में मौलिकता की उद्भावना भी हो सकी है।

'प्रिय प्रवास' एवं 'साकेत' दोनों महाकाव्यों में अनेकों नवीन आदर्श जोड़े गये हैं। अभिनव जयदेव की राधा से हरिऔध की राधा कहीं अधिक कृती

---

१. आचार्य द्विवेदी—'रसज्ञ रंजन', 'कवियों की उर्मिला-विषयक उदासीनता।'

और सामाजिका हैं। 'साकेत' में उर्मिला भी कहीं अधिक मुखर और अयोध्या की मर्यादा पूर्ण परम्परा को तोड़ती हुई प्रतीत होती है। इस प्रकार के नवीन परिवर्तन आधुनिक समाज-सेवी नारी के रूप में प्रदर्शित होने के कारण विशेष हृदयग्राही हैं। इतने परिवर्तनों के समुपस्थित होने पर भी दोनों महाकाव्य ही भारत के अतीत के शास्त्रीय वातावरण से बोझिल हैं। राम और कृष्ण के चरित्र में वही आदर्शवादिता समाहित है जो त्रेता और द्वापर में है।

१६०० ई० में 'सरस्वती' पत्रिका के जन्म के साथ ही राजा रवि वर्मा और अनंतर ब्रजभूषणराय चौधरी एवं वामपदवन्द्योपाध्याय आदि के प्रत्येक अंक में पौराणिक चित्र निकलते थे। इन पौराणिक चित्रों पर द्विवेदी जी ने रचनाएँ कीं और नाथूराम शर्मा 'शंकर', लाला भगवानदीन एवं मैथिलीशरण गुप्त आदि से रचनाएँ कराईं। इस प्रकार चित्रकला एवं काव्य का सुन्दर समन्वय और सामंजस्य एक साथ ही हो उठा; जिसका पूर्ण श्रेय आचार्य द्विवेदी को है।

उपर्युक्त कलाकारों के चित्रों पर आचार्य द्विवेदी ने रम्भा, कुमुद सुन्दरी, महाश्वेता, इन्दिरा, ऊषास्वप्न, गौरी गंगा, भीष्म एवं प्रियंवदा; शंकर ने 'केरल की तारा' और वसन्त-सेना-विलास; गुप्त जी ने सलज्जा, गर्विता, मालती, सुकेशी, रत्नावली तथा रायदेवीप्रसाद पूर्ण ने 'रामचन्द्र जी का धनुर्विद्याशिक्षण', शकुन्तला जन्म, वामन आदि इतिवृत्तात्मक रचनाएँ प्रस्तुत कीं। 'उत्तरा से अभिमन्यु की विदा' नामक चित्र को ही मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ-वध'' प्रस्तुत करने का श्रेय है।

पौराणिक आख्यान-प्रधान काव्य-धारा के साथ-साथ ही ऐतिहासिक कथानकों की भी काव्य में परिणति हुई। पौराणिक कथाओं के समान ही इन कथाओं से भी वीरता, त्याग एवं धार्मिकता आदि के सबल प्रमाण उपलब्ध होते हैं। इस युग में प्रसाद द्वारा 'महाराणा का महत्व,' कामताप्रसाद गुरु द्वारा 'शिवाजी', 'वीरांगना', 'चाँदबीबी' और 'दुर्गावती' एवं लाला भगवानदीन द्वारा 'वीर पंचरत्न' एवं सियारामशरण द्वारा 'मौर्य-विजय' के ऐतिहासिक काव्य लिखे गये। इन काव्यों में देश-प्रेम, देश-भक्ति एवं त्याग के ज्वलन्त उदाहरण मिलते हैं।

'मौर्य-विजय' खण्डकाव्य के अन्तर्गत भारतीय वीरता एवं सांस्कृतिक महत्ता का सफल दिग्दर्शन है—

साक्षी है इतिहास, हमीं पहले जागे हैं।
जाग्रत सब हो रहे हमारे ही आगे हैं॥
शत्रु हमारे कहाँ नहीं भय से भागे हैं।
कायरता से कहाँ प्राण हमने त्यागे हैं॥
हैं हमीं प्रकम्पित कर चुके सुरपति का भी हृदय।
फिर एक बार हे विश्व! तुम गाओ भारत की विजय॥[1]

उपर्युक्त परम्परा के पालन में मैथिलीशरण गुप्त ने भी 'रंग में भंग', 'बक-संहार' एवं 'वन-वैभव' आदि रचनाएँ प्रस्तुत कीं। इनमें भी ऐतिहासिक कथानकों के साथ आदर्शों का समन्वय कर दिया गया है।

ब्रजभाषा पृष्ठभूमि में जाने का सम्भार कर रही थी और खड़ी बोली गिरती-पड़ती खड़े होने का। नवीन भाषा के क्षेत्र में उसे बलवती बनाने के लिये इतिवृत्तात्मक काव्य आवश्यक भी थे। कथानक के आधार पर चलता हुआ काव्य अपने में विशिष्ट प्रवाह रखने के कारण सजीव हो जाता है और जनता उसे अपनाने में आनन्द का अनुभव भी करती है। इस प्रकार के परम्परागत विषयों पर रचित शास्त्रीय काव्य की प्रगति से स्वच्छन्दतावादी धारा, जिसका बीज-वपन 'भारतेन्दु-युग' में हुआ था, दब गई और उसकी प्रगति में व्यवधान उपस्थित हो गया।

२—सामाजिक काव्य

धार्मिक क्षेत्र में आर्य-समाज की स्थापना से सनातन-धर्म की आलोचना-प्रत्यालोचना तथा उसके दूषित प्रभावों का भी उल्लेख किया जा रहा था। 'द्विवेदी-युग' में आकर उपर्युक्त सभी शान्त हो गया था। सामाजिक क्षेत्र में किसी भी प्रकार की अशान्ति और अस्त-व्यस्तता न थी; किन्तु राष्ट्रीय आन्दोलन की प्रगति से समाज परतन्त्रता की बुराइयों को समझ गया था और हृदय से उसे उखाड़ फेंकने के प्रयास करता था।

देश, जो आदि काल से धन-धान्य से पूर्ण था, आज दरिद्रता और जीविका-भाव से जर्जरित और दुःखित था। सम्पूर्ण देश में उदासीनता और निराशाएँ छाई हुई थीं। दैव भी विपरीत था, जिससे दुर्भिक्ष पड़ रहे थे।

रहता प्रयोजन से प्रचुर पूरित जहाँ धन धान्य था।
जो 'स्वर्ण-भारत' नाम से संसार में सम्मान्य था।

---

१. सियारामशरण गुप्त, 'मौर्य-विजय'।

दारिद्रय दुर्धर अब वहाँ करता निरन्तर नृत्य है।
आजीविका अवलम्ब बहुधा भृत्य का ही कृत्य है।[1]

* * *

हैं एक मुट्ठी अन्न को वे द्वार-द्वार पुकारते।
कहते हुए कातर वचन सब ओर हाथ पसारते।
'दाता तुम्हारी जय रहे, हमको दया कर दीजियो।
माता, मरे, हा, हा, हमारी शीघ्र ही सुध लीजियो॥'[2]

देश की निर्धनता जब भारतीयों को पीड़ित कर रही थी, उस समय भी हमारे भारत के सम्पन्न सपूत अपने वस्त्राभूषणों के लिये विदेशियों पर आश्रित थे।

हजारों लोग भूखों मर रहे हैं,
पड़े वे आज या कल कर रहे हैं।
इधर तू मंजु मलमल ढूँढ़ता है,
न इससे और बढ़कर मूढ़ता है।
अरे भाई! अरे प्यारे! सुनो बात,
स्वदेशी वस्त्र से शोभित करो गात।
वृथा क्यों फूँकते हो देश का दाम,
करो मत और अपना नाम बदनाम।[3]

देश का अहित देशवासियों के समक्ष ही हो रहा था। इससे उनका हृदय आकुल क्यों न होता? इसीसे कवि-वर्ग की वाणियों में उपदेशात्मक भावना आजाना स्वाभाविक था। देश का दाम फुँक रहा था और भारतीयता के नाम पर कलंक आ रहा था—

यदि अभीष्ट तुम्हें निज सत्व है।
प्रिय तुम्हें यदि मान महत्व है॥
यदि तुम्हें रखना निज नाम है।
जगत में करना कुछ काम है॥

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, पृष्ठ ८७।
२. मैथिलीशरण गुप्त, भारत-भारती, पृष्ठ ८८।
३. महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार'—सरस्वती, जुलाई, १९०३।

मनुज तो श्रम से न डरो, उठो ।
पुरुष हो पुरुषार्थ करो, उठो ।।[१]

अपने अतीत के सम्मान और गौरव-गरिमा को संरक्षित रखने के लिये यह आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है कि हम पारस्परिक विद्वेषों को त्याग कर एकता के सूत्र में बँध जाँए और आवश्यक कला-कौशल सीखकर देश को उन्नत करें। कवि भारतीयों को तो उपदेश देते ही हैं; किन्तु आदि काल से आस्तिकता में विश्वास रखने के कारण वह ईश्वर से भी प्रार्थना करता है।

यह स्वार्थ-तम का पर्दा अब तो उठादे मोहन,
अब आत्म-त्याग-रवि की आभा दिखादे मोहन।
पूरब में फैल जावे शुभ देश-भक्ति-लाली,
सुसमीर-एकता अब तो चलादे मोहन।
मृदु प्रेम की सुरभि को पहुँचादे हर तरफ तू,
मन-पल्लवों में आशा-बूँदें बिछादे मोहन।
सद्भाव-पंकजों को अब तो जरा हँसादे,
जातीयता-नलिन का मुखड़ा खिलादे मोहन।[२]

सामाजिक कविता के सम्बन्ध में कवियों का ध्यान केवल उनकी बाह्य स्थिति की ओर ही नहीं गया, उन्होंने पारिवारिक स्थिति को भी देखा था। समाज में 'ठहरौनी' प्रथा के चलन से भारतीय नारी का महान अहित हो रहा था। बालिकाएँ जब अपने माता-पिता के धनाभाव के कारण सुयोग्य वरों को वरण नहीं कर पाती थीं तब उनके जीवन में सुख-शान्ति कहाँ ?

लड़के के विवाह में कहिये मोल-तोल क्यों करते हो।
इस काले कलंक को हा, हा, क्यों अपने सिर धरते हो ?
जिनके नहीं शक्ति देने की क्यों उनका धन हरते हो ?
चढ़कर उच्च सुयश-सीढ़ी पर क्यों इस भाँति उतरते हो ?[३]

निस्सन्देह भारत जैसे सभ्यता के उच्च आसन पर आसीन देश के मानवों के लिये यह लज्जा की बात है, जहाँ 'सुत' 'विक्रय की वस्तु' है।

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, स्वर्गीय संगीत—'सरस्वती' जन०, १९१४।
२. बदरीनाथ भट्ट—प्रार्थना—'सरस्वती' मार्च, १९०६।
३. महावीरप्रसाद द्विवेदी—ठहरौनी—'सरस्वती' नवम्बर, १९०६।

हमारे इस प्रकार के कुकृत्यों से हमारे पूर्व-पुरुषों की आत्माएँ क्या दुःखित न होती होंगी ?

देश में प्रसारित भ्रष्टाचार के कारण हमारे समाज में बाल-विवाह भी प्रचलित हो उठे थे, जिनसे समाज का अधःपतन होना स्वाभाविक था। बालक-बालिकाओं की शिक्षा-दीक्षा की व्यवस्था किये बिना ही विवाह-सूत्र में उनको बाँध देना कहाँ की बुद्धिमत्ता और न्याय था ?

कभी कभी गुड़िया-सी बचपन ही में ब्याही जाती हैं,
जिसके कारण ही अति दुःसह दुःख जन्म भर पाती हैं।
प्यारे पिता, बन्धु वर, तुम कब भला होश में आवोगे ?
कब हम दुखी दीन अबलाओं पर तुम दया दिखावोगे ?
पढ़े लिखे जो नहीं जिन्होंने शिक्षा नहीं कभी पाई,
उनके साथ बात तक करते सकुचाते हो हे भाई,
पर हम जो घर में ही रहतीं जिनसे सब सुख पाते हो,
उन्हें मूर्ख रखते क्यों तुम जरा नहीं शरमाते हो।[1]

बाल-विवाहों की कुप्रथा के कारण समाज में बाल-विधवाओं की संख्या बढ़ रही थी। युवती अवस्था में भी वैधव्य का स्वरूप समाज के लिये कलंक था।

प्रार्थना अब ईश की सब करहु कर जुग जोर।
दीनबन्धु सुदृष्टि कीजै बाल-विधवा ओर।[2]

जब भारतीय नारी का अस्तित्व देश और समाज के लिये इतना गरिमामय और महिमामय है तब वह क्या योंही सड़ने दी जाय, क्यों न उसके मानसिक विकास के लिये उसे सुरक्षित बनाया जाये। इस सम्बन्ध में महाकवि 'शंकर' यों विश्वस्त थे—

सुशीला बालिकाओं को लिखावेंगे-पढ़ावेंगे,
न कोरी कर्कशाओं को वृथा सोना गढ़ावेंगे।

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी—'कान्यकुब्ज अबला विलाप', सरस्वती, सितम्बर, १९०६।

२. श्रीधर पाठक—'बाल-विधवा', पृष्ठ ३२, 'मनोविनोद,' प्रथम आवृत्ति, १९१७ ई०।

प्रवीणा को प्रतिष्ठा के महाचल पर चढ़ावेंगे,
सती के सत्य की शोभा प्रशंसा से बढ़ावेंगे।
सुभद्रा देवियों को यों दया दानी दुलारेंगे,
बिगाड़ों को बिगाड़ेंगे, सुधारों को सुधारेंगे।[1]

'गो-वंश' का भी भारतीय समाज में सदैव ही मान्य स्थान रहा है। कृषि-प्रधान देश होने के कारण भारतीयों को बैलों की सदैव से ही आवश्यकता रही है। महाकवि शंकर का कथन है—

करेंगे प्यार जीवों पै न गौओं को कटावेंगे।[2]

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' भी भारतीय संस्कृति एवं परम्पराओं के पूर्ण अनुयायी थे। गो-वंश के रक्षण में वह देश का कल्याण और हित संरक्षित समझते हैं—

नर तुम हो अरु पुरुष सिंह हो बुध बलवन्त कहाओ,
मेरी रक्षा में फिर काहे कायरपना दिखाओ।
वीर का नाम घटाओ
ऐसी होरी को आगी लगाओ।
सरकारी कानून निबाहो नृपहि अपील सुनाओ,
मेरे रुधिर से हाय हिन्द की भूमि न लाल कराओ।
ऐसी होरी को बन्द कराओ,
ऐसी होरी को आगी लगाओ।
जो जग में मम दूध पिबैया मत उपकार भुलाओ,
है पूरण, अखंड यह नाता माता को अपनाओ।
विधाता को न खिझाओ—
ऐसी होरी को आगी लगाओ।[3]

'कान्ह तुम्हारी गैयाँ कहाँ गईं' शीर्षक से कवि ने बड़ी सहृदयता और भावुकता से गोरक्षक गोपाल का स्मरण किया है।

---

१. नाथूराम शर्मा शंकर—'शंकर सर्वस्व'—(प्रचण्ड प्रतिज्ञा) पृष्ठ ८७, (गयाप्रसाद एण्ड सन्स, आगरा) प्रथमावृत्ति, सम्वत् २००८।
२. " " " " पृष्ठ ८७।
३. राय देवीप्रसाद पूर्ण—'पूर्ण संग्रह', गोपुकार, पृष्ठ २८० (गंगा पुस्तक माला, लखनऊ)।

कहाँ गईं कान्ह ! तुम्हारी गैयाँ ? हाय माधव हाय,
हाय ! कहाँ जमुना की कूलें, कुञ्जन की घमछैयाँ,
कहाँ गईं कान्ह तुम्हारी गैयाँ ? हाय माधव हाय,

गो-वंश के समान ही किसान भी हमारे समाज का अभिन्न अंग है, उसी के प्रयासों का यह परिणाम है कि हमें अन्न और संसार की अन्य सुविधाएँ और सुख उपलब्ध होते हैं; किन्तु आज समाज की प्रगति का यह दुष्परिणाम है कि वही किसान दाने-दाने को तरसता है—

पाया हमने प्रभू कौन-सा त्रास नहीं है ?
क्या अब भी परिपूर्ण हमारा ह्रास नहीं है ?
मिला हमें क्या नहीं नरक का वास नहीं है ?
विष खाने के लिए टका भी पास नहीं है ।[1]

कृषक देश का अबोध और सरल प्राणी है । इसी से वह समाज के प्रवीण व्यक्तियों द्वारा ठगा जाता है । स्वार्थान्ध हो वे उसकी अशिक्षा एवं अन्य दुर्बलताओं से लाभ उठाते हैं । वह बेचारा कहीं का नहीं रह जाता है ।

रहा आठ मन तभी हुआ सत्ताइस मन अब,
बोलो भैया, कहो इसे भुगते हौ अब कब ।
बोला मैं, घर गाय भैंस जो कुछ है वह सब,
ले लीजै व्यौहरे आपका जी चाहै जब ।
बोले लाला ललकि अपन हरहा सब लाओ,
बैल छोड़िकै गाय भैंस सब हमें लगाओ ।[2]

*　　*　　*

भूँख भूँख चिल्लाय कभी बालक रोते हैं,
टुकड़े सौ-सौ हाय कलेजे के होते हैं ।
क्या दुखिया के पूत कभी सुख से सोते हैं ।
अश्रुधार से सदा वदन अपना धोते हैं ।
जब घर में कुछ न हो कहो कोई क्या राँधे ।
रहते सारा दिवस हाय योंही मुख बाँधे ।[3]

---

१. मैथिलीशरण गुप्त, 'किसान-प्रार्थना', (साहित्य सदन, चिरगाँव) ।
२. गयाप्रसाद शुक्ल सनेही, 'आर्तकृषक', पृष्ठ ३ ।
३. ,, ,, ,, पृष्ठ ७ ।

उपर्युक्त पंक्तियों में समाजगत प्रवृत्तियों का संक्षेप में विवेचन किया जा चुका है। इन परिस्थितियों की यदि हम भारतेन्दु-युगीन परिस्थितियों से तुलना करें तो यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं कि 'द्विवेदी-युग' में आकर यह परिस्थितियाँ पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त कर लेती हैं। इन सामाजिक कविताओं में सुधार की भावनाओं का पूर्ण समावेश है। कवि समाजगत दुर्बलताओं का उल्लेख करता हुआ मानव से सुधारों के लिये उपदेशात्मक कथन करता है और आस्था के कारण वह ईश्वर से भी सुधार प्रस्तुत करने के लिए अनुनय-विनय करता है। इस युग की कविताओं द्वारा समाज के विभिन्न अंगों का कारुणिक चित्रण हमारे नेत्रों के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है।

महर्षि दयानन्द सरस्वती के आर्य-समाज के संस्थापन से वर्णाश्रम धर्म की प्रगति में व्यवधान अवश्य प्रस्तुत हो गया; किन्तु भारतीय सदैव से धर्म-सहिष्णु रहे हैं। इससे धार्मिकों की विचारधाराओं का पर्यवसान भी ऐक्य की भावनाओं में ही होता है।

समाजगत कविताओं का पर्यवेक्षण करने से यह स्पष्ट है कि कवि स्थूल सामाजिक समस्याओं में उलझा हुआ इहलोक और परलोक बनाने की चिन्ता में कभी उपदेश देता है और कभी दुर्बलताओं का उल्लेख करता है। यह सब उसके नैतिक और मानसिक संस्थान के निर्माण में सहायक होने के लिये आदर्श स्वरूप प्रस्तुत किए गए हैं। काव्य में कहीं भी अस्थूल काल्पनिक भावनाएँ अथवा चित्रण उपलब्ध न होने के कारण स्वच्छन्दतावादी भावना का वास्तव में गला ही घुट गया।

३—राष्ट्रीय काव्य

राष्ट्रीय काव्य के सम्बन्ध में भी 'द्विवेदी-युग' में 'भारतेन्दु-युग' की अपेक्षा कहीं अधिक विकास एवं उत्कर्ष हुआ। विगत युग में कवि राष्ट्रीय कविता के सम्बन्ध में देश का पतन और उक्त प्रकार के पतन से निराश भारत के गौरवास्पद अतीत के गान आदि ही गाने में समर्थ हो सका था। उस समय तक राष्ट्रीय भावनाओं का बोध न होने के कारण उस क्षेत्र में सीमित भाव ही रहे। द्विवेदी-युग तक आते-आते जन-वर्ग राष्ट्रीय महत्ता को समझ चुका था। इस सम्बन्ध में आर्य-समाज एवं इण्डियन नेशनल कांग्रेस ने सांस्कृतिक एवं राजनीतिक राष्ट्रीय चेतना को प्रगति देने के लिए मानवीय सुषुप्त चेतना में क्रांति उपस्थित कर दी। इन संस्थाओं की प्रगति ने भारतीयों को स्वदेश और स्वयं निज की यथार्थ

स्थिति देखने और परखने की प्रेरणाएँ दीं। आर्य-समाज ने सनातन-धर्म के थोथे आडम्बर और कृत्रिम व्यवहारों पर आघात कर सम्प्रदायगत विद्वेष को विध्वंस किया और कांग्रेस ने उन्हीं भारतीयों को बन्धुत्व का अमर पाठ पढ़ाकर विदेशी शक्ति से लड़ने के लिये सबल किया। कांग्रेस ने हरिजन, किसान, विद्यार्थी एवं मजदूर-वर्ग को राष्ट्रीय युद्ध में अग्रसर होने के लिए उद्घोष किया। नौकरशाही की जड़ें हिल उठीं। अंग्रेज विदेशी था, इससे उसने ममता तक न दिखाई। यह मानवता के नाम खुली चुनौती थी। देशवासियों ने उस मानवता को यों ही निरादृत नहीं हो जाने दिया। हिन्दू-मुसलमान तथा अन्य समुदाय और वर्ग जिनमें विषमताओं के कारण अनैक्य था, देश के नाम पर एकता के सूत्र में बँध गए और शत्रु के स्वार्थ तथा खोखलेपन को पुनः-पुनः प्रमाणित कर अपने अस्तित्व को संरक्षित रखा।

भारत देश का सौन्दर्य और उसकी महत्ता विश्व की प्रतिस्पर्धा को जागरूक करती है। यह देश आर्यों की भूमि, देवताओं की भूमि और अवतारों की जन्म-स्थली होने के कारण सदैव से वन्द्य और गेय रही है। उसकी सभ्यता और विद्वत्ता विश्व के शीर्ष पर थी, उसके गान के लिए देश के सभी कवियों को प्रेरणाएँ मिली हैं।

श्रीधर पाठक ने उसकी गरिमा और महिमा का इस प्रकार गान किया है—

जय-जय प्यारा भारत देश,
जय-जय प्यारा जग से न्यारा।
शोभित सारा देश हमारा,
जगत-मुकुट जगदीश दुलारा।
जय सौभाग्य सुदेश,
जय-जय प्यारा भारत देश।

* * *

स्वर्गिक शीश-फूल पृथिवी का
प्रेम-मूल, प्रिय लोकत्रयी का
सुललित प्रकृति-नटी का टीका,

ज्यों निशि का राकेश ॥
जय-जय प्यारा भारत देश ॥[1]

गुप्त जी लोक-पावनी भारत-भूमि के लिये 'मेरी मातृभूमि' के अन्तर्गत कथन करते हैं—

ऊँचा ललाट जिसका हिमगिरि चमक रहा है।
सुवरन किरीट जिस पर आदित्य रख रहा है॥
साक्षात शिव की मूरति जो सब प्रकार उज्ज्वल।
बहता है जिसके सिर पर गंगा का नीर निर्मल॥
वह मातृभूमि मेरी वह पितृभूमि मेरी॥

इस प्रकार की अप्रतिम और अलौकिक भूमि पर जन्म लेने में ऐसा कौनसा व्यक्ति है, जिसे गर्व न होगा। इसी से रामनरेश त्रिपाठी के भी 'इस दिव्य देश में जन्म का हमें बहुत अभिमान है', की अनुभूति है।

भारतभूमि जैसी सर्वश्रेष्ठ भूमि जिसके प्रति देवताओं को भी आकर्षण रहा है, आज अंग्रेजों की बंदिनी है। इस विश्व के धरातल पर ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो इस देवोपम भूमि को इस प्रकार की कारुणिक स्थिति में रहने दे।

मुक्ति हेतु हे मातृभूमि हम तेरे पद आराधेंगे।
जिसमें तेरा हित साधन हो वही साधना साधेंगे॥
स्वार्थ और परमार्थ छोड़कर तुझसे लगन लगावेंगे।
तेरी सेवा करने को हम दौड़े दर-दर जायेंगे॥[2]

हमने जब इस भूमि पर जन्म लिया तो क्या हमारा यह पवित्र कर्तव्य नहीं हो जाता कि हम जो भी इस भूमि के लिये कर सकें, करें :—

जिस पर गिरकर उदर-दरी से जन्म लिया था।
जिसका खाकर अन्न सुधा सम नीर पिया था॥
जिससे हमको प्राप्त हुये सुख साधन पूरे।
जिस पर हुये समाप्त हमारे पूर्वज प्यारे॥
वह पुण्य भूमि भारत यही हम इसकी सन्तान हैं।
कर इसकी सेवा हृदय से पा सकते सम्मान हैं॥[3]

---

१. श्रीधर पाठक, 'देशगीत भारतगीत', पृष्ठ २६, (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ) १६२८।
२. सं०रामेश्वर प्रसाद,'राष्ट्रगीतावली', (राष्ट्रीय सदन, सीतापुर),१६७७ वि०।
३. रामनरेश त्रिपाठी—जन्मभूमि भारत 'सरस्वती', जनवरी, १६१४।

भारत को, जिसके इतने आभार हमारे ऊपर हैं, संरक्षण प्रदान करना और नष्ट होती हुई उसकी संस्कृति एवं सभ्यता को बचाना हमारा पावन कर्तव्य है। जब सभी का उद्देश्य एवं गंतव्य एक ही है, तब एकता की भावना भी परमावश्यक है।

जब सम्पूर्ण भारतीयों में अपने पूर्वजों के समान रक्त है और एक ही वातावरण तथा संस्कृति ने सभी को पल्लवित किया है तब उनके मध्य में किसी भी प्रकार की विचार-विषमता अशोभनीय ही है। इसी से राष्ट्र के नाम पर इस समय के कवि विभिन्न कोणों से एकसूत्रता में भारतीयों को बाँध देने के लिए आकुल हैं।

राम कृष्ण के भाई हैं हम,
द्रोण भीष्म के भाई हैं हम।
अर्जुन विक्रम के भाई हम,
इस नाते सब के भाई हम॥
इसमें जन्म लिये से पाया,
ऐसा पद हमने मन भाया।
करे सकल सुत ध्वनि सुखदाता,
जय जय जय जय भारत माता॥[1]

इस समय के कवि प्रादेशिकता एवं प्रान्तीयता को भी विनष्ट कर महत्कार्य की सम्पन्नता के लिये आकुल हैं। प्रान्तीयता राष्ट्रीयता को यदि सङ्कीर्ण सीमा में बाँध ले तो मानव-बुद्धि और विचार कोसने योग्य ही हैं—

पंजाबी गुजरात निवासी,
बंगाली हो या ब्रजवासी॥
राजस्थानी या मद्रासी।
सब के सब हैं भारतवासी॥[2]

राष्ट्रीयता के समक्ष साम्प्रदायिक भावना भी पूर्णरूपेण उपेक्षणीय है। इसी से—

१. गिरिधर शर्मा—'सरस्वती'—'भारतमाता', नवम्बर, १९०७ ई०।
२. „ „ 'राष्ट्रीयगान', दिसम्बर, १९२० ई०।

बल दो हमें ऐक्य सिखलाओ
सँभलो देश होश में आओ।

◇ ◇ ◇

हिन्दू मुसलमान ईसाई
यश गावें सब भाई भाई
सब के सब तेरे शैदाई
फूलो फलो स्वदेश।[1]

भारत की पराधीनता-विषयक संकटों को दूर करने के लिये ऐक्य की भावना अमोघ मंत्र सिद्ध हुई और 'स्वदेशी' का आन्दोलन देश भर में व्यापक हो उठा।

देशी प्यारे भाइयो, हे भारत संतान।
अपनी माता-भूमि का है कुछ तुमको ध्यान।
है कुछ तुमको ध्यान ? दशा है उसकी कैसी ?
शोभा देती नहीं किसी को निद्रा ऐसी।
वाजिब है हे मित्र तुम्हें भी दूरंदेशी,
सुनलो चारों ओर मचा है शोर 'स्वदेशी'।[2]

विद्यार्थी, मजदूर एवं कृषक किसी भी राष्ट्र के प्राण हैं, उनके 'ऐक्य' के लिये भी कवि का मार्मिक संकेत है—

विद्यार्थी मजदूर कृषक ही सच्चा राष्ट्र बनाते हैं।
उनके बिना राव राजागण कहीं नहीं कुछ कर पाते हैं।।
कृषको उठो छात्रगण जागो मजदूरो रोना छोड़ो।
अपना सच्चा रूप देखलो गली-गली रोना छोड़ो।।[3]

मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती उस राष्ट्रोत्थान काल में देश की गीता थी। उसमें वास्तव में राष्ट्रीयता का पूर्ण प्रस्फुटन होता है। सामाजिक, धार्मिक एवं राजनीतिक विभिन्न दृष्टिकोणों से देश की दशा का कवि ने

---

१. महावीरप्रसाद द्विवेदी—'द्विवेदी काव्यमाला', 'भारतवर्ष', पृष्ठ ४५३ (इंडियन प्रेस)।

२. रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण'—'पूर्ण संग्रह', स्वदेशी कुण्डल, पृष्ठ २०५ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।

३. विश्वनाथसिंह—सरस्वती—खण्ड १८, संख्या ५, मई १९१७।

दिग्दर्शन कराया है। अन्त में आस्तिक कवि की ईश्वर से यह प्रार्थना है—

हा! दीनबन्धो! क्या हमारा नाम ही मिट जायगा,
अब फिर कृपा-कण भी न क्या भारत तुम्हारा पायगा।
हा! राम! हा! हा! कृष्ण हा! हा! नाथ हा! रक्षा करो,
मनुजत्व दो हमको दयामय, दुःख दुर्बलता हरो॥[1]

उपर्युक्त राष्ट्रीय रचनाओं पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग के कवि राष्ट्रीय महत्ता को समझ चुके थे। 'भारतेन्दु-युग' में पराधीनता के कारण उत्पन्न दुर्दशा का उन्होंने अनुभव किया था; किन्तु द्विवेदी-युग में पराधीनता के असह्य दुष्परिणामों को विनष्ट करने के लिए एक सामूहिक चेतना और एकता की आवश्यकता थी, उसी के लिए कवियों की वाणी सुधार-भावना का उपदेशात्मक अमृत प्रदान करती फिरती थी। गुप्त जी की उपर्युक्त पंक्तियाँ 'मनुजत्व दो हमको दयामय' की भावना व्यक्त करती हैं। वस्तुतः गांधीवाद इसी 'मानवता' को प्रमुखता देकर चला है, जिससे गांधी भारत के ही न रहकर विश्व के बापू सिद्ध हुए।

उपर्युक्त विवेचित राष्ट्रीय भावना में स्थूल का ही दिग्दर्शन उपलब्ध होता है सूक्ष्म का नहीं। काव्य में सामाजिकता तो थी; किन्तु वैयक्तिकता का समावेश न हो सका था। इस प्रकार स्वच्छन्दवादिता का स्वरूप संकट में ही था।

४—प्राकृतिक काव्य

आधुनिक काव्य के 'द्वितीय उत्थान' में 'प्रथम उत्थान' की अपेक्षा काव्य में प्रकृति-उपयोग के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में नवीन परिवर्तन हैं। इस समय से ही प्रकृति मूलतः अपने रूप में आँकी गई और उसका निरीक्षण तथा चित्रण किया गया।

द्विवेदी-युग में प्रकृति के स्वतन्त्र निरीक्षण का सफल प्रयास मिलता है। यह अवश्य है कि इस युग का कवि प्रकृति के अन्तरतम में प्रवेश करके उसके रहस्य को जानने के लिये आकुल नहीं है। वह केवल सीधे दर्शक की भांति प्रकृति को देखता है और उसका चित्रण करता है। यह युग की इत्तिवृत्तात्मक परिपाटी का ही प्रभाव था, जिससे वह इससे आगे जा ही नहीं सका।

जैसा निवेदन किया जा चुका है कि द्विवेदी-युग भारतेन्दु-युग का ही विकसित

---

१. मैथिलीशरण गुप्त—'भारत-भारती', वर्तमान खण्ड, पृष्ठ १५५।

रूप है। भारतेन्दु-युग में श्रीधर पाठक 'एकान्तवासी योगी' द्वारा स्वच्छन्द-वादी प्रवृत्ति का प्रस्फुटन कर चुके थे। अनन्तर द्विवेदी-युग में भी ठाकुर जगमोहनसिंह की परिपाटी का अनुसरण करते हुए उन्होंने प्रकृति के स्वतन्त्र रूप को प्रस्तुत किया था।

'काश्मीर सुषमा' 'सान्ध्य अटन' एवं 'वनाष्टक' में पाठक जी द्वारा प्रकृति का संवेदनशील वर्णन किया गया है।

वारि फुहारि भरे बदरा, सोइ सोहत कुंजर हैं मतवारे।
बीजुरी जोति धुजा फहरै घन गर्जन शब्द सोई हैं नगारे॥
रोर कौ घोर कौ ओर न छोर, नरेसन की सी छटा छवि धारे।
कामिन के मन कौ प्रिय पावस आयौ प्रिये नव मोहिनी डारे॥[1]

धरा धरे धावत वारिवाह।
बहे चले जात जल-प्रवाह।
सुअंक लावैं निशि नारि नाह,
अनंग अंगांग भरे उछाह॥[2]

द्विवेदी जी की पक्तियों में स्वयं उन्हीं के कथनानुसार इसमें बहुत सा संस्कृत वाक्य प्रयोग होने से रोचकता में विरोध हुआ है, सत्य है। कवि की दृष्टि केवल गणवृत्त की ओर रहने से प्रकृति के चित्रण में सजीवता और प्रवाह नहीं आ सका है। द्विवेदी जी का व्यक्तित्व वहाँ भी युगनियामक के समान ही भाषा और छन्द का अंकुश लिये आसीन है। इसी से काव्य-निर्वाह में कृत्रिमता है। पाठक जी का पावस-वर्णन वस्तुतः सप्राण और मधुर है। 'बदरी' और 'बीजुरी' शब्द कथन की सरसता और मादकता को व्यक्त करने में पूर्ण सफल हैं।

आचार्य द्विवेदी जी की संस्कृत-वृत्तों के प्रयोग की प्रतिपादित शैली पर अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध ने प्रकृति का सफल चित्रण किया है। छन्द की सफलता के साथ विषय का निर्वाह भी पूर्ण प्रकार से उपलब्ध होता है—

दिवस का अवसान समीप था।
गगन था कुछ लोहित हो चला॥

---

१. श्रीधर पाठक—मनोविनोद, भाग २, वर्षा-वर्णन, पृष्ठ १७।

२. महावीरप्रसाद द्विवेदी—द्विवेदी-काव्य-माला, 'ऋतुतरंगिणी', वर्षा-वर्णन, पृष्ठ ८६।

तरु-शिखा पर थी अब राजती ।
कमलिनी-कुल-वल्लभ की प्रभा ।।
विपिन बीच विहंगम-वृन्द का ।
कलनिनाद विवर्धित था हुआ ।।
ध्वनिमयी - विविधा - विहँगावली ।
उड़ रही नभ-मण्डल मध्य थी ।।
अधिक और हुई नभ-लालिमा ।
दश-दिशा अनुरंजित हो गई ।।
सकल-पादप-पुंज हरीतिमा ।
अरुणिमा विनिमज्जित सी हुई ।।[1]

कवि प्रकृति के सरल स्वरूप को देखता हुआ उसका चित्रण करता चलता है। आलंकारिकता एवं रससिद्धि के किसी प्रकार के आग्रह न होने के कारण प्रकृति का यथातथ्य चित्रण है। 'प्रिय प्रवास' के षष्ठ सर्ग में कवि ने कालिदास के मेघदूत के समान ही 'पवन दूत' की योजन भी की है। राधा का पवन को मार्ग-निर्देशन और संदेश भारतीय नारी की शिष्टता का सफल परिचायक है। राधा नहीं चाहतीं कि पवन उनके संदेश को प्रमुखता देकर मार्ग में किसी भी प्रकार की उद्दण्डता करता चले। वह श्रमिक बालाओं, कृषक ललनाओं एवं रोगियों के साथ उपकार करता हुआ कृष्ण के समीप जाने के लिये संदेश कहती हैं। राधा के संदेश की मार्मिकता एवं उदारता दर्शनीय है :—

कोई प्यारा कुसुम कुम्हला भौन में जो पड़ा हो ।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसे तू ।।
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला ।
म्लाना हो हो कमल पग को चूमना चाहती है ।।[2]

निस्सन्देह राधा की भावना बड़ी ही मधुर है; किन्तु प्रकृति के काव्य का जहाँ तक सम्बन्ध है वह गौण-सा हो गया है। 'प्रिय प्रवास' में अन्य स्थलों पर जहाँ पेड़ों का चित्रण है वहाँ वस्तु-वर्णन की ही प्रधानता है। इससे हरिऔध के काव्य में भी प्रकृति-चित्रण की केवल परम्परा का पालन ही हुआ है।

१. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—'प्रिय प्रवास', प्रथम सर्ग, पृष्ठ १ (खड्ग विलास प्रेस, बांकीपुर)।

२. अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'—'प्रिय प्रवास', षष्ठ सर्ग, पृष्ठ ६४।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' के प्रकृति-वर्णन में प्राचीनता एवं नूतनता दोनों का ही समावेश है :—

वाटिका विपिन लागे छावन रंगीली छटा,
छिति से सिसिर को कसाला भयो न्यारो है।
कूजन किलोल सों लगे हैं कुल पंछिन के,
'पूरन' समीरन सुगंध को पसारो है॥
लागत वसन्त नव सन्त मन जागो मैन,
दैन दुख लागो विरहीन बरियारो है॥
सुमन निकुंजन में कंजन के पुंजन में,
गुंजत मलिन्दन को वृन्द मतवारो है॥[1]

कवि ने अनुप्रासमयी रीतिकालीन पद्धति को केवल अपनाया ही है। शृंगार-सिद्धि के प्रति कवि का आग्रह नहीं है। 'नव सन्त' एव 'विरहीन' को कवि स्मरण कर अपनी शृंगारिक प्रवृत्ति का परिचय भर ही दे देता है। इस वर्णन में वह कटिबद्ध-सा नहीं है।

प्रसाद जी ने 'झरना' का निम्न पंक्तियों में चित्रण यथातथ्य शैली में किया है—

मधुर है स्रोत मधुर है लहरी।
न है उत्पात, छटा है छहरी॥
मनोहर झरना।
कठिन गिरि कहाँ विदारित करना।
बात कुछ छिपी हुई है गहरी।
मधुर है स्रोत मधुर है लहरी॥
(प्रसाद—'झरना')

'किरण' को कवि प्रसाद ने एक अनुरागिनी के रूप में चित्रित किया है—

किरण ! तुम क्यों बिखरी हो आज,
रँगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग॥

---

१. राय देवीप्रसाद 'पूर्ण'—'पूर्ण संग्रह', वसन्त वर्णन, पृष्ठ ९४ (गंगा पुस्तक माला, लखनऊ)।

धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन ।।
किसी अज्ञात विश्व की विकल,
वेदना-दूती-सी तुम कौन ?[1]

उपर्युक्त प्राकृतिक काव्य की विवेचना से यह स्पष्ट है कि कवि प्रकृति के सम्बन्ध में भारतेन्दु-युग से कहीं अधिक प्रगतिशील हो उठा है । तथापि युग की इतिवृत्तात्मकता का स्वरूप इस समय के काव्य पर भी अमिट रूप से चित्रित है । इससे प्रकृति के स्वरूप को ही कवि देखने में समर्थ हो सका है । प्रकृति के स्थूल रूप की अपेक्षा उसका आन्तरिक स्वरूप भी होता है । द्विवेदी-युग का कवि उस ओर अग्रसर अवश्य हो उठा; किन्तु उस क्षेत्र में उत्कर्ष तो छायावादी युग में ही हुआ ।

---

१. प्रसाद—झरना, 'किरण', पृष्ठ १४ ।

अध्याय ६

द्विवेदी-युग में स्वच्छन्दतावादी काव्य और पं० श्रीधर पाठक

'आधुनिक युग' के प्रथम उत्थान (भारतेन्दु-युग) में स्वच्छन्दवादिता जिन परिस्थितियों मे जिस मात्रा तक विकसित हो सकी, उसका वर्णन यथास्थल किया जा चुका है। काव्य-प्रगति के दृष्टिकोण से द्वितीय उत्थान (द्विवेदी-युग) विशेष अग्रसर और विकसित रहा है। फलतः इस युग में भी स्वच्छन्दवादिता पल्लवित हुई है, इसमें सन्देह नहीं। स्वयं श्रीधर पाठक जो स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्ति के अग्रदूत हैं, प्रथम उत्थान की अपेक्षा द्वितीय उत्थान से अधिक सम्बन्धित रहे हैं। उनके अतिरिक्त द्विवेदी-काव्य-मण्डल के कवियों में भी स्वच्छन्दवादिता की प्रवृत्तियाँ रही हैं, जिनका उल्लेख एवं विवेचन इस प्रबन्ध के अन्तिम अध्याय में मिलेगा। द्विवेदी-युग की शास्त्रीय एवं परम्परावादी काव्य-प्रगति में द्विवेदी जी का सामन्तीय अनुशासन युग के अधिकांश काव्य को अनुशासित किए था। इससे उनकी शिष्य-परम्परा के कवि केवल उनकी रीतियों और नीतियों पर ही काव्य-सर्जना करते रहे। वे द्विवेदी जी की प्रवृत्तियों के बाहर जाने का साहस नहीं ही कर सके। परम्परावादी प्रवृत्तियों के साथ समानान्तर रूप से काव्य की स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियाँ भी प्रवाहित थीं। फलस्वरूप द्विवेदी जी के आतंक से यदि वे प्रथम प्रवृत्तियों के अन्तर्गत अनुशासित हो चल रहे थे तो द्वितीय प्रवृत्तियाँ भी उनको आकर्षण की प्रेरणा दे रही थीं। इस कारण इनके कुछ लक्षण भी उनमें अंकुरित हो उठे थे। इस दृष्टिकोण से हम हरिऔध जी (प्रिय प्रवास) एवं गुप्त जी (साकेत) में देखेंगे कि स्वच्छन्दता-वादी काव्य की प्रवृत्तियाँ उनमें किस अंश तक विद्यमान थीं। दोनों महाकाव्य

की आधार-शिला हैं। इससे इनके द्वारा युग के प्रभाव भी स्पष्ट हो उठेंगे।

यों दोनों महाकाव्यों के विषय भागवत एवं रामायण पर आधारित होने के कारण परम्परावादी एवं शास्त्रीय हैं। गुप्त जी ने द्विवेदी जी का अनुशासन होते हुए भी काव्य में प्रगीतात्मक शैली को ही अपनाया है। हरिऔध जी यद्यपि द्विवेदी जी के अनुशासन से मुक्त थे और उनका स्वतन्त्र व्यक्तित्व भी था तथापि संस्कृत वृत्तों को अपनाने का जो आन्दोलन द्विवेदी जी द्वारा प्रारम्भ किया गया था, उसका संपोषण हरिऔध जी ने भी किया। इस प्रकार दोनों कवियों के परम्परावादी होते हुए भी गुप्त जी काव्य में प्रयुक्त अपनी अभिव्यंजना शैली में हरिऔध जी से अधिक नवीन हैं, इस सत्य के होते हुए भी दोनों कवियों ने अपने-अपने काव्यों में सहृदयता एवं शालीनता अपनाकर नव-चेतना एवं मानवता का स्वरूप प्रतिष्ठित किया है। फलस्वरूप भागवत की प्रेम-स्वरूपिणी राधा के स्थान पर प्रेमिका एवं समाज-सेविका राधा और रामायण महाकाव्य की उपेक्षिता उर्मिला के स्थान पर सहृदया एवं विरहिणी उर्मिला लोक-भूमि पर उभर आने के कारण सहृदय पाठक के हृदय में करुणा का उद्रेक करती हैं। अपनी इन परिस्थितियों के कारण ही वास्तव में दोनों महाकाव्य नवीन से लगते हैं।

विप्रलंभ शृंगार प्रधान होने के कारण दोनों महाकाव्यों में वैयक्तिकता की स्पष्ट छाप यत्र-तत्र मिलती है। इस दृष्टि से 'प्रिय प्रवास' में 'पवनदूत' एवं 'साकेत' में नवम सर्ग विशेष-रूपेण उल्लेखनीय है।

हरिऔध के 'पवन दूत' एवं कालिदास के 'मेघदूत' की परिस्थितियाँ एक ही हैं। मेघदूत में प्रवासी यक्ष मेघ द्वारा अपनी प्रियतमा यक्षिणी के समीप अपनी स्मृति का संदेश भेजता है, जब 'प्रिय प्रवास' में राधा उसी उद्देश्य से पवन को अपने संदेश का आधार बनाती है; किन्तु दोनों काव्यों में उदात्त प्रेम का स्वरूप स्पष्ट परिलक्षित होता है। इस प्रकार मेघदूत के समान 'प्रिय प्रवास' का यह स्थल भी परम्परागत चित्रण से पूर्ण मुक्त है।

पुष्प-सद्गन्ध को लेकर आने वाली प्रातःकालीन सुपवन को राधा इस प्रकार अपने प्रियतम के लिये संदेश प्रदान करती हैं—

मेरे प्यारे नव जलद से कंज से नेत्र वाले।
जाके आये न मधुवन से औ न भेजा संदेशा।

मैं रो रो के प्रिय विरह से बावली हो रही हूँ।
जाके मेरी सब दुख कथा श्याम को सुना दे ॥ (६-३३)
जो ऐसा तू नहिं कर सके तो क्रिया चातुरी से।
जाके रोने विकल बनने आदि को ही दिखादे।
चाहे लादे प्रिय निकट से वस्तु कोई अनूठी।
हा, हा, मैं हूँ मृतक बनती प्राण मेरा बचादे। (६-३४)

यदि इस स्थल पर पवन के स्थान पर अन्य कोई सप्राण व्यक्ति रहा होता तो सम्भवतः यह विषय इतना मार्मिक न लगता। निर्जीव पवन के होने के कारण ही वस्तुतः राधिका के प्रेमोद्वेलित हृदय से इस प्रकार की भावनाओं के निस्सरण की सुविधा उपलब्ध हो सकी है।

जो चित्रों में विरह विधुरा का मिले चित्र कोई।
तो तू जाके निकट उसको भाव से यों हिलाना।
प्यारे होके चकित जिससे चित्र की ओर देखें।
आशा है यों सुरति उनको हो सकेगी हमारी। (६-६८)
कोई प्यारा कुसुम कुम्हला गेह में जो पड़ा हो।
तो प्यारे के चरण पर ला डाल देना उसी को।
यों देना ऐ पवन बतला फूल-सी एक बाला।
म्लाना हो हो कमल-पग को चूमना चाहती है। (६-७०)
सूखी जाती मलिन लतिका जो धरा में पड़ी हो।
तो पाँवों के निकट उसको श्याम के ला गिराना।
यों सीधे से प्रकट करना प्रीति से वंचिता हो।
मेरा होना अति मलिन और सूखते नित्य जाना। (६-७५)
पूरी होवें न यदि तुझसे अन्य बातें हमारी।
तो तू मेरी विनय इतनी मानले औ चली जा।
छूके प्यारे कमल पग को प्यार के साथ आजा।
जी जाऊँगी हृदय तल में मैं तुझी को लगाके। (६-८२)

प्रेमाधिक्य के कारण ही राधा का व्यक्तित्व इस रूप में प्रस्फुटित हुआ है, जो अपनी मधुरिमा को व्यक्त करने में पूर्ण सफल है।

रामायण महाकाव्य के अन्तर्गत उर्मिला 'साकेत' के पूर्व तक पूर्ण उपेक्षिता ही रही। यह तो गुप्त जी को श्रेय है कि उर्मिला आज अपने पाठक की सहानुभूति की अधिकारिणी हो सकी है। उसका जो स्वरूप हमारे सामने है

उसमें उसकी मानवीय आत्मा बोलती है। जिस भय के कारण वाल्मीकि जी, गोस्वामी तुलसीदास जी एवं केशवदास जी आदि ने उर्मिला को अपने काव्य का विषय नहीं बनाया था, उस भय का अतिक्रमण करके ही गुप्त जी ने उर्मिला के स्वरूप में मानवता को सुरक्षित कर दिया है। कवि की इस सहृदयता के कारण ही साकेत के 'नवम सर्ग' के गीत मानवोचित हैं और यथार्थ की सामान्य भूमि पर आधारित हैं। इस सर्ग के प्रगीतों में भी उर्मिला के व्यक्तित्व का प्रस्फुटन होता है।

दोनों ओर प्रेम पलता है।
सखि, पतंग भी जलता है हा, दीपक भी जलता है।
सीस हिलाकर दीपक कहता।
'बन्धु', वृथा ही तू क्यों दहता।
पर पतंग पड़कर ही रहता।
कितनी विह्वलता है।
दोनों ओर प्रेम पलता है।
बचकर हाय, पतंग मरे क्या ?
प्रणय छोड़कर प्राण धरे क्या ?
जले नहीं तो मरा करे क्या ?
क्या यह असफलता है ?
दोनों ओर प्रेम पलता है।
(साकेत—नवम सर्ग)

प्रेम समर्पण चाहता है—यह भावना उपर्युक्त पंक्तियों में पूर्ण रूप से विद्यमान है। पतंग तक अपने प्रियतम (आभा) को प्राप्त कर अपने प्राणों को होम देना ही श्रेयस्कर समझता है। वियोग की करुण व्यथा में ग्रस्त होने की अपेक्षा संयोग काल का यह आनन्द श्रेष्ठ है। इससे उसमें मरना ही उचित है। उर्मिला भी इस प्रकार संयोग के लिये लालायित है।

आजा मेरी निंदिया गूँगी।
आ, मैं सिर आँखों पर लेकर चन्द खिलौना दूँगी।
प्रिय के आने पर आवेगी।
अर्ध-चन्द्र ही तू पावेगी।
पर यदि आज उन्हें लावेगी।

तो तुझसे ही लूँगी ।
आजा मेरी निंदिया गूँगी ।
(साकेत—नवम सर्ग)

विरह से दुःखिनी उर्मिला के जीवन में निद्रा बड़ी ही महिमाशालिनी है। क्योंकि उसके अंक में पहुँचकर वह अपने प्राण प्रियतम से साक्षात् कर सकेगी। इस प्रकार उसके वियोग का क्षय हो सकता है और सुख के क्षण आ सकते हैं, भले ही उन क्षणों की गिनती थोड़ी ही हो।

उर्मिला के व्यक्तिगत जीवन का यह दृश्य भी विचारणीय है, जिसमें वह अपने पारिवारिक जीवन में पूर्ण सुखी है—

मैं निज अलिन्द में खड़ी थी सखि, एक रात,
रिमझिम बूँदें पड़ती थीं घटा छाई थी,
गमक रहा था केतकी का गन्ध चारों ओर,
झिल्ली झनकार यही मेरे मन भाई थी।
करने लगी मैं अनुकरण स्वनूपुरों से,
चंचला थी चमकी घनाली घहराई थी।
चौंक देखा मैंने, चुप कोने में खड़े थे प्रिय,
माई ! मुख-लज्जा उसी छाती में छिपाई थी॥
(साकेत—नवम सर्ग)

मर्यादित राजवंश का वातावरण होते हुए भी पति-पत्नी का इस प्रकार का आचरण एवं सम्पन्न परिवार में विनोदी वार्तालाप यथार्थ जीवन के परिचायक हैं। अब तक राम-कथा में काव्य-प्रणेताओं ने इस प्रकार के मानवीय चित्रणों के प्रति उदासीनता एवं उपेक्षा ही रखी है।

दोनों कवियों ने राधा एवं उर्मिला को मानवीय आधारशिला पर ही निर्मित किया है। उनके चरित्र विशेष प्रकार के हो गये हैं। इस प्रकार उनमें नव-चेतना का स्फुरण है और वे मानवेतर नहीं हैं। वे विरह-विदग्धा हैं। उनमें वैयक्तिकता का पूर्ण प्रस्फुटन हुआ है। उनका उदात्त प्रेम एवं उनके मानसिक उदगार व्यक्तिवादी होने के कारण स्वच्छन्दतावादी काव्य के अन्तर्गत सरलतापूर्वक लिए जा सकते हैं।

द्विवेदी-युग में प्रकृति को उसके वास्तविक स्वरूप में देखने की प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। भारतेन्दु-युग में यह प्रवृत्ति रीतिकालीन परिपाटी से बोझिल

रही थी। उस युग में ठा० जगमोहनसिंह एवं पं० श्रीधर पाठक में ही उसके स्वच्छन्द निरीक्षण की कुछ प्रवृत्तियाँ थीं, जिनसे प्रकृति को आलम्बन की कोटि में रखा गया था। अन्यथा काव्य के क्षेत्र में प्रकृति प्रेम का उद्दीपन ही करती थी। इस प्रकार उसका क्षेत्र बड़ा ही संकीर्ण कर दिया गया था; किन्तु 'द्विवेदी-युग' में इस भावना में परिवर्तन प्रस्तुत हुए। प्रकृति को उसके सजीव स्वरूप में आँका गया। कवि ने उसमें भी संवेदनशीलता की अनुभूति की। यों इस क्षेत्र में पं० श्रीधर पाठक को विशेष सफलता मिली है। उन्होंने प्रकृति के साथ न्याय करके उसके यथार्थ स्वरूप को काव्य में रखा है।

यद्यपि प्रकृति को अलंकारों, प्रेमोद्दीपन एवं नैतिक उपदेशों आदि में द्विवेदी-युग में भी खींचा गया है और उन्हें काव्य का विषय बनाया गया है; किन्तु स्थल-स्थल पर उसके यथार्थ चित्रण भी विद्यमान हैं—

आ आ प्यारी सब ऋतुओं में प्यारी।
तेरा शुभागमन सुन फूली केसर क्यारी।
सरसों तुझको देख रही है आँख उठाये।
गेंदे ले ले फूल खड़े हैं सजे सजाये।
आस कर रहे हैं टेसू तेरे दर्शन की,
फूल-फूल दिखलाते हैं गति अपने मन की,
बौराई-सी ताक रही है आम की मौरी,
देख रही है तेरी बाट बहोरि-बहोरी॥[1]

इस प्रकार के सजीव चित्रण द्विवेदी-युग में भारतेन्दु-युग की अपेक्षा कहीं अधिक मिलेंगे। इस प्रवृत्ति के अतिरिक्त इस समय के कवियों ने प्रकृति के चित्रणों को मधुर भी बनाने की पूर्ण चेष्टा की है।

हरिऔध जी ने सान्ध्य-वेला का, जिसमें क्रमशः अन्धकार वृद्धि पर है, बड़ा ही सहृदयतापूर्ण वर्णन किया है—

अरुणिमा-जगती-तल-रंजिनी।
वहन थी करती अब कालिमा।
मलिन थी नव-राग-मयी-दिशा।
अवनि थी तमसावृत्त हो रही।

---

[1] श्री बालमुकुन्द गुप्त, 'वसन्तोत्सव' (कविता कौमुदी, भाग २ से उद्धृत)।

तिमिर की यह भूतल-व्यापिनी।
तरल-धार विकास-विरोधिनी॥
जन-समूह-विलोचन के लिये।
बन गई प्रति मूर्ति बिराम की।[१]

उपर्युक्त के समान ही एक प्रातःवेला का वर्णन भी द्रष्टव्य है—

तारे डूबे तम टल गया छा गई व्योम लाली।
पक्षी बोले तमचुर जगे ज्योति फैली दिशा में।
शाखा डोली तरु निचय की कंज फूले सरों में।
धीरे-धीरे दिनकर बढ़े तामसी रात बीती।[२]
फूली फैली ललित लतिका वायु में मन्द डोली।
प्यारी-प्यारी ललित लहरें भानुजा में विराजीं।
सोने की-सी कलित किरणें मेदिनी ओर छूटीं।
कूलों कुंजों कुसुमित वनों में जगी ज्योति फैली।[३]

इस प्रकार के यथार्थ चित्रण 'प्रिय प्रवास' के नवम सर्ग में उपलब्ध हैं। 'पवन दूत' में राधा द्वारा कृष्ण तक पहुँचने का जो मार्ग पवन को बतलाया गया है उसमें कवि की भावुक भावना प्रस्तुत है।

यों हरिऔध जी ने अपनी कोमल अभिव्यंजना द्वारा प्रकृति के चित्रणों को और भी सजीव कर दिया है तथापि गुप्त जी प्रकृति-अन्तस् में भी घुस सके हैं—उनका प्रकृति का निरीक्षण और भी मार्मिक है।

'चित्रकूट' का वर्णन करती हुई उर्मिला कहती है—

नहलाता है नभ की वृष्टि,
अंग पोंछती आतप-सृष्टि,
करता है शशि शीतल दृष्टि,

---

१. श्री हरिऔध—'प्रिय प्रवास', सर्ग १-३५-३६ (हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस) अष्टम संस्करण, पृष्ठ ७।
२. श्री हरिऔध—'प्रिय प्रवास', सर्ग ५-१ (हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस) अष्टम संस्करण, पृष्ठ ४५।
३. श्री हरिऔध, 'प्रिय प्रवास,' सर्ग ५-२ (हिन्दी साहित्य कुटीर, बनारस) अष्टम संस्करण, पृष्ठ ४५।

देता है ऋतुपति शृंगार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार।
तू निर्झर का डाल दुकूल,
लेकर कन्द-मूल-फल-फूल,
स्वागतार्थ सबके अनुकूल,
खड़ा खोल दरियों के द्वार।
ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार।
विविध राग-रंजित अभिराम,
तू विराग-साधन, बन धाम,
कामद होकर आप अकाम,
नमस्कार तुझको शत बार,
ओ गौरव-गिरि, उच्च उदार।[1]

उपर्युक्त पंक्तियों में कवि ने चित्रकूट को मानवीय कोटि में ही चित्रित करने का प्रयास किया है। आगे चलकर यह प्रवृत्ति ही कवियों को छायावाद एवं रहस्यवाद के क्षेत्र तक खींचकर ले गई।

विरह के कारण रात्रि उर्मिला की योंही जागते-जागते ही कट गई। आकाश-गामी सूर्य का सजीव और मार्मिक चित्रण देखिये—

सखि, नील नभस्सर में उतरा,
यह हंस अहा, तरता-तरता,
अब तारक-मौक्तिक शेष नहीं,
निकला जिनको चरता-चरता,
अपने हिम-बिन्दु बचे तब भी,
चलता उनको धरता धरता,
गड़ जाँय न कण्टक भूतल के,
कर डाल रहा डरता डरता।[2]

रूपक द्वारा कवि ने चित्रण को सजीव कर दिया है।

यों प्रकृति के यथार्थ निरीक्षण के चित्र गुप्त जी के काव्य में यत्र-तत्र

---

१. श्री मैथिलीशरण गुप्त—'साकेत,' नवम सर्ग, पृष्ठ २५७-५८ (साहित्य सदन, चिरगाँव)।

२. श्री मैथिलीशरण गुप्त—'साकेत', नवम् सर्ग, पृष्ठ २६९, द्वितीय संस्करण।

पर्याप्त मात्रा में विद्यमान हैं; किन्तु हरिऔध तथा द्विवेदी-युग के अन्य कवियों की अपेक्षा प्रकृति के अन्तस्तल तक प्रविष्ट होने की प्रवृत्ति में गुप्त जी विशेष सफल हैं।

इस प्रकार द्विवेदी-युग में हरिऔध जी एवं गुप्त जी परम्परावादी एवं रूढ़िवादी वातावरण में भी काव्यगत नवीन चेतना को लाने का सफल प्रयास कर सके हैं। इनके काव्यों में द्विवेदी जी द्वारा अभिप्रेरित अभिव्यंजना शैली अधिक विकसित रूप में हिन्दी के सामने आ सकी है। प्रेम और प्रकृति के क्षेत्र में भी उन्होंने नूतन अनुभूतियाँ और अभिव्यक्तियाँ रखने का प्रयास किया है। राधिका कृष्ण की प्रेमिका थी और उर्मिला थी अयोध्या के मर्यादित राजवंश की वधू। इससे राधा का जीवन उर्मिला की अपेक्षा विशेष स्वच्छन्द और मुखर है। यों दोनों नायिकाओं में सामाजिक भाव प्रविष्ट कर गए हैं, जो युग की स्पष्ट छाप हैं। उर्मिला की सामाजिकता वधू होने के कारण परिवार तक सीमित है जब प्रेमिका होने के कारण राधा की सामाजिकता में किसी प्रकार का बन्धन नहीं। वह सर्वत्र जा सकती है और प्रियतम कृष्ण के वियोगजनित दुःख में सभी को सान्त्वना भी दे सकती है। राधिका के व्यक्तित्व के सम्बन्ध में हरिऔध जी का कथन है—

> **वे छाया थीं सुजन सिर की शासिका थीं खलों की।**
> **कंगालों की परम निधि थीं औषधी पीड़ितों की।**
> **दीनों की थीं बहिन, जननी थीं अनाथाश्रितों की।**
> **आराध्या थीं ब्रज अवनि की प्रेमिका विश्व की थीं।**[1]

कृष्ण के प्रति राधा का अनन्य प्रेम विश्व में शिव-स्वरूप होकर अवतरित हुआ, यह उसके प्रेम की अप्रतिम सफलता है। जब कि उर्मिला के रुदन-गान उसे परिवार में ही मुखरित किये हैं—

> **अवधि-शिला का उर पर था गुरु भार।**
> **तिल तिल काट रही थी दृगजल धार।**

फिर भी उसके करुण प्रगीतों ने उसे अमर कर दिया है, इसमें सन्देह नहीं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त द्विवेदी-युगीन स्वच्छन्द काव्य के तत्व श्रीधर पाठक के साथ अन्य कवियों में भी उपलब्ध हैं, जिनका विवेचन अलग से प्रस्तुत किया गया है। इस स्थल पर इतना समझ लेना पर्याप्त होगा कि 'द्विवेदी-युग' की परम्परावादिता के मध्य में स्वच्छन्दवादिता अक्षुण्ण रही है।

---

१. **श्री हरिऔध—'प्रिय प्रवास', सर्ग १७–४९।**

पं० श्रीधर पाठक

काव्य के सम्बन्ध में यह अमर सत्य है कि मूल की स्वच्छन्दवादिता (Romanticism) शास्त्रीयता (classicism) से और शास्त्रीयता कालान्तर में स्वच्छन्दवादिता से पराभूत हो उठती है। प्रथम के भावाभिव्यंजन में सारल्य एवं जीवन की वैयक्तिक अनुभूति का आग्रह होता है, द्वितीय इन्हीं के सम्बन्ध में कृत्रिम अभिव्यंजना शैली का वहन करता है। काव्य जब अपने अस्तित्व द्वारा सामाजिकता विस्मृत कर देता है, तब उसके स्वरूप और प्राण में प्रतिक्रिया होना स्वाभाविक है। ऐसे गाढ़े समय में सीमित और परम्परागत आबद्ध काव्य के विरोध में सत्याग्रही भावुक क्रान्तिकारी होकर उसके स्थान में लौकिक जीवन के विकारों को निष्कपट रूप से व्यक्त करने के लिये आकुल हो उठता है। इस प्रकार के क्रान्तिपरक आन्दोलन विश्व में सदैव होते रहे हैं। योरुप के मध्य-युग का काव्य ग्रीक और लैटिन के साहित्यादर्शों पर आधारित था; परन्तु वाल्टेयर एवं रूसो द्वारा प्रचलित कृत्रिमता की धज्जियाँ उड़ा दी गईं। तभी योरुप महाद्वीप में विचारों के क्षेत्र में आन्दोलन उपस्थित हो उठा।

भारतीय इतिहास के मध्ययुग में भी शास्त्रीयता का पूर्ण प्रसार था। पूर्वार्द्ध मध्ययुग में राम-भक्ति एवं कृष्ण-भक्ति-परक रचनाएँ अवश्य आचार्य शंकर की अद्वैत भावना की प्रतिक्रिया-स्वरूप अवधी एवं ब्रजभाषा प्रान्तीय बोलियों में लिखी गईं। इससे संस्कृत भाषा में प्रतिपादित दार्शनिक दृष्टिकोण इस युग के राम-काव्य एवं कृष्ण-काव्य द्वारा जनता को अधिक बोधगम्य हो सके। फलतः लोक-भाषाओं में तद्विषयक सिद्धान्तों के प्रतिपादन से शास्त्रीय भाव का लोकान्तर स्वरूप अवश्य स्थापित हुआ; किन्तु आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी के दृष्टिकोण से भी इन भक्ति-धाराओं के प्रतिनिधि भक्त-कवि तुलसी एवं सूर अपनी परम्पराओं के लिए ही अनुकरण का विषय बन गये। इस प्रकार स्वच्छन्दतावादी की अपेक्षा यह कवि भी शास्त्रीय कोटि में चले गये। 'मध्ययुग' का उत्तरार्द्ध काव्य तो रीतिप्रधान था ही। इसकी भाषा में ही नहीं, भावनाओं में भी छलना थी। इससे उसमें स्वच्छन्दवादिता के तत्वों के समावेश का अवकाश ही न था।

१८५७ ई० के ग़दर से भारतीय समाज की रूढ़ियाँ अवश्य चकनाचूर हो गईं, जिससे सुधारवादी प्रवर्त्तक जीवन में नव-निर्माण की भावना लेकर अग्रसर हुए। राष्ट्रीयता की भावना का प्रसार हुआ। फलतः नवीन युग के उन्मेष

प्रस्तुत हुए। 'भारतेन्दु-युग' में भारतेन्दु, प्रेमघन, प्रतापनारायण मिश्र, राधाकृष्णदास आदि सभी के काव्यों में रूढ़ियों का विरोध उपलब्ध होता है, तथापि भक्ति एवं रीति-युगों की ओर उनका विशेष आग्रह है। इस युग में यदि कोई कवि, शास्त्रीयता के कृत्रिम आडम्बर से बचकर स्वच्छन्दवादिता की प्रवृत्तियों को अपना सका तो उसका श्रेय ठाकुर जगमोहनसिंह एवं पं० श्रीधर पाठक को है।

पाठक जी के काव्य में नवीन पद्धतियों का ही आग्रह है। यों उनके समक्ष प्राचीनता और नवीनता को भारतेन्दु एवं इतिवृत्तात्मकता को प्राधान्य देने वाले द्विवेदी-युग रहे; किन्तु वह अब तक नवीनता के ही साधक रहे; सनातनी होते हुए भी उनमें कट्टरता के स्थान पर उदारता थी; नीति एवं भक्तिपरक परिवार में जन्म लेने पर भी उनमें लोक-प्रेम एवं लोक-न्याय के प्रति निष्ठा थी। अंग्रेजी सरकार की सेवा में उच्च पद पर आसीन रहते हुए भी उनमें भारतीयता एवं राष्ट्रीयता के प्रति पूर्ण अनुराग था; संस्कृत भाषा में पारंगत होते हुए भी वह लोक-वाणी के अधिनायक थे।

हिन्दी के इस संक्रान्ति-युग में जब भाव-भाषा को लेकर उथल-पुथल मची हुई थी और निश्चयात्मक पथ पर चलना असंभव नहीं दुष्कर था, उस समय बाणी के धनी और भावना के अग्रणी पाठक जी ने अपने नूतन पथ का चयन कर अपनी मौलिक प्रतिभा का परिचय दिया। उनका अपना निश्चय था और अपना ही पथ था, जिस पर वह अपने जीवन के अंतिम क्षणों तक मुस्कराते हुए अग्रसर रहे।

यद्यपि खड़ी बोली के काव्य की अपेक्षा ब्रजभाषा का काव्य उन्होंने कम नहीं लिखा; किन्तु वह खड़ी बोली के ही 'कवि-सम्राट्' के पद पर विभूषित हुए। उन्होंने अपनी सूक्ष्म दृष्टि से हिन्दी की भावी प्रगति का यथार्थ अंकन कर लिया था, जिससे गाढ़ विश्वास के साथ उन्होंने अपना पग उधर ही बढ़ाया। वह जानते थे कि कोमल एवं मधुर ब्रजभाषा भले ही काव्य के क्षेत्र में अपना प्रभुत्व स्थायी रख सके; किन्तु सम्पूर्ण राष्ट्र की भावना वहन करने की उसमें सामर्थ्य नहीं है, यह वह भली भाँति जानते थे। राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन होकर वह देश के साथ न्याय कर सकेगी—उसकी क्षमता में उन्हें अविश्वास था। इसी कारण भावी राष्ट्रभाषा का व्यावहारिक पोषण उन्होंने उस समय ही प्रारम्भ कर दिया था, जब 'भारतेन्दु-युग' खुमारी में पीछे देखता था तथा सचेत हो आगे भी देखता था, और हिन्दी का भावी महावीर

कार्यक्षेत्र में उतरने से पूर्व अंगोपांग सुदृढ़ कर साधन-सम्पन्न हो रहा था। उन्होंने खड़ी बोली में सबल गद्य तो लिखा ही साथ में मधुर और सुललित काव्य भी लिखा, जो खड़ी बोली के भावी काव्य का जनक कहा जा सकता है। उनकी इस महत्ता के समक्ष आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी भी विनत थे और उनकी इस प्रगति का आभार मानते थे। इसी से द्विवेदी जी के हृदय में पाठक जी के प्रति अपार श्रद्धा और निष्ठा थी।

पाठक जी में ज़िन्दादिली थी। जीवन के वास्तविक स्वरूप और यथार्थ की उन्हें परख थी। इसी से एकेडमी एवं सम्मेलन की बैठकों में सम्मिलित होने की उनकी जो तत्परता थी, वही बायस्कोप देखने में थी। उनके मानस में भारतीयता के प्रति अगाध विश्वास था; किन्तु वह पाश्चात्य प्रवृत्तियों की उपेक्षा भी नहीं कर सकते थे। इसी से प्राच्य और पाश्चात्य का उनमें सुन्दर समन्वय था और दोनों के प्रति उनमें सौहार्द्र था।

जो व्यक्ति जीवन के प्रति इतना उदार और उद्देश्य में इतना महान् रहा हो, वह काव्य-क्षेत्र में सीमित दृष्टिकोण कैसे पसन्द कर सकता था। कविता अलंकार और रस-सिद्धि का साधन बन जाने से अपने पावन पद को परित्यक्त कर निकृष्ट कोटि में पहुँचकर मरणासन्न थी। ऐसे समय में ही पाठक जी ने स्वाभाविक पथ प्रदान कर उसे पुनः अतीत के समान ही भविष्य में भी प्रगतिशील होने का आश्वासन दिया। उसे स्वच्छन्दतावादी नवीन जीवन मिला, जिसमें जीवन के यथार्थ के प्रति न्याय था और कृत्रिमता दूर से ही हाथ जोड़ती थी।

भक्तिकाल का आध्यात्मिक प्रेम रीतिकाल में आकर अपने नग्न रूप में प्रदर्शित हुआ। नायक और नायिकाएँ संसार के नेत्रों में धूल झोंककर प्रेम के स्वरूप में अपनी वासना तृप्त करने लगीं। प्रेम का सच्चा स्वरूप अन्तर्द्धान हो गया। स्थायीभाव की सार्थकता के लिये उद्दीपन का सम्भार तथा भावों-अनुभावों की खिलवाड़ भानुमती के पिटारे का स्वरूप स्थापित कर रही थीं। श्रृंगार के अन्तर्गत संयोग और वियोग के यह क्षण कवि बड़े मनोयोग से प्रस्तुत करते थे; किन्तु उनकी महत्ता और संदेश केवल उन्हीं तक सीमित थे। पाठक जी ने कवि के इस बन्दी प्रेम को उन्मुक्त कर लौकिक जीवन में संस्थापित किया। अपने ही मध्य में उसके व्यावहारिक स्वरूप को देखकर पुनः काव्य की सार्थकता प्रमाणित हो उठी। अपने अनूदित 'एकान्तवासी योगी' द्वारा उन्होंने विश्व के नर-नारी का यथार्थ सम्भावित प्रेम हमारे सामने रखा। एडविन और

अंजलैना का प्रेम केवल केलि-भवन का साधन न था; किन्तु वह लोक-भूमि पर मानवीय विकार प्रस्तुत करता है, जो स्वाभाविक और अकृत्रिम है। नायिका अपने नायक का निम्न शब्दों में परिचय देती है—

साधारण अति रहन सहन, मृदु बोल हृदय हरने वाला।
मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर, मनुज वंश का उजियाला।
सभ्य सुजन सत्कर्म परायण, सौम्य सुशील सुजान।
शुद्ध चरित्र उदार प्रकृति-शुभ, विद्या-बुद्धि निधान॥

* * *

प्राण पियारे की गुणगाथा, साधु कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह, चाहे मैं ही चुक जाऊँ॥
विश्व निकाई विधि ने उसमें, की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर, वारौं काम करोर॥

इन पंक्तियों में छैल-छबीले नायक और अभिसार से सुसज्जिता नायिका के स्थान पर दैनिक जीवन का पुरुष और नारी अपनी प्रेम-गाथा प्रस्तुत करते हैं। इनके प्रेम में भी व्यथा है; किन्तु वह निर्लज्जता और कृत्रिमता की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सका है।

काव्य की मूल भित्ति गोल्डस्मिथ की प्रतिभा और स्वच्छन्दवादिता पर आधारित होते हुए भी हिन्दी में स्वाभाविक एवं निश्छल प्रेम का सुबोध शैली में चित्रण पाठक जी की मौलिकता ही कही जावेगी।

"सीधी-सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिये ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बँधी हुई रूढ़ियों से बाहर निकल कर अनुभूति के स्वतंत्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है।"[1]

प्रेम के समान ही प्रकृति भी अपने विशुद्ध स्वरूप को खो बैठी थी। दो शताब्दियों तक वह केवल शृंगार के उद्दीपन की सार्थकता के लिये ही प्रयुक्त होती रही, जिससे उसकी सरल सुलभ सुन्दरता एवं मुग्धता विस्मृत हो गई थी। 'भारतेन्दु-युग' में उसके अवरुद्ध पथ को ठाकुर जगमोहनसिंह ने संश्लिष्ट योजना द्वारा प्रकृति के पदार्थों का बिम्ब ग्रहण कर उसे प्रशस्त राजपथ पर

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', काव्य खण्ड, नई धारा, द्वितीय उत्थान, पृष्ठ ६०० (नागरी प्रचारिणी सभा)।

लाकर खड़ा कर दिया; किन्तु उसे प्रगति का स्वरूप देना अवशेष था, इसका श्रेय पाठक जी को मिला।

चहुँदिशि हिमगिरि-शिखर, हीरमनि मौलि-अवलि मनु
स्रवत सरित-सित-धार, द्रवत सोइ चन्द्रहार जनु
फल फूलन छवि छटा छई जो वन उपवन की
उदित भई मनु अवनि-उदर सों, निधि रतनन की
तुहिन-सिखिर, सरिता, सर, विपिनन की मिलि सो छवि
छई मण्डलाकार, रही चारहुँ दिसि यों फवि
मानहुँ मनिमय मौलि-माल आकृति अलवेली
बाँधी विधि अनमोल गोल भारत-सिर सेली।[1]

अन्त्यानुप्रास विहीन वृत्त में 'सान्ध्य अटन' का मुग्धकारी वर्णन है—

विजन वन प्रान्त था,
प्रकृति मुख शान्त था,
अटन का समय था,
रजनि का उदय था,
प्रसव के काल की लालिमा में लिहसा।
बाल शशि व्योम की ओर था आरहा॥
सद्य-उत्फुल्ल-अरविन्द . नील,
नभ वक्ष पर जा रहा था चढ़ा,
दिव्य दिङ्नारि की गोद का लाल सा॥[2]

एवं

Would I here on these old Himadri Peaks
Where to the groaning winds stern thunder speaks,
And heaven orbs are longest lost in gloom
And nothing reigns but vapour, blast and boom
And elements have freest play and pranks
And every thing else secondary ranks,

---

१. श्रीधर पाठक—'काश्मीर सुषमा', पृष्ठ ५, द्वितीय संस्करण, (रामदयाल अग्रवाल, इलाहाबाद)।

२. श्रीधर पाठक—भारतगीत—सान्ध्य अटन—पृ० १४६-५० (द्वि० सं०) गंगा पुस्तकालय, लखनऊ।

Where hied from distant deep by nature's freak
Those misty giants climb and cling old creak
And friction ov'r, a peaceful turn soon take,
And wealth of snow and stream and glacier make,[1]

(यदि मैं यहाँ हिमालय की इन प्राचीन शिखरों पर, जहाँ निनादित पवन चलते हैं और बिजली कड़कती है, होता—जहाँ विशद आकाशीय मण्डल अन्धकार में विलीन रहते हैं, जहाँ केवल भाप, आँधी के झकोरे एवं ध्वनि आदि का ही साम्राज्य है, जहाँ प्रधानतः पंचतत्व उन्मुक्त रूप से खिलवाड़ करते हैं, तथा जहाँ पर अन्य चीजें गौण हैं और जहाँ प्रकृति की क्रीड़ा द्वारा दूर गहराई से वे धुँधले दैत्य चढ़ते, एकत्रित होते और तीव्र ध्वनि करते दौड़ते हैं और आघात खाकर टुकड़े होकर शान्तिपूर्वक चक्कर काटते हैं और बर्फ के ढेर, नदी तथा ग्लेशियर बन जाते हैं।)

प्रकृति का सौन्दर्य और आकर्षण—वे महत्तम देन हैं जो किसी भी लौकिक प्राणी को आनन्द और सुख प्रदान कर सकते हैं। यह निस्सन्देह सत्य है कि अपने युग में पाठक जी ने सबसे अधिक प्रकृति की रचनाएँ कीं। इस प्रवृत्ति के फलस्वरूप पाठक जी का कवि-हृदय प्रकृति के बाह्य स्वरूप से ही मन्त्रमुग्ध हो उठता है। उसके भीतर प्रविष्ट होने की क्षमता का वास्तव में उनमें अभाव परिलक्षित होता है।

जीवन कार्यक्षेत्र है। उसके संघर्षों में जूझना ही मानव की मानवता है। उनसे पलायन जीवन की निस्सारता एवं कायरता सिद्ध करती है। पाठक जी जीवन का मर्म रोने में नहीं, हँसने में समझते हैं। उनमें वैयक्तिक अनुभूति के सच्चे मनोराज्य की परख थी।

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा झूठा है यह सब संसार।
थोथा झगड़ा जी का रगड़ा केवल दुःख का हेतु अपार।
जगत है सच्चा तनक न कच्चा समझो बच्चा इसका भेद।

◇ ◇ ◇

मिट्टी उढ़ौना मिट्टी बिछौना, मिट्टी दाना पानी है।
मिट्टी ही तन बदन हमारा, सो सब ठीक कहानी है।

◇ ◇ ◇

---

१. श्रीधर पाठक, 'मनोविनोद' The cloudy Himalayas, पृ० १६५ (१६१७ का संस्करण)।

पर जो उल्टा समझ के इसको बने आप ही ज्ञानी है।
मिट्टी करता है जीवन को और बड़ा अज्ञानी है।

◇ ◇ ◇

समझ के सारे जग को मिट्टी, मिट्टी जो कि रमाता है,
मिट्टी करके सर्वस अपना, मिट्टी में मिल जाता है।[1]

पाठक जी के जीवन का यही वह दर्शन था, जो जीवन में उनको अग्रसर किये रहा। पाठक जी द्वारा आडम्बर-विहीन स्वाभाविक भाषा-शैली द्वारा जीवन का यह महान दर्शन उसी प्रकार सरलता से व्यक्त कर दिया गया है, जिस प्रकार शब्दकोष से निर्धन कोई तपा हुआ साधु सरल शैली में जीवन-निर्माण की भावना को बतला देता है। इस काव्य में स्थल-स्थल पर अनुप्रासों का तारतम्य सुषुप्त मानवीय चेतना को थपकी लगा-लगाकर जगा देता है।

अंग्रेजों के दमन एवं शोषण से दुःखी भारतीय समाज की दयनीय स्थिति का चित्रण प्रायः सभी युग के कवियों ने किया है। जिस राष्ट्र के अन्न-जल से समाज का निर्माण हुआ है, वह जीवन में किस प्रकार उपेक्षणीय हो सकता है। 'भारतेन्दु-युग' में राष्ट्रीय काव्य का केवल संकेत ही मिलता है। 'अकाल' और 'टिक्कस' से सभी दुखी और जर्जरित थे। कालान्तर में 'द्विवेदी-युग' में इस प्रकार के काव्य की बहुलता हुई। गांधी जी के नेतृत्व में कांग्रेस-आन्दोलनों द्वारा इस प्रकार के काव्य को विशेष उत्कर्ष मिला था। पाठक जी ने भी अन्य कवियों के समान ही भारत-जननी के अभिनन्दन, अतीत के गौरव और वर्तमान पर क्षोभ और उसके भावी-निर्माण के महामहिम 'भारतगीत' गाकर उसके प्रति अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अर्पित की है।

जय जय प्यारा भारत देश,
जय जय प्यारा जग से न्यारा,
शोभित सारा देश हमारा,
जगत-मुकुट जगदीश दुलारा,
जय सौभाग्य सुदेश।
जय जय प्यारा भारत देश॥
प्यारा देश जय देशेश,
अजय अशेष, सदय विशेष,

---

१. **श्रीधर पाठक 'जगत सचाई सार'**

जहाँ न सम्भव अघ का लेश,
संभव केवल पुण्य-प्रवेश,
जय जय प्यारा भारत देश।
जग में कोटि-कोटि युग जीवै,
जीवन-सुलभ अमी रस पीवै,
सुखद वितान सुकृत का सीवै,
रहे स्वतन्त्र हमेश।
जय जय प्यारा भारत देश॥

अपनी मार्मिकता के कारण यह गीत बड़ा ही सर्वप्रिय सिद्ध हुआ। कितने ही राष्ट्रीय समारोहों पर इसके द्वारा दीन-हीन-दुखी भारत-जननी का अभिवन्दन और अभिनन्दन किया गया था।

पाठक जी ने अपने काव्य के लिये परम्परागत वृत्तों के अतिरिक्त लावनी, रोला एवं कजली आदि लोक-प्रचलित छन्दों को भी अपनाया था। उन्होंने साधारण स्त्रियों तक के गान के लिये सफल गीतों की रचनाएँ की थीं। राष्ट्रीय भावना केवल शिष्ट एवं संस्कृत समाज के लिये ही नहीं थी; किन्तु वह निर्धन साधारण मजदूरनियों के लिये भी आवश्यक थी। इससे उन्हीं की बोली में उन्हीं की शैली में ये गीत रचकर पाठक जी ने अपनी सच्ची स्वच्छन्दवादिता का परिचय दिया है।

मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
गुइयाँ मैं तो भारत पै बलि-बलि जाऊँ,
भारत है मेरा प्रानों का प्यारा,
दिल का दुलारा, जीवन-अधारा,
उस पै तन-मन को वारूँ, उस पै त्रिभुवन को हारूँ,
उसको पलकों पै धारूँ, उसको दिल पै बैठारूँ।[1]

इन गीतों में भले ही उच्च भावना का सम्मिश्रण न हो; किन्तु साधारण वर्ग को राष्ट्रोत्थान की सीधी भावना का ज्ञान होने में किसी प्रकार का अभाव भी नहीं रह जाता है।

पाठक जी के काव्य में वैविध्य के साथ ही सर्वत्र ही स्वच्छन्दता का पूर्ण

---

१. श्रीधर पाठक—'भारत गीत' पृष्ठ १६६, द्वितीय संस्करण (गंगा पुस्तक-माला, लखनऊ) १९२८ ई०।

परिचय मिलता है। परम्पराओं की उन्होंने कभी अपेक्षा नहीं की। इससे द्विवेदी-मण्डल के कवियों के काव्य के समान उनमें उपदेशों का आग्रह नहीं दिखलाई पड़ता और न इतिवृत्तात्मक काव्य का स्वरूप ही मिलता है। इस प्रकार 'द्विवेदी-युग' में रहते हुए भी वह द्विवेदी-काव्य-क्षेत्र से कहीं दूर थे। द्विवेदी-मण्डल के कवि जब व्याकरण-सम्मत संस्कृत भाषा में संस्कृत-वृत्तों में उपदेश भर रहे थे, उस समय काव्य के क्षेत्र में 'भारतेन्दु-युग' में 'एकान्तवासी योगी' द्वारा प्रयुक्त स्वच्छन्दवादिता को वह प्रौढ़ता देने में तल्लीन रहे। इसी से द्विवेदी जी की काव्य-प्रगति से दूर पाठक जी की काव्य-प्रगति चल रही थी, जिसमें जीवन की वैयक्तिक अनुभूति का स्पन्दन, प्रकृति का निष्कपट साहचर्य और मानव के प्रति सच्चा सौहार्द्र तथा स्नेह था।

यह निस्सन्देह सत्य है कि पाठक जी के काव्य में वर्ड्सवर्थ के समान, मनुष्य, प्रकृति एवं ईश्वर के समन्वय से उत्पन्न श्रद्धामूलक आध्यात्मिकता, बायरन के समान अन्तर्राष्ट्रीय स्वतन्त्र भावना, शेले के समान समाज-विरोध और कीट्स के समान सौन्दर्यप्रियता नहीं ही थी। उनमें वस्तुतः टामसन के समान लैण्डस्केप एवं प्रकृति-प्रेम, कालिन्स एवं ग्रे के समान प्रकृति-मूलक मानवीय भावनाओं का संगुम्फन तथा गोल्डस्मिथ के समान उपदेशात्मक एवं रूढ़िपरक विचार-विहीन स्वच्छन्दवादिता थी। अपनी मौलिक प्रतिभा से उन्होंने हिन्दी-काव्य को एक विशेष मोड़ प्रदान की—यह मोड़ थी स्वच्छन्दवादिता की, जिसके वह प्रवीण अग्रदूत थे।

अध्याय ७

पं० श्रीधर पाठक की जीवनी के सूत्र एवं उनका व्यक्तित्व

(जन्म—११ जनवरी, १८५८ ई० : निधन—१३ सितम्बर, १९२८ ई०)

विषय-प्रवेश

हिन्दी-साहित्य में आधुनिक काल के भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युगों की प्रमुख प्रवृत्तियों की आलोचना एवं विवेचना से यह स्पष्ट हो चुका है कि यदि प्रथम में प्राचीन और नवीन का सुन्दर समन्वय था तो द्वितीय अपने विगत युग की प्रवृत्तियों को प्रशस्त करता हुआ सुधारात्मक एवं इतिवृत्तात्मक काव्य को प्राधान्य देकर चला था। इन दोनों युगों में अधिकांशतः परम्परागत स्थूल साहित्य का ही सृजन हुआ तथा उनकी अभिव्यंजना-शैली का प्रमुख आधार भी परम्परागत प्राक्तन ही रहा। इस प्रकार के काव्य-प्रणयन से उनके बाह्यांग तो अवश्य ही पुष्ट एवं बलिष्ट हुये; किन्तु उसकी चेतना-अभिव्यक्ति न हो सकी। फलस्वरूप वह निर्जीव ही रहा, सप्राण न हो सका।

साहित्य जीवन की व्याख्या है—इस कसौटी पर कसने से उपर्युक्त दोनों युगों के साहित्य से निराशा ही उपलब्ध होगी, तथापि इन दोनों महाविभूतियों के युगों के प्रान्तर में साहित्य-देवता की अर्चना और वन्दना करते हुये स्वच्छन्दतावादी काव्य के अग्रदूत पाठक जी ने इस निराशा को अंकुरित और पल्लवित न होने दिया। उन्होंने व्यक्तिवादी साहित्य का सृजन कर साहित्य की कृत्रिमता और स्थूलता को निर्मूल कर डाला। इस सम्बन्ध में भारतेन्दु-युग में भाव, भाषा एवं छन्द आदि में काव्य के परिवर्तित स्वरूपों तथा ठाकुर जगमोहनसिंह के प्रेम और प्रकृति-काव्य से व्यक्ति-प्रधान स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रेरणा

अवश्य मिल चुकी थी; परन्तु उसका निश्चित स्वरूप सामने न आ सका था। अपने साहित्य द्वारा इसकी रूपरेखा एवं स्वरूप को प्रस्तुत करने का श्रेय स्वच्छन्दतावादी काव्य के महाकवि श्रीधर पाठक को है।

पाठक जी के कार्य की समाप्ति 'भारतेन्दु-युग' में ही नहीं हो गई। उनकी काव्य-परम्परा 'द्विवेदी-युग' को पार करती हुई छायावादी युग तक चली आई। 'द्विवेदी-युग' ने इस प्रकार की काव्य-प्रगति में व्यवधान कम नहीं डाले; किन्तु इस प्रकार के काव्य की पृष्ठभूमि में उस पुण्यात्मा की साधना थी, जिसने इसको वैयक्तिकता एवं यथार्थवादिता की इतनी सच्ची और गहरी नींव दी थी, जिससे 'द्विवेदी-युग' के परम्परागत झोंकों में भी स्वच्छन्दतावादी काव्य का वह भवन पूर्णतः स्थिर रहा और ढह नहीं गया। विशेषरूपेण 'द्विवेदी-युग' के प्रमुख स्तम्भ हरिऔध एवं मैथिलीशरण गुप्त के अतिरिक्त मुकुटधर पाण्डेय, रामचन्द्र शुक्ल एवं रामनरेश त्रिपाठी आदि को भी इस प्रकार के काव्य-सृजन में अपना अनुयायी बनाया। आगे चलकर छायावादी युग का काव्य भी पाठक जी द्वारा इस प्रकार के पोषित काव्य पर ही अपनी आधार-शिला बना सका है।

इस स्थल पर यह जान लेना भी आवश्यक है कि यह स्वच्छन्दवादिता पाठक जी के केवल साहित्य में ही उपलब्ध न थी; किन्तु उनके जीवन में भी परिव्याप्त थी। परम्परागत रूढ़ियों के वह घोर विरोधी थे। उपर्युक्त विशेषताओं के कारण पाठक जी के व्यक्तित्व की महत्ता स्पष्ट सिद्ध हो जाती है।

कलाकार के व्यक्तित्व एवं उसकी कलाकृतियों का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। यों एक-दूसरे का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध होते हुए भी कला उसके व्यक्तित्व से विशेषरूपेण प्रेरित रहती है। पाठक जी की साहित्यिक कृतियों का परिचय एवं उनका अनुशीलन हमारे प्रस्तुत निबन्ध के महत्वपूर्ण अंग हैं। फलस्वरूप पाठक जी की जीवनी के सूत्र एवं उनके व्यक्तित्व का अध्ययन आवश्यक ही नहीं अनिवार्य भी है। इसी से इनको ही प्रस्तुत अध्याय में अध्ययन का विषय बनाया गया है।

पाठक जी के व्यक्तित्व-परिचय में प्रविष्ट होने से पूर्व उनकी जीवनी के सूत्रों का परिचय अनिवार्यतः आवश्यक है। फलस्वरूप उनसे अवगत हो लेना उपयुक्त होगा।

पाठक जी की जीवनी के सूत्र

(अ) अन्तरंग सामग्री

१. 'आराध्य शोकांजलि'

२. 'आराध्य शोकांजलि' में संग्रहीत उनके पिता पं० लीलाधर पाठक का जीवन-वृत्त।

३. स्व-जीवनी (अप्रकाशित)

(ब) बहिरंग सामग्री

४. डा० श्यामसुन्दर दास द्वारा लिखित—'पं० श्रीधर पाठक'
हिन्दी कोविद रत्नमाला, भाग १ (इण्डियन प्रेस)

५. श्री रामनरेश त्रिपाठी द्वारा सम्पादित—कविता कौमुदी भाग २—'श्रीधर पाठक'।

६. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी लिखित—पं० श्रीधर पाठक (२३ सितम्बर १९२८)।
(चारु चरितावली, सम्पादक—श्री वेंकटेश नारायण तिवारी, प्रकाशक—लीडर प्रेस, प्रयाग, १९३४)।

७. डा० रामप्रसाद त्रिपाठी—आराध्य शोकांजलि ('अभ्युदय', २२ सितम्बर, १९२८)।

८. श्री रामजीलाल शर्मा—स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक ('विद्यार्थी', भाग १५, अंक ६, भाद्रपद १९८५ वि०)।

९. श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश'—स्वर्गीय पं० श्रीधर पाठक ('अभ्युदय', २२ सितम्बर, १९२८ ई०)।

१०. श्री पदुमलाल पुन्नालाल बख्शी—स्व० पं० श्रीधर पाठक ('अभ्युदय', २२ सितम्बर, १९२८ ई०)।

११. श्री जगतनारायण देव शर्मा कविरत्न—'हाय पाठक जी' (राम, भाद्रपद १९८५, पृष्ठ २७१)।

१२. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी—कविवर पं० श्रीधर पाठक (संस्मरण, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी)।

१३. प्रोफेसर सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार—पं० श्रीधर पाठक के अन्तिम दिन—मसूरी के कुछ संस्मरण ('विशाल भारत', नवम्बर, १९२८)।

१४. अपनी बात : सम्पादकीय, 'सरस्वती' १९२८; स्व० पं० श्रीधर पाठक सम्पादकीय, विशाल भारत (सितम्बर, १९२८)।

१५. श्री शम्भूदयाल सक्सेना—स्वर्गीय कविवर पं० श्रीधर पाठक, 'सरस्वती' नवम्बर, १९२८।

१६. श्री रामदास गौड़ एम० ए० "स्व० पाठक जी के कुछ संस्मरण"—विशाल भारत, जनवरी, १९२९।

१७. प्रयाग संग्रहालय में पाठक जी की सामग्री (संग्रहालयाध्यक्ष श्री सतीशचन्द काला के सौजन्य से)।

उपर्युक्त सामग्री के अतिरिक्त पाठक-वंश-परम्परा के इतिहास का बहुत कुछ ज्ञान पाठक-परिवार से प्राप्त परम्परागत मौखिक वृत्त, पाठक जी की पत्र-राशि, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी का 'श्रीधर सप्तक' और २२ सितम्बर, १९२८ के 'अभ्युदय' में प्रकाशित श्री रमाशंकर शुक्ल 'रसाल' एवं श्री रामनारायण चतुर्वेदी की श्रद्धाञ्जलियाँ आदि-आदि पाठक जी की जीवनी के सूत्र हैं।

यों भारतीय साहित्य-परम्परा में अपने विषय में लिखना विनम्रता का अतिक्रमण समझा जाता रहा है। फिर भी पाठक जी ने समय की माँग के अनुसार स्वयं लिखा था तथा प्रतिष्ठा एवं मान्यता के कारण उनके निधन पर विद्वानों ने भी लिखा। इस प्रकार उनके जीवन की शृङ्खला का स्वरूप उपलब्ध हो जाता है। फिर भी इस कार्य की सम्पन्नता में एक कठिनाई का अनुभव होता है। प्रारम्भिक अवस्था में जोंधरी ग्राम से इलाहाबाद आने तथा अनन्तर राजकीय सेवा से अवकाश प्राप्त होने के बाद के जीवन का पता तो ठीक रूप से मिल जाता है; किन्तु राजकीय सेवाकाल की प्रगति का कुछ भी पता नहीं चल पाता। यों 'स्वजीवनी' में पाठक जी अपने सम्पूर्ण जीवन पर ही लिखना चाहते थे; किन्तु अपने जीवनकाल में उनसे यह सम्भव न हो सका। फलस्वरूप इस कठिनाई को दूर करने के लिए पाठक-परिवार की मौखिक सामग्री पर ही आधारित होकर आदि और अन्त की शृङ्खला को जोड़ा गया है।

पाठक-परिवार की वंश-परम्परा

श्रीधर पाठक का साहित्य एवं जीवन दोनों ही व्यावहारिक होने के कारण बड़े महत्वपूर्ण थे। उनके इस महत्वपूर्ण निर्माण में पाठक जी का जीवन के प्रति एक विशेष दृष्टिकोण था। इसके अतिरिक्त उनके साथ परिवार के परम्परागत संस्कार तथा पूर्वजों के आशीर्वाद भी थे, जिससे वह अपने जीवन में उत्थान के साथ लोक-प्रियता भी प्राप्त कर सके।

पाठक जी की वंश-परम्परा-सम्बन्धी सामग्री के अध्ययन से इतना पूर्णतः स्पष्ट है कि वह सारस्वत वंश से थे और अब से बारह सौ अथवा सवा-बारह सौ वर्ष पूर्व उनके कोई पूर्वज पंजाब के सिरसा ग्राम से आकर ज़िला आगरा के अन्तर्गत जोंधरी ग्राम में बस गये थे। अपने पाण्डित्य एवं विद्वत्ता से उक्त पूर्वज एक बहुत बड़ी ज़मींदारी के अधिकारी हुए। क्रमशः इस ज़मींदारी का ह्रास हो गया और उनके वंश के समीप केवल नाममात्र को भूमि रह गई। इस वंश में एक से एक उत्कृष्ट कोटि के विद्वान भगवद्भक्त हुए। इसी वंश में हमारे स्वच्छन्दतावादी काव्य के जनक पं० श्रीधर पाठक जी ने जन्म ग्रहण किया था।

आपकी वंश-परम्परा के सम्बन्ध में डा० श्यामसुन्दर दास ने 'हिन्दी कोविद रत्नमाला, भाग १' एवं श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी, भाग २' में केवल संकेत मात्र किया है। डा० श्यामसुन्दर दास का कथन है—

"पं० श्रीधर पाठक सारस्वत ब्राह्मण हैं, उनके पूर्व-पुरुष कोई ग्यारह सौ वर्ष हुए कि पंजाब से आकर जोंधरी ग्राम में जो आगरा जिले के फीरोजाबाद परगने में है, बसे थे और कौटुम्बिक जनश्रुति के अनुसार एक विशाल ज़मींदारी उनके वहाँ बसने का हेतु था। पाठक जी के वृद्ध प्रपितामह श्री कुशलेश जी हिन्दी के अच्छे कवि थे और पितामह पं० धरणीधर शास्त्री धुरन्धर नैयायिक थे। पिता पं० लीलाधर जी यद्यपि एक साधारण पंडित थे; परन्तु सच्चरित्रता, भगवद्भक्ति और पवित्रता में अद्वितीय थे।"[1]

कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ श्री रामनरेश त्रिपाठी ने 'कविता कौमुदी भाग २' में उपर्युक्त-सा ही वर्णन किया है। इस सम्बन्ध में इतना कहना ही समीचीन होगा कि इन दोनों विद्वज्जनों ने अपने संग्रह-ग्रंथों के लिये जीवन-चरित्र की केवल बाह्य रूप-रेखा ही प्रस्तुत करने की आवश्यकता समझी। इसी से वे जीवन-चरित्र पाठक जी के वंश का यथोचित ज्ञान प्रस्तुत करने में अनुपयुक्त हैं।

इस सम्बन्ध में उनकी 'स्व-जीवनी' (१९२५ ई०) की निम्न उद्धृत पंक्तियों

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास—पं० श्रीधर पाठक, हिन्दी कोविद रत्नमाला, भाग १ (पृष्ठ ८४)।

से अवश्य कुछ परिचय उपलब्ध होता है—

आगरा प्रान्त की
फिरोजाबाद तहसील में जोंधरी
नाम एक ग्राम है। वहाँ अगले समय
में कुछ काल तक, किम्वदन्ती कथित,
विप्रवर वंश एक नृ-कुल-अवतंस अघ-
संघ-विध्वंस-कर, भूमिपति था, सकल
अंश में सुकुल-आचार-परिपूत, सु-वि
-चार संभूत-गुण-आढ्य, शुचि-भावना-
भरित, शुभ-चरित-परिवार-परिपूर्ण, मति
मान-मूर्द्धन्य, अज्ञान-तम-शून्य, विद्
वान-जन-मान्य, राजन्य-गण-पूज्य, बहु-
देश विख्यात, अवदात-यश-राशि, कृत-
विद्य, अति हृदय, प्रतिपत्ति-सम्पन्न, अति-
-भद्र, अविषम, सुमनस्क, सुवयस्क, शुच
वृत्त, सात्विक बली, देश पंजाब था
आद्य उसका सुभग, ज्ञाति षट कुल विदित
सुघर् सारस्वत प्रवर पाठक सुवि
ख्यात विप्राग्रणी।[1]

उपर्युक्त अंश भी वंश-परिचय का ज्ञान प्रदान करने में असमर्थ है। आराध्य शोकांजलि' में संग्रहीत अपने पिता के जीवन-वृत्त में उन्होंने केवल अपने पूर्वजों की विभूति का ही चित्रण किया है, वंश-परिचय का नहीं।

अपने वंश-परिचय के सम्बन्ध में स्वयं पाठक जी ने अपने पितृव्य शास्त्री धरणीधर से निम्न विवरण लिये थे, जिन्हें उन्होंने अंग्रेजी में अंकित किया था।

"लगभग १२०० वर्ष पूर्व हमारे एक पूर्वज सारा पंजाब से निवास के लिये पधारे। उस परिवार के एक सदस्य को चाँदवार के महाराज चन्द्रसेन से १४००० बीघा भूमि फिरोजाबाद के समीप यमुना के किनारे उपलब्ध हुई और वह जोंधरी में बस गये। दान-प्राप्तकर्त्ता का नाम अज्ञात है; किन्तु कहा जाता है कि उसके उत्तराधिकारियों ने कुछ पीढ़ियों तक उस जमींदारी

---

१. श्रीधर पाठक, स्वजीवनी—१।

का उपभोग किया अनन्तर मल्ह जाति के एक डाकू ने उनकी जमींदारी छीन ली जो, कालान्तर में एक युद्ध के उपरान्त, जिसमें उस मल्ह की वीरगति हुई, करौली के प्रसिद्ध महाराज सोनपाल के हाथ में पहुँच गई।"

"बहुत वर्षों के उपरान्त हमारे एक पूर्वज ने राजा सोनपाल के उत्तराधिकारी राजा कर्णपाल के समक्ष अपनी बात को प्रस्तुत किया जिसने हमको ६० बीघा भूमि प्रदान की, जो उस स्थल पर स्थित थी जहां पक्का कुआँ और पुरानी इमली का वृक्ष खड़ा है। उस समय से कुगल मिश्र तक थोड़ा ही ज्ञात है जिस पर यह विश्वास किया जा सके कि हमारे पूर्वजों ने इस प्रकार कालयापन किया। एक किम्वदन्ती का कथन है कि उस मल्ह का प्रेत जो सोनपाल के साथ वीरगति को प्राप्त हुआ था, स्वप्न में कर्णपाल के समक्ष प्रकट हुआ और उसने हमारे परिवार को एक भूमि-अंश प्रदान करने की प्रेरणा दी। उक्त प्रेरणा के उल्लंघन करने पर उसने बहुत बड़े दुष्परिणाम का भय प्रदर्शित किया था। मल्ह ने राजा को जोंधरी ग्राम के वास्तविक शासक के रूप में हमें सम्मान प्रदान करने की प्रेरणा भी दी। शासक होने के सम्मान की बात वस्तुतः पूर्ण की गई क्योंकि अब तक हमारा परिवार उस सम्मान को प्राप्त करता है, जो दूसरे ग्रामों के जमींदार प्राप्त करते हैं अर्थात् जब एक बरात चलती है तो वह हमें भेंट प्रदान करती है और हमसे तिलक प्राप्त करती है।"[1]

1. About 1200 years ago our ancient emigrated from Sara in Punjab. In consequence of one member of their family having received as donation 14000 Bighas of land from Chandra Sen, the Raja of Chandwar on the Jamuna near Ferozabad and settled in Jondhari. The name of the receiptient of the donation is not known, but it is said his descendants enjoyed the state for some generations, when a certain dacoit, a Malha by caste seized their possession, which afterwards passed into the hands of well known Raja Sonepal of Karauli after a fight, which ended in the death of Malha.

   After a lapse of a great many years the case was represented by one of our ancients to Raja Karanpal, one of Sonepal's descendants, who ceded us 60 Bighas of land situated where now a pucca well and an old tamrind tree mark the place. From the date down to

अंग्रेजी का यह उद्धरण लखनऊ-विश्वविद्यालय के १९४५-४६ ई० के एम० ए० (स्पेशल) के छात्र श्री शिवबालक शुक्ल ने श्री गिरिधर पाठक (पं० श्रीधर पाठक के ज्येष्ठ आत्मज) से अपने निबन्ध 'श्रीधर पाठक : जीवन और साहित्य एक अध्ययन' के लिए प्राप्त किया था। उन्हीं के द्वारा उन्हें यह भी ज्ञात हुआ था कि अंग्रेजी टिप्पणी में 'सारा' और 'करौली' नामों के स्थान वास्तव में 'सिरसा' और 'किरावली' हैं।

ऊपर की पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि इस परिवार का पूर्वज ८वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में जोंधरी आकर बस गया और अपनी विद्वत्ता तथा पाण्डित्य के बल पर उसने वहां भूमि प्राप्त की। अनन्तर वह परिवार उस क्षेत्र में बड़ा ही सम्मानित और गौरवपूर्ण रहा।

पूर्वजों की परम्परा

इस परिवार की परम्परा अविच्छेद्य रूप से आज तक चलती आ रही है। परिवार में एक से एक बढ़कर विद्वान और भक्त होने के कारण इस परिवार के सदस्य सदैव समाज में अच्छी दृष्टि से ही देखे जाते रहे हैं। परिवार की विभूतियों के वर्णन से पूर्व पाठक-परिवार का वंश-वृक्ष देखने से इस परम्परा पर स्वयमेव प्रकाश पड़ जावेगा।

Kushal Misra little is known that can be relied on, as to the ghost of Malha who had been killed in the battle with Sonepal appeared to Karanpal in dream and desired to cede one land to our family. Non-compliance with which desire was threatened with serious consequence to the Raja. The Malha also desired the Raja to treat us virtual rulers of the village of Jondhari. An honour due to the ruler being shown us this latter portion of the Malha's demand appears to have been actually complied with, as upto this date our family receives the honour shown in other villages only to Zamindars e. g. when a marriage procession starts it invariably presents *nazzar* and receives a *tilak* from us.

—Notes taken from Shastri Dharnidhar verbally.

पाठक-परिवार का वंश-वृक्ष
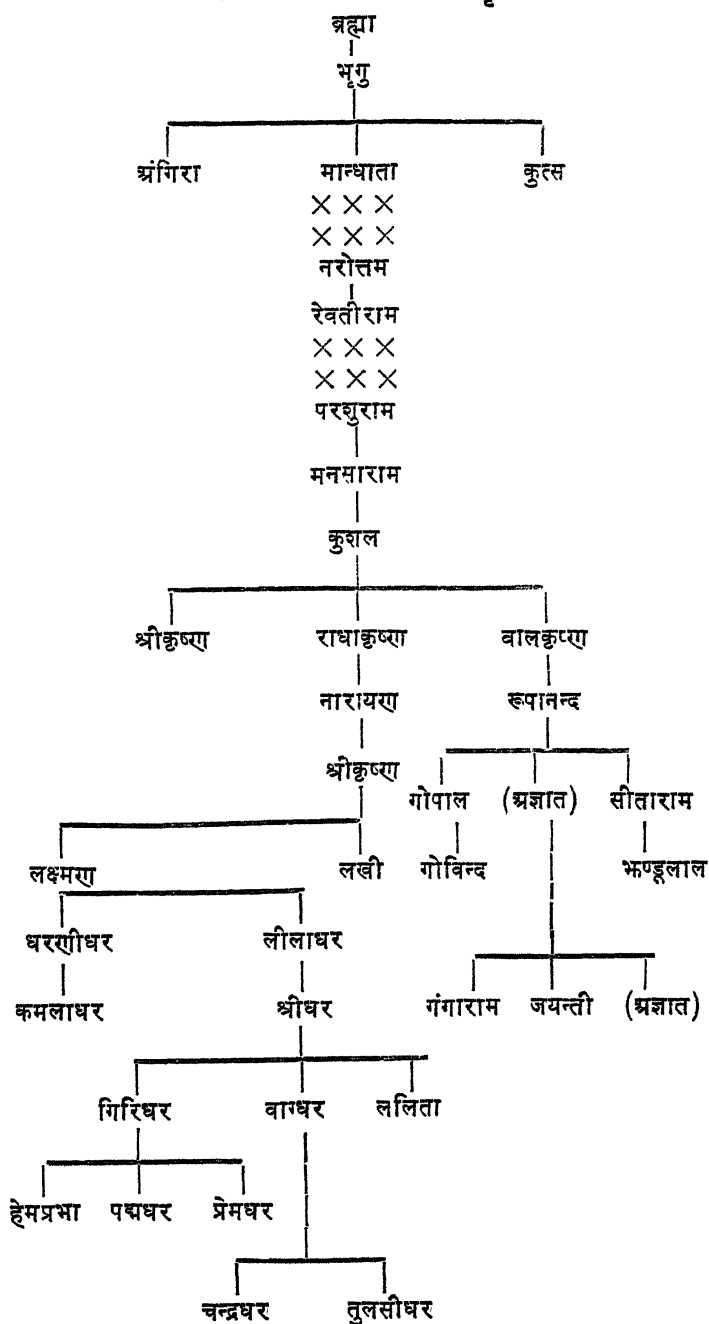
गोत्र : कुत्स
शाख्या : माध्यंदिनी
वेद : यजुर्वेद
प्रवर : अंगिरा, मान्धाता, कुत्स
देवी : चामुण्डा

उपर्युक्त वंश-वृक्ष द्वारा नरोत्तम से पूर्व और अनन्तर रेवतीराम और परशुराम के मध्य की परम्परा का ज्ञान नहीं है। परशुराम से लेकर अब तक की परम्परा का पूर्ण ज्ञान है। नरोत्तम का उल्लेख जोंधरी में शिव-मन्दिर के द्वार के शिलालेख से प्रमाणित है जब कि परशुराम का नाम सोरों में गंगापुत्र के रजिस्टर में अंकित है। उसी प्रकार कुशल मिश्र का नाम इलाहाबाद में गंगापुत्र के रजिस्टर में उपलब्ध होता है। ऊपर के वंशजों में कुशल मिश्र से पूर्व के लोगों के सम्बन्ध में अब कुछ भी ज्ञात नहीं है। केवल कुशल मिश्र और उनके परवर्ती वंशजों के ही कुछ वृत्त मिलते हैं, उनका उल्लेख करना ही श्रेयस्कर होगा।

"उनके (पं० श्रीधर पाठक के पिता पं० लीलाधर पाठक के) पिता श्रीमान् पं० लक्ष्मण मिश्र बड़े सन्तोषी और बड़े सात्विक ब्राह्मण थे। विद्या पिता-पुत्र दोनों को सामान्य ही थी, परन्तु सब विद्याओं की विद्या—ईश्वरे निश्चला भक्तिः—दोनों के हृदयाब्ज में अनवद्य रूप से उदित थी। पिता जी के पितामह, श्रीकृष्ण मिश्र, भक्तिमय जीवन के आदर्श थे। उन्हीं से इन्हें प्रकृति परम्परया भगवन्निष्ठा प्राप्त हुई। प्रपितामह श्री कुशल मिश्र, भाषा के परम प्रतिभाशाली कवि थे। वह भी कृष्णभक्त थे। 'बालकृष्ण-चन्द्रिका' और 'गंगा नाटक' आदि उनकी कतिपय रुचिर रचना हैं। कविता में वह अपने को 'कुशल' अथवा 'कुशलेश' लिखते थे।

श्रीकृष्ण बाबाजू के छोटे भाई श्री राधाकृष्ण जी संस्कृत के बहुत अच्छे पंडित और एक प्रांशुकाय पराक्रमी योद्धा थे। पांचों हथियार बाँधते थे। उनके पुत्र श्रीयुत नारायण मिश्र पिता जी के गुरु थे।

पिता जी के सगे भ्राता शास्त्री धरणीधर जी न्याय और धर्मशास्त्र के धुरन्धर विद्वान् थे। चौदह वर्ष नदिया शान्तिपुर में निवास कर बड़े परिश्रम से उन्होंने विद्योपार्जन किया था। परन्तु बंगाले के चिरप्रवास से वह श्वास रोग से ग्रसित हो गए, अतः अपनी अगाध विद्या का ऐहिक फल विपुल रीति से न उठा सके। वह मन्त्रशास्त्र में भी पारंगत थे। वर्तमान जयपुर-नरेश की पटरानी

उनकी शिष्या हैं। उनका स्वर्गारोहण गंगातट कर्णवास तीर्थ पर संवत् १९५९ में हुआ। न्याय के प्रसिद्ध ग्रन्थ 'आत्मतत्व विवेक' पर आप एक संस्कृत व्याख्या लिख गये हैं।

"आर्थिक व्यवस्था इस कुल की कुशल मिश्र से भी पहले से संकुचित चली आई है। उससे पहले यह घराना, कहते हैं, धनाढ्य और धराढ्य था। किन्तु धर्माढ्य यह सदैव काल रहा है। सम्वत् १४५० के वैशाख में इस कुल के मुख को समुज्ज्वलकारिणी श्रीमती लौंगा देवी अपने पति श्री नरोत्तम जी पाठक के शव को अंकारोपित कर ग्राम-प्रान्त के नैऋत-कोण में सतीत्व-शय्यारूढ़ हुई थीं। उनका स्मारक एक पाषाण-मठ शिलालेख सहित उक्त पतिव्रता-पूत स्थान पर अद्यापि विद्यमान है। उसमें एक शिवलिंग[1] स्थापित है। वहाँ पर सन्ध्या समय सन्ध्यावन्दनशील क्रियावानों का मन एक अनिर्वचनीय आनन्द का अनुभव करता है।"[2]

श्रीमती लौंगा देवी पाठक जी एवं गिरिधर पाठक के कथनानुसार श्री नरोत्तम शर्मा पाठक की पत्नी है। जबकि अपने वंश-वृक्ष में पाठक जी ने उन्हें रेवतीराम की पत्नी होने का उल्लेख किया है। श्रीमती लौंगा देवी के सम्बन्ध में स्वयं पाठक जी के दो विलोम दृष्टिकोण पाठक जी के वंश-वृक्ष में उल्लिखित उनकी त्रुटि का ही संकेत करते हैं। क्योंकि गिरिधर पाठक एवं शेष परिवार भी उन्हें नरोत्तम शर्मा पाठक की ही पत्नी मानता है, श्री रेवतीराम की नहीं। श्रीमती लौंगा देवी के सम्बन्ध में पाठक जी की निम्नलिखित पंक्तियाँ द्रष्टव्य हैं—

> पन्द्रहवीं शताब्दी बीच सुग्रहीत शुभ
> नाम श्री नरोत्तम शर्मा पाठक प्रयत
> पाणि पीड़ित प्रिया श्रीमती देवि लौं-
> गाभिधा यहाँ पर सती सद्विधि हुई

---

१. श्री गिरिधर पाठक के कथनानुसार शिवलिंग कहीं लेजाया जा रहा था। सती-स्मारक के समीप ही शिवलिंग लेजाने वाला वाहन टूट गया। प्रयत्न करने पर भी शिवलिंग नहीं उठा। फलस्वरूप वह शिवलिंग वहीं स्थापित कर दिया गया।

२. श्रीधर पाठक, 'आराध्य शोकांजलि'—संक्षिप्त जीवन-परिचय, चैत्र शुक्ला ११, गुरौ सम्वत् १९६३।

अतः उस स्थान का तीर्थ सम मान है।
सती मठ मध्य संनिहित शिवलिंग
प्रायः होता वहाँ पर अतः ग्राम के
सुजन समुदाय का सान्ध्य सत्संग है।
पाठकों के सकल मांगलिक कार्य का
सती-अर्चन अनुल्लंघ्य एक अंग है।
अतः उनका कोई कुलज करता नहीं
इस सनातन कुलाचार को भंग है।[1]

पाठक जी के पिता पं० लीलाधर पाठक न तो कुशल मिश्र के समान विद्वान, कवि और लेखक थे और न शास्त्री धरणीधर के समान नैयायिक एवं शास्त्री ही थे। वह पूर्ण गृहस्थ थे और परिवार के धर्मपालन एवं भक्ति-कर्म आदि के सम्बन्ध में परिवार की अन्तिम उल्लेखनीय विभूति थे। भिक्षुक उनके घर से कभी निराश न जाता था। उनके स्वभाव और बोलचाल में स्नेह एवं सरलता का पूर्ण पुट था। अपने इन अप्रतिम गुणों के कारण वह शत्रु को भी मित्र बना लेते थे "अपने पिता को ईश्वर और ज्येष्ठ भ्राता (शास्त्री धरणीधर) को पिता के समान मानते थे। गुरु-चरण में अगाध भक्ति थी।"

वह शास्त्र के परम भक्त थे। ज्योतिष, धर्मशास्त्र एवं कर्मकाण्ड आदि में उनका अटल विश्वास था। इस सम्बन्ध में "न्याय्यात्पथः प्रविचलन्ति पदं न धीरा" को पूर्ण सत्य मानते थे और "अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः" भगवान के इन शब्दों के अनुसार ब्राह्मणों के प्रति उनकी अगाध श्रद्धा थी।

भगवान कृष्ण के प्रति उनकी अटूट भक्ति थी। सम्पूर्ण विश्व को गोपाल-मय मानते हुए उनके अर्चन और आराधन में लगे रहते थे। अपने बैठने के स्थान पर उन्होंने गोपाल जी और श्रीनाथ जी के चित्र सजा रखे थे। वह उनकी ओर घंटों ताकते बैठे रहते थे और भक्ति-भावना से ओत-प्रोत हो नाचने भी लगते थे। भक्तिभावना के भावावेश में वह कभी-कभी कृष्ण-विषयक पदों की रचनाएँ भी करते थे, जो 'आराध्य शोकांजलि' में संग्रहीत हैं। इससे पता चलता है कि उन्होंने स्वयं भी घर के काव्यात्मक वातावरण को अक्षुण्ण रखा था।

---

१. श्रीधर पाठक—'स्वजीवनी'।

उनका विवाह पोलरा (वृन्दावन) के कुलीन वंशज की कन्या श्रीमती लाड़लीदेवी से हुआ था। उनमें अपने परिवार का अध्यवसाय, स्वतन्त्रता और अदम्य साहस था। वह सरलता की प्रतिमूर्ति थीं। संघर्षों के समय वह सदैव अपने पति की सहयोगिनी ही सिद्ध हुई। इन दो महान विभूतियों से ही श्रीधर पाठक का माघकृष्ण १४, सम्वत् १६१६ को जन्म हुआ था। सरलता और भक्ति के आदर्श माता-पिता दोनों के सद्गुण शिशु श्रीधर में स्वयमेव घर कर गये।

अपने ग्राम जोंधरी का वर्णन करते हुए श्रीधर पाठक ने अपने जन्म के सम्बन्ध में लिखा है—

उस
ग्राम में, स्मरण-रमणीय-प्रिय-नाम में,
जन्म अपना हुआ। अर्द्ध उन्नीस सौ-
लह असित माघ निशि अर्द्ध चौदस रविज
वार लग्न भूषित प्रयत याम में[1]

◇ ◇ ◇

पूर्व आषाढ़ नक्षत्र था जन्म का
नाम भूधर का तदनुसार रखा गया
किन्तु पश्चात् कब किसी को ज्ञात नहीं
नित्य का नाम किस भाँति 'श्रीधर' पड़ा
नाम करणादि का स्मरण कुछ भी नहीं।
अक्षरारम्भ का बना कुछ ज्ञान है।[2]

जैसा निवेदन किया जा चुका है कि पं० लीलाधर पाठक भगवद्भक्त एवं धर्मनिष्ठ थे। अपनी इस भावना के कारण ही वह कोटला के भूमिपति ठा० उमरावसिंह के श्रद्धाभाजन थे और वहीं भागवत, रामायण एवं महाभारत आदि का पाठ किया करते थे।

---

१. श्रीधर पाठक, 'स्वजीवनी'—२।
२. श्रीधर पाठक, 'स्वजीवनी'—३।

पाठक जी का जन्म और जीवन

पं० लीलाधर की सन्तानें जीवित न रहती थीं। श्रीधर पाठक भी अपनी शिशु-अवस्था में रुग्ण हो गये। यह दुस्सम्वाद कोटला पहुंचा। पं० लीलाधर भावी आपत्ति से आशंकित हो उठे। पीड़ित हो चल दिये। जोंधरी के समीप आकर सती-मन्दिर के पास के अश्वत्थ वृक्ष के नीचे बैठकर वह रो उठे। उस दिन प्रदोष था। पं० लीलाधर के दुख से करुणार्द्र हो वहाँ से जाते हुए एक साधु ने उनसे प्रदोष व्रत रखने के लिये कहा और विश्वास दिलाया कि उनका पुत्र अच्छा हो जावेगा। ईश्वर की कृपा से शिशु पाठक अच्छा हो गया। लीलाधर पाठक की सात सन्तानों में श्रीधर पाठक एवं दुर्गादेवी दो ही जीवित रहे। दुर्गादेवी का निधन १९४५ ई० के जून मास में हुआ था।

कालान्तर में उनका अक्षरारम्भ हुआ और उन्होंने वर्णमाला बड़ी कठिनता से सीख पाई। वर्णमाला सीखने और स्मरण करने में उन्हें कितना ही समय लगा था। अनन्तर वह कभी अपने पिता जी के पास और कभी शाला में पढ़ने जाते थे। अपने पिता जी से उन्होंने कौमुदी का 'सन्धि-प्रकरण' पढ़ा था। आगे के अध्याय का क्रम परिव्राजक भागीरथी पुरी की सहायता से चलता रहा। यह परिव्राजक शास्त्री धरणीधर के प्रिय शिष्य थे।[1]

स्वामी भागीरथी पुरी से पूर्व उनके प्रथम गुरु पं० उमाशंकर सनाढ्य थे जो उनके पड़ोसी ही थे। भागीरथी पुरी से पाठक जी को कौमुदी आदि के

---

१. अक्षरारम्भ के बाद बहु काल तक
कठिन क्रम से नियत पठन चलता रहा
पिताजी के निकट कभी घर पर कभी
मदरसे में तथा कभी टलता रहा।
पिताजी ने ततः कौमुदी का करा-
या स्वयं सविधि आरम्भ सुमुहूर्त से।
सन्धि का भाग श्रम सहित उनसे पढ़ा,
शेष क्रमबद्ध भागीरथी पुरी से।
थे परिव्राजक-प्रवर वह विज्ञ व्युत्-
पन्न वैयाकरण सुमति सम्पन्न सद्-
व्यसन, सत्संग-प्रिय यदपि संसार से
विरत, निस्संग अति सतत सु-प्रसन्न-मन,

अध्ययन में सहायता मिली थी। मैं समझता हूँ कि वर्णज्ञान के उपरान्त और कौमुदी अध्ययन के पूर्व तक मध्य के विद्यार्थी-जीवन में पं० उमाशंकर द्वारा अध्ययन-सम्बन्धी सहायता मिली होगी।

अन्त में पाठक जी के अध्ययन आदि का यह स्वरूप भी स्थिर न रह सका। शास्त्री धरणीधर एवं लीलाधर दोनों भाइयों के मध्य विचारों में अन्तर आ जाने के कारण लीलाधर को जोंधरी ग्राम छोड़कर 'सोंठि को नगरा' जाना पड़ा जहाँ उन्हें बड़ी निर्धनता से अपना समय काटना पड़ा था। कहते हैं कि पति के संन्यास ले लेने के कारण उनकी बहन उनके पास रहने लगी थी। उन्हीं के सम्बन्ध में किसी बात पर दोनों भाइयों में विद्वेष हो गया था। जिसके फलस्वरूप पाठक जी के पिता को जोंधरी परित्याग करने के लिये बाध्य होना पड़ा।

स्वजीवनी के अन्तर्गत पाठक जी ने अपने पितृव्य शास्त्री धरणीधर की योग्यता एवं लौकिक उदासीनता का वर्णन किया है। उसके साथ ही पं० लीलाधर के साथ उनकी अनैक्य भावना पर भी प्रकाश पड़ जाता है।

भ्रात के साथ त्यों प्रीति-प्राकृत-प्रथा,
प्रेम परिपक्व जो उचित थी सर्वथा,
यथाविधि एक पल भी नहीं चल सकी।[1]

जिसके फलस्वरूप ही—

अतः अध्ययन मेरा सु-क्रम-बद्ध बहु-
काल-पर्यन्त सुस्थिर नहीं रह सका।[2]

मूलतः इस पारस्परिक विद्वेष से पाठक जी के प्रारम्भिक अध्ययन में बड़ा व्यवधान पड़ा और शास्त्री जी के शिष्यत्व का लाभ उठाने से उन्हें वंचित रह

प्रयत आचरण, मानव-सभा-जागरण
विनय-नय-निपुण सौजन्य के सिन्धु, सद्
रुचि, सुजन-बन्धु और छात्र थे वह स्वयं
पितृ-चरण-भ्रात के नाम जिनका रहा
देश सुग्रहीत श्रीयुक्त शास्त्री जगद्-
विदित धरणीधर।

—स्वजीवनी

१, २. श्रीधर पाठक—'स्वजीवनी'।

जाना पड़ा। उनके पिताजी स्वयं संस्कृत के विद्वान न थे। स्वामी जी भी अधिक दिनों तक न ठहर सके थे। इससे उनका संस्कृत अध्ययन रुक ही गया। तथापि अध्ययन आदि की अभिरुचि के कारण प्राचीन संस्कृत साहित्य जो उनके घर में संग्रहीत था वह तत्परतापूर्वक पढ़ते रहे।[1]

बिना गुरु के यद्यपि इस प्रकार के अध्ययन से लाभ कम ही हुआ। अन्ततोगत्वा वह इस अध्ययन को त्यागकर ग्राम-स्थित हिन्दी-पाठशाला में प्रविष्ट हुए। पाठशाला के उत्साहप्रद वातावरण में गणित, भूगोल एवं इतिहास आदि विषयों से उनका परिचय हुआ।

प्राचीन-शिक्षण-परिपाटी के स्थान पर नवीन शिक्षण प्रणाली उन्हें विशेष प्रिय लगी। दो-डेढ़ वर्ष तक अध्ययन का यह क्रम बिना किसी व्यवधान के चलता रहा। अन्त में फीरोजाबाद के तहसीली स्कूल में अध्ययन के लिये प्रविष्ट हुये। सौभाग्य से इस प्रारम्भिक विद्यार्थी-जीवन का विवरण 'स्वजीवनी' से भी मिल जाता है—

पिता जी तो स्वयं बड़े पंडित न थे
उक्त स्वामी बहुत दिन नहीं टिक सके
संस्कृताध्ययन इस भाँति बहू काल को
दैव दुष्टि से बहुत कुछ रुक गया।
किन्तु मम-प्रकृति गति अतिहि अनिरोध्य थी,
विघ्न बाधादि से अति अनवरोध्य थी,
अतः मैं स्वयं प्राचीन ग्रंथादि को,
जो कि घर में धरे विविध बहु संख्य थे,
किसी भी दूसरे के सहारे बिना,
परम शुचि प्रेम औत्सुक्य, त्यों सुरुचि से,
नित्य ही देखने तथा पढ़ने लगा,
और यह शौक अब रोज बढ़ने लगा।
किन्तु इस कृत्य से लाभ अति कम हुआ

१. प्रारम्भ में इन्हें संस्कृत पढ़ाई गई और १०-११ वर्ष की अवस्था में अपनी तीव्र बुद्धि से उस भाषा में इन्होंने इतनी योग्यता प्राप्त करली कि संस्कृत में बोलने और लिखने लगे।

—डा० श्यामसुन्दरदास—'हिन्दी कोविद रत्नमाला', भाग १।

त्वरित अतएव तब उसे तजना पड़ा
और ग्रामस्थ वर्नाक्यूलर स्कूल की,
निपट निरुपाय हो, शरण पड़ना पड़ा
स्कूल-क्रम परम आमोद प्रद था।
निपट नवल था, अतः औत्सुक्य का मूल था,
तथा मन चित्त के अतीव अनुकूल था।
गणित भूगोल इतिहास आदिक विषय
प्रचुर चातुर्य-प्रद रुचिर अति ही लगे
स्वगृह-प्राचीन-शिक्षण प्रथा त्याग कर
स्कूल में पढ़ने का अतः प्रण कर लिया
और निज हृदय में प्रबल अभिलाष युत
सु-प्रण-निर्वाह का सुदृढ़ व्रत धर लिया।[1]

◇ ◇ ◇

बरस दो डेढ़ तक स्कूल-अध्ययन-क्रम
अति व्यतिक्रम-रहित सुविधि चलता रहा।
बाद को ग्राम तज फिरोजाबाद तह-
सील के स्कूल में युक्त होना पड़ा।[2]

कोटला-स्थित हिन्दी-शाला के १८७४ ई० के एक संस्मरण का निम्न उल्लेख स्वयं पाठक जी ने श्री बनारसीदास चतुर्वेदी से किया था—

"पाठक जी के हिन्दी स्कूल कोटला में इन्सपेक्टर लायड साहब वार्षिक परीक्षा लेने आये। ऊँची दफाओं के लड़कों को पढ़ने के लिये खड़ा किया गया। पाठक जी नीची दफा में थे, पर उनको सब-डिप्टी इन्सपेक्टर ने ऊँची दफा के साथ पढ़ने को खड़ा कर दिया। उनके पढ़ने की बारी आई तो उन्होंने भूगोल की पुस्तक में से, जो थोड़ी देर पहले ही उन्हें पारितोपिक में मिली थी, पढ़ा— "दाबहचज उस धरती का नाम है जो चिनाब और झेलम के बीच में है।"

साहब—इसका मतलब कह सकता है ?

पाठक जी—"चिनाब को च लयौ और झेलम को ज लयौ—चज बनि गयौ।"

सबने मुँह में उँगली दी। डिप्टी इन्सपेक्टर, सब-डिप्टी इन्सपेक्टर, अध्यापक

---

१. श्रीधर पाठक, 'स्वजीवनी'—४।

२. श्रीधर पाठक, 'स्वजीवनी'—५।

आश्चर्यचकित हो गए। यह बात ध्यान देने योग्य है कि पाठक जी ने इस पुस्तक को पहले कभी नहीं पढ़ा था और न दोम्राब का नाम ही कहीं सुना था।"[1]

उपर्युक्त संस्मरण से पाठक जी की बाल-सुलभ मौलिक प्रतिभा का परिचय अवश्य मिलने लगता है। यह प्रतिभा ही क्रमशः अभिवृद्धि को प्राप्त होती गई, जिससे साहित्य-क्षेत्र में कितनी ही मौलिक प्रवृत्तियों को वह सफलतापूर्वक सन्निविष्ट कर सके थे।

इसके अतिरिक्त प्रकृति के प्रति भी उनका अटूट अनुराग था। अपने बाल-जीवन में ही प्रकृति के उन्मुक्त वातावरण में वह घूमा करते थे। प्रकृति के विशुद्ध आनन्द का उपभोग करने के लिए उन्हें अपने किसी बाल-सहचर की भी आवश्यकता न हुआ करती थी। इस प्रकार का भ्रमण करते हुए वह यत्र-तत्र से पत्थर के टुकड़े तथा शंख आदि एकत्रित करते जाते थे, जिनसे वह अपने साधारण कमरे को सजाया करते थे, जो उस ग्रामीण वातावरण में भी जन-समुदाय के कौतूहल का विषय रहा करता था।

"इस अवस्था में इन्हें आप-ही-आप चित्र खींचने और मिट्टी की सुन्दर मूर्तियाँ बनाने तथा प्राकृतिक शोभा की विविध वस्तुओं के संग्रह करने में अभिरुचि उत्पन्न हुई और इसी व्यवसाय में ये तत्पर रहे।"[2]

इस स्थल पर यह उल्लेख करना भी उचित ही होगा कि सातवें वर्ष में पाठक जी का उपनयन संस्कार हुआ था। उन्हें अपने पूज्यपाद पिताजी से मंत्र-दीक्षा मिली। वह सन्ध्या-वन्दन आदि में बड़े ही नियमित थे। ग्यारहवें वर्ष में गोकुल के समीप के चौहरी नामक सुन्दर ग्राम के एक सुकुल की कन्या से उनका पाणिग्रहण संस्कार भी हुआ था; किन्तु उनकी वह पत्नी निस्सन्तान ही मर गई थी।[3]

"१४ वर्ष की अवस्था में उनका बाधित अध्ययन फिर प्रारम्भ हुआ; पहले तो कुछ फ़ारसी पढ़ी और सन् १८७५ ई० में तहसीली स्कूल में हिन्दी की

---

१. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी—'संस्मरण', भारतीय ज्ञानपीठ, काशी।

२. डा० श्यामसुन्दर दास—'पं० श्रीधर पाठक', हिन्दी कोविद रत्नमाला (इ० प्रे०)।

३. श्रीधर पाठक, 'स्वजीवनी'—३।

प्रवेशिका परीक्षा पास की। इस परीक्षा में प्रान्त भर में उनका नम्बर पहला रहा।"[1]

तहसीली स्कूल फीरोजाबाद में प्रविष्ट होने से पूर्व उनका समय यों ही व्यर्थ में बीत रहा था। अन्त में तहसीली स्कूल फीरोजाबाद के अध्यापक पं० जयराम को जब यह ज्ञात हुआ कि पाठक जी पढ़ने के लिए स्कूल में नहीं आ रहे है तब वह स्वयं जोंधरी गए और 'भाषा भास्कर' तथा 'रेखागणित' से कितने ही प्रश्न पूछे—उनके उत्तर ठीक निकले। अन्त में उन्होंने पाठक जी को मिडिल स्कूल का अध्ययन अग्रसर रखने की प्रेरणा दी।

अध्यापक पं० जयराम का यह कार्य शाला में विद्यार्थियों की संख्या कम रहने के कारण भी पाठक जी को प्रेरित करने का हो सकता है; किन्तु यह सत्य है कि उनके कारण पाठक जी के अध्ययन आदि के सम्बन्ध में प्रोत्साहन अवश्य मिला। जीवन-निर्माण के इस प्रारम्भिक शिलान्यास की महत्ता का अनुभव कर वह उनके व्यक्तित्व को बड़े सम्मान से स्मरण किया करते थे। उनके सम्बन्ध में पाठक जी की निम्न भावनाएँ थीं—

"पूज्य पं० जयराम जी उन हिन्दुस्तानी ग्रामीण सज्जनों के नमूना थे, जिनके कारण ग्राम्य समाज अपना गौरवयुक्त स्थान सुरक्षित किये हुए है। उनमें वे सब गुण थे जो एक साधारण मनुष्य को सच्चे मनुष्यत्व की पदवी प्रदान करते हैं। सबसे प्रथम उनके गुणों में गणनीय उनका स्वास्थ्य था। उनका भव्य मुख-मण्डल, जिसमें बुद्धि की तीव्रता, सात्विक भावव्यंजक मस्तक की विशालता, आन्तरिक महत्व-प्रदर्शक नेत्रों की तेजस्विता, गौर वर्ण की समुज्ज्वलता सहित अपनी सत्ता का स्वतन्त्र रीति से साक्ष्य देती थी, उनके मित्र और शिष्य वर्ग के हृदय पर शाश्वत प्रभाव उत्पन्न करने की शक्ति रखता था। वे सब प्रकार की सहनशीलता की मूर्ति थे। मुझको उनमें कोई भी अवगुण दृष्टि नहीं आता है।"[2]

तहसीली स्कूल में प्रविष्ट होने के उपरान्त उन्होंने १८७५ ई० में 'हिन्दी प्रवेशिका', चार वर्ष उपरान्त १८७९ ई० में आगरा कालेज से 'अंग्रेजी मिडिल'

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास, 'पं० श्रीधर पाठक', हिन्दी कोविद रत्नमाला (इ० प्रे०)।

२. बनारसीदास चतुर्वेदी, 'कविवर पं० श्रीधर पाठक', संस्मरण, भारतीय ज्ञानपीठ काशी, पृष्ठ ३४।

एवं १८८०-८१ ई० में कलकत्ता विश्वविद्यालय की एण्ट्रेन्स परीक्षाएँ प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। एफ० ए० के प्रथम वर्ष में कुछ दिन अध्ययन भी चला; किन्तु प्रिन्सिपल से झगड़ा हो जाने के कारण अध्ययन छोड़ देना पड़ा। इस प्रकार शिक्षा का क्रमिक अध्ययन इस स्थल पर ही समाप्त हो गया; किन्तु इलाहाबाद में जब वह लाट साहब के कार्यालय में नौकर थे, उन्होंने म्योर सैंट्रल कालेज में दो वर्ष कानून का अध्ययन भी किया था; किन्तु सरकारी कार्य से उनको नैनीताल जाना पड़ा, जिससे वह कानून की परीक्षा न दे सके थे।

एण्ट्रेंस परीक्षा उत्तीर्ण युवक श्रीधर पाठक १८८१ ई० में जीवनोपयोगी समुचित कार्य प्राप्त करने के लिए २० रुपए लेकर प्रयाग में आए।[१] कुछ समय तक इसी लालसा से उन्होंने पोस्ट मास्टर जनरल के कार्यालय में अवैतनिक कार्य भी किया; किन्तु पाठक जी इस समय अपने अस्त-व्यस्त जीवन से दुखी एवं बाधित थे। इस समय ही उनका साक्षात्कार पं० मदनमोहन मालवीय के पितृव्य पं० जयगोविन्द मालवीय से हुआ। उन्होंने उनको गवर्नमेंट हाई स्कूल, इलाहाबाद में एक अध्यापक के स्थान पर नौकर करा दिया। दो-तीन मास के उपरान्त १८८१ ई० ही में साठ रुपए मासिक वेतन पर उन्हें कलकत्ते में सेंसस कमिश्नर के स्थायी कार्यालय में नौकरी मिल गई। इस नौकरी में ही प्रथम बार उन्हें शिमला जाने का अवसर मिला, जहाँ वह हिमालय के नयनाभिराम रम्य दृश्यों को देखकर गद्‌गद् हो गए थे। ११ मास यह नौकरी करने के पश्चात् वह पुनः प्रयाग लौट आये। इस समय ही रेलवे की नौकरी मिल जाने से वह रेवाड़ी चले गये; किन्तु अपने प्रस्थान करने के समय वह लाट साहब के कार्यालय में प्रार्थना-पत्र देकर गए थे। उक्त कार्यालय के अधिकारी ने पाठक जी के प्रार्थना-पत्र में लिखित अंग्रेज़ी से प्रभावित होकर उन्हें ३० रुपए मासिक वेतन पर पब्लिक वर्क्स डिपार्टमेंट में स्थान दिया। अन्ततः रेलवे की नौकरी से त्यागपत्र देकर वह पुनः प्रयाग आ गये और अपने विभागीय कार्य के सम्बन्ध में उन्हें कितनी ही बार नैनीताल जाने का अवसर मिला। शिमला के समान नैनीताल के प्राकृतिक दृश्यों ने भी उन्हें मुग्ध कर लिया। १८९८ ई० में जब उनका वेतन २०० रुपया मासिक था वह आगरा को स्थानान्तरित हुए। वहाँ वह Divisional Head Clerk बनाये गए तथा डिप्टी सुपरिन्टेन्डेन्ट के रुग्ण हो जाने पर उस पद पर भी उन्होंने बड़ी योग्यता से कार्य

---

१. श्री रामजीलाल शर्मा—स्व० पं० श्रीधर पाठक, 'विद्यार्थी', भाद्रपद १९८५ वि०।

किया। १९०१ ई० में ३०० रुपए मासिक वेतन पर नव स्थापित इरीगेशन कमीशन के सुपरिन्टेन्डेन्ट के पद पर उन्हें नियुक्त किया गया था। उस पद पर उन्होंने १९०३ ई० तक कार्य किया। इस पद पर रहकर ही उन्हें सम्पूर्ण भारत के भ्रमण करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। इस कमीशन के टूटने पर ही तीन मास का अवकाश लेकर वह काश्मीर गए थे। इस अवसर ने ही उन्हें 'काश्मीर सुषमा' जैसा अमर काव्य रचने की प्रेरणा दी थी।

अनन्तर सरकारी नौकरी के सम्बन्ध में उन्हें पुनः शिमला जाने का सौभाग्य मिला था। वहाँ किसी अंग्रेज अफ़सर से संघर्ष हो जाने के कारण १९१४ ई० में उन्होंने सरकारी नौकरी से अवकाश ग्रहण कर लिया।

"पाठक जी सरकारी काम बड़े परिश्रम और सावधानी से करते हैं और उत्तम अंग्रेज़ी लिखने के लिए ख्यात हैं। सन् १८९८-९९ की प्रान्तीय इरीगेशन रिपोर्ट में आपकी प्रशंसा छपी है।"[1]

सरकारी नौकरी से अवकाश-ग्रहण करने के उपरान्त उन्हें १५० रुपये मासकीय राजकीय पेन्शन मिलने लगी। अनन्तर उन्होंने लूकरगंज प्रयाग में अपने निवास के लिये 'पद्मकोट' नाम का सुन्दर बंगला बनवाया था। वह बंगला पाठक जी के जीवन-काल तक साहित्यिकों का तीर्थस्थान रहा। सुन्दर उद्यानों के कारण वह बड़े ही रमणीक दृश्य प्रस्तुत करता था। पाठक जी से यदि कोई भेंट करने भी जाता था तो या तो वह साहित्य-सर्जना में तत्पर दिखलाई पड़ते थे या अपने उद्यान में। स्वच्छता उन्हें बड़ी प्रिय थी। इसी भावना के कारण वह बंगले के बड़े फाटक न खोलते थे। उन्हें भय था कि घोड़ा-गाड़ी आकर बंगला की भूमि को विषम कर देंगे तथा घोड़े की लीद एवं पेशाब आदि से वहाँ गंदगी फैलेगी।

पाठक जी श्वास और खाँसी के असाध्य रोग से कितने वर्ष ही पीड़ित रहे थे। इसके कारण ही उन्होंने कितनी बार ही प्रयाग से परिवर्तन के लिये यात्राएँ की थीं। श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय से पाठक जी का इस रोग के कारण पत्र-व्यवहार हुआ था। वे पत्र 'विशाल भारत' के फरवरी १९२९ के अंक में श्री पाण्डेय जी ने 'कविवर पं० श्रीधर पाठक से भेंट' शीर्षक लेख के अन्तर्गत प्रकाशित कराये हैं।

---

१. डा० श्यामसुन्दर दास, 'पं० श्रीधर पाठक', हिन्दी कोविद रत्नमाला, भाग १ (इ० प्रे०)।

पाण्डेय जी अपना 'प्रवासी' नामक काव्य पाठक जी से संशोधित कराना चाहते थे; किन्तु ११ सितम्बर, १९०६ ई० एवं १५ नवम्बर १९०६ ई० के पत्रों में अपनी रुग्णावस्था से विवश होकर उक्त काव्य पाठक जी ने स्वयं कवि के पास ही लौटाल दिया था। पाठक जी २५-१०-१९१४ ई० के पत्र में लिखते हैं—

"आपके पूर्व समागम के समय मैं समझता हूँ कि मैं रुग्ण अथवा एक कठिन रोग से मुक्त होकर निर्बलता से निवृत्ति पाने में प्रवृत्त था—इसी कारण आपकी आज्ञापित सेवा मैं न कर सका। आप प्रसंग को अपनी स्मृति में स्थान दिये हुए हैं, परन्तु मैं सचमुच भूल ही गया था। कारण यह है कि तब से मैं निरन्तर रुग्ण ही रहा हूँ और आजकल तो श्वास के राजरोग से अनवरत महाभारत में निरत रहना पड़ता है।"

आपने ८ नवम्बर १९२३ ई० के पत्र में श्री पाण्डेय जी को लिखा था—

"आप जानते होंगे कि मैं वर्षों से श्वास-रोग से ग्रसित हूँ। उसी रोग के कारण इस शीत ऋतु का कुछ भाग मैं श्री जगन्नाथपुरी में व्यतीत करना चाहता हूँ।······आप उत्कल भाषा के श्रेष्ठ कवि हैं। अतः सम्भव है वहाँ आपके कोई मित्र हों। यदि हों तो उनके नाम और पते आप मुझको बतादें तो बड़ा अनुग्रह हो।"

इस सम्बन्ध में पाठक जी के उत्कल प्रान्त के महामहोपाध्याय पं० जगन्नाथ मिश्र तर्कसांख्य, न्यायतीर्थ एवं श्रीयुत शशिभूषण राय काली गढ़ी कटक से पत्र-व्यवहार चला था। उन दिनों पुरी अस्वस्थ क्षेत्र था। इसलिये पाठक जी ने वहाँ जाने का विचार त्याग दिया था।

इसी रुग्णावस्था के कारण पाठक जी का हिन्दी के 'द्विवेदी-युग' के प्रमुख निबन्ध लेखक जबलपुर-निवासी पं० गंगाप्रसाद अग्निहोत्री से भी पत्र-व्यवहार हुआ था। अग्निहोत्री जी के लिये पाठक जी द्वारा लिखित पत्र-राशि में से दो पत्र द्रष्टव्य हैं—

१. श्री प्रयाग

११–७–२०

प्रियवर प्रणौमि,

कृपा पत्र प्राप्त हुआ। मैं अभी बीमार ही हूँ और बड़ी कठिनता से यह पत्र लिख रहा हूँ। श्वास रोग बड़ा कष्टप्रद है।

मनोविनोद पहुँचा या नहीं। कृपया सूचित कीजियेगा। न पहुँचा हो तो दूसरी कापी भेजी जाय।

कृ० श्रीधर पाठक[1]

२. श्री प्रयाग

३०-४-२१

प्रियवर

नमस्कार।

चिरकाल से आपका कुशल-वृत्त अवगत नहीं हुआ। आशा है आप सर्वथा प्रसन्न होंगे। आपको यह जानकर किञ्चित कुतूहल होगा कि मैं ग्रीष्म व्यतीत करने को आपके प्रान्त में प्रविष्ट होने का संकल्प कर रहा हूँ। पँचमढ़ी में पाँच मास रहना चाहता हूँ। यदि वहाँ पर आपके कोई मित्र व परिचित प्रेमी हों तो क्या उनकी सहायता से मुझे समीचीन मकान किराये पर मिल सकेगा। मैं अकेला ही आऊँगा। शायद एक भृत्य साथ होगा, यदि यहाँ से चलने को कोई राजी हुआ तो—नहीं तो नौकर भी C. P. में ही नियुक्त करना पड़ेगा—मैं कुछ घंटे जबलपुर में शायद ठहरूँ और आपके दर्शन करूँ। अभी शरीर शिथिल ही है और सेवा चाहता है। जबलपुर बदलने की भी सख्त जरूरत है। यदि जबलपुर से नौकर मिल सका तो अति ही सुभीता हो।

कृपैषी

श्रीधर पाठक

श्वास एवं खाँसी के प्रकोप के कारण ही डाक्टरों की राय से उन्होंने सपरिवार परिवर्तन के दृष्टिकोण से देहरादून की यात्रा की थी। वहाँ लाभ न होने के कारण वह दस दिन के लिये शिमला भी गये थे, किन्तु स्वास्थ्य-लाभ न होने के कारण वह पुनः प्रयाग लौट आये। इसी यात्रा के प्रसंग में पाठक जी ने १९१५ ई० में 'देहरादून' नामक रचना प्रस्तुत की थी।

नवम्बर १९२८ ई० के 'विशाल भारत' में प्रो० सत्यव्रत सिद्धान्तालंकार, गुरुकुल कांगड़ी ने "पं० श्रीधर पाठक के अन्तिम दिन—मसूरी के कुछ संस्मरण" में पाठक जी के अन्तिम दिनों के कुछ विवरण अंकित किये हैं। प्रो० सत्यव्रत जी की ३ सितम्बर १९२८ की भेंट-बेला पर पाठक जी ने कहा था—"मसूरी

१-२. श्री गंगा प्रसाद अग्निहोत्री को लिखित पाठक जी के पत्र—श्री हरिकृष्ण त्रिपाठी, दीक्षितपुरा जबलपुर के पास संग्रहीत हैं।

तो मेरे लिये नैनीताल की अपेक्षा भी हितकर है।"

◇ ◇ ◇

"अपने को निराश्रय अनुभव करना महापाप है। मनुष्य में स्वशक्ति होती है उसका विकास करना ही जीवन का लक्ष्य होना चाहिये। शक्ति का विकास और सौन्दर्य का विकास एक ही बात है। इसी को मैं ईश्वर-शक्ति कहता हूँ।"

उपर्युक्त पंक्तियों से उनका दार्शनिक होना स्पष्ट व्यक्त होता है। ६ सितम्बर १९२८ ई० को प्रो० सत्यव्रत विलोलाज में पुनः पाठक जी से मिलने पहुँचे। वह बुखार से पीड़ित थे। उल्टियों से दुखी होकर उन्होंने क्लोरोडीन खाली थी। गुरुकुल कांगड़ी के आचार्य प्रो० रामदेव ने पाठक जी से कांगड़ी चलने का आग्रह किया। इस पर उन्होंने बड़ी ही करुण मुद्रा से उत्तर दिया था —"अब तो आप लोगों के कन्धों पर चढ़कर परलोक की यात्रा करूँ।······ स्वामी श्रद्धानन्द जी मुझसे दो साल बड़े थे। स्वामी जी को परलोक-यात्रा किये दो साल हो गये। अब मेरा समय भी स्वामी जी के पास पहुँचने का हो गया।" ९ सितम्बर १९२८ ई० को दस्त में खून आया। डा० लेखराम को बुलाने का विचार हुआ। उनका उत्तर था—"भैया, रहने दो वह मेरा क्या बना लेंगे?"

१२ सितम्बर १९२८ को प्रातः गिरिधर पाठक मसूरी पहुँचे। १४ सितम्बर के मध्याह्न में नीचे जाने का निश्चय था। १३ सितम्बर को पाठक जी ने प्रो० सत्यव्रत से कहा—'कुछ होगा नहीं।'

प्रो० सत्यव्रत—'आप शीघ्र ही ठीक हो जावेंगे।'

पाठक जी—'विपरीततामुपगते हि बिधौ विफलत्वमेति बहु साधनता'

नीचे ले चलने के आग्रह पर—'कल कल तो मैं उलटी करता हुआ जाऊँगा' —उन्होंने कहा था। १३ सितम्बर को अपने पिता की अस्वस्थता एवं बढ़ते रोग के सम्बन्ध में श्री गिरिधर पाठक ने एक पत्र अपने भाई वाग्धर पाठक और एक पत्र अपनी बहिन ललिता पाठक को लिखा था।

१३ सितम्बर १९२८ को सायंकाल तक रोग बढ़ता ही गया। थूकने के लिए उठने पर भी श्री गिरिधर पाठक द्वारा पीछे से सहारा दिया गया। हृदय की गति अवरुद्ध हो गई। डाक्टर ने इन्जैक्शन दिये, थोड़ी स्वाँस आई। अनन्तर पुनः न लौटने के लिये वह सदैव के लिये चली गई। पाठक जी ने १३ सितम्बर को ठीक साढ़े आठ बजे रात्रि में यह महायात्रा की। १४ सितम्बर को अर्थी मसूरी के लण्ढौर बाजार होती हुई श्मशान की तरफ चली गई। अर्थी के आगे-

आगे वेद-ऋचाएँ उच्चारित हो रही थीं।

उनके निधन से लूकरगंज का पद्मकोट श्री-विहीन हो गया, पाठक-परिवार निस्संबल हो गया, उनकी विधवा पत्नी और लाड़ली आत्मा ललिता रोती-कलपती रह गई तथा उनके पुत्र गिरिधर तथा वाग्धर के समक्ष अन्धकार छा गया। पाठक जी के 'हरि' ने उनके निधन में अपना भक्त, 'हिन्द' ने अपना अनन्य प्रेमी तथा 'हिन्दी' ने अपने अनन्य साधक और संरक्षक को खोया। पाठक जी की अध्ययनशीलता एवं मानवोचित परिस्थितियों के चित्रण में उनकी अभिरुचि ने उन्हें एकदम मौलिक बना दिया था। उनके इस स्वरूप से ही हिन्दी को दृढ़ता और लोकप्रियता प्राप्त हुई थी। उनकी इस भावना में ही विश्व-जनीन मानव-सत्य का समावेश था, जिससे हिन्दी-काव्य में एक नवीन मोड़ का सूत्रपात हो सका। अपने ऐसे सक्रिय-महापोषक के गोलोकगमन पर हिन्दी आठ-आठ आँसू बहाकर क्यों न रोती?

पाठक जी का जन्म रूढ़िवादी सनातनी परिवार में हुआ था। इस परम्परा का युक्ति-युक्त पालन उनके पिता जी के जीवन-काल तक सन्तोषजनक चलता रहा। पाठक जी उस वातावरण में रहते हुए भी उस लोक के प्राणी न थे। उनमें जीवन की परख थी और मानव के संवेदनात्मक विकारों के प्रति निष्ठा थी। इससे जीवन की केवल एक-पक्षीय भावनाओं को अपनाने में वह समर्थ न रह सके। उनके द्वारा विश्व और मानव के सत्य का स्वागत किया गया। इसके प्रमाण के लिए उनका सम्पूर्ण स्वच्छन्दतावादी, प्राकृतिक एवं राष्ट्रीय काव्य प्रस्तुत किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में उनके पिताजी के जीवन-वृत्त का निम्न अंश दृष्टव्य है—

"अपनी संतान पर अपरिमित प्रेम था। मैं उनका एक ही अवशिष्ट पुत्र हूँ; मुझे गोपाल जी का प्रसाद समझते थे, यद्यपि मेरे अंग्रेजी-संसर्ग-दूषित स्वतन्त्र सिद्धान्तों पर प्रायः खेद करते थे। अन्तर में मुझ पर प्रसन्न थे, पर मेरे सामने मेरी बड़ाई कभी न करते थे; ऐसा करना हानिकारक मानते थे। मुझ पर उनका अथाह वात्सल्य था। मेरी भक्ति-विषयक कविता की प्रशंसा करते थे। परन्तु शेष को व्यर्थ की बकवाद बताते थे। उनकी आज्ञा थी कि सब कविता केवल भगवत्-सम्बन्ध में होनी चाहिये; परन्तु इस आज्ञा का पालन मुझसे न हो सका। इसका मुझे बहुत अनुताप है।"[1]

उपर्युक्त से पाठक जी के परम्परागत संस्कार और मौलिकता पर सम्यक्

---

[1] श्रीधर पाठक—आराध्य शोकांजलि, जीवनवृत्त, पृष्ठ २३।

प्रकाश पड़ता है। संस्कारवादी भावनाओं से प्रेरित होकर ही उन्होंने 'श्री गोपिका गीत' एवं भगवद्विषयक रचनाएँ की थीं और अपने पूज्यपाद पिता के लिये भागवत् की प्रतिलिपि की थी।

पाठक जी के पिता बड़े ही ब्राह्मण-निष्ठ थे। इस सम्बन्ध में 'अविद्यो वा सविद्यो वा ब्राह्मणो मामकी तनुः' शास्त्रीय वाक्य पर उनका पूर्ण विश्वास था। वह अपने ब्राह्मण चौकीदार तक को सदा ही श्रद्धा की दृष्टि से देखा करते थे और मकर संक्रान्ति तथा अन्य अवसरों पर दान आदि देने के समय 'लाओ चरण छुइ लेन देउ' कहकर उसके चरण तक स्पर्श करते थे। वैशाख सं० १९६२ वि० में प्रयाग में सर्व प्रायश्चित्त करवाने में भी उनका यह विप्र-प्रेम स्पष्ट प्रमाणित था। पाठक जी भी अपने पिता जी की परम्पराओं को ज्यों का त्यों मानते रहे।

अपढ़ ब्राह्मण चौकीदार का वह वैसा ही सम्मान करते रहे जैसा उनके पिता जी के समय में होता था।—"ये ब्राह्मण मेरे पिताजी के समय का है। वह इसका बड़ा आदर करते थे, यह नाममात्र का चौकीदार है। वस्तुतः यह पेंशन पाता है।"[1]

यद्यपि वे वर्णाश्रम धर्म के पक्षपाती और प्राचीन साहित्य के प्रति अत्यन्त श्रद्धालु थे; किन्तु साम्प्रदायिक संकीर्णता एवं अन्ध-विश्वास उनमें नहीं था। इस सम्बन्ध में यह कहा जाता है कि एण्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण होने के उपरान्त नौकरी की खोज में वह प्रयाग प्रस्थान करने वाले थे। इसी समय छींक हुई। उनके बाबा पं० लक्ष्मण मिश्र ने उन्हें यह यात्रा स्थगित करने के लिये आदेश भी दिया; परन्तु वह उसका पालन न कर सके। उपर्युक्त संस्मरण उनकी स्वच्छंद विचारधारा सिद्ध करता है, जिसमें युवावस्था के आवेग और निर्भीक आत्म-विश्वास का सम्मिश्रण था।

श्री रामदास गौड़ एम० ए० ने जनवरी १९२९ के 'विशाल भारत' में 'स्व० पाठक जी के कुछ संस्मरण' के अन्तर्गत लिखा है—

"मुझे चक्कर आता था। एक दिन पाठक जी ने कहा—मुझे एक बार चक्कर आने लगा तो मेरी माता ने चक्कर निवारण करने वाली एक मणिका मेरे गले में डाल दी। तुम्हें विश्वास हो तो तुमको भी वह मणिका मँगवादूँ।

१. श्री रामदास गौड़, 'स्व० पाठक जी के कुछ संस्मरण', विशाल भारत, जनवरी १९२९।

पाठकजी ने वह मणिका उनके गले में पहनाई—"भाई तुम वैज्ञानिक हेतु पूछोगे तो मैं कुछ न बता सकूंगा।"

यों उपर्युक्त दोनों ही संस्मरण विरोधात्मक हैं। द्वितीय में यद्यपि अन्ध-विश्वास है तथापि उसमें माता के प्रति निष्ठा भी झलकती है। मैं तो इसे परिस्थितियों के अनुकूल ही आचरण करना कहूँगा या दूसरे शब्दों में यह भी कहने का साहस करूँगा कि जीवन के अनुभवों ने पाठक जी जैसे निर्द्वन्द्व युवक को भी विश्व के परम्परागत विश्वास के समक्ष विनीत कर दिया था।

पाठक जी की उपर्युक्त तथा उनके जीवन की अन्य विचारधाराएँ इस प्रकार की हो सकती हैं, जिनसे सभी सहमत न हों; किन्तु उनमें उदारता और सरलता कूट-कूटकर भरी हुई थी। अपने रसोइया को उन्होंने अंग्रेजी और हिंदी बड़े मनोयोग से पढ़ाई थी। अन्त में Survey of India में उसे नौकर करा दिया। उसी प्रकार मलाया के प्रवासी भारतीय का पत्र आने पर भारत-स्थित उसके पुत्र की उन्होंने सदैव चिन्ता रखी और उसको भी स्थायी नौकरी दिलाई थी। विद्या-दान की उनकी बड़ी ही अभिरुचि थी। मसूरी के अपने अन्तिम दिनों में वह एक लड़के को अंग्रेजी पढ़ाया करते थे। इस सम्बन्ध में किसी भी सत्पात्र को देखकर वह विद्या-दान में ज़रा भी संकोच न करते थे।

राजनीतिक विचारों की उग्रता के कारण श्री बालमुकुन्द गुप्त जी को 'हिन्दोस्थान' के सम्पादक-पद से हटना पड़ा था। इस समय अंग्रेजी ज्ञान करने की उन्हें आवश्यकता प्रतीत हुई। इसमें पं० श्रीधर पाठक ने श्री गुप्त जी को पूर्ण सहयोग दिया था। इस सम्बन्ध के पाठक जी के दो-एक पत्र बड़े ही महत्वपूर्ण हैं—

श्री प्रयाग

२०–११–६१

मित्रवर,

१८ का कृ० का० प्राप्त हुआ—आपका साहस और उत्साह (विद्योपार्जन में) सराहने योग्य है, चार रीडर आपने समाप्त कर लीं, यह सुनकर बड़ा आनन्द हुआ। Practical English के लिए यदि रामकृष्ण खत्री, बनारस को लिखियेगा तो वह वी० पी० पी० से भेज देगा। प्रथम पार्ट मँगाइये। दाम

पाँच छः बरस हुये उन्नीस या बीस आने था। अब भी वही या कुछ कम होगा।

अधिक आज्ञाओं का प्रतीक्षक

आपका शुभैषी
श्रीधर पाठक [1]

श्री प्रयाग
११-२-६२

मित्रवर,

आप अवश्य कापी मेरे पास भेजिये, मैं उसे देखकर पूर्ववत् लौटाल दिया करूँगा और Companion का लेना भी अच्छा होगा।

मैंने उर्दू सीखने का आरम्भ पुनः किया है और शायद शब्दों के अर्थों के लिये आपको कष्ट देना पड़ेगा बं० वा० में वि० देने का अभी इरादा है।

शुभैषी
श्रीधर पाठक [2]

इस प्रकार यह पूर्ण स्पष्ट है कि वह दूसरे के पढ़ाने और स्वयं पढ़ने के लिये बड़े उत्साहित रहा करते थे।

जीवन के दारुण संघातों को सहन करती हुई मूक और नियंत्रण के बंधन को भी आशीर्वाद-सा शिरोधार्य करती हुई युगों-युगों से दलित और पीड़ित भारतीय नारी के प्रति भी पाठक जी का ध्यान गया था। वह स्त्री को भी पुरुष के समान ही सम्मान्य पद देने की विचारधारा रखते थे। वह पाश्चात्य नारी के निर्लज्ज और स्वच्छन्द तथा प्राच्य नारी के नियंत्रित एवं बाधित स्वरूपों को पसन्द न करते थे। इस सम्बन्ध में वह पाश्चात्य एवं प्राच्य विचारों के सम्मिश्रण से निर्मिता नारी के स्वरूप के भक्त थे। इसी से नारी-शिक्षा को उन्होंने विशेष प्रोत्साहन दिया था और अपनी विचारधारा को कार्यान्वित करने के लिये अपनी सुपुत्री ललिता पाठक को अपने समय में ही विश्वविद्यालय की उच्च शिक्षा दिलाई थी।

पाठक जी बड़े ही मेधावी और प्रतिभावान थे। उनके सम्बन्ध में यह प्रसिद्ध है कि वह किसी पुस्तक को आदि से अन्त तक न पढ़ते थे। केवल पुस्तक

१-२. बालमुकुन्द गुप्त, स्मारक ग्रंथ, संपादक श्री झावरमल शर्मा, श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, प्रकाशक, गुप्त स्मारक ग्रंथ प्रकाशन समिति, १४७ हरिसन रोड, कलकत्ता, पृष्ठ ४१-४२-४३।

के यत्र-तत्र पृष्ठों को पलटकर ही वह पाठ्य सामग्री से परिचित हो जाया करते थे। सोने के लिए जाने पर वह पेन्सिल और कागज पलंग के पास रख लिया करते थे और काव्यगत तथा अन्य किसी प्रकार की भावना के उठते ही वह उसे उसी समय अंकित भी कर लेते थे।

"कवियों की रचनाओं को बड़े मनोयोग से सुनते थे। कविता सुनकर जब कोई उनके अभिमत जानने के लिये उनसे प्रश्न करता था तो प्रत्येक बार अपना मत प्रकट करने में वह बड़ी विनम्रता से कहा करते थे—यह मेरी निजी राय है कि जो कुछ आप करें सोच-विचार कर करें।···

हिन्दी के पत्र-सम्पादकों को उनसे कविताएँ एवं लेखादि प्राप्त करने में कभी भी कठिनाई नहीं हुई। उसी प्रकार हिन्दी-प्रेमियों को अपनी सभाओं की सफलता के लिए उनसे प्रार्थना करने पर भी वे कभी भी विफल मनोरथ होकर नहीं लौटे।

पाठक जी का सम्पूर्ण जीवन राजकीय सेवा में ही बीता था; किन्तु वह राष्ट्रीयता के प्रबल समर्थक थे। उनके भारत-गीत उनकी राष्ट्रीयता के ज्वलंत उदाहरण एवं प्रमाण हैं।······देश की वृद्धिशील दुर्बलता से दुःखी होकर वे कभी गान्धी जी के अहिंसा-प्रचार पर बिगड़ते थे और कभी समस्त ठाकुरों को कायर और नामर्द की जाति बताते थे।[१]

उनमें जन्मभूमि के प्रति गाढ़ अनुराग और वहाँ के निवासियों के लिये अत्यधिक स्नेह था। इन्हीं भावनाओं से अनुप्रेरित होकर ही उन्होंने ये पत्र श्री बनारसीदास चतुर्वेदी को लिखे थे—

श्री प्रयाग
४–५–२०

"आप अपने आने का वचन पूरा कीजियेगा। अवश्य और अवश्य अपने ही स्थान (पद्मकोट) पर ठहरियेगा। मैं जानता हूँ यहाँ पर कुछ चतुर्वेदियों के घर हैं और आपके शायद कोई नातेदार भी होंगे, परन्तु हमारा और आपका गाँव का नाता इन सबसे जबर्दस्त है, उसे उपेक्षित न कीजियेगा। जोंधरी और फिरोजाबाद को न भूलियेगा।"[२]

---

१. श्री गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', 'स्व० पं० श्रीधर पाठक', अभ्युदय, २२ सितम्बर १९२८।

२. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, 'पं० श्रीधर पाठक', संस्मरण, ज्ञानपीठ काशी।

श्री प्रयाग
३०–९–२७

"भौत दिन तें दरसन-परसन नाय भये। अब तो फिरोजाबाद ई रैतऔ ऐमदाबाद ज्यों छोड़ि दयौ इतमाऊँ हूँ कबऊँ आइबो होगौ ?

कबऊँ-कबऊँ चिट्ठी डारि दैबौ करो ? उतमाऊ ऋतु अच्छी होइगी—माँदिगी तो नाय फैली ? अब के पिराग में पानी अच्छी तरै नाइ बरसौ—मुंआँ कैसौ है रह्यौ है।

जल्दी लिखियौ।"[1]

उपर्युक्त पत्रों में उनका सामीप्य भाव स्पष्ट झलकता है।

वृद्ध होते हुये भी पाठक जी में किसी भी युवक से कम स्फूर्ति और सक्रियता न थी। वह व्यावहारिक जीवन में सदैव तत्परता से संलग्न रहे हैं।

"यद्यपि पाठक जी की अवस्था साठ वर्ष से अधिक हो चुकी है तथापि उनका दिल न तो थका ही था और न बूढ़ा ही हुआ था। मुझे योरुप और योरोपियनों में तो ऐसे बहुत-से व्यक्ति मिले जिनके हृदय की सजीवता और रक्त की स्फूर्ति को उनकी वृद्धावस्था और सफेद बाल बिगाड़ नहीं सके; किंतु हिन्दुओं में और विशेषत: श्रद्धालुओं में तो ऐसे बहुत ही कम व्यक्ति मिले हैं जिनके दिल और बालों पर एक साथ ही पाला नहीं पड़ा। पाठक जी नई से नई युक्ति और नवीन सभ्यता से प्रसूत नये भावों को भी बड़े उत्साह और सहानुभूति से सुनते तथा उनका यथोचित सम्मान भी करते थे।......वे प्राय: कहा करते थे कि मैं अब वाणप्रस्थ में हूँ; किन्तु वे थे विलक्षण वाणप्रस्थ के व्रती। बायस्कोप देखने का उन्हें वैसा ही शौक था जैसा कि हिन्दुस्तानी एकेडमी की सभा में जाने का। मैंने उनको धीरे-धीरे हाँफते हुए कई बार बायस्कोप जाते हुये देखा और जब पूछा कि आप इतना कष्ट क्यों सहा करते हैं तब मुस्कराकर वे बोले कि कष्ट में सुख की भावना सहृदय के लिये संगत एवं सम्भाव्य ही है।"[2]

पाठक जी बड़े ही विनोदी और हँसोड़ थे। उनके मुख पर उदासीनता और गम्भीरता शायद ही कभी आई हो। बहुधा अपने समीप के मित्रों की

१. श्री बनारसीदास चतुर्वेदी, 'पं० श्रीधर पाठक', संस्मरण, ज्ञानपीठ काशी।
२. 'चारु चरितावली', सम्पादक श्री वेंकटेश नारायण तिवारी, 'पं० श्रीधर पाठक', ले० डा० रामप्रसाद त्रिपाठी।

भाषा की विशेषताओं की वह नकल किया करते थे। पं० बालकृष्ण भट्ट की इलाहाबादी बोली में ही उन्होंने 'देहरादूनवा' नामक परिहास-मूलक रचना रची थी। पाठक जी भट्ट जी को विनोद में 'प्रोनाम, भट्टोजि' कहकर अभिनन्दन किया करते थे तथा 'का हो भड़ जी' सम्बोधित किया करते थे। भट्ट जी भी विनोद में पाठक जी को 'तुमरे मूँड़े आग लगै निवहुरियऊ' (जन्म-मरण आदि भव-बन्धन से विमुक्त हो) आशीर्वाद दिया करते थे।[1]

पाठक जी बा० बालमुकुन्द गुप्त के हँसोड़ स्वभाव की भी प्रशंसा किया करते थे।

"जगन्नाथ चौपाया

पत्र आपका आया मन भाया" आदि पंक्तियाँ जो गुप्त जी ने पं० जगन्नाथ प्रसाद चतुर्वेदी के लिये लिखी थीं, पाठक जी इन्हें बहुधा सुनाया करते थे।

पाठक जी के जीवन में बा० बालमुकुन्द गुप्त, पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी एवं राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' से उनका साहित्यिक संघर्ष हुआ था। इनके सम्बन्ध में श्री बनारसीदास चतुर्वेदी ने पाठक जी विषयक लिखित संस्मरण में पूर्ण प्रकाश डाला है। अन्ततः यह मन-मुटाव मित्रता में ही पर्यवसित हो गया। 'भारत मित्र' में अपनी हुई आलोचना से चिढ़कर पाठक जी ने उसे अपनी रचनाएँ भेजना बन्द कर दिया था। इस सम्बन्ध में बा० बालमुकुन्द गुप्त का लिखित पत्र बड़ा ही मार्मिक है। इस पत्र से पाठक जी की मनोवृत्तियों पर भी प्रकाश पड़ता है। इससे उसे प्रस्तुत करने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते।

The Bharat Mitra Office, 97 Mukhtaram Babu's Street,
Established—1878, Calcutta, 26-11-1900.
Telephone No. 137.

पूज्यवर

प्रणाम।

मेरी सालाना खाँसी मुझे फिर तंग कर रही है, इसी से आपके १५ नवम्बर के कार्ड का उत्तर झटपट न दे सका। इसके सिवाय उत्तर के देने में कुछ दुख होता है, इससे भी देर की। बिना मूल्य और मूल्य की कुछ बात नहीं। यह सब आपकी इच्छा पर ही है। आपने मूल्य में भेजा था, हमने वापिस भी नहीं किया। सुनिए—आप पत्र (भारत मित्र) न पढ़ेंगे, तो इसमें आपकी कुछ हानि नहीं है, परन्तु लाभ भी नहीं है। इसी प्रकार 'भारत मित्र' की हानि नहीं पर

१. श्रीधर पाठक, समुपस्थिति, श्री गोपिकागीत।

लाभ भी नहीं, पर बालमुकुन्द गुप्त की हानि है, सुनिये—

मैं समझता हूँ कि आप में एक उत्तम कविता-शक्ति है और वह ऐसी है कि जिससे आगे को हमारी कविता का कुछ भला हो सकता है। इसी से पुत्तनलाल पटने वाला जब आपकी कविता को अलंकृत कर रहा था, तो मुझे उसकी खबर लेनी पड़ी तथा आपको भी सूचना देनी पड़ी। उसका फल यह हुआ कि आपने कई एक कविताएँ अच्छी लिख डालीं, जिनमें से 'घन विनय' एक विचित्र ही कविता है।

दुःख यही है कि बीच ही बीच में लिखा-पढ़ी आ पड़ी, उससे आपका जी मुझसे नाराज हो गया उसका यह फल है कि आप 'भारत मित्र' से नाता तोड़ते हैं। क्या ही अच्छा होता यदि आप केवल कविता लिखते और आलोचना करने वालों की बात का बुरा-भला न मानते। आपको उत्तर देने की क्या जरूरत है? जबकि आपकी उत्तम कविता आपसे आप लोगों को मोहित कर लेती है।

आप कभी-कभी इँचे जाते हैं कि आपकी कविता का वह मूल्य नहीं जो विलायत आदि में अच्छे-अच्छे कवियों की कविता में है; परन्तु इस देश की गिरी दशा को देखिये कि कोई खाली भी आपसे कविता लिखने को नहीं कहता। एक मैं ही हूँ कि आपसे कविता लिखने का अनुरोध करता हूँ। आप निश्चय जानिये इसमें मेरा एक माशा भी स्वार्थ नहीं है। मैं तो यही चाहता हूँ कि भगवान ने आप जैसी तबियत का एक कवि उत्पन्न किया है तो उसकी कविता का कुछ विकास भी हो। यों ही न कुँभिला जावे। यदि आप कुछ लिख जावेंगे तो २०० वर्ष बाद शायद आपके नाम की पूजा तक हो सकती है।

एक 'भारत मित्र' के नाते से आपसे पत्र-व्यवहार चलता है। यह नाता आप तोड़ते हैं, भगवान जाने अबकी टूटा फिर कब जुड़े। कोई आठ साल बाद आपसे पत्र-व्यवहार फिर चला था, अब बन्द होकर न जाने कब खुले। मैं नहीं जानता कि अब आप पत्र-व्यवहार करेंगे या नहीं। इससे कुछ विनय करता हूँ:

(१) हर बात में शंकित और उदास मत हुआ कीजिये।
(२) कोई कुछ आलोचना करे तो उसकी परवाह मत कीजिये।
(३) आलोचकों की फ़िज़ूल बातों के उत्तर की ज़रूरत नहीं है।
(४) चित्त को हर मामले में प्रसन्न रखिये—बात-बात में नाराजी और चिढ़ भली नहीं।
(५) आपका काम सुन्दर कविता बनाना है—छेड़छाड़ का उत्तर देना नहीं।

(६) दासों और मित्रों पर विश्वास रखना।

(७) जब तक जीवन है जीना पड़ेगा, सो प्रसन्नता से जीना चाहिये। उदासी क्यों ?

दास,

बालमुकुन्द गुप्त

पाठक जी बड़े ही सिद्धान्त-प्रिय थे, जो बात उन्हें जँच जाती थी उसे अन्त तक निबाहते थे। पाठक जी खड़ी बोली के उत्कृष्ट कवि समझे जाते थे। उनके व्यक्तित्व एवं विचारधारा से प्रभावित होकर पाठक जी के अनुयायियों की संख्या क्रमशः बढ़ने लगी थी। खड़ी बोली के सर्वश्रेष्ठ कवि होने के कारण पं० कामताप्रसाद गुरु एवं पं० श्रीधर पाठक में एक मनोरंजक साहित्यिक संघर्ष हुआ था। यह मनोरंजक संस्मरण श्री रामेश्वर प्रसाद गुरु ने श्री कुमार हृदय के नाम से लिखा था, जो इस स्थल पर अविकल उद्धृत है—

गुरु जी की कुछ साहित्यिक मनोरंजक घटनाएँ

वैद्यरत्न जगन्नाथप्रसाद शुक्ल प्रयाग से 'प्रयाग समाचार' निकालते थे। बात सन् १९०२ के लगभग की है। उन दिनों स्व० पं० श्रीधर पाठक खड़ी बोली के सर्वोत्तम (Premier) कवि माने जाते थे। कुछ नौसिखिये भी आजकल के समान पद्य रचना करते थे। इन लोगों को लक्ष्य कर पिताजी ने 'उद्गार' शीर्षक पर कुछ पद्य लिखे, जो 'प्रयाग समाचार' में छपे।

हाय हुई कविता तुकबन्दी
सड़ी हवा में सुगन्ध गन्दी।
करो लेखनी अपनी बन्द
श्रीधर को सौंपो सब छन्द।

कविता के नीचे पिताजी का नाम नहीं था। पाठक जी ने इसका उत्तर 'उद्गार चिकित्सा' नाम से 'प्रयाग समाचार' में छपवाया कि—

कविता नई निराला छन्द दालभात में मूसरचन्द।
लिखो न करो लेखनी बन्द श्रीधर सम सब कवि स्वच्छन्द।

'प्रयाग समाचार' बड़े चाव से पढ़ा जाने लगा और कुछ खलबली-सी मच गई। तारीफ यह थी कि विश्वासपूर्वक कोई नहीं जानता था कि लिखने वाले कौन हैं ?

पिताजी ने इसका उत्तर—'चिकित्सा की फीस' नाम से छपवाया—

भले मिले मेरे कविराज, रखली व्याकरण की लाज।
देकर दवा राम का बाण किया आपने जी का त्राण।
पची न बिलकुल प्रथम खुराक निकला भात फाड़कर नाक।
हटा दूसरी से कुछ रोग रहा प्राण तन का संयोग।
चतुर्थ पंचम छठवाँ दाग खाते ही बुझ गया चिराग।
पाणिनि की जब निकली लाश, दर्द पूर्ण पिंगल की आश।
फीस चिकित्सा की लें आप व्याकरणी चेलों का शाप।
रहें आप छन्दों में मग्न छन्द आपके नीचे नग्न।

आचार्य पाठक जी ने इसका उत्तर 'फीस की रसीद' में दिया कि—

श्रीधर से जलते क्यों आप दस्यु चाल चलते क्यों आप।
मिला खाक में उनके छन्द दूर करो दिल के दुख दर्द।

पूज्य पिताजी ने इसका उत्तर उसी रसीद में दिया—

जो खाते हैं बहुत अफीम या जिनका है मर्ज फहीम।
उनके लिये आम है नीम, मरा हुआ बीमार हकीम।
पढ़ने के बदले सिखलाना भली बात पर भौंह चढ़ाना।
सकल कहेगा इसको कौन बैल न कूदे कूदी गौन।
सुनकर सप्रे[1] कृत गुण गान श्रीधर से जलता भगवान।
जन्में कभी न यह भगवान इसमें नहीं हमारा मान।

इन लेखों से बड़ी खलबली मच गई। आचार्य द्विवेदीजी के कहने से आगे पद्य नहीं प्रकाशित हुए। यहाँ यह कहना अनुचित न होगा कि यह पद्य किसी प्रकार के वैमनस्य के परिणाम नहीं थे। पिताजी पाठक जी को सदा श्रद्धा से देखते थे और लखनऊ और प्रयाग में मित्रवत मिलते थे।[2]

उपर्युक्त सिद्धान्त-प्रियता के समान ही उनमें अपने गुरुजनों के प्रति अपार श्रद्धा भी थी। स्वामी श्री भगीरथपुरी को लिखे हुए पाठक जी के पत्र से उनकी विनम्रता और अपार निष्ठा झलकती है—

---

१. पं० माधवराव सप्रे।

२. 'श्री गुरु-स्मृति अंक'—युगारम्भ, सम्पादक व्यौहार राजेन्द्रसिंह भाग १, अंक ६ मानस-मन्दिर, साहित्य प्रेस, जबलपुर, (२७ अगस्त ४७-मार्गशीर्ष २००४)।

"ओं सिद्ध श्रीमन्‌ महनीय···परम पूज्य श्री ५ स्वामी जी महाराज के चरणों में दीन श्रीधर के साष्टांग प्रणाम और अनन्त नमो नारायण।"

जब से जोंधरी में आपके दर्शन मुझे लब्ध हुए और जब से आपका कृपा-पत्र आगरे में प्राप्त हुआ, तब से अब तक ऐसा कोई अवसर नहीं आया कि आपके दर्शन वा पत्र की प्राप्ति मुझे हुई हो।

आपके वै० व० १५ रविवार सं० १९३८ के पत्र में कौमुदी की एक प्रति आपके पास भेजने की आज्ञा मैंने प्राप्त की थी और उस पत्र के प्रत्युत्तर मैंने सं० पत्र (पोस्टकार्ड) खुले लिफाफे पर भेजा था, उसमें लिख दिया था कि पुस्तक की तलाश करूँगा और 'अप्राप्ते सति तद्ग्रंथे प्रेषितव्यो मया स्वक':—परन्तु पुस्तक मैं उन दिनों इसलिये नहीं भेज सका कि आपके पत्र की प्राप्ति के थोड़े दिन ही पीछे एक मित्र के साथ नौकरी के अन्वेषण में प्रयाग को चला आया।

यद्यपि पुस्तक की मुझे विस्मृत तो नहीं हुई; परन्तु नौकरी की चिन्ता और द्रव्य के संकोच से जैसी पुस्तक भेजने की मेरी इच्छा थी वैसी न मोल ले सका—मेरी इच्छा थी कि एक बहुत बढ़िया छापे की कौमुदी सुनहरी वर्णों की जिल्द बँधवाकर आपकी भेंट को भेजूँ; परन्तु उन दिनों यह न कर सका।

इतने में एक नौकरी ६०) मास की मुझे कलकत्ता में मिल गई और वहाँ से आपका ठीक-ठीक पता जानने के लिये (क्योंकि आपके ग्राम का नाम मुझे स्मृत न था और चाचा जी तथा ताऊजी आदि से भी उसका ठीक-ठीक पता न लगा) एक पत्र धौलपुर के पते से भेजा; परन्तु उसका कुछ उत्तर न आया—तदनन्तर एक और भेजा परन्तु जब उसका भी उत्तर न मिला तो पुस्तक मैंने धौलपुर के पते से भेजना उचित न समझा। क्योंकि जब वहाँ आप नित्य नहीं रहते तो उसका मारा जाना सम्भावित था।

उस काल अद्य पर्यन्त मेरा चित्त इस बात में बड़ा उदास रहा कि स्वामीजी की एक छोटी-सी आज्ञा को मैं न कर सका। जब मुझे इस बात का स्मरण आता था तभी अपने को सहस्रों धिक्कार देता था और यही समझे हुए था कि आपका मन मुझसे भली-भाँति प्रसन्न नहीं है।

पुस्तक मैंने एक ले रखी थी; परन्तु उसकी जिल्द नहीं बँधवाई थी—आपका ठीक-ठीक पता जानने में निराश हो उस पुस्तक को गत शीतकाल में कोटलावासी कुँवर रोदिलसिंह को दे आया।

परन्तु ग्राज परम मंगल का दिवस है कि चिट्ठियों की गड्डी के अवलोकन से आपका उक्त पत्र मिल गया—उसमें आपके ग्राम का नाम और ठीक-ठीक पता लिखा है। इसके ज्ञान से चित्त में अतुल हर्ष उत्पन्न हुआ—अब आपको यह पत्र लिखता हूँ और विश्वास है कि यह अवश्य आपको मिलेगा—और आपकी आज्ञा का अभिलाषी हूँ कि पुस्तक ल०कौ० भेज दूँ वा आपके पास आ गई है। यदि इस पुस्तक की आवश्यकता न हो तो किसी और पुस्तक व पदार्थ के लिए आज्ञा भेजिए मैं झटिति ही सम्प्रेषण करूँगा।

मैं आजकल माता-पत्नी समेत प्रयाग में स्थित हूँ—४०) मास की आजीविका लाट साहब के दफ़्तर में मेरी लग गई है—अन्न-वस्तु की समीचीनता है—परन्तु यह सब केवल आप ही की पूर्व कृपा और उपकार का फल है—मैं आप में और पिता में किंचिन्मात्र भेद नहीं समझता हूँ और आशा करता हूँ कि आप मुझे अपना सच्चा शिष्य और छात्र और निज सुतवत मान यदि कोई अपराध वा त्रुटि मुझसे किसी काल में किसी कारण से हो गई हो तो उसे अवश्य क्षमा कीजियेगा।

विस्तरभयान्नधिकम्

श्रीमतांकृपापत्र प्रतीक्षकोऽहम्

To

Swami Bhagirathpuri	आपका दासानुदास
Mauza-Singorai	और चरणारविन्द की धूलि
Hardeva Puri's Math	का ग्राहक
Near the town of Wadi	दीन छात्र
Dhoulpur Territory	श्रीधर[1] (२६-३-८४)
Letter Posted 4-4-84	यहियापुर, प्रयाग

हिन्दी-कविता के समान अंग्रेजी कविता रचने की भी उनमें क्षमता और प्रतिभा थी। वह अंग्रेजी गद्य के लिए प्रसिद्ध थे। अंग्रेजी काव्यों को हिन्दी में अनूदित करने में उन्हें अप्रतिम सफलता भी मिली थी, जिसकी श्री पिंकाट महोदय एवं प्रो० जे० एफ० निकाल, प्रोफेसर, बेलियल कालेज, आक्सफोर्ड ने भूरि-भूरि प्रशंसा की थी। श्री रामदास गौड़ एम० ए० के अनुरोध से लाला सीताराम के साथ उन्होंने 'विज्ञान' का सम्पादक होना भी स्वीकार कर लिया था। यद्यपि यह सम्पादन-काल केवल छः मास ही रहा; किन्तु वह उस पत्र को

---

१. प्रयाग संग्रहालय में रखी हुई पाठक जी की सामग्री से प्राप्त।

वैज्ञानिक मंगलाचरण निरंतर देते रहे यद्यपि प्राच्य-विज्ञान का अविकसित स्वरूप उन्हें अखरता था तथापि पाश्चात्य-विज्ञान के साथ प्राच्य-विज्ञान का भी उन्होंने उल्लेख किया है।

पाठक जी की बहुमुखी प्रतिभा थी इसी से जीवन के बहुमुखी क्षेत्रों में वह सफलतापूर्वक सक्रिय बने रहे। उनके काव्य के प्रभावोत्पादक उत्कर्ष को देखकर ही भारत-धर्म-महा-मण्डल ने उन्हें 'कवि-भूषण' उपाधि से विभूषित किया था। उनके महामहिम व्यक्तित्व और हिन्दी की निष्कृति के कर्णधार के स्वरूप में इस उपाधि से उनका युक्तियुक्त अभिनन्दन और अभिवन्दन न हो सका। उससे असम्मान ही हुआ, सम्मान नहीं। उनकी इस उपाधि की बात श्री रामदास गौड़ को ही ज्ञात थी अन्य किसी को नहीं।[1] उनका सम्मान करने के लिए दरिद्र हिन्दी साधन-सम्पन्न न थी; परन्तु १९१५ ई० के लखनऊ के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पाँचवें अधिवेशन का उन्हें सभापति बनाकर हिन्दी के पोषकों ने तत्सम्बन्धी अपने कर्त्तव्य के एक लघु अंश की पूर्ति की थी।

काव्य में उनके विश्व-व्यापी स्वरूप को अनुभव करके ही आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने उन्हें हिन्दी का अभिनव जयदेव कहा था—

बाला-वधू-अधर-अद्भुत स्वादुताई
द्रक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठाई।
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी
तो श्रीधरोक्त-कविता पढ़ियेऽनुरागी।
पीयूष है यदि पदार्थ, यथार्थ कोऊ,
काहे न ताहि करि पान प्रसन्न होऊ?
प्रत्येक पद्य, प्रति पंक्तिहु में सदाहीं,
सो विद्यमान कवि श्रीधर-काव्य माहीं।
जाकी कवित्व-पद-कोमलताऽधिकाई,
आबाल-वृद्ध-जन चित्त लियो चुराई।
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई,
लीन्ह्योऽवतार कह श्रीधर देह पाई।[2]

× × ×

---

१. श्री रामदास गौड़ एम०ए०—'स्व० पाठक जी के कुछ संस्मरण', विशाल भारत, जनवरी १९२९।

२. आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी, 'श्रीधर सप्तक' भारतमित्र, २५ दिसम्बर, १८९९ ई०।

सुमन विनोद, खरी बोली के प्रवर्त्तक ह्वै,
नागरी नवेली की सेवा में आयु देदई।
कवि गन के प्यारे, हिन्दी हिन्द पै बारे विज्ञ,
मधुर ब्रजभाषा की छिति में छटा छई॥
रामनारायन कहत श्रीधर की रचना सुचि,
हिय उमगावनि सुधाधार सी सदा नई।
साँचहु बुझावेगी आग उर अन्तर की,
पाठक प्रयान सुनि मन जो व्यथा भई॥[1]

× × ×

प्यारे 'पद्म-कोट' का मलिन्द मंजु गायक था,
नायक खड़ी बोली की कविता का न्यारा था।
हिन्दी के सुभाल की सुबिन्दी का था पराग,
राग रूप रोचक सौभाग्य का सँवारा था॥
सुन्दर साहित्य के सरोवर का था सरोज,
ओज भरा भाषा-व्योम-मण्डल का तारा था।
प्यारा 'पाठकों' का था दुलारा लाल भारती का,
काव्य-कला-श्रीधर हा, हमारा श्रीधर था॥

× × ×

भारत-भू जननी के नीके गीत गाते-गाते
पाते मोद माँ की गोद में सशान्ति सो गया।
मंजुल निज मानस की काव्य-सुधा-धारा से,
आरती उतार भारती के पद धो गया॥
काव्य-कला-कोकिल-किशोर कवि श्रीधर हा,
बाणी में बटोही देव बाटिका का हो गया।
सुकवि 'रसाल' कहैं हिन्दी को धनी करके,
आज निधनी करके हाय लाल खो गया॥[2]

उनहत्तर वर्ष के जीवन में 'भारतेन्दु-युग' में पल्लवित होकर 'द्विवेदी-युग' की परम्परा-मूलक प्रवृत्तियों को चुनौती तथा 'छायावादी-युग' के लिए सुदृढ़

१. श्री रामनारायण चतुर्वेदी, 'अभ्युदय', २२ सितम्बर, १९२८।
२. श्री रमाशंकर शुक्ल 'रसाल', 'अभ्युदय', २२ सितम्बर, १९२८।

शिलान्यास करते हुए पाठक जी ने अपने स्वच्छन्दतावादी गरिमामय व्यक्तित्व से हिन्दी-काव्य को चिर-आभारी किया। आलोकित भारतेन्दु को अकाल ग्रहण लग गया, महावीर का वीरत्व विश्व के यथार्थ झोंकों से पंगु कर डाला गया; किन्तु श्रीधर अपनी वैयक्तिकता की अमर श्री की विभा से हिन्दी-जननी के भव्य मन्दिर को युगों-युगों के लिए आभासित कर गए। उनका भौतिक शरीर इस नश्वर विश्व से अवश्य तिरोहित हो गया; किन्तु उनका साध्य इतना महामहिम रहा कि हिन्दी-जननी अपने उस लाल को विस्मृत नहीं कर सकती। इससे वह हमारे गौरव हैं, वरेण्य हैं और वन्दनीय हैं।

अध्याय ८

पाठक जी की कृतियों का सामान्य परिचय

पाठक जी की कृतियों की परिस्थितियाँ एवं विशेषताएँ

श्रीधर पाठक अधिक लिखने के पक्ष में कभी न थे। उनका विश्वास था, जो कुछ लिखा जावे, सुगठित और सुललित रहे। इसी से प्रेस में जाने तक उनकी रचनाओं में सुधार होता रहता था। भारतेन्दु, द्विवेदी एवं छायावादी युगों में अर्द्धशताब्दी तक पाठक जी ने हिन्दी-साहित्य को अपने काव्य, कहानी, भाषण एवं निबन्ध आदि से गौरवान्वित और महामहिम बनाया है।

उनका काव्य स्वच्छन्दतावादी भावना से ओत-प्रोत था, किन्तु गद्य-साहित्य भी इससे रिक्त न था। उनके निबन्ध सामयिक परिस्थितियों का बड़ा ही मनोरंजन-पूर्ण विवरण प्रस्तुत करते थे। तत्कालीन सामाजिक एवं साहित्यिक निष्क्रियता आदि के उन्मूलन में बहुत कुछ श्रेय उन्हीं निबन्धों को था। आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी तक उनसे साग्रह लिखाते रहते थे।

पाठक जी की सम्पूर्ण रचनाओं पर दृष्टिपात करने से हम सरलतापूर्वक उनके दो विभाजन कर सकते हैं, (१) काव्य और (२) गद्य। दोनों प्रकारों के साहित्य में पाठक जी की मौलिकता पूर्णरूप से विद्यमान है। प्रथम के अन्तर्गत उनके मौलिक एवं अनूदित काव्य हैं और द्वितीय के अन्तर्गत कहानी और निबन्ध ('आराध्य शोकांजलि' में उनके पिता का जीवन-परिचय तथा लखनऊ हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के पांचवें अधिवेशन का उनका भाषण भी) एवं पत्र आदि हैं।

अन्य लेखक एवं कवियों की रचनाओं की अपेक्षा पाठक जी की रचनाओं की यह विशेषता है कि उन्होंने अपनी सम्पूर्ण रचनाओं का रचना-काल एवं स्थान देने में कभी भी त्रुटि नहीं की। इससे उनके जीवन की मनोवृत्तियों का अध्ययन करने में कठिनाई नहीं पड़ती।

अ—काव्य-साहित्य

१. मनोविनोद (१८७७ ई०–१९१७ ई०)—पाठक जी की बाल्यकाल की सम्पूर्ण रचनाओं का संग्रह १८९२ ई० में कलकत्ता के भारत मित्र प्रेस से प्रकाशित हुआ था। उसका परिवर्द्धित एवं परिष्कृत संस्करण १९०० ई० में हरि-प्रकाश प्रेस, काशी से मुद्रित हुआ। तदनन्तर इसके दो भाग और निकले। इनकी समाप्ति पर 'मनोविनोद' का अन्तिम संग्रह १९१७ ई० में ओंकार प्रेस, प्रयाग, में छपा था। 'जगत सचाई सार' 'गड़रिया' और 'आलिम' मनोविनोद के पूर्व संग्रहों में सम्मिलित थे। 'जगत सचाई सार' का प्रकाशन अलग कर दिया गया था तथा 'गड़रिया' और 'आलिम' परिवर्तन की भावना से इसमें सम्मिलित न किये गए थे। 'आर्यगीता' जिसको स्वतंत्र काव्य का स्वरूप प्रदान करने के लिए लिखा गया था, इसमें सम्मिलित कर दिया गया है।

इस संस्करण में 'बाल विलास' एवं असमाप्त पद्य ('बसन्त-वर्णन, घन-दिग्विजय, इवंजलाइन, एडविन, अंजलैना, पाश्चात्योक्तय: एवं इजावियला आदि के अतिरिक्त ईश्वर-भक्ति, देश-भक्ति, प्रेम, श्रद्धांजलियाँ, अष्टक, अंग्रेजी पद्य शृंगार, वीर, हास्य एवं करुण रस आदि की रचनाएँ) संग्रहीत हैं।

२. बाल भूगोल (१८८५ ई०)—विद्यार्थी-जीवन से ही भूगोल विषय की ओर पाठक जी की अभिरुचि थी। फलतः हिन्दी-माध्यम से भूगोल पढ़ने वाले प्रारम्भिक विद्यार्थियों की सुलभता एवं सुगमता के दृष्टिकोण से इस प्रथम खण्ड में स्थूल रीति से आकाशीय गोलों का परस्पर सम्बन्ध दिखाकर भू-पृष्ठ की समालोचना की गई। तदनन्तर भौगोलिक परिभाषाएँ उदाहरण सहित दी गई हैं। पाठक जी ने पुस्तक के अन्त में 'वर्ण्य विषय' को 'आकाशवर्ती गोले' 'भूगोल ठेठ' 'भौगोलिक संज्ञा' (थल और जल) महाद्वीप, महासागर, गोलार्द्ध, कटिबन्ध आदि शीर्षकों के अन्तर्गत कविताबद्ध कर दिया है।

पाठक जी के पौत्र श्री पद्मधर पाठक (पं० गिरिधर पाठक के सुपुत्र) द्वारा इसकी प्रति जो मुझे उपलब्ध हुई उसमें अन्तिम छप्पय आड़ी-बेड़ी रेखाओं से कटा है। वहां पर प्रारम्भिक अक्षरों में पाठक जी के हस्ताक्षर हैं।

३. एकान्तवासी योगी (१८८६ ई०)—लावनी जैसे प्रचलित छन्द में सरल खड़ी बोली के इस काव्य की रचना द्वारा पाठक जी ने हिन्दी-काव्य में स्वच्छन्द-वादिता का एक अनुकरणीय आदर्श प्रस्तुत किया। आचार्य शुक्ल जी के अनुसार खड़ी बोली के काव्य के सम्बन्ध में भारतेन्दु जी के उपरान्त तीन प्रमुख शैलियाँ प्रचलित थीं—कवित्त-सवैयों की, उर्दू छन्दों की और लावनी की। सं० १९४३ में पं० श्रीधर पाठक ने पिछली शैली में 'एकान्तवासी योगी' खड़ी बोली पद्य में निकाला। अनन्तर बा० अयोध्याप्रसाद खत्री द्वारा 'खड़ी बोली आन्दोलन' चलाया गया। तत्सम्बन्धी प्रकाशित पोथी (१८८८ ई०) में 'एकान्तवासी योगी' भी सम्मिलित कर लिया गया था।

अंग्रेजी कवि गोल्डस्मिथ के रोमांटिक प्रेम-काव्य The Hermit का यह अनुवाद है। मूल के ४० पद पाठक जी द्वारा ५९ पदों में अनूदित हैं। इसमें एडविन और अंजलैना की प्रेम-कथा वर्णित है। नायिका-प्रधान होने के कारण इस काव्य में अंजलैना की प्रेम-परक मानसिक भावनाओं का मार्मिक दिग्दर्शन है।

अंजलैना अपने पिता की सुशिक्षिता और सुशीला कन्या है। विवाह के लिये कितने ही पुरुषों में एडविन ही सभ्य और सुशील सिद्ध होता है। अंजलैना की उदासीनता से एडविन के मर्म पर आघात लगता है और वह वन में रहने लगता है। अपनी भूल ज्ञात होने पर अंजलैना को उसका वियोग असह्य हो उठता है। वह पुरुष-वेश में उसको खोजने के लिए निकलती है। सौभाग्य से वह एडविन की ही अतिथि बनती है। वहीं दोनों का संयोग हो जाता है।

४. जगत सचाई सार (१८८७ ई०)—'ब्रह्मसत्यं जगन्मिथ्या' की भावना का भारत में इतना प्रचार है कि भारतीय जगत के मिथ्यात्व को समझकर जीवन में निष्क्रिय हो जाते हैं। पाठक जी को इस निष्क्रिय प्रवृत्ति से बड़ी घृणा थी। यदि सुकर्मण्य शिरोमणि मास्टर इंग्लैंड से इस देश का सम्बन्ध न हो गया होता तो कौन कह सकता है क्या होता? १८८५ ई० में कांग्रेस की स्थापना हो चुकी थी। देश-हित के लिए भारतीयों का सक्रिय होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी था, जिस राष्ट्रीयता का शंखनाद कालान्तर में पाठक जी, माखनलाल चतुर्वेदी एवं मैथिलीशरण गुप्त के काव्य से श्रुतिगोचर हुआ, उन सभी को प्रेरित और प्रोत्साहित करने में इन पंक्तियों का बहुत बड़ा हाथ था।

प्रथम बार यह काव्य बनारस की 'काशी-पत्रिका' नाम की साप्ताहिक पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। अनन्तर स्वतंत्र पैम्फलेट के रूप में आगरा से प्रकाशित

हुआ। तदुपरान्त मनोविनोद प्रथम खण्ड में सन्निविष्ट किया गया। १६१६ ई० में यह पृथक्-रूपेण पुस्तकाकार में प्रकाशित हुआ। १०२ पंक्तियों का यह काव्य लांगफेलो के The Psalm of life काव्य की भावनाओं के समान जीवन के चिर सत्य को संरक्षित किये है। उनका विश्वास था कि जीवन कर्म के लिये है उसको निस्सार समझकर निष्क्रिय बन जाना कायरता है।

५. ऊजड़ग्राम (१८८९ ई०)—इस काव्य द्वारा हिन्दी-प्रेमियों को अंग्रेजी काव्य से परिचय कराना पाठक जी का मूल उद्देश्य था। 'एकान्तवासी योगी' की सफलता ने ही पाठक जी को इस स्वच्छन्दतावादी काव्य के प्रस्तुत करने का प्रोत्साहन दिया था। 'एकान्तवासी योगी' में सरल खड़ी बोली का आदर्श है तो 'ऊजड़ग्राम' में मधुर ब्रजभाषा का।

काव्य-विषय का जहाँ तक सम्बन्ध है इसमें औवर्न नामक ऊजड़ग्राम का वर्णन है। यह भी गोल्डस्मिथ के 'The Deserted Village' का अनुवाद हुआ है। कहते हैं कि इस गाँव में गोल्डस्मिथ के लड़कपन का बहुत-सा भाग व्यतीत हुआ था। अंग्रेजी विद्वानों के अनुसार यह गाँव कवि की जन्मभूमि आयरलैंड में था। यद्यपि इस काव्य में स्पष्ट रूप से इंग्लैंड के एक गाँव का वर्णन है। यह काव्य ५१४ पंक्तियों में वर्णित है। प्रथम ४९० पंक्तियों में गाँव के विकास और पतन का वर्णन है। अन्त की शेष पंक्तियों में कविता-देवी का अभिवन्दन है। गाँव के उजड़ने और परिवर्तन के बड़े ही मार्मिक और कारुणिक चित्रण कवि ने प्रस्तुत किये हैं।

६. श्रान्त पथिक (१९०२)—पाठक जी रोमान्टिक भावना के सबल प्रतीक थे। यदि 'एकान्तवासी योगी' द्वारा उन्होंने हिन्दी में सर्वप्रथम स्वच्छन्दतावादी प्रेम का दिग्दर्शन कराया था तो 'ऊजड़गाम' से जीवन का यथार्थ जो स्वच्छन्दवादिता का आधार है, व्यक्त करने का प्रयास किया। 'श्रान्त पथिक' द्वारा पाठक जी ने सीमित व्यक्ति को स्वातंत्र्य पथ पर खड़ा कर देने की सफल चेष्टा की है। यों यह गोल्डस्मिथ की रचित The Traveller का शाब्दिक अनुवाद है तथापि लोकप्रियता की दृष्टि से 'एकान्तवासी योगी' को जितना सम्मान मिला उतना 'ऊजड़ग्राम' को नहीं, जितना 'ऊजड़ग्राम' लोकप्रिय हुआ उतना 'श्रान्त पथिक' नहीं।

प्रथम २२ पंक्तियों में कवि (गोल्डस्मिथ) अपने अग्रज के प्रति अपना उत्कट स्नेह प्रकट करता है। अनन्तर पर्यटन से श्रान्त हो वह आल्प्स पर्वत के उच्च शिखर पर बैठकर उस स्थान की खोज में है, जहाँ उसकी आत्मा सुखी

रह सके। सोचता है—प्रत्येक स्वदेशाभिमानी अपने देश को सर्वोपरि समझता है। इससे वह कहाँ जाये। अन्त में वहीं स्थित रहते हुए वह इटली, स्विट्जरलैण्ड, फ्रांस, हालैण्ड और इंग्लैंड के निवासियों की दशा की आलोचना करता है। स्वतन्त्रता से उत्पन्न लाभ-हानि को भी वह सोचता है और अन्त में वह इस निर्णय पर पहुँचता है कि प्रत्येक मनुष्य का सच्चा सुख उसी के हृदय में केन्द्रित रहता है।

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै संतोष धन सब धन धूरि समान॥

—की भावना इस काव्य में प्रमाणित होती है।

७. काश्मीर सुषमा (१९०४ ई०)—स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति के कारण पाठक जी में प्रकृति के प्रति महान निष्ठा थी। इससे ही The Irrigation Commission के टूटने पर वह १९०३ ई० में तीन मास के लिये काश्मीर गये। काश्मीर अपने प्राकृतिक सौन्दर्य के कारण भारत का स्वर्ग है। उसके सौन्दर्य ने पाठक जी को मन्त्र-मुग्ध कर लिया। यों ब्रजभाषा में उद्दीपन के दृष्टिकोण से किया हुआ शास्त्रीय प्रकृति-वर्णन बहुत मात्रा में है; किन्तु विशुद्ध प्रकृति-उपासना के लिये किया हुआ काश्मीर का यह चित्रण अद्वितीय है। इस काव्य द्वारा पाठक जी ने हिन्दी काव्य को स्वच्छन्दवादिता के दृढ़ स्तम्भ पर लाकर खड़ा कर दिया।

काश्मीर का सौन्दर्य इतना प्रभावोत्पादक है कि—

या सम दूजौ ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै।
यही स्वर्ग सुरलोक यही सुर कानन सुन्दर।
यहि अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर॥

वस्तुतः इसी भावना ने पाठक जी को यह काव्य लिखने के लिए प्रेरित किया था।

८. आराध्य शोकांजलि (१९०६ ई०)—१९०६ ई० में अपने पिता पं० लीलाधर महाराज के निधन से पाठक जी को असह्य वेदना हुई। शोकाकुल व्यथा से ही पीड़ित होकर उन्होंने इस शोक-काव्य की रचना कर अपनी विनम्र श्रद्धांजलि अपने पिता के चरणों में अर्पित की। इस काव्य के संस्कृत श्लोकों द्वारा कवि ने अपने पिता के गुणों का गान तो किया ही है, साथ में उनकी भावुक भावनाएँ भी व्यथा के भार से टपकी पड़ती हैं। गरुड़ पुराण के अनुसार

मृत जीव की जो दशा होती है, पाठक जी ने वैसा ही अपने पिता का भी वर्णन किया है ।

९. जार्ज-वन्दना (१९१२ ई०)—१९११ ई० में 'जार्ज पंचम' और महारानी 'मेरी' भारत में पधारी थीं । उनके स्वागतार्थ दिल्ली में विशाल दरबार हुआ था । उनकी प्रजा होने के नाते उनकी वन्दना करना कवि ने अपना पुनीत कर्तव्य समझा । इस प्रकार पाठक जी द्वारा रचित जार्ज-वन्दना उनकी राजभक्ति का सफल दिग्दर्शन है । इसी भावना से प्रेरित होकर प्रेमघन जी ने भी 'सौभाग्य समागम' अथवा 'भारत सम्राट सम्मेलन' नामक अपनी रचना प्रस्तुत की थी । सर्वप्रथम यह रचना पृथक् पुस्तकाकार में प्रकाशित हुई थी । अन्त में 'मनोविनोद' तृतीय भाग में वह सम्मिलित कर दी गयी थी ।

१०. भक्ति-विभा (१९१३ ई०)—पाठक जी का हृदय अपने पिता के प्रति श्रद्धा से सदैव ही आप्लावित रहा । स्वप्न में उनके दर्शन कर कवि का भावुक हृदय पुनः अपनी भक्ति-भावना की श्रद्धांजलि उनके चरणों में चढ़ाने के लिए आकुल हो उठा, फलतः 'भक्ति-विभा' की रचना प्रस्तुत हुई ।

इस काव्य के प्रारम्भ में पाठक जी ने स्वप्न में चर्चित भाल एवं तुलसिमाल युक्त अपने पिता को देखा । उनके चतुर्दिक पूजा-अर्चना की सामग्री प्रस्तुत थी । प्रेम-दृष्टि से उन्होंने अपने पुत्र श्रीधर पाठक को देखा । वात्सल्य ने उन्हें पुलकित कर दिया । इसी समय उन्होंने श्री गोपाल-कीर्तन प्रारम्भ किया । अनन्तर घन-पटल में उनके पिता का स्वरूप अदृश्य हो गया । पुनः उस पटल के हिलाने से कवि को स्वर्गीय पिता के दर्शन हुए । कालान्तर में उनके स्वरूप की ज्योति पुनः विलीन हो गई ।

११. श्री गोखले प्रशस्ति (१९१५ ई०)—पाठक जी राष्ट्रीय भावना के समर्थ पोषक रहे हैं । गोखले जैसे राष्ट्र-भक्त के निधन से पाठक जी को देश की महती क्षति का अनुभव हुआ । फलतः उनके व्यक्तित्व को लेकर उन्होंने संस्कृत में यह प्रशस्ति लिखी । गोखले कोविदों के मध्य में तो गण्यमान थे ही, राष्ट्रीय प्रगति में भी गान्धी जी से पूर्व आकर उन्होंने देश की साम्प्रदायिक भावना को नष्ट करने और हरिजन-समस्या को सुलझाने का पुनीत आदर्श रखा था ।

इस काव्य में संस्कृत के ९ श्लोक हैं । इसमें उनके सभी महत्कार्यों का उल्लेख है । यह श्लोक बड़े ही मधुर एवं ललित हैं ।

१२. श्री गोखले गुणाष्टक (१९१५ ई०)—गोखले के निधन पर ही छप्पय छन्द में यह अष्टक पाठक जी द्वारा लिखा गया था । काव्य की पृष्ठभूमि

में राष्ट्रीय भावना की प्रमुख प्रेरणा थी। इन पंक्तियों में भी गोखले जी के जीवन के मुख्य-मुख्य कार्यों का गुणगान किया गया है।

१३. **देहरादून** (१९१५ ई०)—१९१३ ई० में जब पाठक जी खाँसी के रोग से पीड़ित थे, तब डाक्टरों द्वारा उनको स्थान-परिवर्तन की राय दी गई। देहरादून में वायु-परिवर्तन के लिए रहने के लिए कहा गया। १९०५ ई० में दो दिन के लिये पाठक जी देहरादून गये भी थे। स्थान-परिवर्तन उनको रुचिकर सिद्ध हुआ; किन्तु रोग में सुधार न होने पर वे दस दिन के लिए शिमला भी गये। वहाँ की वायु भी उनके अनुकूल न पड़ी। अन्त में वह विवश होकर घर लौट आये और देहरादून की यात्रा की स्मृति में पाठक जी ने इसे बरवा छन्द में लिखा। पाठक जी ने इस काव्यशैली को इलाहाबादी बोली द्वारा परिहास-मूलक बनाने का भरसक प्रयास किया है।

कवि ने रेल-यात्रा, गंगा-स्तवन, गिरिमार्ग, देहरा दृश्य, देहरादून का स्टेशन, विभिन्न प्रान्तों के पथिक एवं वहाँ के प्रमुख स्थलों का वर्णन किया है। यह काव्य सचित्र है।

१४. **श्री गोपिका गीत** (१९१६ ई०)—पं० बालकृष्ण भट्ट के प्रति पाठक जी की बहुत बड़ी निष्ठा थी। उनसे वह कितनी ही सामाजिक एवं साहित्यिक भावनाओं के लिए प्रेरित थे। भट्ट जी को भागवत अति ही प्रिय थी। फिर पाठक-परिवार की भक्ति-परम्परा के संस्कार भी उनके साथ थे। इसी से पाठक जी ने भागवत के दशम् स्कन्ध के अन्तर्गत ३१वें अध्याय 'श्री गोपिका गीत' का समश्लोकी अनुवाद खड़ी बोली में प्रस्तुत किया था।

श्री गोपिका गीत १९ छन्दों में वर्णित है। रास-क्रीड़ा में—कृष्ण गोपियों को आनन्द-विभोर कर अन्तर्द्धान हो जाते हैं। गोपियाँ उनके वियोग से दुःखी हो जाती हैं। कृष्ण के चरणों का अनुसरण करती हुई वे उन्हें ढूँढ़ती हैं; किन्तु वह उन्हें नहीं प्राप्त होते। अन्त में निराश होकर यमुना के किनारे एकत्रित होकर वे कृष्ण के गुणगान करने लगती हैं।

१५. **भारत गीत** (१९२८ ई०)—पाठक जी एक राष्ट्रीय कवि थे। इसी से देश-भक्ति की भावनाओं से प्रेरित हो उत्सवों एवं अन्य अनुकूल अवसरों पर वह जातीय गीतों की रचना करते रहे थे। यह रचनाएँ भिन्न-भिन्न पत्रों में समय-समय पर प्रकाशित होती रही थीं।

१९२८ ई० का भारत गीत का यह संस्करण गंगा पुस्तक माला, लखनऊ, से प्रकाशित हुआ था। इसमें १८८२ ई० से १९२८ ई० तक की उनकी

सम्पूर्ण राष्ट्रीय रचनाओं का संग्रह है। इसमें भारत को लेकर विभिन्न छन्दों में जाति-प्रेम, देश-प्रेम, भारतोद्धार आदि के साथ कितने ही कीर्तन, स्तवन, उपदेशात्मक एवं दार्शनिक रचनाएँ संग्रहीत हैं। गंगा पुस्तकमाला के इस द्वितीय संस्करण में भ्रमर-गीत और चर-गीत भी जोड़ दिये गये हैं। इनके अन्त में तीन प्रयाण गीत हैं। प्रथम संस्कृत में है, द्वितीय साधुओं के लिए और तृतीय बच्चों के लिए है। साधु-प्रयाण (नारायण मार्च) हिन्दुओं के लिए है; किन्तु वह अन्य राष्ट्र-भक्तों के लिए भी उपयोगी हो सकता है। इसके परिशिष्ट में प्राच्य, पाश्चात्य विज्ञान, सान्ध्य अटन एवं साधारण मजदूरनियों के लिए गीत संग्रहीत हैं।

उपर्युक्त पंक्तियों में पाठक जी की सम्पूर्ण काव्य-कृतियों का संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। पुस्तकाकार में यों 'बाल भूगोल' (१८८५) प्रथम रचना है, परन्तु उससे भी पूर्व मनोविनोद (१८८२) तथा 'गड़रिया और आलिम' (१८८४ ई०) वह लिख चुके थे। 'गड़रिया और आलिम' 'मनोविनोद' के द्वितीय भाग में संग्रहीत होने से उपलब्ध हैं। पाठक जी का विचार था कि इस रचना को विशद आकार प्रदान किया जाय; किन्तु भविष्य में वैसा सम्भव न हो सका। अब रही 'मनोविज्ञान' की बात। यह रचना अनुपलब्ध है। बाल-भूगोल के समान यह सम्भव है कि अध्ययन एवं स्मरण की सुविधा से पाठक जी ने मनोविज्ञान को भी काव्य का रूप दिया हो, जिस प्रकार 'बाल-भूगोल' के अन्तिम पृष्ठों के छन्द कवि की काव्य-मूलक प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। सम्भव है कि यह बात मनोविज्ञान के साथ भी सत्य हो। फिर भी उपर्युक्त दोनों के होने अथवा न होने से पाठक जी की अक्षुण्ण कीर्ति पर किसी प्रकार का आघात नहीं लगता—यह मेरा विश्वास है।

ब—गद्य साहित्य

पाठक जी के गद्य साहित्य में 'आराध्य शोकांजलि' में सन्निविष्ट संक्षिप्त जीवन-परिचय, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, लखनऊ के पंचम अधिवेशन के सभापति पद का भाषण, 'तिलस्माती मुँदरी' एवं समय-समय पर प्रकाशित उनके निबन्ध एवं लिखित पत्रादि आते हैं। 'संक्षिप्त जीवन परिचय' एवं लखनऊ का भाषण भी वस्तुतः विवेचनात्मक निबन्ध ही है। इससे इनका विवेचन भी निबन्ध के अन्तर्गत करना ही समीचीन होगा। इस प्रकार उनका 'गद्य साहित्य' कहानी, निबन्ध एवं पत्र इन तीन विषयों में सरलतापूर्वक विभाजित किया जा सकता है।

क—कहानी

तिलस्माती मुँदरी (१९१६ ई०)—१८६१ ई० की किसी अंग्रेजी पत्रिका से पाठक जी द्वारा यह कहानी ली गई थी। १८८७–८८ ई० में काशी पत्रिका (मासिक) में हिन्दुस्तानी भाषा में उसका प्रारम्भिक रूप प्रकाशित हुआ था। उक्त पत्रिका के बन्द हो जाने से इस कहानी का प्रकाशन भी बन्द हो गया। अन्त में पाठक जी ने उसी शैली में अवशेष कहानी को लिखकर १९१६ ई० में उसे पुस्तक का स्वरूप प्रदान किया। यह पुस्तक वस्तुतः देवकीनन्दन खत्री एवं किशोरीलाल गोस्वामी की तिलस्मी परम्परा की एक कड़ी है।

गंगोत्री के समीप रहने वाले योगी ने गंगा जी में गिरे दो कौवों की जान बचाई। कौवों ने एक अंगूठी योगी को दी जिससे वह पक्षियों की बोली समझने लगा। योगी ने उन पक्षियों को लड़की का सन्देश लाने काश्मीर भेजा। वे लड़की का निधन और दोहती का विमाता द्वारा पीड़ित किए जाने का दुखद समाचार लाए। योगी ने वह अंगूठी दोहती के पास भेज दी। कौवे उसकी देख-भाल के लिए बाग में रहने लगे। पक्षियों के द्वारा वह लड़की कितने ही षड्यन्त्रों से मुक्त हो सकी। अन्त में बन-उकावों की सहायता से योगी ने काश्मीर का राज्य पुनः प्राप्त किया। वह दोहती लाहौर के राजा के ज्येष्ठ पुत्र के साथ ब्याह दी गई। इसी दम्पति को राज्य देकर योगी समाधि लेने के लिए गंगोत्री चला गया।

ख—निबन्ध

निबन्धों द्वारा सुधार, उपदेश एवं मनोरंजन की भावना प्रस्तुत करना ही पाठक जी का मुख्य उद्देश्य था। इसी से इनसे प्रेरित होकर ही उन्होंने अपने निबन्ध लिखे थे।

पाठक जी के यह निबन्ध 'हिन्दी प्रदीप', 'भारतेन्दु' एवं 'ब्राह्मण' आदि पत्रों में प्रकाशित होते रहे। इनमें से कुछ निबन्ध ही गम्भीर भावयुक्त हैं अन्यथा अधिकांश मनोरंजन से परिपूर्ण हैं, जिन्हें हम चुटकुले कहें तो कहें, उन्हें निबन्ध कहना उचित न होगा। भावना एवं शैली आदि के दृष्टिकोण से उनके निबन्धों के तीन विभाग किए जा सकते हैं।

१. गम्भीर विवेचना-युक्त निबन्ध—इसके अन्तर्गत गम्भीर शैली में लिखित उनके निबन्ध आते हैं। 'संक्षिप्त जीवन परिचय' (१९०६ ई०), लखनऊ सम्मेलन का भाषण (१९१५ ई०), प्रवाहे पतितः (मई १८८४ ई०, हिन्दी

प्रदीप), हिन्दी की चन्द भाषाओं की समालोचना (अक्टूबर १८८४ ई०, हिंदी प्रदीप), हिन्दी की अपूर्णता (नव० १८८५ ई०, हिन्दी प्रदीप) आदि निबन्ध इसके अन्तर्गत आते हैं।

२. **सुधारात्मक निबन्ध**—इन लेखों में भाषा चुटकी-सी लेती चलती है। शैली में सरलता के साथ कहीं-कहीं गम्भीरता का भी पुट आ जाता है। इन निबन्धों में पाठक जी की सुधार-सम्बन्धी प्रवृत्ति झलकती है। 'रोजगार नामा' (हिन्दी प्रदीप, जुलाई १८८४ ई०), 'प्रतिष्ठा' (हिन्दी प्रदीप—जौलाई १८८४ ई०), हिन्दुस्तान की चन्द 'कौमों की समालोचना' (ब्राह्मण—सितंबर १८८४ ई०), 'पश्चिमोत्तर माहात्म्य' (हिन्दी प्रदीप, नवम्बर १८८४ ई०), एक अनोखी सैलानी की कहानी (हिन्दी प्रदीप, जनवरी १८८५ ई०) आदि निबन्ध इस श्रेणी के अन्तर्गत आते हैं।

३. **चुटकुले एवं मनोरंजनार्थ लिखे निबन्ध**—परिहास-मूलक शैली में केवल मनोरंजन प्रस्तुत करना ही पाठक जी का मुख्य उद्देश्य था। पृथ्वी के महाद्वीपों की अपूर्व व्युत्पत्ति (हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर १८८४ ई०), बीमार हिन्द के लिए सिहतावर जोशाँदा (हिन्दी प्रदीप, दिसम्बर १८८४ ई०), अजी साहब बड़ी दिल्लगी रही (हिन्दी प्रदीप, मार्च १८८५ ई०), पड़े पत्थर अकिल पर आप समझे तो क्या समझे (हिन्दी प्रदीप, सितम्बर १८८५ ई०) आदि निबन्ध इसके अन्तर्गत आते हैं।

ग—पत्रादि

पाठक जी अपने साहित्यिक जीवन में निरन्तर पत्र लिखा करते थे। सर्वश्री पिंकाट, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', लोचनप्रसाद पाण्डेय एवं बनारसीदास चतुर्वेदी आदि को वह पत्र लिखा करते थे। खड़ी बोली के अतिरिक्त उन्होंने अंग्रेजी और आगरा की ग्रामीण बोली में भी पत्र लिखे हैं। यह पत्र गद्य और पद्य दोनों में लिखे गये थे। इनका बहुत बड़ा अंश 'मनोविनोद' के अन्त में संग्रहीत है। इन पत्रों द्वारा इनकी स्पष्ट आत्मीयता झलकती है।

अध्याय ९

पाठक जी की कृतियों का अनुशीलन

(अ) अनूदित कृतियाँ

एकान्तवासी योगी (रचना-काल—जनवरी, १८८६ ई०)

भारतेन्दु के अस्त हो जाने पर उनके समकालीन पं० बालकृष्ण भट्ट, पं० अम्बिकादत्त व्यास एवं बाबू तोताराम आदि येन-केन-प्रकारेण हिन्दी की खड़ी बोली को संरक्षण दिये हुए थे; किन्तु उनके मध्य में उक्त बोली का कोई भी ऐसा काव्य न था जो उनके गौरव और आदर्श का आधार होता। वस्तुतः लोगों को विश्वास भी न था कि इस बोली में काव्य-रचना हो भी सकेगी। पाठक जी ने 'एकान्तवासी योगी' का सृजन कर खड़ी बोली के स्वप्न को सत्य कर दिखाया। स्वान्तःसुखाय लिखी हुई इस रचना को खड़ी बोली के मधुर और ललित स्तम्भ बनने का सौभाग्य अवश्य उपलब्ध हुआ; किन्तु उस समय स्वयं पाठक जी से इस रचना को सुनकर पं० बालकृष्ण भट्ट ने उसे 'निरा नीरस और निकम्मा' बताया था। भारतेन्दु-युगीन भट्ट जी जैसे उत्कृष्ट कोटि के विद्वान के इस प्रकार के निराशामूलक निर्णय से पाठक जी का हृदय टूट जाना चाहिए था; किन्तु उनके स्वच्छन्दतावादी हृदय को काव्य के मनोरम संगीत एवं मधुर उद्देश्य पर पूर्ण विश्वास था। भट्ट जी के हृदय में परम्परावादी होने के कारण जितना इस नवीनता के प्रति संदेह और निराशा थी उतनी ही स्वच्छन्दतावादी पाठक जी के हृदय में उसके लिए ममत्व और श्रद्धा थी।

'एकान्तवासी योगी' गोल्डस्मिथ के 'The Hermit' का अनुवाद है। उसने इस काव्य को १७६५ ई० में 'The Countess of Northumberland' के मनोरंजन के लिए लिखा था। १७६६ ई० में सर्वप्रथम यह रचना 'The

'Vicar of Wakefield' में प्रकाशित हुई थी। साहित्य-जगत में यद्यपि यह 'The Hermit' के नाम से प्रसिद्ध है तथापि गोल्डस्मिथ ने नायक और नायिका के नाम पर इसे 'Edwin and Angelina' शीर्षक दिया था।

काव्य के मूल में प्रेममयी भावना का श्रेय यद्यपि गोल्डस्मिथ को ही है तथापि भक्ति और रीति की परम्पराओं से बोझिल रूढ़िवादी हिन्दी काव्य की कृत्रिमता को परखकर इस प्रेम-काव्य द्वारा उसे नवीन जीवन के लिए प्रेरित करना पाठक जी की मौलिकता थी। ग़दर के कारण देशवासियों को जीवन के यथार्थ से परिचय के सुयोग मिलने लगे थे। काव्य-क्षेत्र के इन कतिपय सुयोगों में 'एकान्तवासी योगी' का सृजन यथार्थ के साथ स्वच्छन्दता का परिचय था।

"सीधी-सादी खड़ी बोली में अनुवाद करने के लिये ऐसी प्रेम-कहानी चुनना जिसकी मार्मिकता अपढ़ स्त्रियों तक के गीतों की मार्मिकता के मेल में हो, पंडितों की बंधी हुई रूढ़ि से बाहर निकलकर अनुभूति के स्वतन्त्र क्षेत्र में आने की प्रवृत्ति का द्योतक है······केवल पंडितों द्वारा प्रवर्तित काव्य-परम्परा का अनुशीलन ही अलम् नहीं है।"[1]

इस काव्य के प्रथम संस्करण की भूमिका में पाठक जी ने लिखा था—

"यह एक प्रेम-कहानी आपको भेंट की जाती है—निस्संदेह इसमें ऐसा तो कुछ भी नहीं जिससे यह आपको एक ही बार में अपना सके अथवा आपके इस नित्य नवीन रसान्वेषी मनोमधुप को सहज ही में लुभा सके। केवल दो प्रेमियों के प्रेम का निर्वाहमात्र है—पर हमको और क्या चाहिये? हम तुम भी तो हिन्दी के प्रेमी हैं, बस यही सम्बन्ध इस भेंट के लिए बहुत है—हमारे इस प्रेम का भी निर्वाह किसी प्रकार उचित था—सो आज यों ही सही।"

प्रयाग—पौष सम्वत् १९४२

बालकृष्ण भट्ट ने मई सन् १८८९ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में इस काव्य के सम्बन्ध में अपना निम्न अभिमत व्यक्त किया था—

"विशेष प्रशंसा के योग्य यह नवीन रचना इसलिए है कि अंग्रेजी में जो पद्य था उसका अनुवाद भाषा के पद्यों में ही किया गया है। जहाँ-जहाँ ग्रंथकार ने अपनी ओर से मिलाया वह भाग अधिक रसीला और माधुर्यपूर्ण है। हमारे मित्र पाठक महाशय ने अपने इस परिश्रम से हमें यह अच्छी तरह जता दिया

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, 'हिन्दी साहित्य का इतिहास', काव्य खण्ड, द्वितीय उत्थान, पृष्ठ ६०० (१९५०–७५)।

कि कविता के पश्चिमी संस्कार कभी हमारे लिए मनोरंजक और दिलचस्प नहीं हो सकते ।"

इस काव्य का मूलाधार एडविन और अंजलैना की प्रेम-कहानी है । उनका प्रेम श्लीलता से अग्रसर होकर उन्हें पति-पत्नी के सम्बन्ध में आबद्ध कर सका है । अंजलैना की उदासीनता से अनाहत एडविन विरक्त का जीवन धारण कर लेता है । उसे अपनी त्रुटि ज्ञात होती है । अन्त में अपने प्रिय की अनुगामिनी बनकर अपनी त्रुटि सुधार लेती है । नायक अपने प्रेम-निर्वाह में स्वच्छन्द है और नायिका भी प्रेम की अनुभूति से स्वच्छन्दवादिनी बन जाती है।

'एकान्तवासी योगी' में पारिवारिक वातावरण का स्वाभाविक स्वरूप विद्यमान है । उसी में सीधे सरल प्रेम की उत्पत्ति होती है । नायक-नायिका दोनों ही जीवन के सभ्य वातावरण में पल्लवित हुए थे । मातृ-विहीना होते हुए भी नायिका को अपने पिता से ही माता-पिता दोनों का दुलार मिला था । इसीसे नायिका 'हुआ न होगा किसी पिता का ऐसा मृदुल स्वभाव' तथा 'ईश्वर तुल्य पिता के सम्मुख थी मैं पूर्ण प्रसन्न' कहने का साहस कर सकी है । अंग्रेज बालिका होती हुई भी भारतीय संस्कृति के अनुकूल जीवन-निर्माण का परिचय है ।

दो घंटे तक मुझे नित्य वह (पिता) श्रम से आप पढ़ाता था ।
विद्या-विषयक विविध चातुरी नित्य नई सिखलाता था ।

* * *

मैं ही एक बालिका उसके सत्कुल में जीवित थी शेष ।
इससे स्वत्व बाप के धन का प्राप्य मुझी को था निःशेष ।

* * *

सुख ही सुख में बीता मेरा बचपन का सब काल ।

नायक के जीवन में भी मानवता का पुट था । नायिका की आकांक्षा करता हुआ भी वह अपने हृदय के प्रेम को व्यक्त न कर सका । वह युवक होते हुए भी सलज्ज था ।

उनमें एक कुमार एडविन, प्रेमी प्रतिदिन आता था ।
वय किशोर, सुन्दर स्वरूप, मन जिसको देख लुभाता था ।।
वारै था वह मेरे ऊपर, तन मन सर्वस्स प्रान ।
किन्तु मनोरथ अपना उसने कभी प्रकाश किया न ।।

साधारण अति रहन-सहन, मृदु बोल हृदय हरने वाला।
मधुर मधुर मुसक्यान मनोहर, मनुज-वंश का उजियाला।
सभ्य, सुजन, सत्कर्म-परायण, सौम्य, सुशील, सुजान।
शुद्ध चरित्र, उदार प्रकृति-शुभ, विद्या-बुद्धि-निधान।

* * *

प्राण पियारे की गुण गाथा, साधु, कहाँ तक मैं गाऊँ।
गाते गाते चुके नहीं वह चाहे मैं ही चुक जाऊँ।
विश्व-निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर।
बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर।

नायक-नायिका दोनों ही अनुशासित और शिष्ट वातावरण में पल्लवित होकर प्रेम-क्षेत्र के लिये अग्रसर होते हैं। नायक में नायिका की अपेक्षा कहीं अधिक सरलता और भावुकता है। उसके जीवन में मस्ती और नायिका के प्रति सच्चा अनुराग है। उसकी त्यागमयी भावना से नायिका भी आभारी हो उठती है। फलतः प्रेम-पात्री बनकर वह अपने प्रियतम के प्रिय पथ की अनुगामिनी बन जाती है।

इस प्रकार का प्रेम-काव्य रीतिकालीन शृंगार के अन्तर्गत आने की अपेक्षा कुछ विशेष प्रकार का है। प्रथम में नायक-नायिका कृत्रिम प्रेम का संवहन करते हुये अन्तःमहल, वाटिका तथा सरोवर आदि के किनारे अठखेलियाँ करते फिरते हैं। वह प्रेम परम्परागत रूढ़िबद्ध होता है और जीवन की भंगिमा से शून्य होता है। 'एकान्तवासी योगी' का प्रेम-तत्व जीवन के स्वच्छन्दतावादी स्थल पर क्रीड़ा करता है। वह नियंत्रण और लोक-मर्यादा से परे वैयक्तिक स्वतन्त्रता की भावना पर आधारित है। उसमें निर्विकार प्रेम का सार्वभौम साम्राज्य है।

अंजलैना के इस कथन में—

जाकर वहाँ जगत को मैं भी उसी भाँति बिसराऊँगी।
देह गेह को देय तिलांजलि प्रिय से प्रीति निभाऊँगी।
मेरे लिये एडविन ने ज्यों किया प्रीति का नेम।
त्यों ही मैं भी शीघ्र करूँगी परिचित अपना प्रेम।

एडविन के इस कथन में—

इस मुहूर्त्त से प्रिये, नहीं अब पल भर भी होंगे न्यारे
जिन विघ्नों से था विछोह यह, सो अब दूर हुए सारे
यद्यपि भिन्न शरीर हमारे, हृदय प्राण मन एक
परमेश्वर की अतुल कृपा से निभी हमारी टेक

—वैयक्तिक भावनाओं की विशेषता है। स्वच्छन्दतावादी काव्य में इस प्रकार की भावनाएँ रूढ़िवादी काव्य की अपेक्षा कहीं अधिक यथार्थ और जीवन के मेल में होती हैं। इसी कारण यह काव्य स्वच्छन्दतावाद का नवीन संदेश देता है और हिन्दी की काव्य-परम्परा में स्वच्छन्दवादिता का स्तम्भ खड़ा कर देता है।

पाठक जी के इस काव्य का अंग्रेजी से हिन्दी में रूपान्तर करने के समय काव्य की भाषा के सम्बन्ध में विवाद प्रस्तुत था। यों ब्रजभाषा ही कविकर्म के लिये सुरक्षित थी; किन्तु सर्वसाधारण की बोली खड़ी बोली जब साहित्य-क्षेत्र में अपनाली गई तब काव्य-क्षेत्र में उसका प्रयोग करना भी आवश्यक ही नहीं अनिवार्य हो गया। इस प्रकार ब्रजभाषा और खड़ी बोली की प्रवाहित गंगा-जमुनी के मध्य में दोनों भाषाओं का सम्मिश्रण हो जाना स्वाभाविक ही था। 'भारतेन्दु-युग' के सभी ही कवियों में भाषा-मिश्रण का यह स्वरूप मिलता है। पाठक जी ने यद्यपि अपने इस काव्य के लिये खड़ी बोली का प्रयोग ही समीचीन समझा था; किन्तु ब्रजभाषा के आभार से वह अपने को मुक्त न कर सके। स्थल-स्थल पर ब्रजभाषा का पुट स्पष्ट परिलक्षित होता है।

करके कृपा बतादे मुझको कहाँ जलै है वह आगी

* * *

तू जो मुझे वहाँ पहुँचादे यह गुण होय अथाह

* * *

नम्र भाव से कीनी उसने विनय समेत प्रणाम

* * *

बनी पर्णशाला योगी की साधारण अत्यन्त इकान्त

* * *

मान होय भूले भटके का अति श्रद्धा के साथ

* * *

शोचनीय मम दशा कथा, मैं कहूँ आप सो सुन लीजै

* * *

प्रेम व्यथित अबला पर अपनी दया-दृष्टि योगी कीजै

* * *

विश्व-निकाई विधि ने उसमें की एकत्र बटोर
बलिहारौं त्रिभुवन धन उस पर वारौं काम करोर

* * *

उसके मन की सुघराई की उपमा उचित कहाँ पाऊँ

* * *

उस एकान्त ठौर को मैं अब ढूँढूं हूँ दिन रैन

उपर्युक्त पंक्तियों में रेखांकित पदों का अध्ययन करने से ही पाठक जी की स्थिति का पता चल जाता है। वह ब्रजभाषा के जन्मजात माधुर्य को समझते थे, यही कारण है अनुभव करते हुए भी (निकाई, करोर एवं सुघराई) आदि शब्दों के खड़ी बोली के रूप प्रस्तुत कर वह माधुर्य की खण्डित मूर्ति पाठक के सामने लाने में साहसिक न हो सके। उपर्युक्त रेखांकित पदों से यह भी व्यक्त होता है कि खड़ी बोली प्रौढ़ स्वरूप प्राप्त करने के लिये अभी तुतला रही थी—'जलै है', 'होय', 'कीनी', 'इकान्त', 'लीजै' एवं 'कीजै' आदि शब्द इसी स्थिति के द्योतक हैं।

गोल्डस्मिथ का मूल काव्य ४० पदों में है किन्तु पाठक जी ने इनका रूपान्तर ५९ लावनी छन्दों में किया है। मूल से १९ पदों का अधिक होना पाठक जी द्वारा गोल्डस्मिथ के अंग्रेजी वातावरण को भारतीय वातावरण में रूपान्तरित करने के प्रयास के कारण स्वाभाविक था। काव्य-विषय को भारतीयता देने के लिये ही पाठक जी ने स्वच्छन्द रूप से अपनी भावनाओं को निःसृत होने दिया है। वस्तुतः इन्हीं स्थलों में पाठक जी के कवि-हृदय की सरलता की परख हो सकती है। केवल इस सम्बन्ध में एक उदाहरण प्रस्तुत करना ही अलम् होगा—

गोल्डस्मिथ के The Hermit का निम्न २६वाँ पद है—

My father lived beside the Tyne
A wealthy lord was he

And all his wealth was marked as mine
He had but only me,

इस पद का अनुवाद पाठक जी ने निम्न पंक्तियों में किया है—

टाइन नदी के रम्य तीर पर, भूमि मनोहर हरियाली
लटक रहीं, झुक रहीं जहाँ द्रुमलता, छुएँ जल से डाली
चिपटा हुआ उसी के तट से उज्ज्वल उच्च विशाल
शोभित है एक महल बाग़ में, आगे है एक ताल (३१)

* * *

उस समग्र, वन, भवन, बाग़ का मेरा बाप ही स्वामी था
धर्मशील, सत्कर्म-निष्ठ वह जमींदार एक नामी था
बड़ा धनाढ्य, उदार, महाशय, दीन-दरिद्र-सहाय
कृषिकारों का प्रेम-पात्र, सब विधि सद्गुण-समुदाय (३२)

* * *

मेरी बाल्य अवस्था ही में माँ ने किया स्वर्ग प्रस्थान
रही अकेली साथ पिता के, थी मैं उसकी जीवन-प्राण
बड़े स्नेह से उसने मुझको पाला पोषा आप
सब कन्याओं को परमेश्वर देवे ऐसा बाप (३३)

* * *

दो घंटे तक नित्य मुझे वह श्रम से आप पढ़ाता था
विद्या-विषयक विविध चातुरी नित्य नई सिखलाता था।
करूँ कहाँ तक वर्णन उसकी अतुल दया का भाव
हुआ न होगा किसी पिता का ऐसा मृदुल स्वभाव (३४)

* * *

मैं ही एक बालिका उसके सत्कुल में जीवित थी शेष
इससे स्वत्व बाप के धन का प्राप्य मुझी को था निश्शेष
था यथार्थ में गेह हमारा, सब प्रकार सम्पन्न
ईश्वर-तुल्य पिता के सम्मुख, थी मैं पूर्ण प्रसन्न (३५)

उपर्युक्त गोल्डस्मिथ रचित अंश को देखकर अनुमान किया जा सकता है कि कवि पाठक जी ने अपनी भावनाओं को स्वच्छन्द रूप से अग्रसर होने दिया है। टाइन नदी के किनारे निवास की बात गोल्डस्मिथ भी कहते हैं; किन्तु उस स्थल की हरीतिमा एवं ताल आदि की बात मूल में कहीं भी नहीं है। गोल्ड-

स्मिथ पिता के धनी होने की बात तो कहते हैं; किन्तु पाठक जी ने उसके धनी होने के अतिरिक्त धर्मशील, सत्कर्मनिष्ठ, उदार, दीन-दरिद्र-सहाय आदि विशेषण भी जोड़े हैं।

काव्य में ऐसे स्थल भी हैं जहाँ पाठक जी ने अपनी भावनाओं को भारतीय संस्कृति के अनुकूल ही रखा है।

And when beside me in the dale
He carolled lays of love
His breath lent fragrance to the gale
And music to the grove

इसका रूपान्तर पाठक जी ने निम्न प्रकार से किया है :—

जब वह मेरे साथ टहलने शैलतटी में जाता था
अपनी अमृतमयी वाणी से प्रेमसुधा बरसाता था।
उसके स्वर से हो जाता था वनस्थली का ठाम
सौरभ-मिलित सुरस-रव-पूरित सुर-कानन सुखधाम।

उपर्युक्त हिन्दी और अंग्रेजी दोनों पदों को देखने से प्रतीत होता है कि पाठक जी ने रूपान्तर करने में कवि की मूल भावनाओं की पूर्ण रक्षा तो की ही है। पाठक जी ने अपनी पंक्तियों में गोल्डस्मिथ की पंक्तियों की अपेक्षा कहीं अधिक गरिमा और शिष्ट भावना देने का प्रयास किया है। He carolled lays of love के लिये पाठक जी ने 'अपनी अमृतमयी वाणी से प्रेम सुधा बरसाता था' लिखा है। इस पंक्ति में मूल की अपेक्षा काव्य का सुन्दर उत्कर्ष है। गोल्डस्मिथ केवल 'Grove' ही कहकर रह जाता है जब कि पाठक जी ने उस कुंज को 'सुरकानन' बना दिया है। उपर्युक्त से ही यह अनुमान लगाने में कठिनाई नहीं है कि पाठक जी के कवि-हृदय की प्रतिभा ने 'एकान्त-वासी योगी' द्वारा गोल्डस्मिथ को भी अमरत्व प्रदान किया है। यही कारण है तत्कालीन वातावरण में देश एवं विदेश में सभी ने इस काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

लण्डन के २२ मई १८८८ ई० के The Homeward Mail का कथन है—

"गोल्डस्मिथ के Hermit के इस अनुवाद (एकान्तवासी योगी) से हिन्दी-साहित्य में एक अद्वितीय अभिवृद्धि हुई है। क्योंकि यह भारतीय विद्वानोंको शास्त्रीय चित्र-कल्पना से विमुख कर मानवीय सहानुभूति और अनुराग में तल्लीन करेगा

श्रीधर पाठक ने अंग्रेजी के इस प्रसिद्ध काव्य के साथ पूर्ण न्याय किया है। उनका अनुवाद भारतीयों को पाश्चात्य सौन्दर्य का यथोचित विचार प्रदान करेगा।"[1]

Aligarh Institute Gazette, 6th July, 1886 का कथन है :

"अनुवाद दुर्लभ गुणों से युक्त है और यह अनुवादक की प्रवृत्ति एवं विवेक के लिये प्रशंसनीय है।"[2]

पिन्काट महोदय ने इस काव्य की प्रशंसा करते हुए पाठक जी को लिखा था—"आपका अनुवाद आपकी प्रतिभा की विजय है।"[3]

ऊजड़ ग्राम—(रचना-काल—मार्गशिर सं० १९४६)

'ऊजड़ ग्राम' गोल्डस्मिथ के करुण काव्य 'The Deserted Village' का अनुवाद है। किन्हीं विचारकों का दृष्टिकोण है कि गोल्डस्मिथ के इस काव्य में वर्णित आवर्न नामक ग्राम आयरलैंड का है, इंग्लैंड का नहीं; किन्तु काव्य में इंग्लैंड की परिस्थितियों के चित्रण होने से यह स्पष्ट है कि यह ग्राम भी इंग्लैंड का ही रहा होगा। इस विचारधारा का जो भी तथ्य हो; किन्तु इसमें सन्देह नहीं कि इस काव्य के द्वारा कवि गोल्डस्मिथ ने मानवीय मानस के अन्तरतम को स्पर्श करने की सफल चेष्टा की है। फलस्वरूप The Deserted Village आयरलैंड अथवा इंग्लैंड का ही न होकर विश्व के किसी देश के भग्नशील ग्राम की कोटि में रखा जा सकता है। हरित-भरित और सर्व प्रकारेण सम्पन्न ग्राम दुर्भाग्य के चक्र में पड़कर उजड़ जाते हैं। यह क्रम प्रत्येक देश के भूत, वर्तमान एवं भविष्य तीनों कालों में अबाध रूप से चलता रहेगा। यह विश्व का करुण अमर सत्य है—इसमें व्यतिक्रम हो ही नहीं सकता। इस आधार

---

1. This translation of Goldsmith's Hermit is a valuable addition to Hindi literature, for it will tend to divert the Indian mind from the extravagances of oriental imagery and fix it upon the sympathies and affections of the humen heart. Shri Dhar Pathaka has done justice to a famous English poem, and his translation will give to the people of India an accurate idea of what is deemed beautiful on this side of the world,
2. The translation possesses very rare merits and is highly creditable to the taste and talents of the translator.
3. Your translation is a triumph of skill.

से ही इस काव्य को विश्व के अमर काव्यों की कोटि में सरलतापूर्वक रखा जा सकता है। गोल्डस्मिथ की मूल अंग्रेजी रचना मई १७७० में प्रकाशित हुई थी और अपने भाई के निधन के कारण उन्होंने उसे सर जोशुआ रेनाल्ड्स (Sir Joshua Reynolds) को अर्पित की थी।

कवि श्रीधर पाठक हिन्दी के आधुनिक-युग के संक्रान्त युग के कवि थे। काव्य के कृत्रिम निर्माण की माया-मरीचिका के युग में कालयापन करते हुए भी उन्होंने काव्य के क्षेत्र में जीवन के यथार्थ का स्वागत करने में ही न्याय समझा। फलस्वरूप तद्विषयक प्रवृत्तियों को माँजने के लिये उन्होंने गोल्डस्मिथ के काव्यों का आधार लेना उचित समझा था। इनमें समाविष्ट विश्व-भावना को परखकर ही काव्य के वैयक्तिक अनुभूति-पूर्ण यथार्थ का परिचय हिन्दी-पाठकों को कराने के लिये ही उन्होंने 'एकान्तवासी योगी' के समान इस 'ऊजड़ ग्राम' का अनुवाद भी प्रस्तुत किया।

अंग्रेजी के मूल काव्य में केवल ४३० पंक्तियों के होते हुए भी अनुवाद में ५१४ पंक्तियाँ हो गई हैं। यद्यपि काव्य के उत्तरार्द्ध में कवि पाठक ने शाब्दिक अनुवाद करने का प्रयास किया है, तथापि रूपान्तर में एक भाषा की भावनाओं को दूसरी भाषा में पूर्ववत् सुगठित रूप में रख दिया जाय—ऐसा न सम्भव हुआ है और न हो सकेगा। द्वितीय भाषा में रूपान्तर की परिस्थिति में तद्देशीय सभ्यता और संस्कृति का ध्यान भी रखना स्वाभाविक हो जाता है—अन्यथा वह रूपान्तर भले ही हो जाय; किन्तु उसमें सजीवता के शतांश का भी अनुभव न होगा। उपर्युक्त दृष्टिकोण के कारण ही मूल पंक्तियों के रूपान्तर में पंक्तियों का बढ़ जाना क्षम्य ही नहीं स्वाभाविक भी है।

यद्यपि Allan's Indian Mail, London (फर्वरी १७, १८९०), The Indian Magazine, London (मार्च १८९०), Supplement to the Overland Mail, London (अप्रेल ११, १८९०) एवं Aligarh Institute Gazette (फर्वरी ११, १८९०) आदि-आदि पत्रों ने अपने मुक्त कण्ठ से इस सजीव अनुवाद की प्रशंसा की है; किन्तु इस सम्बन्ध में प्रोफेसर जे० एफ० निकल एम० ए०, बालियल कालेज, आक्सफोर्ड का १ मार्च १८९० ई० का श्री पिंकाट महोदय को हिन्दी में लिखित पत्र का यह अंश विशेषरूपेण द्रष्टव्य है :—

"पंडित जी (श्रीधर पाठक) ने अपनी पोथी का नाम ऊजड़ ग्राम रखा। परन्तु निश्चय यह है कि लिखते समय उनका मन मक्खी के समान अपने मधु

में ऐसा लिपट गया कि अक्षरों का विन्यास भूल गये। उसका नाम 'जड़ाऊ मग' रखना चाहिये, क्योंकि उस पोथी की बाटें मणि-माणिक्य से जड़ित होती हैं। बस, बाट की बात चलाते ही क्या देखता हूँ कि बाटिका फूलती है। उस बाटिका की बाटों की दोनों ओर की क्यारियों की शोभा देखता हुआ चला जाता हूँ। मक्खी के समान एक फूल से दूसरे फूल पर बैठता उसका रस लेता हूँ। उसी बाटिका के वृक्ष अमृत फल से लदे हैं, केवल मुख खोलने का कष्ट है। फल आप से आप मुख में चले जाते हैं।"

'ऊजड़ ग्राम' के स्थान पर प्रो० निकल ने उसका नाम 'जड़ाऊ मग' रखने के लिये सुझाव दिया है। एक अंग्रेज विद्वान के इस कथन के तथ्य की परीक्षा ही वस्तुतः इस लघु काव्य की आलोचना होगी।

इस काव्य में काव्य-विषय का जहाँ तक सम्बन्ध है उसको उस रूप में प्रस्तुत करने का श्रेय मूलतः गोल्डस्मिथ को ही है। 'ऊजड़ ग्राम' के अन्तर्गत (विषय एवं भाव) के सम्बन्ध में यह विचार करना कि पाठक जी मूल कवि की भावनाओं को वास्तविक रूप में कहाँ तक सफलतापूर्वक रूपान्तरित कर सके हैं अथवा कहाँ पर इस सम्बन्ध में वह गोल्डस्मिथ से आगे निकल गये हैं अथवा पीछे रह गये हैं—इन सभी विचारों का श्रेय अथवा अश्रेय पाठक जी को है। यों इस काव्य में स्वाभाविक सजीवता का पुट पाठक जी अपनी प्रतिभा के बल से लगा सके हैं—इसके लिये हम उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा ही करेंगे।

काव्य के विषय-सम्बन्धी विवेचन में प्रविष्ट होने से पूर्व हम काव्य के बाह्यांग के सम्बन्ध में यह जान लें कि पाठक जी ने इस अनुवाद को रोला छंद और ब्रजभाषा में प्रस्तुत किया है। इस काव्य के लिये उनका ब्रजभाषा का आग्रह ही क्यों रहा है ? इस सम्बन्ध में उन्हीं के विचार द्रष्टव्य हैं :—

"××× परन्तु समय बदल चला था। बूढ़ी ब्रजभाषा का स्थान नवयुवती खड़ी बोली से सत्वर छीना जा रहा था और बहुत कुछ छीना जा चुका था। नवीन युग के नवयुवक उसी की ओर अधिक आबद्ध देखने में आते थे। अब भी अधिकतः वही प्रवृत्ति है। अतः बूढ़ी भाषा की रचना का एक उजड़े हुये गांव की दशा को इतना शीघ्र प्राप्त हो जाना अस्वाभाविक न था।"[1]

इस स्थल पर यह सोचना कि मूल काव्य की करुणा की रक्षा के लिये ही

---

१. श्रीधर पाठक, 'ऊजड़ ग्राम' भूमिका, तृतीय संस्करण, मार्ग शीर्ष शुक्ल ३, सम्वत् १९७२।

ब्रजभाषा अपना ली गई है—हास्यास्पद होगा। पाठक जी इस अनुवाद से पूर्व 'एकान्तवासी योगी' खड़ी बोली में प्रस्तुत कर चुके थे, जिसकी भाषा के लालित्य में सन्देह करना व्यर्थ है। खड़ी बोली में प्रांजलता और सरसता ला देना पाठक जी की प्रतिभा पर निर्भर था। एकान्तवासी योगी के लिये जिस मधुर भाषा का प्रयोग किया गया है, वही भाषा 'ऊजड़ ग्राम' के लिये भी प्रयुक्त हो सकती थी। इस काव्य की भाषा के प्रयोग का निश्चय कवि पर ही रहता है। इससे इस स्थल पर भी पाठक जी की विशेष अभिरुचि की ही बात थी जो इस काव्य में ब्रजभाषा अपना ली गई।

अब अनुवाद की सफलता के सम्बन्ध में यह विचार करना स्वाभाविक हो जाता है कि कवि पाठक मौलिक भावनाओं की किस मात्रा तक रक्षा करने में समर्थ हो सके हैं—

Sweet Auburn! loveliest village of the plain,
Where health and plenty cheered the labouring swain
Where smiling spring its earliest visit
And parting summer's lingering blooms delayed
(१—४)

पाठक जी का अनुवाद देखिये—

हे प्यारे औबर्न सकल गामन सौं रूरे।
जहाँ श्रमी कृषिकार बसे सुख सम्पति पूरे।
जहाँ रसीली ऋतु वसन्त पहले ही आवत।
जान समय बिलमाय फूल फल देर लगावत।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह स्पष्ट है कि पाठक जी ने गोल्डस्मिथ की भावनाओं की पूर्ण रक्षा कर ली है। शाब्दिक अनुवाद न होते हुए भी इस स्थल पर भावात्मक अनुवाद में किसी प्रकार का अभाव परिलक्षित नहीं होता। आगे की पंक्तियाँ भी तुलना के दृष्टिकोण से विचारणीय हैं।

The service past, around the pious man
With steady zeal, each honest rustic ran;
Each children followed with endearing wile,

And plucked his gown, to share the good man's smile,
His ready smile a parent's warmth exprest,
Their welfare pleased him, and their cares distrest
To them his heart, his love, his griefs were given
But all his serious thoughts had rest in heaven,

—The Deserted Village, Lines 181—188

पाठक जी का अनुवाद देखिये :—

उपासना के पीछे जाके चारों ओरी
दृढ़ उछाह सों घिरें सरल ग्रामीन बहोरी
बालक हू लगि लेंय संग करि प्रिय खिलकौरनि
पकरैं जामा तासु लहन मुसक्यानि एक छिन
सुलभ तासु मुसक्यानि पिता सम प्रीति जतावै
तिनकौ सुख दुख देय ताहि, चिन्ता दुखियावै
हृदय, प्रेम अरु शोक तासु तिन मध्य समाये
पै सब गूढ़ बिचार परम पद में थिति पाये।

—ऊजड़ ग्राम, पंक्तियाँ २५५—२६२

मूल पंक्तियों के साथ इन पंक्तियों की तुलना में यह स्पष्ट है कि पाठक जी ने शत प्रतिशत मूल पंक्तियों की भावना को सुरक्षित रखा है। मूल काव्य की सरलता और मधुरता पूर्ण मात्रा में हिन्दी की पंक्तियों में भी निभ गई है।

अब एकाध वह स्थल भी देखते हैं जहां मूल की भावना के स्पष्ट करने में कवि पीछे रह गया है—

Princes and lords may flourish or may fade
A breath can make them as a breath has made,
But a bold peasantry, their country's pride
When once destroyed can never be supplied.

—The Deserted Village, Lines 53—56

कुमर और उमराय बनें बिगरें कछु नाहीं
फूँक माँहि वे बनत फूँक ही सों मिटि जाहीं।
पै दृढ़ कृषिक-समाज देस कौ साँचौ गौरव
नास भये एक बार फेरि उपजन नहिं सम्भव

—ऊजड़ ग्राम, पंक्तियाँ ७३-७५

दोनों अंशों में भावनाओं के सम्बन्ध में साम्य अवश्य है; किन्तु हिन्दी के अनूदित अंश में पाठक जी मूल भावना की रक्षा करने में असफल रहे हैं। अंग्रेजी के उपर्युक्त खण्ड की प्रथम दो पंक्तियों का शाब्दिक आशय है—"राजकुमार और सभ्य बन सकते हैं और बिगड़ सकते हैं—एक श्वास उन्हें वैसे ही बना सकती है जैसे एक श्वास ने उन्हें बनाया था।" फलस्वरूप अंग्रेजी की पंक्तियों की ध्वनि है—राजकुमार और सभ्यों के बनने और बिगड़ने से क्या, वे एक श्वास में फिर बन सकते हैं। पाठक जी की अनुवादित पंक्तियों की ध्वनि है—राजकुमारों और सभ्यों के बनने और बिगड़ने से क्या, वे एक फूँक में बन भी सकते हैं और बिगड़ भी सकते हैं; किन्तु गोल्डस्मिथ का आशय है—राजकुमार और सभ्यों का बनना-बिगड़ना क्या, वे फिर बन सकते हैं; पर किसानों का बिगड़ कर बन जाना असम्भव है। इस प्रकार पाठक जी मूल भाव को नहीं अपना सके हैं।

'ऊजड़ ग्राम' के वे स्थल भी देखने हैं जिनमें भारतीयता की पूर्ण झलक मिलती है। इस गाँव में 'पुजारी' और 'अध्यापक' दो बड़ी महत्वपूर्ण विभूतियाँ हैं। गोल्डस्मिथ के ये दो चरित्र भी अधिक शिक्षित नहीं हैं; किन्तु भारतीय ग्रामों में जिस प्रकार ये लोग ग्रामीणों के हित-चिन्तन में लगे रहते हैं, उनका वही रूप यहाँ भी विद्यमान है। इस स्थल पर कुमारियों के दो चित्र विचारणीय हैं—

सकुचीली क्वारिन की पुरुषन पै बगलौंही
महतारिन करिकैं तिनकौ आँखिन में तर्जन
बेटिन को अनुचित-अनुचित बातन सों बर्जन (३६-४१)

(The bashful virgin's sidelong looks of love
The matron's glance that would those looks reprove)
—(29-30)

ना क्वारी नव बाला सरमीली कोऊ तहँ
पान हेतु पूछी जैवो चाहै जो मन महँ

सरल सलौनी सुन्दर साधारन हिय भोरी
चूमि पियाला पहुँचैहै औरन की ओरी (३६१-३६४)

(Nor the coy maid half willing to be prest
Shall kiss the cup to pass it to the rest)
—(248-249)

दोनों स्थल ही वस्तुतः कुमारियों के कोमल चित्रण प्रस्तुत करते हैं, जिनमें कवि की स्वच्छन्दवादिता शत-प्रतिशत विद्यमान है। द्वितीय में परिपाटी विशेष का चित्रण होते हुए भी 'नव बाला' के प्रति पुरुष-वर्ग का आकर्षण है, जो अपने से पहले ही कुमारी को स्थान देकर उसकी लज्जा और सुन्दरता का सम्मान करते हैं। प्रथम में वस्तुतः बाल्यावस्था के स्थान पर युवती अवस्था के आगमन के कारण कुमारी में चंचलता का समावेश स्वाभाविक ही है, जिसके वशीभूत हो वह कभी इधर दृष्टि डालती है कभी उधर। जीवन में अनुभव-शून्य होने के कारण कहीं वह भटक न जाय इससे वह अपनी अभिभाविकाओं से नियंत्रित भी की जाती है।

उपर्युक्त विवेचन से अब यह स्पष्ट हो जाता है कि गोल्डस्मिथ के इस काव्य के साथ पाठक जी न्याय कर सके हैं। यों अनुवाद में जो अभाव रह सकते हैं वही यत्र-तत्र उपलब्ध होते हैं अन्यथा मूल-काव्य की स्वच्छन्दवादिता को कवि सफलतापूर्वक सुरक्षित रख सका है, इसमें सन्देह नहीं।

इस स्थल पर पाठक जी की जन्मभूमि 'जोंधरी' का पतन-चित्रण जो स्वयं उन्होंने 'स्वजीवनी' में किया है, साम्य की भावना से देखने योग्य है। जोंधरी ग्राम पाठक जी के किसी पूर्वज ने कोटिला के अधिप के समीप रेहन रख दिया था। तत्सम्बन्धी वर्णन करते हुए पाठक जी ने गाँव का यों चित्रण किया है—

× × ×**आज वह वंश अति**
दुर्दशा ग्रस्त है, द्रोह से दग्ध दा-
रिद्रय से ध्वस्त है। ग्राम में आज औ-
दण्ड्य का राज है, अनवरत पतन का
सज रहा साज है।

वैश्यों के सम्बन्ध में कवि-कथन है—

धर्म में जैन, बहु-
नम्रता ऐन सब, सुघर सन्तान धन

धान्य से धन्य, उस ग्राम में सदृश्य उन-
के न जन अन्य थे। किन्तु वह भी अधो-
गमन में लग्न थे, कुमति कृत कलह के
पंक में मग्न थे। आज दिन वह दुखित
दीन दुरवस्थ, आत्म अस्तित्व में
अतीव अस्वस्थ हैं।

वैश्यों के समान कृषक भी सभी प्रकार से सुखी और सम्पन्न थे; किन्तु दैवी दुर्भाग्यों के समक्ष वे भी अधोगति को प्राप्त हुए—

उसी विधि दीखते
सुखित कृषिकार थे, प्रायः उनके सभी
श्लाघ्य व्यवहार थे। आज वह भी निपट
भिन्न हैं हो रहे, स्वात्मगत स्वत्व के
चिह्न हैं खो रहे।

दुर्भाग्यों के संसर्ग से पीड़ित सम्पूर्ण ग्रामवासियों के साथ कवि श्रीधर पाठक अपनी पारिवारिक स्थिति को भी नहीं भूलते हैं।

घर हमारा विभव
में न अभ्यस्त था, धार्मिक
व्यसन में ही रहे व्यस्त था। आज वह भी नहीं
विपद से रहित है, कर चुका बहुत कुछ
आत्मगत अहित है।

ग्राम-निवासियों के साथ-साथ कवि गाँव का चित्रण भी बड़ी ही सजीव शैली में प्रस्तुत कर रहा है।

ग्राम उस समय जिस
समय की है कथा, दूर तक प्रान्त के
बीच विख्यात था। दृश्य उसका अभी
हृदय पर है खिंचा, स्पष्ट जैसा कि हो
आज ही का रचा।
एक प्राचीन 'पर—
—कोट' जिसका अधिक भाग था भग्न और
भूमि से मिल रहा मूल से लग्न जिस
के कि खाई खुदी कहीं देती दिखा—

—ई कहीं लुप्त थी। बीच उसके कहीं
सजल कीचड़ कहीं सघन-काई-सनी
सड़ी बेलें सिंघाड़े तथा कमल की
सरल कहिं कुटिल कहिं पड़ी रहती बहुत
थी मनोहर बड़ी

पाठक जी की पंक्तियों में भी वैयक्तिक भावना का चित्रण है। पाठक जी में कवि-सुलभ प्रतिभा पूर्णरूप से विद्यमान थी। इसी से 'ऊजड़ ग्राम' के अनुवाद के सम्बन्ध में यह कहना अतिशयोक्ति न होगा कि वैयक्तिक अनुभूतियों से 'परिपूर्ण' चित्रणों के कारण 'एकान्तवासी योगी' के समान इस काव्य ने भी हिन्दी की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा को प्रशस्त किया है।

श्रान्त पथिक (रचना-काल—१९०२ ई०)

पं० श्रीधर पाठक अंग्रेजी काव्य की पूर्व-स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों से प्रभावित थे। अंग्रेजी काव्य के उक्त काल में जिस प्रकार कवि परम्परागत काव्य-पद्धतियों को परित्यक्त कर वैयक्तिक अनुभूतियों के आधार पर काव्य-क्षेत्र में अपना नया संसार बसाना चाहते थे, उसी प्रकार हिन्दी की सामन्तीय प्रवृत्तियों के विरोध में पाठक जी ने स्वच्छन्दतावादी काव्य-पद्धति को जन्म देकर काव्य में एक नया प्रयोग प्रारम्भ किया।

श्रीधर पाठक ने गोल्डस्मिथ के 'The Traveller' का 'श्रान्त पथिक' के नाम से अनुवाद प्रस्तुत किया था। इन अनुवादों की सफलता के सम्बन्ध में यह सत्य है कि उनके 'एकान्तवासी योगी' को जो यश मिला वह 'ऊजड़ ग्राम' को नहीं और 'ऊजड़-ग्राम' को जो यश मिला वह 'श्रान्त पथिक' को नहीं। यों वैयक्तिक अनुभूतियों के साथ अधिक और कम स्वच्छन्दवादिता गोल्डस्मिथ के तीनों काव्यों में है; किन्तु हिन्दी में तीनों काव्यों की सफलता का जो कथन है उसके सम्बन्ध में यह जानना ही उचित होगा कि 'एकान्तवासी योगी' में जो स्वच्छन्दवादिता है वह 'ऊजड़ ग्राम' में नहीं और 'ऊजड़ ग्राम' में जो स्वच्छन्द-वादिता है वह 'श्रान्त पथिक' में नहीं। वस्तुतः उपर्युक्त सफलता और असफलता का दोष पाठक जी को नहीं है; किन्तु उसके लिए तो गोल्डस्मिथ ही स्वयं उत्तरदायी है।

"क्लिष्ट एवं दार्शनिक इस विदेशी काव्य का पंक्ति प्रति पंक्ति अनुवाद होने पर भी मौलिक काव्य का यह संतोषजनक रूपान्तर नहीं कहा जा सकता।"[1]

उपर्युक्त असफलता का प्रमुख आधार वस्तुतः काव्य की दार्शनिक भावना है। इसमें न तो 'The Hermit' के समान मधुर प्रेमचर्या है और न 'The Deserted Village' के समान भग्नावशेषों के करुण चित्रण ही। इसमें तो केवल 'सुख के दर्शन' की व्याख्या है जो वस्तुतः विभिन्न प्रदेशों की राष्ट्रीयता की कसौटी पर तौली गई है। यदि कवि ने इस दर्शन की व्याख्या के लिए अन्य कोई आधार लिया होता तो कविता का माधुर्य स्वीकार्य हो सकता था। देशों की जिन राष्ट्रीयताओं को कवि विवेचित करता है उनमें विविधता के कारण भावनाओं के प्रवाह में विषमता के द्वारा रसानुभूति में व्यवधान प्रस्तुत हो जाता है। काव्य में दार्शनिक व्याख्या नीरस और शुष्क प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त हिन्दी-रूपान्तर में पाठक जी सन्तोष की जो कमी बतलाते हैं उसका कारण यही है कि पंक्ति प्रति पंक्ति अनुवाद होने के कारण पाठक जी को मस्तिष्कीय व्यायाम करना आवश्यक हो गया, जिसमें बौद्धिक-कलापक्ष का प्रस्फुटन तो हुआ; किन्तु हृदय का भावपक्ष भटक गया।

इस काव्य के यत्र-तत्र स्थलों पर दृष्टिपात किया जाय उससे पूर्व काव्य के प्रमुख आधार का विवरण प्रस्तुत करना उचित होगा।

पथिक गोल्डस्मिथ थककर अपनी आत्मा को सुखी करने के लिये अपने को आल्प्स पर्वत की चोटी पर बैठा हुआ मानकर मानवीय सुख के सम्बन्ध में विचार करता है। विचारता है—ऐसा सुख कहाँ मिल सकता है ? प्रत्येक स्वदेशाभिमानी अपने देश को सर्वोत्तम समझता है। फिर इटली, स्विट्जरलैंड, फ्रांस, हालैंड एवं इंग्लैण्ड के मानवीय समाजों पर अलग-अलग विचार करता है। सोचता है कि इस राष्ट्रीयता के कारण ही संघर्ष होते हैं। सामान्य सुख कहीं नहीं है। अन्ततः वह इसी निर्णय पर पहुँचता है कि मनुष्य का वास्तविक सुख उसी के हृदय में अन्तर्हित रहता है।

---

1. Being throughout a line for line rendering of a terse and philosophical foreign poem, it cannot claim to be a very faithful reproduction of the original.

Shridhar Pathak,
Nessvilla, Simla
Sep. 17, 1902.

काव्य के प्रारम्भिक और अन्तिम अंश निस्सन्देह बड़े करुण हैं। असफलताओं और निराशाओं से बाधित हो गोल्डस्मिथ जीवन में जिस प्रकार भटका है, वह सभी को ज्ञात है। जीवन की दुखमय परिस्थितियों में—मित्र और सम्बन्धी-विहीन—गोल्डस्मिथ सुख की मृगतृष्णा के लिए ललक उठा है। अन्ततः मानव ठहरा, जीवन में जूझने की भी तो सीमा हो, उस कण्टकाकीर्ण पथ में कहीं विराम तो लगे। फलस्वरूप उसी मानवीय सुख के लिए कवि आल्प्स पर्वत से सम्बन्धित देशों की परीक्षा करके अन्त में इस निर्णय पर पहुँचता है कि सुख बाह्य विश्व में नहीं स्वयं मानवीय हृदय में अधिष्ठित है।

वस्तुतः ये दो स्थल ही इस काव्य के प्राण हैं। इन्हीं में गोल्डस्मिथ की वैयक्तिक अनुभूति फलवती है। कालिन्स और ग्रे के दुःखवाद का इन दोनों स्थलों पर पूर्ण प्रभाव है।

> **दूर देश, बिन मित्र, मलिन मन, मन्द निरन्तर पथ चारी**
> **चाहे शिथिल शैल्ट-तट चाहे कुटिल भ्रान्त पो अनुसारी**
> **अथवा आगे और जहाँ शठ 'कैरिन्थी' कृषिकार गँवार**
> **परदेशी को देख बन्द कर लेता अपने घर के द्वार**
> **अथवा जहाँ 'कैम्पियाना' का सूना पट पर भ्रम कारी**
> **निरा निरस ऊसर विस्तारित, फैला है नभ लौं भारी**
> **चहे जहाँ मैं फिरूँ चहे जो देश देखने को धाऊँ**
> **हृदय मेरा बिन फिरा, उसे तेरी ही ओर फिरता पाऊँ**
> **फिर-फिर आता और हृदय यह दुखित निरन्तर जाता है**
> **पद-पद पर प्यारे से अन्तर अधिक-अधिक अधिकाता है।[1]**

---

1. Remote unfriended, meloncholy, slow
   Or by the lazy Schelt or wandering Po
   Or onward where the rude Carinthian boor
   Against the houseless stranger shuts the door,
   Or where Campanian's plain forsaken lies,
   A weary waste expanding to the skies;
   Where'er I roam whatever realms to see
   My heart untravelled fondly turns to thee;
   Still to my brother turns, with ceaseless pain
   And drages at each remove a lengthing chain.
   (Traveller 1-10)

नहीं किन्तु मम भाग्य जो कि ऐसा विनोद सुख पाऊँ मैं
निज यौवन जब दुखित भ्रमण और चिन्ता बीच बिताऊँ मैं
कुछ हित की आशा से प्रेरित अविरत-पद जग में धाऊँ
जिसके छद्म दृश्य से मोहित बहक-बहक मन भरमाऊं[1]

* * *

मेरा भाग्य ही मुझे अकेला देश-विदेश घुमाता है।
जग भर में कोई भी अपना ठौर दृष्टि नहिं आता है।[2]

ऊपर के हिन्दी के उद्धृत अंशों में गोल्डस्मिथ की पंक्तियों का शाब्दिक अनुवाद अवश्य है; परन्तु वे निष्प्राण हैं—पंक्तियों में न प्रवाह है और न काव्य-सुलभ माधुर्य है। इस प्रकार काव्य की सजीवता निर्जीव ही हो गई है। अंग्रेजी की मूल पंक्तियों की निराशावादी भावना हिन्दी में निराशा का उद्रेक नहीं कर पाती।

चहे जहाँ मैं फिरूँ चहे जो देश देखने को धाऊँ
हृदय मेरा बिन फिरा, उसे तेरी ही ओर फिरता पाऊँ

इन पंक्तियों में तथा अवशिष्ट उद्धृत पंक्तियों में मूल काव्य की ध्वनि का प्रस्फुटन नहीं हो पाता। दीर्घ वर्णों को ह्रस्व कर देने में शब्दों की आत्मा कुण्ठित हो गई है। खड़ी बोली के सम्यक् प्रसार की भावना से इस प्रकार के दोष जो सम्पूर्ण काव्य में भरे पड़े हैं, क्षम्य हो सकते हैं; किन्तु काव्य की सफल प्रगति में व्यवधान पड़ा ही है, इसमें सन्देह नहीं।

काव्य की अन्तिम पंक्तियाँ भी विचारणीय हैं:—

निपट निरर्थक हुआ मेरा सब श्रान्त यत्न और अनुसन्धान
उस सुख के पाने को जिसका केवल मन है केन्द्र स्थान

---

1. But me, not destin'd such delights to share,
My prime of life in wandering spent and care,
Impelled with steps unceasing, to pursue
Some fleeting good that mock me with the view
(Traveller, 23-26)

* * *

2. My fortune leads to traverse realm alone
And find no spot of all the world my own
(Traveller, 29-30)

क्यों मैं इतना भ्रमा त्याग सुख शान्ति भरा सारा, किस काज
अणुहित की आशा से प्राप्य जो रहे देश देशों के राज
प्रति-शासन के मध्य यदपि दारुण विभीषिकाओं का प्रभाव
यदपि क्रूर है नृपति, क्रर नियमों का क्रूरतर है बर्ताव
उसका कितना अल्प, जिसे निस दिन मनुष्य-मन सहता है
होय किन्तु वह अंश, नियम वा नृप अधीन जो रहता है।[1]

(श्रान्त पथिक, ४२३–४३०)

अनुवाद के दृष्टिकोण से इन सम्पूर्ण पंक्तियों के सम्बन्ध में भी वही बात कही जा सकती है, जो पिछले अंश में कही गई है। असाधारण दार्शनिकता और पंक्ति प्रति पंक्ति के अनुवाद के प्रण ने पाठक जी के कवि-कर्म में व्यवधान प्रस्तुत कर दिया है। इसी से पग-पग पर असफलता के आघात लगते हैं।

यों भावाभिव्यंजन के दृष्टिकोण से 'श्रान्त पथिक' मूल काव्य की भावनाओं को संरक्षित किए हुए है; किन्तु स्थल-स्थल पर न्यूनपद, पदाधिक्य, दीर्घ का ह्रस्व, ह्रस्व का दीर्घ, गतिभंग एवं यतिभंग आदि-आदि ऐसे दोष हैं, जिनसे काव्य की प्रगति अवरुद्ध हो उठती है।

इस काव्य द्वारा कवि जीवन के सुख की मन में अनुभूति करता है। इस भावना का नैतिक दृष्टिकोण होते हुए भी उसके अन्वेषण का विधान पूर्ण स्वच्छन्दतावादी है। कवि देशों की राष्ट्रीयता से उद्‌भूत सुख के नियंत्रण में रहना चाहता है। वह अपने मन को इस मानवीय सीमा से परे ले जाना चाहता है। इस प्रकार पाठक जी ने The Traveller के अनुवाद 'श्रान्त पथिक' के द्वारा हिन्दी-काव्य को नया दृष्टिकोण प्रदान किया है।

---

1. Vain, very vain, my weary search to find
   That bliss which only centres in the mind,
   Why have I stray'd from pleasure and repose,
   To seek a good each government bestows?
   In every government, though terrors reign,
   Though tyrant Kings or tyrant laws restrain
   How small, of all that human hearts endure
   The part which laws or kings can cause or cure,

   (Traveller, 423-30)

आ—मौलिक कृतियाँ

मनोविनोद (रचना-काल—प्रथम आवृत्ति १६१७ ई०)

श्रीधर पाठक की स्फुट कविताओं का संग्रह 'मनोविनोद' उनके जीवन-काल में ही उनके ज्येष्ठ पुत्र गिरिधर पाठक द्वारा १६१७ ई० में सम्पादित और प्रकाशित किया गया था। १८८५ ई० से १६१७ ई० तक उनकी प्रमुख कृतियाँ हिन्दी-विश्व के समक्ष अवतरित होकर उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण बना चुकी थीं। अवशिष्ट रचनाओं में पाठक जी की विविध काव्य-प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है। इससे उनके स्फुट काव्य की भी महत्ता है। इससे पाठक-साहित्य में 'मनोविनोद' का अपना विशिष्ट स्थान सुरक्षित है।

पाठक जी की प्रारम्भिक कविताओं का संग्रह १८८२ ई० में कलकत्ता के 'भारत मित्र' प्रेस से प्रकाशित हुआ था। उसी का परिष्कृत और परिवर्द्धित संस्करण १६०० ई० में काशी के हरिप्रकाश प्रेस से प्रकाशित हुआ। अनन्तर १६१७ ई० का यह संग्रह अपने पूर्व संग्रहों की प्रमुख रचनाओं से युक्त होकर प्रकाशित किया गया। पूर्व संग्रहों की रचनाएँ—'जगत सचाई सार' अलग से पुस्तकाकार प्रकाशित करदी गई है तथा 'गड़रिया और आलिम' की उर्दू-बहुल शैली को परिवर्तित करने के लिये इस संग्रह में सम्मिलित नहीं किया गया। 'आर्य गीता' जैसी नवीन रचना इसमें सम्मिलित करदी गई है। पूर्ण करने की भावना से 'असमाप्त पद्य', 'बाल-विलास', अंग्रेजी कविताएँ तथा पद्यमय पत्र और पोस्टकार्डों के अंश भी इसमें संग्रहीत कर दिये गये हैं।

इस 'मनोविनोद' में १८८१ ई० से स्फुट रचनाओं का संग्रह किया गया है। प्रथम मंगलाचरण ही केवल १८८१ ई० की रचना है। अन्य द्वितीय मंगलाचरण (१२-६-८३) का प्रयोग 'बाल-भूगोल' के प्रारम्भ में भी किया गया है। मंगलाचरण एवं प्रभु-प्रार्थना की रचनाएँ अधिकांशतः खड़ी बोली में हैं।

पाठक जी का काव्य-काल भारतेन्दु जी के जीवन-काल से प्रारम्भ होकर द्विवेदी-युग को पार करता हुआ छायावादी युग में प्रवेश करता है। इससे इन युगों की प्रवृत्तियों के अनुकूल ही पाठक जी की काव्य-सर्जना हुई है। विक्टोरिया (११-६-१३), लार्ड रिपन (२१-११-८३),···ग्राउस साहब (६-६-१८६३), विक्टोरिया चिरजीवी (१८६६) आदि रचनाओं में यदि राजभक्ति का चित्रण है तो 'नौमि भारतम्' (१-३-१६१४), भारत श्री (६-६-८५), भारत-प्रशंसा (११-६-८५), हिन्द वन्दना (अगस्त, १८८५), भारतोत्थान (३०-१-८३), भारत

सुत (१२-२-१४), भारत गगन (३०-९-१३) आदि में राष्ट्रीयता की स्पष्ट झलक है। राजभक्ति और देश-भक्ति मिश्रित भावनाओं का भारतेन्दु-युग में प्राबल्य था। कांग्रेस की स्थापना और देश की सांस्कृतिक विकास की प्रगति ने भारतीयों को राष्ट्रीयता की ओर उन्मुख कर दिया था। इस भावना के फलस्वरूप ही 'भारत गीत' हिन्दी-जगत् के समक्ष आ सका था।

मातृभाषा की महत्ता 'भारतेन्दु-युग' से ही समझी जाने लगी थी। भारतेन्दु जी, प्रेमघन जी एवं प्रतापनारायण मिश्र आदि में भी यह भावना प्रबल थी। पाठक जी ने इसी भावना से प्रेरित होकर मातृभाषा-महत्व (१-४-१९१२) रचना प्रस्तुत की थी।

हरि, हिन्दी अरु हिन्द कौ जिन्हैं अटल अनुराग
सो सपूत भारत-सुअन सारथ-जिअन, सुभाग
धनि हिन्दी, धनि हिन्द भुँइ, धनि हिन्दू हरि-भक्त
धनि आरज-जीवन-जनम, पर स्वारथ अनुरक्त
मेरे हिय-सर में सदा विकसहु द्वै अरविन्द
हरि-पद-रति-सुरभित सुभग, एक हिन्दी एक हिन्द

'हरि, हिन्दी और हिन्द' की भावना का इतना सुन्दर समन्वय हमें पाठक साहित्य में ही उपलब्ध होता है। भगवान के आध्यात्मिक पथ पर आरूढ़ रहना पाठक जी के आस्तिक परिवार की ही चिरन्तन भावना है और हिन्दी-हिन्द की भावना स्वयं समय की माँग थी, जिनको पाठक जी ने अपनी सहृदयता से परख-कर इनके प्रोत्साहन में भरकस चेष्टा की थी :

जो तुमको संसार में सांचे सुख की चाह
उन्नति-पथ-अनुसरन-हित सांचौ प्रेम उछाह

* * *

तौ निज भाषा में करहु ममता कौ संसार
भरहु ज्ञान विज्ञान लहि विविध तासु भण्डार
निज भाषा-उन्नति बिना निज-उन्नति नहिं होय
जतन आनि अजुगत परहिं करहिं कोटि किन कोय

* * *

निज भाषा बोलहु लिखहु पढ़हु गुनहु सब लोग
करहु सकल विषयान विषै निज भाषा उपजोग

अपनी जातीय भावना के लिये मातृभाषा को आवश्यक संरक्षण देना अनिवार्य है। इसकी विपरीत भावना 'जातीय अशक्तता' (३०-१-१६) है, जिसका संकेत करना भी पाठक जी नहीं भूले हैं।

जिनको अपने देश, भेस, भाषा से प्रीति नहिं
जिनके जीवन की कोई निर्दिष्ट नीति नहिं
जिनमें परता-शून्य परस्पर में प्रतीति नहिं
खान-पान-सम्मान सुगम-सम्मिलन-रीति नहिं
उनमें आत्मिक अनुरक्तता आसक्ती क्यों कर कभी ?
उनकी जातीय अशक्तता जा सकती क्यों कर कभी ?

पाठक जी भारतीयों के इस अभाव से सुपरिचित थे। इसीसे व्यथा के साथ उसके सम्बन्ध में अपने विचार प्रगट करने में समर्थ हो सके।

पाठक जी प्रकृति के अनन्य प्रेमी थे। इसीसे ठाकुर जगमोहन सिंह के उपरान्त वह प्रकृति को उसके यथार्थ स्वरूप में देख सके हैं।

'उत्तर दिशि नगराज' अटल छवि सहित विराजत
लसत स्वेत सिर मुकुट झलक-हिम-शोभा भ्राजत
वदन-देस सविसेस कनक-आभा आभासत
अधोभाग की स्याम वरन छबि हृदय हुलासत
स्वेत पीत सँग स्याम धार अनुगत सम-अन्तर
सोहत त्रिगुन, त्रिदेव, त्रिजग-प्रति भास निरंतर
विलसत सो तिहुँकाल त्रिविधि सुठि रेख अनूपम
भारतवर्ष विशाल भाल भूषित त्रिपुण्ड्र सम

* * *

प्रकृति - परम - चातुर्य अनूपम - अचरज - आलय
श्रीधर-दृग छकि रहत 'अटल छवि' निरखि हिमालय।[1]

इसी प्रकृति-भावना से युक्त होकर ३० अगस्त १६०० ई० को पाठक जी ने अंग्रेजी में 'The Cloudy Himalayas' लिखा था।

Would I here on these old Himadri's peaks
Where to the groaning winds stern thunder speaks;

१. श्रीधर पाठक, 'हिमालय', मनोविनोद, प्रथम आवृत्ति, पृष्ठ ५२-५३।

And Heaven's orbs are longest lost in gloom
And nothing reigns but vapour, blast and boon;
And elements have freest play and pranks
And ev'rything else secondary ranks;
Where hied from distant deep Nature's freak
Those misty giants climb and cling and creak
And friction ov'r a peaceful turn soon take
And wealth of snow and stream and glacier make[1]

(यदि मैं वृद्ध हिमालय की चोटियों पर होता जहाँ करुण (मन्द-गामिनी) पवन चलते हैं और बिजली कड़कती है और जहाँ आकाशीय-मण्डल कभी के अन्धकार में विलीन हो गए हैं और जहाँ भाप, तीव्र पवन और गड़गड़ाहट के अतिरिक्त कुछ भी अवशिष्ट नहीं है और जहाँ पंच-तत्व मुक्त रूप से क्रीड़ा करते हैं और जहाँ अन्य चीजें गौण हैं। जहाँ प्रकृति की क्रीड़ाएँ दूर से ही दृष्टि-गोचर होती हैं वे धूमिल दानव चढ़ते मिलते हैं और ध्वनि करते हैं और संघर्षण के उपरान्त वे शीघ्र ही घूम जाते हैं और बर्फ का ढेर सोता और ग्लेशियर बनाते हैं।)

संस्कृत कवियों की प्रकृति-काव्य के लिए संश्लिष्ट योजना का कवि ने इन स्थलों पर आधार लिया है। इसी से इन चित्रणों में सारल्य एवं सामीप्य का अनुभव होता है। इस मनोविनोद में घन-विनय (दिसम्बर १८९९), शिमला प्रेक्षणम् (१२-३-१९०३), भ्रमराष्टक (मई १८८४ ई०), घनाष्टक (३१-७-८६), वनाष्टक (२४-१०-१९११), सरद समागत स्वागत (७-९-१८९९), गुनवन्त हेमन्त (९-१-१९००), हेमन्त (१८८७) नव वसन्त (४-२-१९००), वसन्त (१३-२-१८८३), वसन्तागमन (१९००) तथा कालिदास के 'ऋतु संहार' से ग्रीष्म वर्णन (२-६-१८८७), वर्षा वर्णन (१९-९-१९०३), शरद ऋतु वर्णन (अक्टूबर १८८९) आदि में प्रकृति के सजीव चित्रण हैं।

प्रकृति का विशुद्ध स्वरूप विश्व में सदैव विद्यमान रहता है। मानव अपने

---

१. श्रीधर पाठक, 'The Cloudy Himalayas, मनोविनोद, पृष्ठ १९५।

विकारों के अनुकूल उसके स्वरूप को आँकता है और देखता है। पाठक जी में अन्य भावनाओं की अपेक्षा राष्ट्रीयता की भावना कूट-कूटकर भरी थी। इसीसे वह 'घन-विनय' के अन्तर्गत अपने राष्ट्र को नहीं भुला सके हैं।

तुम भारत के धन-जन-गुन गौरव-आधार
तुम ही तन, तुम ही मन, तुम प्रानन-पतवार

* * *

परम पुरातन तुम्हरौ, भारत सँग सत प्रेम
जिहि जानत जग सगरो, मानत निहिचल नेम
सो तुमकों नहिं चहियत छाँड़न हित-सम्बन्ध
अटल सदैवहि कहियत, पूरन प्रकृति-प्रबन्ध।

कृषि-प्रधान देश के लिए जल की सदैव आवश्यकता रहती है। इसीसे राष्ट्रीय-भावना की पुष्टि के लिए उपर्युक्त कल्पना बड़ी ही सुखद और सार्थक है।

यों प्रकृति के सभी ही चित्र मधुर और सुन्दर हैं; किन्तु स्थल-स्थल पर कवि ने अपनी प्रासादिक अभिव्यंजना के द्वारा काव्य को अधिक से अधिक मधुर बना दिया है—

कोयल तू कल-बोलनी री, शुक प्यारे हरे-पट-धारे, अहो।
भोरी मैना सुनैना रसीलेन की, सो परेवा परेई के प्यारे, अहो।
अहो मोरा मचावन-शोरा, चकोरा, पपीहा पिया-रट-वारे, अहो।
बन के तुम बाँके सदाँ के धनी, बन-जीवन प्रान तिहारे अहो।[1]

पाठक जी कालिदास के संपूर्ण 'ऋतु-संहार' का हिन्दी-अनुवाद करना चाहते थे; किन्तु वह उसके ग्रीष्म, वर्षा एवं शरद के अंशों को ही अपने जीवन में रूपान्तरित कर सके थे। इस रूपान्तर में यह अवश्य सत्य है कि पाठक जी महाकवि की मूल भावनाओं को पूर्ण सुरक्षित रख सके हैं। इस स्थल पर केवल एक अंश ही विचारणीय है—

श्यामा लता: कुसुम-भार-नत प्रवाला:
स्त्रीणां हरन्ति धृत भूषणबाहु कान्तिम्
दन्तावभास विशदस्मितचन्द्र कान्ति
कंकेलि पुष्परुचिरा नवमालती च।[2]

---

१. श्रीधर पाठक, 'वनाष्टक', मनोविनोद, पृष्ठ ६३-६४।
२. कालिदास, 'ऋतु-संहार', शरद वर्णन, १८।

कवि पाठक ने उपर्युक्त भावना को निम्न पंक्तियों में सफलता से चित्रित किया है—

फूलन-भार सों डार झुकीं
मृदु स्यामा लता अति लागत प्यारी।
नारिन की गहनेन सों सोभित,
बाँहन की छवि-हारन हारी।
त्योंही असोक के फूलन के सँग
सोहि रही नव मालति-क्यारी।
दन्त-विभा सों लसी मुसक्यानि की
चन्द-उजास-चुरावन हारी।[1]

संस्कृत-काव्य-परम्परा की प्रकृति-सम्बन्धी संश्लिष्ट-योजना को कवि ने आदि से अन्त तक निबाहा है। इसी से उनका प्रकृति-काव्य अद्वितीय बन पड़ा है।

उपर्युक्त के अतिरिक्त कवि पाठक की 'बाल-विलास', 'आर्य गीता' एवं 'अंग्रेजी कविताएँ' भी इसमें संग्रहीत हैं। 'बाल-विलास' के अन्तर्गत पाठक जी ने कुत्ता और बिल्ली के अतिरिक्त प्रमुख पक्षियों जैसे तोता, मैना, चकोर, कोयल, मोर, तीतर, कौवा एवं चील्ह आदि पर अपनी रचनाएँ अंकित की हैं।

हुआ सवेरा जागो भैया
खड़ी पुकारे प्यारी मैया

कहकर कवि बच्चों को प्रातः उठने की भावना तो प्रदान करता ही है। साथ में बालोपयोगी एकता का पाठ भी पढ़ाने में चूकना नहीं चाहते।

सब बालक मिल साथ बैठकर
दूध पियो, खाने को खालो

साथ में—

धन-धन सुगढ़ चकोर, तू खग-कुल-आगरिया
पालै नियम कठोर, कि वंश उजागरिया
चन्द तेरा चितचोर तू उस पर बावरिया
लख-लख उसकी ओर कि होय निछावरिया।
(चकोर)

---

१. श्रीधर पाठक, 'शरद ऋतु वर्णन', मनोविनोद, पृष्ठ १०६-११०।

इस स्थल पर कवि का 'वा' और 'या' का आग्रह केवल सरलता और स्वाभाविकता के दृष्टिकोण से ही है। इसी अभिव्यंजना शैली में आगे चलकर पाठक जी ने अपनी 'देहरादून' (१९१५ ई०) रचना प्रस्तुत की थी।

रूढ़िवादी परिवार में जन्म लेने पर भी पाठक जी में परम्परागत विचारों के लिए विशेष आस्था न थी। युगों-युगों से दलित और प्रताड़ित भारतीय नारी के पथ को वह प्रशस्त देखना चाहते थे। इसी से नारी के सम्बन्ध में उनके विचार बड़े ही उदार थे। अपने इस सौजन्य के कारण पाठक जी ने भारतीय नारी को पावन-पद से च्युत नहीं होने दिया है। वह उसी महिमामयी और गरिमामयी पद की अधिकारिणी रही हैं, जिस पर सीता, सावित्री एवं द्रौपदी आदि आसीन रही थीं।

सात्विकी-वृत्ति-गुन-मंजु-मंजूषिके,
आर्य-मर्याद-आधार-भूते
सुखद-संसार-व्यवहार-पटु पण्डिते,
सुभग-संस्कार-आचार-पूते
जयति-भुवि-स्वर्ग-संभोग-संभाविनी,
सहज-सौन्दर्य-विभ्रम विलासे
अलभ-नर-जन्म-आनन्द-मन्दाकिनी
उदित-श्रीधर-हृदय-श्री प्रकाशे।[1]

ऐसी कुलांगना का सम्मान देश में सुरक्षित न रह सका। वह अबला होने के कारण जितनी विनम्र और सलज्ज रही समाज ने उस पर उतने ही आघात लगाये। अज्ञानतावश नारी के ऊपर जो कीचड़ उछाले गए बेचारी होने के कारण उससे कुछ करते नहीं बना। वह टुकुर-टुकुर देखती रही; परन्तु उस अपमान के विरोध में क्रांति के लिए उठ नहीं सकी। इसी से पाठक जी भारत को देश की उक्त त्रुटि को सुधारने के लिए संकेत करते हैं —

यह जग स्वारथ ही कौ साथी, पर-दुख पै न पसीजै
ऐसे निठुर बापुरे के डर क्यों अपकीरति लीजै
आरति-हरन-हार भारत, निज-नाम सकल किन कीजै
वेगि उबारि निबल अबलागन, सुजस-सुधा-रस पीजै।[2]

---

१. श्रीधर पाठक, 'आर्य सुन्दरी', मनोविनोद, (३–९–१३)
२. श्रीधर पाठक, 'निबल अबला', (सितम्बर, १८८७)

पाठक जी के अंग्रेजी पद्यों में से The Cloudy Himalayas के सम्बन्ध में पहले ही उल्लेख किया जा चुका है। शेष Prayer (सितम्बर १९१५), Advice (सितम्बर १९१५), To Caste (सितम्बर १३, १९१५), O Dear ! A Query (अगस्त, २६, १९१५), Madam Blavatsky (मई ८, १९१७) अंग्रेजी की रचनाएँ हैं।

'Prayer' के द्वारा कवि मानवमात्र को प्रत्येक प्रकार के नियंत्रण से मुक्त देखने के लिये ईश्वर से प्रार्थना करता है। 'Advice' में कवि ने ग्रेट ब्रिटेन को भारत के प्रति दयालु एवं उदार होने के लिए सुझाव दिए हैं।

इस प्रकार इन पंक्तियों में राजभक्ति की भावना का प्रस्फुटन होता है।

She's all thine own, let thee be hers
In, out, afar and near;
Come, hug her, hold her in embrace
As dearest of thy dear,

(वह पूर्णरूपेण तेरी है—तुम भी भीतर-बाहर और दूर-समीप सर्वत्र उसी की हो जाओ। अपने प्रियतम के स्वरूप में तुम उसका आलिंगन करो और अपने वक्षस्थल पर लगाओ।)

वस्तुतः राष्ट्रीय जागरण से पूर्व इसी प्रकार की भावना देश में प्रचलित थी। हमारे शासित पूर्वज अपने उद्धार एवं मुक्ति के लिए शक्तिशाली अंग्रेज की दयादृष्टि पर ही आधारित थे। 'O Dear ! A Query' में कवि ने मानव को अपने को समझ लेने की प्रेरणा दी है। 'Madam Blavatsky' में उनकी प्रशस्ति का गान है। 'To Caste' के अन्तर्गत कवि जातीयता को कोसता है। इस जातीय परम्परा से देश का जो अहित हुआ है उसे पाठक जी भले प्रकार समझते थे।

Thou Aryan Ind's ill fame, unmanning curse
Of stalwart worthy ones of Aryavart,
Perdition-pit of noble Hindu life.
Most dreaded monster. Fury's furnaced hell
That keepest ever fed the flame of ire
'Twixt brothers, mothers, sisters, son and sire.
Of Bharatvarsa's fall the primal cause
Thou sapping vermin of its life-blood all.

I hate thee, shun thee, loathe thee—serpent old
How gloat I on thy death—it draweth nigh.[1]

(तुम (जाति) भारत के अपयश ! आर्यावर्त्त के वीर और बलवान व्यक्तियों के लिये अमानवीय शाप ! हिन्दू सम्भ्रान्त जीवन के पतन-स्थल ! सबसे अधिक भयंकर दानव ! क्रोध के धधकते हुए नरक ! जो भाई-भाई, माता-माता, बहिन-बहिन, पुत्र और पिता के मध्य में रोष की लपटों को उद्दीप्त रखते हो। भारत के पतन के प्रमुख कारण, भारतवर्ष के जीवन और रक्त को चूसने वाले कीड़े, हे वृद्ध सर्प, मैं तुझे सभी प्रकार से घृणा करता हूँ। मैं समीप आती हुई तेरी मृत्यु को ध्यान से देखता हूँ।)

उपर्युक्त के अतिरिक्त पाठक जी ने रामायण एवं महाभारत महाकाव्यों के विषयों को भी अपनाया है और आधुनिक युग के विज्ञान की प्रशस्ति के गान भी प्रस्तुत किये हैं। इनके अतिरिक्त कितने ही असमाप्त पद्य भी इस संग्रह में संग्रहीत हैं, जिनको समाप्त करने की पाठक जी की योजना थी; किन्तु उनके अकाल निधन के कारण वैसा सम्भव नहीं हो सका।

उपर्युक्त विवेचन से यह पूर्ण स्पष्ट है कि इस संग्रह में कवि पाठक की सभी ही प्रवृत्तियाँ, जिन्होंने उन्हें स्वच्छन्दतावादी बना दिया, सन्निहित हैं। यदि पाठक जी ने अन्य कृतियाँ न कर पाई होतीं तो भी मेरे विश्वास से वह युग के एक कृती कवि ही सिद्ध होते। इस प्रकार 'मनोविनोद' के काव्य की महत्ता हमें गौरवान्वित किये है।

बाल-भूगोल (रचना-काल—जून १, १८८५, ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया, सम्वत् १९४२)

अपने प्रारम्भिक विद्यार्थी-जीवन से ही 'भूगोल' श्रीधर पाठक का बड़ा ही प्रिय विषय रहा है। इस सम्बन्ध में उनके बाल्य-जीवन का एक संस्मरण प्रस्तुत किया जा सकता है, जिससे भूगोल-विषयक उनकी विशेष अभिरुचि सिद्ध होती है। आगरा जिलान्तर्गत कोटला में विद्यालय-निरीक्षक लायड महोदय विद्यार्थियों की वार्षिक परीक्षा लेने के लिये आये हुये थे। बड़े विद्यार्थियों के साथ निम्न श्रेणी के विद्यार्थी पाठक जी भी खड़े किये गये। निरीक्षक महोदय से 'दोआबा' के सम्बन्ध में पूछे जाने पर श्रीधर पाठक ने उत्तर में कहा था 'चज' उस धरती का नाम है, जो चिनाव और झेलम के बीच में है। 'चज' शब्द का आशय स्पष्ट

---

१. श्रीधर पाठक—To Caste (सितम्बर १३, १९१५)।

न हो सकने के कारण पुनः प्रश्न किये जाने पर बालक श्रीधर पाठक ने बड़ी ही सरलता से उत्तर दिया था—'चिनाव' को 'च' लयौ और 'झेलम' को 'ज' लयौ 'चज' बनि गयौ। उस समय निरीक्षक महोदय, उनके सहकारी तथा उपस्थित अध्यापक उनकी इस मौलिक प्रतिभा से बड़े ही आश्चर्यचकित हुए।

उपर्युक्त विशेष अभिरुचि की प्रेरणा से ही पाठक जी ने 'बाल-भूगोल' नाम की रचना केवल छोटे-छोटे विद्यार्थियों के हित को दृष्टिकोण में रखकर प्रस्तुत की थी। इसी प्रकार विषय के प्रारम्भिक ज्ञान-अर्जन के लिये उन्होंने 'बाल मनोविज्ञान' नाम की अन्य रचना भी की थी; किन्तु इस रचना के अनुपलब्ध होने के कारण उसके विषय-प्रतिपादन तथा सामग्री आदि के सम्बन्ध में कुछ भी कहना असंगत होगा।

'बाल-भूगोल' नाम की प्रारम्भिक रचना होने के कारण इसका अपना महत्व है। यों एकान्तवासी योगी (१८८६) से पाठक जी का क्रमबद्ध साहित्य उपलब्ध होने लगता है; किन्तु इससे पूर्व उनका स्फुट काव्य ही मिलता है। इस स्फुट काव्य में भी पाठक जी की कवि-सुलभ प्रतिभा निवास करती है। १ जून, १८८५ ई० से पूर्व की रचनाएँ मनोविनोद (१९१७ ई० प्रथम संस्करण) में संग्रहीत हैं, जिनमें से प्रमुख रचनाएँ मंगलाचरण (दो संस्कृत ७-४-८१ एवं १२-९-८३ तथा दो खड़ी बोली जून ८३ एवं १४-६-८३), सरस वसन्त (५-१-८५), तपोभूमि (१२-१२-८३), भारतोत्थान (३०-१-८३), हिमालय (अगस्त १८८४), भ्रमराष्टक (मई १८८४), वसन्त (१३-२-८३), जुगल गीत (३१-५ १८८१), राम विलाप (जुलाई १८८१), कृष्ण गुनगान (१७-५-८१), गोपी विलाप (१७-५-८१), पनघट गीत (जून १८८४), लार्ड रिपन का प्रयाग आगमन (२१-११-८३), विवाहिता पुत्री की प्रथम पत्री (२८-८-८४), म्यूनिसपैलिटी ध्यानम् (सितम्बर १८८४), चित्रकाव्य (दिसम्बर १८८४) आदि-आदि हैं। इन रचनाओं में पाठक जी के उत्थानशील कवि के प्रायः लक्षण विद्यमान हैं। पुस्तकाकार के रूप में 'बाल-भूगोल' प्रथम रचना होने के कारण पाठक-साहित्य में अत्यन्त ही महत्वपूर्ण है।

विषय की महत्ता को दृष्टिकोण में रखकर पाठक जी ने पुस्तक के छः खण्ड किये हैं। "इस प्रथम खण्ड में स्थूल रीति से आकाशीय गोलों का परस्पर सम्बन्ध दिखाकर भूपृष्ठ की समालोचना ही है। तदनन्तर भौगोलिक संज्ञाओं की परिभाषाएँ उदाहरण एवं चित्र सहित दी हैं।"[1]

---

१. श्रीधर पाठक, 'बाल भूगोल', भूमिका (ज्येष्ठ कृष्ण द्वितीया, सम्वत् १९४२)।

इस पुस्तक के प्रारम्भ में आकाशवर्ती गोलों का उल्लेख है, जिनमें सूर्य, चन्द्र, तारा, पृथ्वी तथा ग्रहों और उपग्रहों के अस्तित्व के साथ-साथ पाठक जी ने आकर्षण शक्ति का भी वर्णन किया है। अनन्तर 'भू के गोले के वर्णन का नाम भूगोल है' कहता हुआ कवि भूगोल के अध्ययन की सुविधा के लिये उसके निम्न तीन विभाजन कर देता है: १. ज्योतिषिक (Mathematical), २. प्राकृतिक (Physical), ३. नागरिक (Political)।

इनमें से प्रथम के अन्तर्गत अक्षांश, देशान्तर एवं भूमध्य रेखाओं के साथ-साथ कटिबन्धों और उपकटिबन्धों का भी उल्लेख है, द्वितीय के अन्तर्गत प्रायद्वीप, उपद्वीप, ज्वालामुखी, अन्तरीप, महाद्वीप एवं महासागरों आदि का परिचय है तथा तृतीय के अन्तर्गत निवासियों के चलन, व्यवहार, रीति, नीति, धर्म और मत आदि का वर्णन है। इसमें ही शासन के पाठक जी ने नृपता (Monarchy), कुलीन शासन (Aristocracy) एवं प्रजातन्त्र (Democracy) आदि का वर्णन किया है।

उपर्युक्त सभी कुछ गद्य में वर्णित है। इस अध्ययन को पाठक जी ने काव्य का स्वरूप प्रदान करने का प्रयास किया है। उपर्युक्त को ही 'आकाशवर्त्ती गोले' 'भूगोल ठेठ' 'थल और जल' तथा 'महाद्वीप, महासागर, गोलार्द्ध, कटिबन्ध' चार भागों में विभाजित किया है। इनमें पाठक जी का कवित्व स्पष्ट झलकता है। उदाहरण स्वरूप देखिए :—

भूमि हमारी गोल है, नारंगी की भाँति
चक्कर देती सूर्य का मत पूछो यह बात
'कीली' पर घूमे तभी होता है 'दिन'-'रात'
और सूर्य के चक्र से होय वर्ष विख्यात
इस पृथ्वी के भाग दो-'थल' 'जल' जिनका नाम
थल से जल तिगुना अधिक सुन्दर ललित ललाम

*   *   *

'सूर्य' 'चन्द्र' 'तारे' सभी पिण्डे हैं ये गोल
जिनसे इस आकाश की भरी हुई है पोल
ये गोले इस पोल में रहें अधर सब काल
'आकर्षण' की शक्ति से नियमित इनकी चाल

*   *   *

'ग्रह' 'तारा' 'उल्का' तथा 'धूमकेतु' इत्यादि
ये गोले के भेद हैं रखिये इनको यादि

इन कविता-बद्ध पंक्तियों में इसका अन्तिम अंश स्वयं कवि पाठक द्वारा काट दिया गया है और किनारे पर अंग्रेजी में (Since revised these lines therefore superseded) लिखा है। उसके नीचे पाठक जी के संक्षिप्त हस्ताक्षर हैं। पाठक जी की निज की प्रवृत्ति अपनी रचना को सदैव सुन्दर बनाने की रही है। इसी भावना के आधार पर यह अंश कटा हुआ है।

काव्य के उपर्युक्त जिन अंशों को यहां उद्धृत किया गया है, उनमें कवि का प्रारम्भिक स्वरूप विद्यमान है। १ जून, १८८५ ई० से पूर्व जिन रचनाओं का उल्लेख किया जा चुका है उन्हीं की परम्परा में इन पंक्तियों को रखा जा सकेगा। खड़ी बोली के प्रांजल स्वरूप के साथ-साथ पंक्तियों में गति एवं लय का सामञ्जस्य है। वस्तुतः पृष्ठभूमि में इस काव्य के अस्तित्व को देखकर 'एकान्तवासी योगी' की रचना अचकचा देने वाली नहीं लगती।

अपने स्वरूप में यों यह स्थायी साहित्यिक रचना नहीं है; किन्तु कवि-सुलभ प्रतिभा के व्यक्त होने के कारण यह पाठक जी के भावी साहित्यिक जीवन के लिए आशान्वित अवश्य करने लगती है।

जगत सचाई सार (रचना-काल—१८८७ ई०)

लौकिक विचारों के मर्मस्पर्शी प्रभाव से अर्जुन का—'गाण्डीवं स्रसते' की स्थिति में निष्क्रिय होने पर कर्त्तव्य-पथ पर आरूढ़ होने के लिये कृष्ण को अर्जुन से कहना पड़ा है :—

कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्तिकरमर्जुन ॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय २–२)

निष्क्रियता अनार्य आचरण है। इससे उपदेश स्वरूप उन्होंने यही कहा है :—'कर्मण्येवाधिकारस्ते'। क्योंकि—

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिद्ध्येदकर्मणः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता, अध्याय ३–८)

शरीर के अस्तित्व का मूल आधार कर्म ही है। इससे कर्म न करने से कर्म करना ही मानव के लिये हितकर है। विश्व के कल्याणकारी इस सिद्धान्त के विरुद्ध जब मनुष्य संसार के कर्मक्षेत्र को कर्म विहीन और निस्सार समझने

लगता है तब व्यक्ति, समाज और उस राष्ट्र का पतन अवश्यम्भावी है।

लौकिक रूप से आध्यात्मिक क्षेत्र में कृत्रिमता और अविश्वास प्रविष्ट हो जाने पर इस प्रकार की निष्क्रियता भारत में प्रचलित होती रही है। जहाँ तक विशुद्ध आध्यात्मिक प्रगति का सम्बन्ध है उसके पीछे साधना एवं तत्परता रहती है। फलस्वरूप इनसे आत्मिक विकास होता है, जो किसी भी राष्ट्र के सात्विक प्रवृत्ति का आदर्श रख सकता है। भारत ने अपनी इन्हीं परिस्थितियों में विश्व में सर्वोपरि स्थान प्राप्त किया था। आज वही गौरव देश की इस पतनशील स्थिति में हमारे गान का विषय है।

वैदिक धर्म तथा बौद्ध धर्म के पतन के समय और मुग़लकाल में भी इस प्रकार की कृत्रिम आध्यात्मिकता का प्रचार था। भक्तिकाल के कुछेक विद्वान् धर्मप्रवर्त्तकों को छोड़कर अधिकांश लोगों में व्यर्थ का आडम्बर छा गया था, जो संसार को निस्सारता का पाठ पढ़ाते थे। आध्यात्मिकता ने यदि भारत को गौरव दिया था तो उसने जनता को निष्क्रियता और निस्सारता की प्रेरणा भी दी। मुसलमानों और अंग्रेजों की विजयों ने देश में इस भावना पर और भी गहरा रंग चढ़ाया है।

१८५७ ई० के भारतीय विद्रोह से देश की सुपुप्त चेतना ने अवश्य करवट ली। देश की सभ्यता, संस्कृति तथा स्वतन्त्रता आदि की रक्षा के लिये भारतीय प्रथम बार इस ओर अग्रसर हुये हैं। उनका प्रयास भले ही सफल न हुआ हो; किन्तु देश के समझदारों के हृदय-पटल पर इनकी अमिट छाप अवश्य अंकित हो गई थी। इसको प्रबुद्ध रखने का अधिकांश श्रेय भारतेन्दु हरिश्चन्द्र एवं श्रीधर पाठक को है। उन्होंने कभी नहीं चाहा कि चेतना की यह आभा अस्त हो जाय। 'जगत सचाई सार' द्वारा श्रीधर पाठक जी ने इसी अमर आभा को प्रकाशवान रखने का प्रयास किया है। स्वयं पाठक जी ने इस काव्य की द्वितीय संस्करण (३० जनवरी, १९१६ ई०) की भूमिका में लिखा है:—

"जगत् को मिथ्या मानकर अकर्मण्यता की गहरी नींद में निमग्न कदाचित एक ही देश इस भूतल पर है और वह भारतवर्ष है। उसके सुतों को संसार के मिथ्यात्व का घूँट अपनी माँ के दूध के साथ ही मिलता है। राजा से रंक तक प्रायः प्रत्येक व्यक्ति इस माया-मानवी के स्वविस्मारक क्रोड़ में दोलायमान है। यदि सुकर्मण्य शिरोमणि मास्टर इंगलैंड से इस देश का सम्बन्ध न हो गया होता तो कौन कह सकता है क्या होता ?"

युगों-युगों की निष्क्रियता की चिर निद्रा के विनाश के लिये ही पाठक जी

का 'जगत सचाई सार' गीता-मंत्र है। यही भावना और उद्देश्य अंग्रेजी कवि लांगफेलो की A Psalm of Life से भी व्यक्त होती है। पाठक जी के काव्य का मूलाधार निम्न पंक्तियाँ हैं:—

माना हमने वस्तु जगत की नाशवान हैं निस्सन्देह
फिर भी तो छोड़ा नहिं जाता, पल भर को भी उनसे नेह
लगा हुआ है वस्तुमात्र का एक दूसरे से सम्बन्ध
दूषित क्यों कर हो सकता है उस कर्ता का अटल प्रबन्ध ?

(पंक्तियाँ ३–६)

* * *

जगत को झूठा झूठा कहके करो नहीं उसका अपमान।

(पंक्तियाँ ८६)

पाठक जी ने तार्किक शैली के आधार पर काव्य को अग्रसर किया है। ईश्वर की सत्यता के साथ उसकी सृष्टि का विश्वास करना मानवोचित पुरुषत्व है। विश्व के पदार्थमात्र से मानव का अनन्य सम्बन्ध है, फिर वह झूठ क्यों और निस्सार क्यों ? विश्व-कर्मक्षेत्र में साहस के साथ अग्रसर होना मानव के लिये श्रेयस्कर है। इसी से पाठक जी का हृदय:—

कहो न प्यारे मुझसे ऐसा—'झूठा है यह सब संसार,
थोथा झगड़ा, जी का रगड़ा, केवल दुख का हेतु अपार।'

(पंक्तियाँ १–२)

Tell me not in mournful numbers
Life is but an empty dream,

(Longfellow : A Psalm of Life)

सुनने को तैयार नहीं होता; किन्तु उनका विश्वास है:—

जगत है सच्चा, तनक न कच्चा, समझो बच्चा इसका भेद
पीओ खाओ सब सुख पाओ कभी न लाओ मन में खेद

(पंक्तियाँ ७–८)

Life is real ! Life is earnest
And the grave is not its goal ;
'Dust thou art, to dust returnest'
Was not spoken of soul,

(Longfellow : A Psalm of Life)

'उढ़ौना', 'बिछौना', 'दाना-पानी' तथा 'बदन' सभी मिट्टी है। कवि पाठक इसको स्वयं मानते हैं; किन्तु इसी से सम्पूर्ण विश्व को मिट्टी समझकर उसकी उपेक्षा कर देना मनुष्य की बहुत बड़ी कायरता है। पौरुष-विहीन इस प्रकार का व्यक्ति पृथ्वी के लिये भारस्वरूप है और तुलना में पशुओं से भी निम्न श्रेणी का है। इसके विपरीत जो मानव कर्त्तव्यशील पुरुष-सिंह है उन्हें—

सारी वसुधा का क्रम-क्रम से सर्वस उसको मिलता है

(पंक्ति ३४)

*   *   *

जब तक तुम इस जग में सच्ची धर्म रीति पर चलते हो
तब तक निस्संदेह निरन्तर सब बातों में फलते हो

.(पंक्तियाँ ४१–४२)

इसके साथ हमें आस्थाशील भी होना चाहिये। जब ईश्वर विश्व के पदार्थ मात्र में व्यापक है, तब उसकी प्रत्येक वस्तु में विश्वास करना उचित है।

रचा उसी का है जब यह जग निश्चय उसको प्यारा है
इसमें दोष लगाना अपने लिये दोष का द्वारा है

(पंक्तियाँ ४५–४६)

कवि अपने कथन की प्रामाणिकता के लिये 'सृष्टी की सुघराई' को, जिसमें ईश्वर की चतुराई विद्यमान है, देखने को कहता है। वस्तुतः प्रकृति के पशु-पक्षी, फल-फूल, चन्द्र-सूर्य तथा अनेकों पदार्थों में—

जिस्में दीखै परमेश्वर की लीला अद्भुत अपरम्पार
उस कारीगर ने कैसा यह सुन्दर चित्र बनाया है
कहीं पै जलमय कहीं रेतमय 'कहीं धूप कहीं छाया है।'

इस प्रकार विश्व में सैकड़ों एक से एक अच्छे दृश्य प्रस्तुत हैं, जो सभी प्रकार से विश्वस्त एवं सुन्दर हैं—

सत्पुरुषों ने जिस्को बारम्बार पुकारा अच्छा है
जो वोही नहिं सच्चा है तो भला और क्या सच्चा है
जिस्का यह सब रचा हुआ है वह परमेश्वर सच्चा है
जगत के सच्चे होने का मत क्यों करके तब कच्चा है?

(पंक्तियाँ ७९–८२)

Be not like dumb driven cattle
Be a hero in the strife
Act-act in the living present
Heart within and God o'verhead.
(A Psalm of Life)

इसके उपरान्त जीवन-निर्माण के लिये कवि का कथन है कि—

जीवन के कर्त्तव्य निबाहो समझ के उसके शुद्ध नियम
चलोगे सच्चे मन से जो तुम निर्मल नियमों के अनुसार
तो अवश्य प्यारे जानोगे सारा जगत सचाई सार

(पंक्तियाँ १००–१०२)

Not enjoyment and not sorrow
Is our destined end or way
But to act that each to-morrow
Find us further than to-day
* *

Let us then be up and doing
With a heart for any fate
Still achieving still pursuing
Learn to labour and to wait.
(A Psalm of Life)

यों जीवन-निर्माण के सम्बन्ध में पाठक जी एवं लांगफेलो दोनों महाकवि ही अमर संदेश देने में सफल हैं; किन्तु लांगफेलो में मानवतावादी और पाठक जी में प्रकृतिवादी भावनाएँ प्रमुख हैं। महापुरुषों के जीवन के अनुकरण पर महत्कार्यों के लिये लांगफेलो मानव को कर्मक्षेत्र में अग्रसर होने के लिए कहता है, जब कि पाठक जी ईश्वर की सृष्टि पर प्रकृति के अप्रतिम सौंदर्य के माध्यम से आश्वस्त होने के लिये कहते हैं।

पाठक जी की इस विशेषता का मूलाधार वस्तुतः उनकी स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्ति है। 'रूप जगत का यथार्थ देखो पड़ो भूल में कभी न तुम'—जीवन का अन्धानुसरण उन्हें जरा भी पसन्द नहीं। आँख खोलकर संसार को देखने का उनका संकेत है, आँख मीचकर नहीं। जीवन का सत्य प्रकृति में निहित है, इससे

उस पर विश्वस्त हो जीवन पर विश्वास करना आदर्श की शृङ्खला से उन्मुक्त कर पाठक जी मानव को निर्बन्ध यथार्थ पर आसीन कर देते हैं। विश्व में आस्था रखे हुये कर्त्तव्य-क्षेत्र पर बढ़ना—कवि की प्रेम की फिलासफी है।

'एकान्तवासी योगी' के समान इस काव्य के लिये भी कवि ने लावनी वृत्त को अपनाया है। खड़ी बोली का सरलतम स्वरूप काव्य में अवश्य विद्यमान है तथापि उक्त काव्य के समान इसमें भी खड़ी बोली का तुतलापन जहाँ-तहाँ व्यक्त होता है।

सारा सांसारिक सुख पाकर ईश्वर को पहिचानौ हौ
उसकी विद्यमानता, सत्ता, वस्तुमात्र में जानौ हौ

*　　　*　　　*

इनको जो अपने मन से जड़ मूल मिटाना चाहै हैं
वे असमर्थ कभी न जगत का सत उद्देश्य निबाहै हैं

उपर्युक्त पंक्तियों में 'पहिचानौ हौ' और 'जानौ हौ' के स्थान पर 'पहिचानो' और 'जानो' तथा 'मिटाना चाहै है' और 'निबाहै है' के स्थान पर 'मिटाना चाहते हैं' एवं 'निबाहते हैं' होना चाहिये।

काव्य में निम्न स्थलों पर गति-दोष भी है—

१—न इस लोक, ना उसी लोक में, हाथ उसे कुछ आता है

*　　　*　　　*

२—हाथ, पैर और नाक, कान, बुद्धि से काम जो लेता है

*　　　*　　　*

३—विविध रूप का अनोखा अचरज जिस्के बीच समाया है

*　　　*　　　*

४—आधी रात होने से उस दम लण्डन वाले सोते हैं

*　　　*　　　*

५—जो नेत्रों से दिखाई देता कानों से सुन पड़ता है

*　　　*　　　*

६—इसमें जैसा रहे रंग वैसा ही भाव उस्का जानो।

यों 'श्री गोपिका गीत' में पाठक जी ने पाठ-क्रम के सम्बन्ध में लिखा है—'लघु के स्थान में व्यवहृत गुरु लघुवत् उच्चार्य'। इससे गति-भंग के दोषों का

शमन अवश्य हो जाता है तथापि काव्य के प्रवाह में उपर्युक्त न्यून मात्रा एवं मात्राधिक्य के दोष खटकते अवश्य हैं।

'जगत सचाई सार' के सम्बन्ध में आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी का निम्न कथन है—

"पण्डित जी (पाठक जी) ने इस पुस्तक में नैसर्गिक शोभा का वर्णन बहुत ही सरलता से किया है। पद्यों में तर्क और बुद्धिवाद करना बहुधा अंग्रेजी कविताओं में पाया जाता है; Byron (बायरन) की कविता इस बात के लिये प्रसिद्ध है, यही ढंग इस छोटी-सी पुस्तक में भी कहीं-कहीं पाया जाता है। इस देश के कई कवि निरर्थक शब्दों के आडम्बर में और अतिशयोक्ति के काल्पनिक उलझाव में ही अपनी सब बुद्धि खर्च कर देते हैं। पर आनन्द की वार्ता है कि अब उनके लिये पण्डित जी ने एक नये ढंग की कविता दी है; हम आशा करते हैं कि इसके पठन-पाठन से उनका मन वस्तु-पदार्थ की ओर अवश्य झुकेगा।"[1]

काश्मीर सुषमा (रचना-काल—१९-११-१९०४ ई०)

'भारतेन्दु-युग' में काव्य के क्षेत्र में परिवर्तन घटित हुए, जिनमें स्वच्छन्द-वादिता का प्रारम्भ काव्य के लिए अनहोनी घटना थी। इस नवीन दृष्टिकोण ने कवि को प्रकृति के प्रति भी आत्मीय भावना रखने के लिए प्रेरणा दी। प्रकृति की विशुद्ध आभा रीति के संकुचित शृंगार के बन्धन में छटपटा रही थी। वह केवल 'उद्दीपन' विभाव को उद्दीप्त करने के लिए थी। यहीं पर कवि के दृष्टिकोण में विराम लगा था। सर्वप्रथम प्रकृति को इस गर्हित बन्धन से उन्मुक्त करने के लिए ठा० जगमोहनसिंह का ध्यान इस ओर अग्रसर हुआ था।

ठाकुर साहब ने वाल्मीकि, कालिदास एवं भवभूति आदि द्वारा प्रचलित संश्लिष्ट योजना द्वारा प्रकृति का बिम्ब ग्रहण करना प्रारम्भ किया था। यद्यपि ठाकुर साहब की इस परिपाटी पर प्रकृति-काव्य का अधिक सृजन नहीं हो सका तथापि श्रीधर पाठक ने उनकी परम्परा पालन करने का यथासाध्य प्रयास किया। उनका प्रकृति-निरीक्षण भी हिन्दी की अपनी निधि है। प्रकृति के सूक्ष्म निरीक्षण के दृष्टिकोण से पाठक जी की 'काश्मीर सुषमा' अमर रचना है।

---

१. आचार्य महावीरप्रसाद द्विवेदी—जगत सचाई सार—(छत्तीसगढ़—मित्र, जून, सन्, १९००)।

इसके समान ही 'वनाष्टक' एवं 'सान्ध्य अटन' में स्वाभाविक सूक्ष्म निरीक्षण है।

हिमाच्छादित श्रेणियों, जलप्लावित सरोवरों तथा सरिताओं से युक्त काश्मीर का प्राकृतिक सौन्दर्य महामहिम और आकर्षण-पूर्ण है। प्रकृति के रम्य अंक में स्थित कुटीरों से लेकर राजमहलों एवं तीर्थ-स्थानों तक में सर्वत्र गौर-वर्ण के नर-नारी अपनी अपूर्व छवि से दिव्य छटा प्रस्तुत करते हैं। क्षण-क्षण और पग-पग पर सौन्दर्य की इस अमर विभूति के प्रसारित होने के कारण ही काश्मीर भारत का स्वर्ग है। काश्मीर के इस अप्रतिम सौन्दर्य के कारण ही पाठक जी का यह निर्णयात्मक कथन है—

> **यहीं स्वर्ग सुरलोक, यहीं सुरकानन सुन्दर**
> **यहिं अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर**

विश्व के स्वर्गीय सौन्दर्य के सम्बन्ध में मानव ने पढ़ा अवश्य है; किन्तु मानवीय चर्म-चक्षु उसे आज तक देख नहीं सके हैं। इसी से उसकी तृप्ति आकाश-कुसुमवत् रही है।

> **सुरपुर अरु सुर कानन की सुठि सुन्दरताई**
> **त्रिभुवन मोहन करनि कविनु बहु बरनि सुनाई**
> **सो सब कानन सुनी किन्तु नैनन नहिं देखी**
> **जहँ तहँ पोथिन पढ़ी पैसु परतच्छ न पेखी**

इस स्वर्गीय सौन्दर्य की तृप्ति काश्मीर-सौन्दर्य के रसास्वादन से ही हो सकती है। भावुक कवि इस दिव्य सौन्दर्य से किंकर्त्तव्यविमूढ़ अवश्य हो जाता है; किन्तु उसकी कल्पना में विराम नहीं लग पाता। वह पुनः अग्रसर हो उठती है।

> **सुरपुर अरु काश्मीर दोउन में को है सुन्दर**
> **को शोभा कौ भौन रूप कौ कौन समुन्दर**
> **काकौ उपमा उचित देन दोउन में काकी**
> **याकौ सुरपुर की अथवा सुरपुर कौ याकी**
> **या कौं उपमा याही की मोहि देत सुहावै**
> **या सम दूजौ ठौर सृष्टि में दृष्टि न आवै**
> **यहीं स्वर्ग सुरलोक यहीं सुरकानन सुन्दर**
> **यहिं अमरन को ओक यहीं कहुँबसत पुरन्दर**

सौन्दर्य की पराकाष्ठा के कारण इस प्रकार की कल्पना सम्भव हो सकी है। 'या को उपमा याही कौ मोहि देत सुहावै' पंक्ति में अनन्वय अलंकार की

छटा काश्मीर की सुषमा पर यथोचित ही फबती है।

काश्मीर की 'स्वर्ग-सहोदर-धरनी' जो आर्य-कुल-धर्म की पीठिका और राष्ट्र को श्रेष्ठतम संस्कृति का पाठ पढ़ाने वाली रही है, सुन्दर-सुन्दर उपवन-उद्यान, प्रकृति देवी के 'मुकुर' 'डल बूलर' 'गंधरबल' और 'गगरी बल' आदि झीलों और राजभवनों से सुशोभित श्रीनगर तथा 'शारिका', 'दुग्ध-गंगा', 'शंकराचार्य' 'खीर', 'भवानी', 'मार्तण्ड', 'अमरनाथ' आदि-आदि तीर्थ-स्थानों से युक्त प्रकृति की अमर विभूति लिये स्थिर है। प्रकृति बड़ी ही मनोरम सप्राण है। वैयक्तिक अनुभूतियों से युक्त प्रकृति का स्वरूप बड़ा ही मोहक है।

प्रकृति यहाँ एकान्त बैठि निज रूप सँवारति
पल-पल पलटति भेस छनिक छवि छिन-छिन धारति
विमल-अंबु-सर-मुकुरन महँ मुख बिम्ब निहारति
अपनी छवि पै मोहि आप ही तन-मन वारति
सजति, सजावति, सरसति, हरसति, दरसति प्यारी
बहुरि सराहति भाग पाय सुठि चित्तरसारी
विहरति विविध-विलास-भरी जोवन के मद सनि
ललकति, किलकति, पुलकति, निरखति, थिरकति बनि-ठनि
मधुर मंजु छवि पुंज छटा छिरकति वन-कुंजन
चितवति, रिझवति, हँसति, डसति, मुसक्याति, हरति-मन

आगे चलकर कवि ने उत्प्रेक्षाओं एवं संदेहालंकारों द्वारा इस सौंदर्य को विविध रूपों से आँकने का प्रयास किया है। काश्मीर के प्राकृतिक सौंदर्य के सम्बन्ध में ही कवि का कथन द्रष्टव्य है—

परम पुरुष की पटरानी माया कौ स्यन्दन
मण्डप छत्र उतरि धर्‌यो उतर्‌यो कै नन्दन
कै जब लै शिव चले दक्ष तनया के अंगन
गिरि शृंगन गिरि खिल्यो प्रिया के कर कौ कंगन
विष्णु-नाभि तें उग्यो सुन्यो जो कमल सहस दल
कै यह सोई सुभग स्वयम्भू कौ सुजन्म थल
प्रकृति नटी कौ पटी रहित प्रगट्‌यो नाटक-घर
कै शिवतन्त्र सटीक खुल्यो विलसत टिखटी पर
कै त्रैलोक्य विभूति भरित अवधूत कमण्डल
कै तप-पुंज-प्रसूत विश्व-शोभा-श्री मण्डन

संदेहालंकार की सिद्धि के लिए कवि ने उपर्युक्त तथा अन्य स्वरूप जो ग्रहण किये हैं, उनसे पाठक जी की कोमल भावनाएँ ही व्यक्त हैं। ये चित्रण यथार्थ पर आधारित सरल और मधुर हैं। इसी से पाठक जी विश्वास के साथ कह सके हैं—

यहीं स्वर्ग सुरलोक यहीं सुरकानन सुन्दर
यहिं अमरन को ओक यहीं कहुँ बसत पुरन्दर

'काश्मीर सुषमा' के अन्तर्गत पाठक जी ने अपने व्यक्तिगत विवरणों को भी लेने का सफल प्रयास किया है। पुर्शयार नाम के मुहल्ले में निवास करने वाले अपने गुरु एवं गुरु-पत्नी को भी पाठक जी स्मरण करते हैं।

श्री 'मुकुन्द' गुरुचरन सरन जिनकी मैं लीनी
परम्परा की प्रथा यथारथ अनुभव कीन्ही
'सुनमाला' गुनमाल अम्ब-अम्बुज-पद ध्याऊँ
जुगुल चरन मन हरनि सरन गहि सब सुख पाऊँ

साथ में ही डोगरा राज्यवंश के महीपति को भी कवि ने निम्न पंक्तियों में स्मरण किया है—

श्री राजर्षि प्रतापसिंह काश्मीर-पुरन्दर
जिन अतिशय सज्जनता को परिचय मोहि दीनो
हित सौं बोलि सनेह सहित सम्मानित कीनो

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से ही काश्मीर सुषमा की काव्य-सामग्री पर प्रकाश पड़ जाता है। यों हिन्दी काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना को लाने के लिए पाठक जी ने गोल्डस्मिथ के अमर काव्यों का आश्रय अवश्य लिया, जिसके लिए हिन्दी-काव्य आभारी है। तथापि यह सत्य है कि पाठक जी में मौलिक प्रतिभा थी, जिसका प्रमाण उनके प्रत्येक काव्य से उपलब्ध होता है। 'काश्मीर-सुषमा' मौलिक रचना होने के कारण पाठक-साहित्य में बड़ी ही महत्वपूर्ण है। जिसके कारण ही स्वच्छन्दतावादी काव्य में इसे शीर्ष स्थान पर रखा जा सकता है।

स्वच्छन्दतावादी काव्य के लक्षणों के आधार पर यदि प्रेम के कारण 'एकान्तवासी योगी' और ग्रामीण वातावरण के कारण 'ऊजड़ ग्राम' को हिन्दी काव्य में सर्वोच्च शिखर पर रक्खा जा सकता है, तो प्रकृति के सजीव चित्रण प्रस्तुत करने के कारण पाठक जी की 'काश्मीर सुषमा' को सर्वोपरि स्थान मिलेगा, इसमें सन्देह नहीं।

ठाकुर जगमोहन सिंह की प्रकृति-काव्य की संश्लिष्ट योजना 'काश्मीर सुषमा' की १४६ पंक्तियों में पूर्ण रूप से निखर आई है। व्रजभाषा की माधुर्य अभिव्यंजना के कारण यह रचना और भी लोकप्रिय हो सकी है। इस प्रकार पाठक जी की यह रचना सर्वप्रकारेण सफल है।

आराध्य शोकांजलि (रचना-काल—चैत्र कृष्ण ६, १९६२)

कुशलं कुशलेशसूरिणः कुलजं लक्ष्मणमिश्रनन्दनम्
मृदुशीलनिसर्गसुन्दरं बुधलीलाधरपावनाऽभिधम्

(आराध्य शोकांजलि—२९)

उपर्युक्त श्लोक में पं० श्रीधर पाठक जी के पूज्य पिताजी की वंश-परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। पं० लीलाधर पाठक के पितामह पं० कुशलेश मिश्र एवं पिता पं० लक्ष्मण मिश्र थे। वंश अपने पाण्डित्य, भक्ति एवं उदारता के लिये युगों-युगों से प्रसिद्ध रहा है। पं० लीलाधर पाठक के सम्बन्ध में स्वयं पाठक जी का कथन है—

"पिताजी आस्तिकता और ब्रह्मण्यता के रूप थे···वह स्वयं गोपालमय थे और जगत् मात्र को गोपालमय समझते थे।···अपनी सन्तान पर अपरिमित प्रेम था। मैं उनका एक ही अवशिष्ट पुत्र हूँ, मुझे गोपाल जी का प्रसाद समझते थे, यद्यपि मेरे अंग्रेजी संसर्ग-दूषित स्वतन्त्र सिद्धान्तों पर प्रायः खेद करते थे। अंतर में मुझ पर प्रसन्न थे, पर मेरे सामने मेरी बड़ाई कभी नहीं करते थे; ऐसा करना हानिकारक मानते थे। मुझ पर उनका अथाह वात्सल्य था। मेरी भक्ति-विषयक कविता की प्रशंसा करते थे, परन्तु शेष को बकवाद बताते थे। उनकी आज्ञा थी कि सब कविता केवल भगवत्-सम्बन्ध में होनी चाहिए; परन्तु इस आज्ञा का पालन मुझसे न हो सका। इसका मुझे बहुत अनुताप है।"[1]

पाठक जी को अपने पिता जी का आशीर्वाद प्राप्त था। इसी से वंश-परम्परागत सम्मान एवं पाण्डित्य का संरक्षण करते हुए वह साहित्य-क्षेत्र में सफलतापूर्वक अग्रसर हो सके। भक्त और कर्मण्य पिता के कर्मण्य सपूत होकर पिता जी के निधन से पाठक जी का हृदय टूट गया था और वह वेदना से इतने आकुल हो गए थे कि उन्हें सम्पूर्ण विश्व ही सूना-सूना सा लगता था। अपने

१. श्रीधर पाठक, संक्षिप्त जीवन-परिचय, आराध्य शोकांजलि।

पूज्य पिताजी के श्री चरणों में अपनी भक्ति और श्रद्धा अर्पित करने के लिए ही पाठक जी ने 'आराध्य शोकांजलि' की रचना की थी। इससे यह रचना शोक-काव्य (Elegy) के अन्तर्गत आती है।

शोक-काव्य की प्रवृत्ति का जहां तक सम्बन्ध है, उसमें वैयक्तिक सम्बन्ध की प्रमुखता रहती है। इसमें मृत व्यक्ति के सद्‌गुण एवं शोक-काव्य के रचयिता पर उस विभूति के प्रभावों का चित्रण रहता है। पाठक जी द्वारा रचित यह शोक-काव्य स्वयं उनके पिताजी से सम्बन्धित है। इससे इसमें आत्मीयता का प्रमुख अंश विद्यमान है।

भगवान के विश्वासी एवं भक्त परिवार में इस प्रकार के कारुणिक निधन का वज्रपात हो, जिससे परिवार निस्सम्बल बन जाय और बच्चे अनाथ हो जायं, इस स्थिति ने ही पाठक जी को शोकाकुल कर दिया था। वह करुणा-निधान की इस निष्करुण परिस्थिति को नहीं समझ पा रहे थे।

भगवत्पदसेविनां कुलं सुतरामस्ति कृपार्हमेव ते
किमुताऽकरुणत्वमीदृशं विहितं तर्हि विगर्हितं विधे ?

पिता का व्यक्तित्व और जीवन परिवार का भरण-पोषण-कर्ता और सुख का विधान करने वाला था। आज वही अपनी चेतना, वाणी, मुख की कान्ति और बुद्धि-वैभव को खोकर 'शेतेऽद्य विनिष्क्रियं वपु' हैं।

क्व गतोऽसि समाप्य जीवनं खलु संत्यज्य धनं जनं गृहम्
अवलोक्य हि नो न दूयसे भवदालम्बनिवृत्ति विह्वलान्।

'न शृणोषि न भाषसेऽधुना, न यथापूर्वमना मनागसि'—सोचकर अनाथ पाठक जी का भावुक हृदय व्यथित होकर रह जाता है। पाठक जी उस कथा से ही 'मरणं प्रकृतिः शरीरिणा' इस दार्शनिक सिद्धान्त पर पहुँचते हैं और सोचने लगते हैं मानवीय शक्ति की सामर्थ्य ही क्या—जब 'भवितव्यतास्थले नहि धातस्त्वमपि व्यशृंखलः'।

स्वयं पिता होने के नाते ही नहीं; किन्तु सद्‌गुणों से युक्त उनका व्यक्तित्व इतना वरेण्य और महान था कि पाठक जी अपने कर्त्तव्य-पालन की त्रुटि के सम्बन्ध में बड़े ही सशंकित एवं भयभीत हैं। उन्हें दुःख है कि उनके जीवन-काल में उन्होंने ऐसी कितनी ही त्रुटियाँ की थीं; किन्तु आज जब वह अचेतन हो कर निष्प्राण हैं तब पाठक जी पुनः अपनी कर्त्तव्य-निष्ठा से उन्हें प्रसन्न करने के लिए उत्कण्ठित हैं।

त्वयि जीवति हन्त ! हे पितर्बहुधाऽहन्तव सेवनेऽस्खलम्
इति दुःख विषण्णमानसस्त्वधुना ते करवाणि चाटु किम् (९)

इन पंक्तियों में पाठक जी की वैयक्तिक अनुभूति स्पष्ट छलकती है जो शोक-काव्य में आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी है। अपने व्यक्तिगत गुणों के कारण भी उनका जीवन स्पृहणीय और महान था, जिससे लौकिक जीवन में उनको सभी प्रकार का सम्मान प्राप्त था।

न हि विश्व हितैषिणा त्वया द्विषतामप्यहितं समीहितम्
समुदारतया हि युज्यते स्वपरेषु प्रकृतिर्भवादृशाम् (१०)

* * *

वपुषि व्यथितेऽपि सर्वथा व्यरमस्त्वं न हि नित्यकर्मतः
तदुपेक्षणतः प्रलुप्यते तदुपेया द्विजतेतिनिश्चयः (१२)

* * *

भगवज्जन ! कृष्णरूपतामति रासीत्तव विप्रजातिषु
द्विजवर्य ! न कोऽपि दृश्यते सदृश स्तेद्विजनिष्ठताविधौ (१३)
स्मरणीयमुपास्य नाम ते करणीयन्तु गुणानुवादनम्
स्पृहणीयतया प्रकाशते धरणीयं तपसा तवोज्ज्वला (१४)

उपर्युक्त लोकाचार के अतिरिक्त उनकी निज की विचारधाराएं भी बड़ी ही मर्यादित और पवित्र थीं।

रतिरच्युत पादपंकजे, गतिरेका श्रुतिदर्शिते पथि
मतिराप्तमताश्रयात्मिका धृतिरासीत्तव नैष्ठिकी पितः (११)

गरुड़ पुराण के अन्तर्गत गरुड़ द्वारा श्री हरि से पुण्यात्माओं और पापात्माओं की गतियों के सम्बन्ध में पूछने पर, उत्तर में उनका कथन है—

ये नरा ज्ञानशीलाश्च ते यान्ति परमां गतिम्
पापशीला नरा यान्ति दुःखेन यम यातनाम् ॥[1]

गरुड़ पुराण के अध्याय ७ के अन्तर्गत प्रेत अपनी प्रेतयोनि के छूटने के सम्बन्ध में राजा वभ्रुवाहन से कहता है—

सच्छास्त्र श्रवणं विष्णोः पूजा सज्जन संगति
प्रेतयोनि विनाशाय भवन्तीति मया श्रुतम् ॥[2]

---

१. गरुड़ पुराण—अध्याय १, १७।
२. गरुड़ पुराण—अध्याय ७, ४९।

गरुड़ के 'आमुष्मुकी गति' के सम्बन्ध में श्री विष्णु से पूछने पर भगवान ने इसको ही मोक्षदाता और सद्गतिदाता कहा है।

उपर्युक्त से निस्सन्देह यह विश्वास है कि पाठक जी के आराध्य को भी सद्गति प्राप्त हुई और भगवान ने भी भक्त को अपने लोक में प्राप्त कर महान हर्ष से उनका स्वागत किया। उन्होंने भी अपनी जीवितावस्था की भावना के अनुसार पीताम्बरधारी गोपीनाथ को देखकर उनका स्तवन प्रारम्भ कर दिया और भक्तिपूर्वक अर्चन और वन्दन करने के लिए भगवान-लोक में रहने लगे।

इस शोक-काव्य के द्वारा यों पाठक जी की वंश-परम्परा और सम्मान पर तो प्रकाश पड़ता ही है; किन्तु वैयक्तिक अनुभूतियों के समाविष्ट हो जाने के कारण काव्य में अन्धानुसरण नहीं रह जाता है। फलस्वरूप इस काव्य में कृत्रिमता और आडम्बर का पूर्ण परित्याग दीख पड़ता है और यथार्थ चित्रण का दृश्य सामने आये बिना नहीं रहता। उपर्युक्त महत्ताओं के कारण ही यह 'आराध्य शोकांजलि' पाठक जी के स्वच्छन्दतावादी काव्य के अन्तर्गत रखी जा सकती है।

पाठक जी ने 'आराध्य शोकांजलि' के साथ गद्य में अपने पिता जी का संक्षिप्त जीवन-परिचय भी जोड़ दिया है, जिसके द्वारा उनके जीवन-परिचय के साथ स्वयं उनके जीवन की प्रगति पर भी प्रकाश पड़ जाता है; इस गद्यांश को पाठक-साहित्य में प्रमुख स्थान प्राप्त है, जिसका विवेचन गद्य-साहित्य के अन्तर्गत ही समीचीन होगा।

इस काव्य के साथ अन्त में 'भक्ति-विभा' भी जुड़ी हुई है, जिसको पाठक जी ने स्वप्न में अपने पिता जी के दर्शन कर लिखा था। पाठक जी ने पिता से सम्बन्धित होने के कारण इस रचना को 'आराध्य शोकांजलि' के साथ रखना उचित समझा था। इसीसे इसका अलग से विवेचन करना ही उचित है।

जार्ज-वन्दना (रचना-काल—१-१-१९१२)

सभ्यता के आदि-युग से भारत अपनी संस्कृति, धर्म एवं आध्यात्मिकता का विश्व-विश्रुत केन्द्र रहा है। उसकी भावनाएँ पावन और व्यावहारिक आदर्श की सामग्री रही हैं। कालान्तर में अन्धानुसरण के कारण भले ही उसका परिणाम पतन का साधन बना हो; किन्तु विशुद्ध आर्य-संस्कृति के प्रचार-काल तक इस प्रकार के विकार न आ पाये थे। इस समुन्नत देश में ही राजा परमेश्वर का प्रतिनिधि समझा गया है। अपनी श्रद्धा और निष्ठा के कारण दैवी-संरक्षण

के लिए वह जगन्नियन्ता और भौतिक कुशलता के लिए राजा के समक्ष विनीत रहा है और इन्हीं विश्वासों में उसने सदैव अपनी निष्कृति आँकी है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि
स पिता पितरस्तासां केवल जन्महेतवः । —कालिदास

लौकिक पिता केवल जन्म के साधन का कारण है ; प्रजा के अनुशासन, संरक्षण एवं भरण-पोषण के लिए राजा ही उसका पिता है ।

आस्था-मूलक देश होने के कारण ही इस प्रकार की भावनाओं का पोषण हो सका है । इन्हें राजा की चापलूसी कहकर टाला नहीं जा सकता । क्योंकि लोकतन्त्रात्मक भारत में राजा भरण-पोषण एवं संरक्षण के लिए प्रजा के समक्ष तो प्रजा भी राजभक्ति के लिए प्रथम के प्रति उत्तरदायी है । यह अन्योन्याश्रित सम्बन्ध ही राजा-प्रजा को एक-दूसरे से आबद्ध रखने के लिए अलम् है । फिर राजधर्म के सम्बन्ध में श्रीधर पाठक की निम्न भावना भी बड़ी ही उदार है—

धर्म जाति कौ अन्तर हम नृप में नहिं मानत
अपनाए ह्वै अपनाएहि अपनौ हि करि जानत ।

वर्णाश्रम-प्रधान विचारधारा के उस युग में इस प्रकार की भावनाएँ निस्सन्देह भारतीयता का गाढ़ पुट ही व्यक्त करती हैं । वैसे पाठक जी वर्णाश्रम धर्म के दृढ़ अनुयायी थे; किन्तु इस स्थल पर आकर उनकी कट्टरता एवं शास्त्रीयता पलायन कर उठी हैं ।

१८५७ ई० के गदर से ही भारतीयों की प्रसुप्त राष्ट्रीयता जाग्रत हो उठी थी । १८८५ ई० में कांग्रेस के जन्म से तो उसकी विश्वस्त स्पष्ट रूपरेखा ही देश के सामने आ गई । फलतः सभ्य समाज में राष्ट्रीय जागरण भावना-जगत् में क्रान्ति ही सिद्ध हुई । इस समय के अधिकांश भारतीयों में राज-भक्ति एवं राष्ट्र-भक्ति का सम्मिश्रण मिलता है ।

भारतेन्दु-युग में ही भारतेन्दु जी, प्रेमघन जी, प्रतापनारायण मिश्र एवं राधाकृष्णदास आदि की रचनाओं में भारत की दीन-हीन दशा से यद्यपि एक ओर क्षोभ है तो दूसरी ओर विक्टोरिया, एडवर्ड, युवराजों के आगमन पर स्वागत तथा वायसरायों की प्रशंसा में रचित काव्य भी उपलब्ध होता है । श्रीधर पाठक जी में भी उपर्युक्त परम्परा का पालन है । यद्यपि 'भारत गीत' रचकर हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना को विकसित होने का द्वार उन्हीं के द्वारा उन्मुक्त किया गया है, तथापि विक्टोरिया, लार्ड रिपन, विक्टोरिया चीरजीवी

एवं जार्ज-वन्दना आदि रचनाओं से उनकी राजभक्ति भी व्यक्त होती है ।

'जार्ज-वन्दना' के समतुल्य ही प्रेमघन जी ने भी 'सौभाग्य समागम' अथवा 'भारत सम्राट् सम्मिलन' नाम की रचना उसी समय प्रस्तुत की थी । प्रेमघन जी ने अपने विषय प्रतिपादन के लिए दोहा, हरगीति एवं बरवै छन्द प्रयुक्त किए हैं, जब पाठक जी द्वारा केवल छप्पय छन्द द्वारा ही विषय वर्णित है । तीन-तीन विभिन्न छन्दों में वर्णन की सुविधा होते हुए भी प्रेमघन जी के काव्य में वह प्रवाहपूर्ण लालित्य और गाम्भीर्य नहीं जो पाठक जी के काव्य में है । यों भी छप्पय छन्द की गति गम्भीरता का द्योतन करती है । फिर पाठक जी द्वारा एक ही छन्द का आधार लेने के कारण इस काव्य से समयानुकूल राजकीय मर्यादा टपकी पड़ती है ।

'जार्ज-वन्दना' के आठ छप्पयों में प्रथम में सम्राट की वंश-परम्परा, द्वितीय और तृतीय में भारत में उनका स्वागत और अभिवन्दन, चतुर्थ में राज्याभिषेक की महत्ता, पंचम एवं षष्ठ छन्दों में जार्ज सम्राट के राज्य का माहात्म्य, सप्तम में सम्राज्ञी मेरी की प्रशंसा एवं अष्टम छन्द में सम्राट एवं सम्राज्ञी को आशीर्वचन हैं ।

जय-जय पंचम जार्ज आर्ज अवनीस हमारे
जयति सेत-कुल-केतु जयति इंगलैंड-उज्यारे
जयति मनुज-कुल-दया-द्रवित, दुखियन-दुख-भंजन
जय भारत-निज-प्रजा-प्रनय-भाजन, जन-रंजन
जय ब्रिटिश-पुरातन-वीरता-विदित-हनोवर वंशधर
जय बिक्टोर्या-प्रिय-तनुज-श्री-ऐडवर्ड-नृप-तनय-वर ।[1]

महारानी बिक्टोरिया पितामही तुव नाथ ।
पाल्यो सुत सम बहुत दिवस जिन्है दया के साथ ।
जो कुछ उन्नति इत भई परति लखाई आज ।
सो सब तिनके राज में हे नव भारत राज ।।
नृप सप्तम एडवर्ड तुव पिता अधिक अधिकार ।
दै तिन कहँ प्रमुदित कियो बनि करुना आभार ।।
यों उपकृत तुव वंश सों भारत प्रजा समाज ।
जो तुम पै बलि जाय नहिं तौ अचरज महराज ।।[2]

१. श्रीधर पाठक, जार्ज-वन्दना, छप्पय १ ।
२. प्रेमघन—'सौभाग्य समागम' अथवा 'भारत सम्राट सम्मिलन', प्रेमघन सर्वस्व, भाग १, पृष्ठ ३६२–६३ ।

सामाजिक शैली द्वारा 'जय विक्टोरिया-प्रिय-तनुज-श्री-एडवर्ड नृप-तनय-वर' कहकर पाठक जी ने सम्राट की परम्परा का यथा-तथ्य चित्रण कर दिया है। सम्राट-सम्राज्ञी के शुभागमन पर उनके दर्शन के लिए प्रजा वर्ग उमड़ पड़ा। विविध प्रकार साज-सज्जा से नगर-राज-मार्ग एवं भवन चमक उठे। अपूर्व सौन्दर्य ही दृष्टिगोचर हो रहा था।

लखि नन्दन-छवि नन्दन लजित, इन्द्रप्रस्थ लखि इन्द्रपुरि
जय-अलख-पूर्व-भूस्वर्ग-कर, सुर-निसर्ग, नृपवर्ग-धुरि।

सम्राट के राज्याभिषेक के अवसर पर बंग-विभाजन मिटाकर पूर्ववत् बंगाल सम्पूर्ण प्रान्त कर दिया गया तथा अंग्रेजी साम्राज्य की राजधानी कलकत्ता से हटाकर देश के केन्द्रस्थल दिल्ली में स्थापित की गई। दोनों ही घटनाएँ अंग्रेजों की न्यायप्रियता एवं दूरदर्शिता पर प्रकाश डालती हैं।

बंग-त्रिभाग मिटाय अमिट अनुराग बढ़ायौ
घर-घर सुख-सन्तोख-सुधा वारिद बरसायौ।

(जा० व० ४)

* * *

जय दिल्ली निज नवल राजधानी निर्धारित
जयति सहस-सुभकाज-सुजस-बल्ली-विस्तारित।

(जा० व० ५)

महारानी का व्यक्तित्व भी सम्राट के समान ही महत्वपूर्ण होता है, इससे सम्राज्ञी का जय-गान भी कवि ने बड़ी भावुकता एवं मधुर शब्दावली द्वारा किया है—

स्वागत महरानी सहित तुम हित भारत भूप।
बड़े भाग सों पाइयत ऐसे अतिथि अनूप॥
तव उदारता कुलागत दयालुता की वानी।
न्याय-निपुनता-धीरता गुनि नृप-गुन-गन-खानी॥
पलक पाँवड़े आप हित जो पै देहिं बिछाय।
लोचन जल पद युगल तुव धोवै हिय हरषाय॥
सब कुछ वारें आपके ऊपर तौ हूँ थोर।
लखि तुव गुरुजन राजकृत गुरु उपकारनि ओर॥

(प्रेमघन सर्वस्व, पृष्ठ ३९४–३९५)

जय जय पुनि सम्राट-प्रिया महारानी मेरी
सुन्दर जनु सुरबाल, सुघर-गुन-माल-सुमेरी
रही ललकि जिहि लखन प्रजा करि चाह घनेरी
सुखित भई अवलोकि प्रेममय मूरति तेरी
जय भारतीय-तिय-गन-सखी, प्रिय-सनेह-सानी उदय
जय तिय-समाज-हित उनमुखी श्री मेरी महारानि जय ।
(जार्ज-वन्दना, छप्पय ७)

अन्तिम छन्द में कवि सम्राट् एवं सम्राज्ञी को शुभाशीष प्रदान करता है। यह आशीर्वचन भारतीय नाटकों के 'भरतवाक्य' के समान ही है।

जय जय जुग जुग जियहु जुगल दम्पति प्रिय-जोरी ।
प्रजा प्रनय-प्रन-पगी, बढ़हु सासन सुचि डोरी ।।
सफल होयँ संकल्प सकल सुभ, जीवन केरे ।
मानव-मंगल-जननि जुगल अभिलासा-प्रेरे ।।
जय दिन-दिन दुगुनित होय सो अभिलासा आसा प्रबल ।
जुग जुगनु जार्ज मेरी जियहु सुख-सुहाग जोरी जुगल ।।
(जार्ज-वन्दना, छप्पय ८)

काव्य की पूर्ति के साथ-साथ इन पंक्तियों द्वारा कवि के शालीन हृदय की विशाल सद्भावना प्रकट होती है।

काव्य के वर्ण्य विषय का जहाँ तक सम्बन्ध है पाठक जी पूर्ण सफल हैं। उनकी यह रचना अन्य किसी भी सामयिक रचना से अधिक ललित और मधुर है। काव्य-रचना के सम्बन्ध में गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश' का कथन है :—

"पाठक जी अन्धाधुन्ध लिक्खाड़ नहीं थे। कविता करने में उन्होंने जल्दी कभी नहीं की। काव्य रचना की तुलना वे प्रवीण स्वर्णकार के कार्य से करते थे और कहते थे कि जैसे वह एक-एक नग की उपयुक्तता आदि से सन्तुष्ट होकर ही उसे भूषणों में जड़ता है, वैसे ही विदग्ध कवि को अपने एक-एक शब्द के सम्बन्ध में सावधान होना पड़ता है।"[1]

उपर्युक्त सिद्धान्त पर (जार्ज-वन्दना) को परखने पर उसमें कवि का काव्य-साफल्य ही परिलक्षित होता है। काव्य में आद्योपान्त सामासिक शैली का प्रयोग

---

१. गिरिजादत्त शुक्ल 'गिरीश', 'स्व० पं० श्रीधर पाठक', अभ्युदय, २२ सितम्बर १९२८ ई०।

होते हुए भी दुरूहता अणुमात्र भी उपलब्ध नहीं होती। ब्रजभाषा का माधुर्य पूर्णरूप से काव्य को सरसता प्रदान कर रहा है। स्थल-स्थल पर अनुप्रासमयी भाषा काव्य को और भी सजीवता प्रदान कर रही है।

> जय जलपति, थलपति, व्योमपति, जयति सोम-सुरपति-चरित
>
> (जार्ज-वन्दना, ५)

* * *

> जय रवि-ससि-गुन-गुम्फित, सुदृढ़, सोहत सुभग सुराज-थिति,
> जय कल-कीरति-जय-चन्द्रिका छिटकि, छटा छहराति छिति।
>
> (जार्ज-वन्दना, ६)

* * *

> जय जय जुग जुग जियहु जुगल दम्पति प्रिय जोरी,
> प्रजा प्रनय-प्रन-पगी, बढ़हु सासन सुचि डोरी।
>
> (जार्ज-वन्दना, ८)

दुखी का 'दुखियन' (छप्पय १) अभिषेक का 'अभिसेक' (छप्पय २) पूर्ण का 'पूरन' (छप्पय ३) देश का 'देसिनु' (छप्पय ४) राजपूत का 'रजपूतन' (छप्पय ६) आदि-आदि शब्दों से ब्रजभाषा पर उनका पूर्ण आधिपत्य प्रतीत होता है। इस काव्य में भाषा का जो मधुर वातावरण प्रस्तुत है उससे पाठक जी की काव्य-मर्मज्ञता एवं शब्दों की नाड़ी की पहिचान ही ज्ञात होती है।

शास्त्रीय एवं स्वच्छन्दतावादी काव्य की कक्षाओं में जार्ज-वन्दना को शास्त्रीय काव्य के अन्तर्गत ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है। वर्ण्य विषय, भाषा एवं छन्द आदि के विचार का जहाँ तक सम्बन्ध है, कवि परम्परागत मर्यादाओं में आबद्ध है। प्रतिपादित शास्त्रीयता होते हुए भी काव्य में स्वाभाविक प्रवाह और मधुर लालित्य है, जिससे इस रचना को समकक्षीय रचनाओं में उत्कृष्ट स्थान दिया जा सकता है।

भक्ति-विभा (रचना-काल—२३ अप्रैल १९१३ ई०)

अपने पिता जी के सम्बन्ध में रचित 'भक्ति-विभा' पाठक जी की द्वितीय रचना है। 'आराध्य शोकांजलि' में उनकी मर्म व्यथा का दिग्दर्शन है जब कि 'भक्ति-विभा' में पाठक जी स्वप्न में अपने पिता जी को जीवित देखते हुए

उनका चित्रण करते हैं। स्तवन में व्यस्त उनका स्वरूप पाठक जी की चिन्ताओं का अपहरण कर देता है। पाठक जी इस स्वरूप-दर्शन से स्वर्गीय आनन्द का अनुभव करते हैं।

रात्रि-बेला में ही पाठक जी को शुभ दर्शनों का सुयोग मिलता है। उन का रूप और वस्त्र ज्यों के त्यों पूर्ववत हैं।

सोई सुठि आकृति सोई सुघर गात
सुस्मित सुचि आनन-आभा लखात
चन्दन भल चर्चित वर तिलक भाल
सुललित मन्दार-कुसुम-तुलसि-माल
सोई पद-पानि जुगल वारिजात
सात्विक द्युति पार्थिव-श्री-युत सुहात

(पंक्तियाँ ३–८)

पं० लीलाधर पाठक बड़े ही भगवद्भक्त थे और गोपी-कृष्ण की भक्ति में उनकी बड़ी आस्था थी। अपने जीवन-काल में भी वह सदैव पूजा-अर्चना में लगे रहते थे।

"पिता जी इस कुल की धर्म और भक्तिमत्ता के विषय में अन्तिम शोभा थे। उनका समस्त जीवन गोपालाराधन में ही व्यतीत हुआ। उनका भजन, भोजन एवं यावद् व्यवहार केवल यशोदानन्दन, कंस-निकंदन प्रणत पाल गोपाल लाल के लिए था।"[1]

इस स्थल पर भी वह पूजा के आसन पर आसीन सुशोभित हैं।

आसन सित दलमय मंजुल अनूप
शान्त स्थिति निष्ठ ब्रह्मण्य रूप

(पंक्तियाँ २५–२६)

इसके अतिरिक्त 'गोपाल लाल' की स्तुति-गान से पूर्व उन्होंने जिस अनुराग से अपने पुत्र को देख अपने वात्सल्य को प्रकट किया वह बड़ा ही मनोरम-अभिनयात्मक है। दुःख है कि ममता की वह दृष्टि अधिक काल तक स्थिर न रह सकी।

निरखत मम ओर सदय सानुराग
हरखित सुत प्रेम पुलकि धन्य भाग

---

१. श्रीधर पाठक, संक्षिप्त जीवन परिचय, 'आराध्य शोकांजलि', पृष्ठ १५।

एक छिन अवलोकि प्रेम-दीठि डारि,
टारति तिहि तुरतहि ममता बिसारि।
(पंक्तियाँ २७–३०)

गोपाल की स्तुति एवं भक्ति में दत्तचित्त अपने पिता जी को देखकर पाठक जी के हृदय में अविरल प्रेम की धारा का स्रोत उमड़ पड़ा।

बाढ़्यो हिय अतिसय पितु-प्रेम-छोह
सुधि करि चिर-दरसन-सेवा-बिछोह
अनुभव करि सुख-प्रद सन्तोष भूरि,
आशा उर प्रति छिन दरसन की पूरि।
(पंक्तियाँ ८१–८४)

ऐसे सुयोग से कवि का हृदय पूर्ण उत्फुल्ल और आह्लादित था। अनाथ अपने को पितृ-दर्शन से सनाथ समझकर वह गद्गद हो रहा था। उसी समय 'घन पटल' ने 'पितु मूरति' को आवृत कर दिया। फलस्वरूप—

ऐसे प्रतिरोधित पितु-दरस देख
चित्त भयौ अति चिन्तित विस्मित विसेख।(पंक्तियाँ ९१–९२)

उपर्युक्त निराशा पुनः आशा में परिणत हुई। घन-आवरण के हटते ही 'पायौ पुनि दरसन पितु पूज्य पाद'। करुणा से युक्त और भक्ति से गद्गद पिता के नेत्रों को देखकर पाठक जी के वियोग-पीड़ित हृदय में पुनः आश्वासन बढ़ा और पितृ-भक्ति की पयस्विनी उमड़ पड़ी; किन्तु वह सौभाग्य पुनः घन-पटल द्वारा दुर्भाग्य में परिवर्तित कर दिया गया।

प्रगट्यौ नहिं दरसन पुनि तृतिय वार
छायौ निसि चहुँ दिसि घन अन्धकार। (पंक्तियाँ १०९–१०)

यद्यपि आकाश-मण्डल में चन्द्र और उडुगन आज भी उदित होते हैं; किन्तु वह कमनीय कान्ति फिर दृष्टिगोचर न हो सकी। ऊषा भी कमनीय पट धारण किए प्रदर्शित हुई; किन्तु स्वप्न का सत्य पुनः सत्य न हो सका।

'भक्ति-विभा' उपर्युक्त विवेचन के आधार पर 'आराध्य शोकांजलि' का पूरक काव्य है। द्वितीय में शोकाकुल पाठक जी की वेदना एवं व्यथा से उनकी जिस वैयक्तिकता का प्रस्फुटन हुआ है उसका एक अंश 'भक्ति-विभा' में भी विद्यमान है। इस प्रकार सामाजिकता के अभाव में वैयक्तिक वेदना के कारण इसमें कवि की स्वच्छन्दवादिता पूर्ण स्पष्ट है।

श्री गोखले प्रशस्ति (रचना-काल—११-३-१५)

पाठक जी के वंश को ही श्रेय है कि उसमें पं० कुशलमिश्र जैसे महाकवि और नाटककार तथा पं० धरणीधर शास्त्री जैसे नैयायिक एवं आचार्य ने जन्म लेकर अपनी-अपनी विद्वत्ता एवं पाण्डित्य से उसकी धवल कीर्ति को और भी उज्ज्वल कर दिया। उत्तराधिकार में काव्य-अनुराग एवं पाण्डित्य को उपलब्ध कर श्रीधर पाठक ने जीवन में उनका सदुपयोग किया और हिन्दी-काव्य के इतिहास में अपने को सदैव के लिए अमर कर लिया।

हिन्दी में तो उन्होंने रचनाएँ की ही हैं; किन्तु संस्कृत को भी अधिकारपूर्वक काव्य में प्रयुक्त कर अपने पाण्डित्य का उन्होंने परिचय दिया है। 'मनोविनोद' के आदि और अन्त में, मंगलाचरण एवं चिट्ठी-पत्रों के रूप में उनका संस्कृत का स्फुट काव्य है। इसके अतिरिक्त 'आराध्य शोकांजलि' एवं 'गोखले प्रशस्तिः' संस्कृत की उनकी अन्य रचनाएँ हैं, जिनमें काव्य-विषयक लालित्य एवं सौष्ठव पूर्णरूप से विद्यमान है।

'आराध्य शोकांजलि' उनका शोक-काव्य है, जिसके सम्बन्ध में पिछले पृष्ठों में विवेचन हो चुका है। 'श्री गोखले प्रशस्तिः' गोपालकृष्ण गोखले के महत्वपूर्ण [illegible] अभिवन्दन है। कोविदों के मध्य में तो वे गण्यमान थे ही, देश की राष्ट्रीय भावना के उत्तरोत्तर विकास में भी उनसे प्रोत्साहन मिला है। देश की राष्ट्रीय प्रगति में वह गांधी जी से पूर्व ही आ चुके थे। इससे साम्प्रदायिक भावना को नष्ट कर देने तथा हरिजनों की समस्या को प्रमुखता देने के सम्बन्ध में उनके विचार पहले ही आ चुके थे। देश-भक्ति के साथ राजभक्ति के भी लक्षण उनमें विद्यमान थे। नरम दल के नेता होने के कारण वह वैधानिक सुधारों के पक्ष में भी थे। इस प्रकार समय-समय पर अंग्रेजी सरकार उनका अभिमत लेकर आभारी हुआ करती थी।

यह प्रशस्ति काव्य नौ छन्दों में समाप्त हुआ है। वास्तव में इस काव्य के आठ छन्द प्रशस्ति-स्वरूप हैं और नौवाँ छन्द इस प्रशस्ति के माहात्म्य पर प्रकाश डालता है। प्रथम आठ छन्दों के सात छंदों में 'संस्मरामि लोकवन्द्यगोखलेबुधेश्वरम्' और आठवें छन्द में उसके समान ही 'संस्मरामि तं समस्तकोविदेश्वरेश्वरम्' टेक है। इन टेकों के प्रयोगों से काव्य में आशातीत संगीत की अभिवृद्धि हुई है। कोमलकान्त पदावली के प्रयोग के कारण काव्य ललित और मधुर बन गया है।

आदिगन्तपूर्यमाणपुण्यनामवैभवम्
भारतीयमानवाधिकारवादिनांवरम्
राजराजमानितं मनीषिवृन्दसेवितम्
संस्मरामि लोकवंद्यगोखलेबुधेश्वरम्

भारतीय एवं मानवीय अधिकारों के लिये गोखले जी आजीवन जूझते रहे। समन्वयवादिता की उच्च भावनाएँ उनमें थीं, जिससे अंग्रेजी शासन भी उनका आभार मानता था। कवि ने द्वित्वविहीन शब्दों द्वारा सरलतर शैली में गोखले के लोकवन्द्य स्वरूप को इन पंक्तियों में और भी सर्वग्राह्य कर दिया—

सौम्यवृत्तिसाधुतासमुत्थभावसुन्दरम्
देशकालकोविदं स्वदेशमानमन्दिरम्
सूनृतोक्तिमौक्तिकाऽभिरामकण्ठभूषणम्
संस्मरामि लोकवन्द्यगोखलेबुधेश्वरम्

अनुस्वारान्त पदावली, अनुप्रासमयी शब्दों की छटा एवं शब्दों के मधुर आरोहावरोहों से निस्सन्देह तुलसीदास जी की स्तुतियों का स्मरण आ जाता है।

इसी प्रकार की ललित शैली में कवि ने जीवन की [illegible]ओं को गूँथने का प्रयास किया है—

ज्ञातिवर्णधर्मजन्यभेदभाववर्जितम्
* *
भारतीयनीतिसंविधातृसद्मसांस्थितम्
* *
आफ्रिकाऽधिवासिबन्धुकष्टतापहारकम्

इस प्रकार देश-भक्ति की भावनाओं से युक्त यह प्रशस्ति काव्य के मधुर स्वरूप को भी व्यक्त करती है। प्रशस्तियों का वातावरण श्रद्धामूलक रहा करता है। श्रद्धा श्रद्धेय के किये हुये सामयिक उपकारों पर आधारित रहा करती है। इससे प्रशस्तिः रचयिताओं को व्यक्ति के जीवन के महत्तम उपकारों का गुणगान करना ही पड़ता है। यहाँ पर कवि द्वारा मधुर शैली में गोखले के उपकार काव्य में समाहित हैं। अन्त में आचार्य महावीर प्रसाद द्विवेदी के शब्दों के अनुसार पाठक जी के काव्य के सम्बन्ध में यह सत्य है—

बाला-वधू-अधर अद्भुत स्वादुताई
द्रक्षाहु की मधुरिमा, मधु की मिठाई।
एकत्र जो चहहु पेखन प्रेम-पागी
तो श्रीधरोक्त-कविता पढ़ियेऽनुरागी॥

* * *

जाकी कवित्व-पद-कोमलताऽधिकाई
आबाल-वृद्ध-जन चित्त लयौ चुराई।
सोई कवीन्द्र विजयी जयदेव आई
लीन्ह्योऽवतार कह श्रीधर-देह पाई॥

श्री गोखले गुणाष्टक (रचना-काल—१८-३-१९१५ ई०)

गोपाल कृष्ण गोखले को लेकर पाठक जी ने अपनी तीन रचनाएँ हिन्दी-जगत को भेंट की हैं: (१) हा, गोखले (२८-२-१५), (२) श्री गोखले प्रशस्ति (११-३-१५) एवं (३) श्री गोखले गुणाष्टक (१८-३-१५)। कालक्रम के अनुसार 'श्री गोखले गुणाष्टक' उनकी तृतीय रचना है। प्रथम रचना 'हा गोखले' शोक-सूक्त है जिसका सृजन स्वर्गीय गोखले के प्रयाग में अस्थि-विसर्जन के समय हुआ था। यह रचना जन-वर्ग में वितरित भी की गई थी। द्वितीय रचना हिन्दी की न होकर संस्कृत की है। इस नाते गोखले-विषयक गुणाष्टक हिन्दी-काव्य-क्षेत्र में महत्वपूर्ण रचना है।

यह गुणाष्टक भावना-प्रधान न होकर घटना-प्रधान है। संपूर्ण काव्य में मुख्यरूपेण उनके जीवन की घटनाओं का उल्लेख है, जिनसे देश और समाज प्रभावित हुआ है। चारित्रिक आदर्श एवं प्रतिभा ये ऐसे दो गुण उनमें विद्यमान थे, जिनसे जीवन में उन्हें सदैव सफलता मिली।

वह अठारह वर्ष की अवस्था में ग्रेजुएट, बीस में प्रोफेसर, इक्कीस में एक पत्र के सम्पादक, पच्चीस में प्रान्तीय कांग्रेस के मन्त्री, उन्तीस में कांग्रेस के मन्त्री, इकत्तीस में कमीशन के प्रमुख साक्षी, चौंतीस में प्रान्तीय व्यवस्थापक सभा के सदस्य और चालीस में ब्रिटिश साम्राज्य के राष्ट्रीय दूत आदि थे।

वह युग के एक प्रमुख देश-भक्त थे। अंग्रेजों की पराधीनता उन्हें अखरती थी। उन्हें इस बात से बड़ी व्यथा थी कि देश में पाश्चात्य भावनाएँ तीव्रता से प्रविष्ट हो रही हैं; किन्तु अंग्रेज स्वार्थान्ध हो दमन में व्यस्त हैं और भारतीय

संस्कृति तथा भारतीयता के अध्ययन का प्रयास नहीं करता।[१]

इन्हीं भावनाओं से प्रेरित होकर उन्होने भारतीयों के प्रति सद्भावना, उनमें शिक्षा प्रसार, हरिजनोद्धार, भारतीय औद्योगिक विकास एवं अफ्रीका में बसे हुए भारतीयों की सुव्यवस्था आदि के प्रयास किये थे। भारत-सेवक-समिति (Servants of Indian Society) की संस्थापना से केवल निर्वाहार्थ वृत्ति लेकर देश की सेवा करने के लिए युवकों को दीक्षित करने के श्रेय उन्हीं को हैं।

इन सब विशेषताओं के कारण ही गोखले का व्यक्तित्व देश के लिये महा-महिम और गरिमामय रहा है। उनके निधन से पाठक जी का हृदय उन्मन हो इस प्रकार रुदन कर उठा है :—

मनुज मात्र के मध्य जिसे पूरन ममता थी।
निज-परता से शून्य सर्वजन में समता थी॥
जो पर-दुख को देख सुखी नहिं रह सकता था।
पर-सुख-साधन हेतु सभी दुख सह सकता था॥
पर-सेवा-वृत्त-नैम अटल जिसने उर धारा।
जीवन भर प्यारे स्वदेश पर तन मन वारा॥

* * *

अरे बतादो कोई कहाँ पर है वह प्यारा।
भारत का प्रिय-पुत्र गोखले प्राण हमारा॥[२]

वर्ण्य विषय एवं वर्णन के साधन का जहाँ तक सम्बन्ध है, 'श्री गोखले गुणाष्टक' सामन्तीय परम्परा के अन्तर्गत ही आता है। उनमें जिन विचार-धाराओं का सन्निवेश है, वे पूजा और वन्दना की ही सामग्री है, इससे इस काव्य में भी शास्त्रीयता का गहरा पुट है।

राष्ट्रीयता के विकास और देश के गौरव को अक्षुण्ण रखने के लिए एकता की भावना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य थी। इस भावना को प्रोत्साहन देने के लिए ही गोखले ने साम्प्रदायिक विचारधारा का उन्मूलन कर सहृदयता का प्रसार किया। इस क्षेत्र में अग्रसर होने के लिए श्री 'रानाडे' से उन्हें प्रेरणा

1. Gopal Krishna Gokhale : 'Some Great Men of India' Longman's Green & Co., 1928.
२. श्रीधर पाठक, 'हा गोखले', मनोविनोद, १९१७ ई०, पृष्ठ १३६।

मिली थी। कालान्तर में जब गान्धी जी अफ्रीका से भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन का नेतृत्व करने के लिए आए तब गोखले द्वारा व्यवहृत विचारधाराओं को उन्होंने भी अपनाया।

जाति-पाँति-मत-जनित भेद-भ्रम जियसों टार्‌यौ।
जग-सेवा-वृत-नैम प्रेम-सत-पंथ प्रचार्‌यौ॥

* * *

जय हिन्दु-अहिन्दुन-वृन्द महँ समता-संदर्सन-करन।
जय-जय प्रबुद्ध वर बुद्ध-सम-द्रुत-अबुद्ध-तामस-हरन॥

(छप्पय २)

१९०५ एवं १९०६ ई० में वह देश के लिए आवश्यक सुधारों के सम्बन्ध में विचार-विनिमय के लिए इंग्लैंड भी बुलाये गए थे। लार्ड मार्ले, जो उस समय भारत-सचिव थे, उनके अभिमत जानकर बड़े ही आभारी हुए थे।

सासक-गनहि सुसासन को सुविधान सिखायौ।
भारत-हित-उपयुक्त नीति को तत्व बतायौ॥
सत्य-समर्थन-हेतु रह्यौ सन्नद्ध सदाँ ही।
पर-हित-काज-सचित स्वयम् चिन्ता कछु नाँही॥

(गुणाष्टक ३)

गोखले के जीवन की अन्य घटनाओं का भी कवि ने सहृदयतापूर्वक उल्लेख किया है।

जय भारत-संसेवक-समिति-सम्प्रदाय-थापन-करन।

(छप्पय ४)

* * *

स्वजन-उधारन हेतु आफ्रिका देस पधार्‌यो।

(छप्पय ५)

* * *

अल्प वृत्ति पै करी ग्रहन अध्यापकताई।
सिच्छालय के हेतु द्रव्य-भिक्षा-व्रत लीनो॥

(छप्पय ६)

* * *

जय "अशुल्क-अनिवार्य-सर्व - शिक्षा-प्रस्तावक।"

(छप्पय ७)

देश जब मानसिक विकास न हो सकने के कारण भटक रहा था, उद्देश्य विहीन होने के कारण स्वार्थान्ध हो जब देशवासी परस्पर टकरा रहे थे और मुक्ति तथा निष्कृति का वास्तविक अर्थ न समझने के कारण किंकर्त्तव्य-विमूढ़ हो रहे थे, उस समय गोखले देश के लिए कर्णधार ही सिद्ध हुए हैं। कवि ने भावुकता से निम्न पंक्तियाँ कहकर उत्प्रेक्षा को भी सार्थक कर दिया है—

मनु अवनि अवन कोउ अवतर्यौ स्वर्गदूत नर रूप धरि
पुनि गयौ बहुरि हरि-धाम द्रुत-विधि-प्रेरित भुवि काम करि।

(छप्पय ३)

उपर्युक्त के कारण ही कवि को विश्वास है कि गोखले भारतीय वातावरण में सदैव अमर रहेंगे और युगों-युगों तक स्मरण किये जावेंगे। तथा—

जस मंजु गान करिहैं मुदित सतत संत बुधवर भ्रमर।

इस काव्य में कवि ने छप्पय छन्द एवं ब्रजभाषा को वर्णन के लिए अपनाया है। सामासिक शैली का पूर्ण प्रयोग है।

देहरादून (रचना-काल—कार्तिक शुक्ल २, १९७२ वि०)

ब्रजभूमि के निवासी होते हुए भी इलाहाबाद में रहकर और बालकृष्ण भट्ट के संसर्ग में आकर श्रीधर पाठक ने पूर्वी बोली में अपनी 'देहरादून' रचना प्रस्तुत की। यों ब्रजभाषा पर उनका पूर्ण अधिकार था और खड़ी बोली के वह आदि आचार्य ही समझे जाते थे तथापि उन दोनों को पृष्ठभूमि में लेजाकर एक विशेष 'बोली' में रचना करना उनके स्वच्छन्दतावादी हृदय की मनोवृत्ति थी। पाठक जी के निधनोपरान्त श्री रामदास गौड़ ने उनके कुछेक संस्मरणों का उल्लेख किया है, उनमें से उनके एक संस्मरण से पाठक जी की 'देहरादून' रचना पर भी प्रकाश पड़ता है।

''पाठक जी बड़े विनोदी थे। उदासी उनके चेहरे पर कभी नहीं देखी गई। वह अक्सर लोगों की भाषा की विशेषताओं की नकल किया करते थे। उनके मुँह से भट्ट जी (पं० बालकृष्ण भट्ट) की इलाहाबादी बोली की नकल मुझे बड़ी प्यारी लगती थी। भट्ट जी की मृत्यु के बाद पाठक जी उन्हें बहुत स्मरण किया करते थे। एक बार उन्होंने 'देहरादूनवा' की एक प्रति मुझे भेंट की। मैंने 'रेयलिया', 'मेइलिया', 'सहबबवा' 'असबबवा' आदि देखकर उनसे पूछा कि इस प्रयोग में क्या विशेषता है? बोले—'बरवा छन्द का यही नियम है'। मैंने कहा कि मैंने किसी रीति ग्रंथ में ऐसा नियम तो नहीं देखा है। बोले—देखा तो मैंने भी नहीं है पर मैं तो भट्ट जी को प्रमाण मानता हूँ। वह कहा करते थे कि बरवा

छन्द में पहले और तीसरे चरण में अन्त में 'वा' 'या' का आना बहुत ज़रूरी है। इसीलिये तो उसे बरवा कहते हैं।"[1]

'देहरादून' काव्य से यह पूर्णरूपेण स्पष्ट है—

भले ही पाठक जी ने भट्ट जी की नकल की हो अथवा विनोदी स्वभाव के कारण 'वा' 'या' परक प्रथम और तृतीय चरण लिखे हों, यह रचना जन-स्तर के समीप अवश्य पहुँच जाती है। प्रान्तीय भाषा के स्थान पर 'बोली' को अपनाना काव्य को लोक-भूमि पर लाने का प्रमाण प्रस्तुत करता है। केवल यह भावना ही इतनी बलवती है, जिससे इस काव्य को स्वच्छन्दतावादी काव्य की कोटि में रखा जा सकता है।

खाँसी के रोग से पीड़ित होने पर डाक्टरों ने पाठक जी को १९१३ ई० में देहरादून जाने का सुझाव दिया। वहाँ का प्राकृतिक सौन्दर्य और वन-शोभा उन्हें पहले से ही इतनी प्रिय थी कि पाठक जी ने उसे स्वीकार कर लिया। वहाँ के लिये वह प्रस्थित भी हुए। वहाँ पहुँचे भी; किन्तु लाभ न होने की दशा में वह दस दिन शिमला में ठहरकर इलाहाबाद लौट आये। इस रुग्ण परि-भ्रमण और प्रवास में पिता जी जो कुछ देख व अनुभव कर सके घर पर रुग्ण अवस्था में ही समय-यापन के लिए 'बरवा' में लिपिबद्ध करने लगे। यह छन्द आपको बहुत प्रिय है।

इस यात्रा में और देहरादून के निवास में कवि ने निम्नलिखित विषयों को स्पर्श किया है। रेल प्रस्थान—रेल मार्ग—अवध-रुहेलखण्ड—हरिद्वार—सुरंग प्रवेश—गंगस्तवन—गिरिमार्ग—देहरा प्रवेश—स्टेशन—पथिक समाज—आर्य मन्दिर—देहरा शहर—रिस्पना—लाटभवन—रामदास गुरुझण्डा—निज डेरा—मसूरी दर्शन—देहरा त्याग आदि।

इस काव्य की रचना में कवि ने वर्णनात्मक परिपाटी का ही प्रश्रय लिया है; किन्तु कवि-सुलभ भावुकता का उन्होंने कहीं भी परित्याग नहीं किया। इस कारण काव्य-निर्वाह में कवि द्वारा न्याय ही हो सका है। सरल और स्वाभाविक शैली में ही कवि ने इसे चित्रित किया है। काव्य की प्रारम्भिक पंक्तियाँ ही द्रष्टव्य हैं—

---

१. स्व० पाठक जी के कुछ संस्मरण—रामदास गौड़ एम० ए०, 'विशाल भारत' जनवरी १९२९ (माघ १९८५)।

२. सम्पादक गिरिधर पाठक—देहरादून—'विवृत्ति' प्रथमावृत्ति, पृष्ठ १ (पद्म कोट, इलाहाबाद)।

ग्यारह मई महिनवा तेरह साल
अदितबार, अध-दिनवा धूप दुकाल
कठिन घोर दुपहरिया लुअ कर जोर
चलेउ तेज असवरिया टेसन ओर
तुरतहि सब असबबवा बिलटी कीन
भारी भीर सबबवा सँग नहिं लीन
बैठत तुरत रेयलिया सीटी दीन
बिजु अस चपल मेअलिआ चाल प्रवीन
पहिले चलिस चिविलिया कोमल चाल
पुनि पल पल अलबेलिया बढ़िस बेहाल[1]

उपर्युक्त पंक्तियों का विकास स्वाभाविक गति से ही अग्रसर हो सका है। 'महिनवा' 'दिनवा' 'दुपहरिया' 'असवरिया' 'असबबवा' 'सबबवा' 'रेयलिया' 'मेअलिया' 'चिविलिया' 'अलबेलिया' तथा अवशिष्ट काव्य में इस प्रकार के प्रयोगों ने इस काव्य को बड़ा ही मधुर और ललित बना दिया है। इस प्रकार के प्रयोग कवि द्वारा 'अल्पार्थ' में और कहीं-कहीं विनोद में भी प्रयुक्त किये हैं। 'महीना' की अपेक्षा 'महिनवा', दिन की अपेक्षा 'दिनवा' एवं 'दोपहरी' की अपेक्षा 'दुपहरिया' आदि में अधिक सारल्य एवं माधुर्य है। इन [illegible] नवीन प्रयोगों में मूल शब्दों की अपेक्षा उच्चारण में कम प्रयास नहीं करना पड़ता है; परन्तु दीर्घ आकारान्त और ईकारान्त आदि लघु होकर मुख के लिये 'सुकरता' अवश्य सृजित कर देते हैं, जिससे शब्दों के उच्चारण में किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं होता।

इन प्रयोगों के सम्बन्ध में पाठक जी के ज्येष्ठ पुत्र श्री गिरिधर पाठक का निम्न कथन है—

इस बरवा में पूर्वीय प्रयोगों का प्राधान्य है और 'वा' प्रत्यय का अप्रतिरुद्ध व्यवहार किया गया है। यही इस पद्य की विशेषता है। सामान्यतः 'वा' प्रत्यय का प्रयोग अल्पार्थ में हुआ करता है जो कि इसका प्रकृति प्रयोजन है; परन्तु इस पद्य में अधिकतर पाद-पूर्ति वा विनोद-वृद्धि की दृष्टि से इसे स्थान दिया गया है। कहीं-कहीं स्नेह वा वात्सल्य दुग्ध भी इस विचित्र कामधेनु से दुहा गया है और कहीं कोई और प्रयोजन भी निकाला गया है। × × × 'वा'

---

१. देहरादून (पंक्तियाँ १–१०)।

प्रत्यय स्वयं दीर्घाकारान्त होकर अपने पूर्व वर्णों को ह्रस्व कर देने की सिद्धि रखता है अर्थात् जिस शब्द के अन्त में यह युक्त किया जाता है उसके शेष स्वरों को यदि वे दीर्घ हों, ह्रस्व बना देता है। अकारान्त और आकारान्त पुल्लिग शब्दों के साथ प्राय: इसका प्रयोग होता है। इकारान्तों के साथ यह 'या' हो जाता है और उकारान्तों के साथ 'आ'; अकारान्त और आकारान्त स्त्रीलिंगों के साथ यह 'इया' रूप धारण कर लेता है।[1]

पाठक जी ने सनातनी वातावरण में जन्म लिया था और उसी प्रकार के पारिवारिक वातावरण में वह तब भी रह रहे थे, तथापि ऐसे रूढ़िवादी वायुमंडल ने उनको सीमित एवं संकुचित दृष्टिकोण का न होने दिया था। उन का हृदय पूर्ण उन्मुक्त था और किसी भी नवीन पदार्थ और व्यवहार का स्वागत करने के लिये वह सदैव प्रस्तुत रहते थे। पाठक जी 'हरि-हिन्द एवं हिन्दी' के परम भक्त थे। उनके प्रति उनकी आस्था उनके सम्पूर्ण काव्यों में छितरायी हुई मिलती है। 'देहरादून' रचना में भी इन्हीं के प्रति उनकी विशेष प्रवृत्तियों का अनुभव होता है। देहरादून जाते हुए सुरसरी के प्रति उनकी निष्ठा है। इसी से गंगा-स्तवन में उनकी वाणी तत्पर दिखलाई पड़ती है।

नमो नमो गिरि-तनया अद्भुत बारि
सुर-धुनि भारत-प्रनया अघ-तरबारि
नमो ब्रह्म-द्रव-रूपिन प्रेम-फुहार
तरल तरंग अनूपिनि गंग-सुधार
तारिनि सगर सुअनवा स्वर्ग-नसैनि
बसहु सदा मो मनवा सर्वसु-दैनि

(देहरादून, ३१-३७ पंक्तियाँ)

देहरादून स्टेशन पर साहिब-मेम, गढ़वाली, कूर्माचली, गोरखा, पंजाबी एवं बंगाली आदि यात्री-समाज उतरता है। उनके मध्य में युक्त प्रदेश के भी बहुत से नर-नारी उतरते हैं। अन्य प्रदेशों के यात्रियों का पाठक जी भावुकता से वर्णन करते हैं; किन्तु युक्त प्रदेश के नर-नारी सद्गुण-विहीन हैं, इसी से 'यहि सन करन बखनवा मन अनखाय'—इन लोगों का रहन-सहन बड़ा पोच है। यद्यपि ये लोग आर्यवंशज हैं, इनके पूर्वजों का नाम दिग्दिगन्त तक

---

१. सम्पादक श्री गिरिधर पाठक, देहरादून—'विवृत्ति', प्रथमावृत्ति, पृष्ठ २।

प्रसिद्ध था; दशरथ, राम और अर्जुन की ये सन्तान हैं तथापि पूर्ण अयोग्य हैं।

उनहिन केर बिरजवा ये सब लोग
पै उन कर पद-रजवा-परस-अजोग
इन महँ कोउ बड़पनवा उन कर नाहिं
भरि रहे अगिन अगुनवा जन जन माहिं
इरखा द्वेस दुसहवा द्रोह दु-भाव
कुत्सा क्लेस कलहवा क्रोध कु-भाव
खान पान परहेजवा छूआ छूत
भोज अभोज सुभोजवा पूत अपूत
'आठ मनुख नौ चुल्हवा' सुविदित बात
अकथ-क्लेस-दुख-मुलवा जग विख्यात
अस अस दुसह सहसवा दोसवा—श्रैनि
करि रही तहस-नहसवा दिन अरु रैनि
इहि कारन यह देसवा सब महँ दीन
कुमति-अधीन असेसवा बुधि-बल-हीन
पै दुख-दूरि-करनवा कोउ न उपाय
है हरि पीर-हरनवा होउ सहाय।

पाठक जी देश में प्रसारित बुराइयों के लिये दुखी हैं। उनका राष्ट्रीय हृदय यह भले प्रकार समझता है कि देश इन्हीं बुराइयों के कारण पतन के गर्त में गिरेगा, साथ में वह यह भी समझते हैं कि भारत में कोई ऐसी शक्ति भी नहीं है जो पतनोन्मुख देश को मुक्त करने में समर्थ हो सके। इसी से आस्था-युक्त होकर उन्हें ईश्वर से प्रार्थना करनी पड़ती है—'हे हरि पीर-हरनवा होउ सहाय।'

देहरादून से मसूरी शहर अत्यधिक दूर होते हुए भी दर्शनीय है। मध्य में हिम की श्रेणियाँ एवं वन आदि सभी प्रकार से सुशोभित हैं। श्याम-घनों के आगमन से वहाँ का दृश्य बड़ा ही लुभावना और सुहावना हो जाता है। यह मनोहर दृश्य केवल वर्षाऋतु में ही दृष्टिगोचर न होकर अन्य ऋतुओं में भी होते हैं। कवि ने इस स्थल पर आलंकारिक मनोहारी भाषा में चित्रण प्रस्तुत किया है :—

पुनि जब स्याम सघनवा घन घुमड़ात
गिरि बन सिखर भवनवा सबहि दुरात
पल पल चमकु बिजुरिया छुपि छुपि जात
मनु कोउ सुरग मेहरिया उझकि लुकात
कहुँ सुठि सोत ललरिया सम लहरात
मनु सुचि सखी चुनरिया-कोर लखात

*　　*　　*

कहुँ कहुँ ओट बदरवा करति उजास
जिमि सागर बिच बड़वा-अनल-अभास

*　　*　　*

घिरि घिरि अभ्र-अनिकवा इमि रमनीक
बाढ़ति अधिक अधिकवा लागति नीक ।[1]

पाठक जी का यह संश्लिष्ट प्रकृति-चित्रण भी लोक-भाषा की सरसता के साहचर्य से काव्य की स्वच्छन्द भावना को पुष्ट करता है। फिर नारी-परक उत्प्रेक्षाओं के द्वारा काव्य की कोमलता में और भी वृद्धि हो गई है।

पाठक जी ने देहरादून में ठहरकर सभी दर्शनीय स्थानों को देखा और प्राकृतिक सौन्दर्य का उपभोग भी किया ; किन्तु उनका खांसी का रोग शान्त न हुआ। अन्त में वह शिमला चले गये—

साँसहि तनिहुँ नहिँन भा जब आराम
कियेउँ प्रनाम देहरवा-देहरि-धाम
शिमला शैल सुरतवा करि गुन-ग्राम
प्रस्थित भएउँ तुरतवा तब तिहि ठाम।

(पंक्तियाँ ४३६-४४२)

उपर्युक्त उद्धरणों एवं विवेचना को देखने से यह पूर्ण स्पष्ट है कि यह काव्य अपने उद्देश्यों एवं अभिव्यंजना-पद्धति आदि किसी दृष्टिकोण में सीमित नहीं है। काव्य को सर्व-सुलभ करना स्वच्छन्दतावादी काव्य की मूल प्रवृत्ति

---

१. देहरादून, पृष्ठ २४-२५-२६।

होती है। पाठक जी के अवशिष्ट काव्यों की अपेक्षा 'देहरादून' में यह प्रवृत्ति अधिक उपलब्ध है। इसीलिये इस काव्य को स्वच्छन्दतावादी काव्य के अन्तर्गत रखा जा सकता है।

श्री गोपिका गीत (रचना-काल—आश्विन कृष्ण १०, १९७३ वि०)

रामायण और महाभारत महाकाव्यों के नायक राम और कृष्ण से भारतीय संस्कृति एवं उसकी विचारधारा को काफ़ी बल मिला है। इनके मर्यादापूर्ण एवं सामाजिक चरित्रों की महत्ता के कारण मध्यकाल में देश उनसे अनुप्रेरित ही नहीं रहा; किन्तु संस्कृति और सभ्यता को संरक्षित किये हुए अपने को गौरवान्वित भी कर सका। राम का मर्यादित चरित्र आदर्श आचरण के उपादान प्रस्तुत कर सका जब कृष्ण की सुरीली बांसुरी की तान जिज्ञासुओं को दार्शनिक भक्ति और प्रेम का पाठ पढ़ाने में भी समर्थ हो सकी। इसी से देश का मध्यकाल राम और कृष्णमय है। इन्हीं के आशीर्वाद से भारतीयता और हिन्दुत्व अब तक अक्षुण्ण हैं।

कृष्ण का चरित्र राम के चरित्र की अपेक्षा अधिक लोकप्रिय और सरस रहा। फलतः भक्ति और भावना के क्षेत्र में प्रथम द्वितीय से अग्रणी रहा। सम्पूर्ण अष्टछाप के कवियों के काव्य की मधुर म[illegible], [illegible]-काव्य की प्रेममयी वाणी की सरस सरसी तथा घनानन्द, पद्माकर एवं रत्नाकर आदि के काव्य की कोमल-कान्त-पदावली की लुभावनी छटा कृष्ण के कारण ही कृतकार्य हो सकी। कृष्ण का चरित्र श्रीमद्भागवत में विस्तृत रूप से है। भागवत् का दशम स्कन्ध केवल कृष्ण-गाथा को ही प्रस्तुत करता है। इसी से सम्पूर्ण कृष्ण-भक्त कवियों ने इसी स्कन्ध के भक्तिमूलक कथानक को अपने काव्य का विषय बनाया।

भागवतकार ने कहा भी है—

तव कथामृतं तप्त जीवनं
कविभिरीडितं कल्मषापहम्
श्रवण मंगलं श्रीमदाततं
भुवि गृणन्ति ते भूरिदा जनाः ॥

(श्रीमद्भागवत, दशम स्कन्ध, अ० ३१–९)

कृष्ण के चरित्र की इस महत्ता के कारण ही भारतीय वातावरण ने उस का सदैव स्वागत किया है।

श्रीधर पाठक जी के प्रपितामह, पितामह एवं उनके पिता भगवद्भक्त थे। उनमें 'ईश्वरे निश्चला भक्तिः' थी जो परम्परागत रूप से उत्तराधिकार में श्रीधर पाठक जी को भी मिली थी। भक्तिमूलक परिवार में जन्म लेने के कारण पाठक जी के संस्कारों पर भक्ति-भावना का प्रभाव पड़ा था और अपने पिता की प्रसन्नता के लिये वह भक्तिपरक कविताएँ लिखा करते थे।

'श्री गोपिका गीत' श्रीमद्भागवत के दशम स्कन्ध का इकतीसवाँ अध्याय है। रास-क्रीड़ा में कृष्ण ने अपनी आत्मा गोपियों को आनन्द-विभोर कर दिया। इस रस-प्लावन काल में ही वह सहसा अन्तर्द्धान हो जाते हैं। सहचरत्व के नष्ट हो जाने से गोपियों के लिये दारुण वियोग उपस्थित हो जाता है। वह रोती-कलपती कृष्ण के चरणों का अनुसरण करती हुई उन्हें ढूँढ़ती हैं तथा अन्धकार-वृद्धि से कृष्णमय गोपिकाएँ निराश हो जाती हैं। श्रीकृष्ण की भावना में डूबी हुई गोपिकाएँ यमुना के पुलिन पर लौट आती हैं और समवेत स्वर से श्रीकृष्ण के गुणों का गान करने लगती हैं। गोपियों के यह गीत ही 'श्री गोपिका गीत' की काव्य-सामग्री है। इस अवसर पर कृष्ण के व्यष्टिगत और समष्टिगत किये हुए उपकारों को वे स्मरण करती हैं। उनका स्नेह और दुलार जो गोपियों का प्राणाधार ही रहा उसका बखान अपने तप्त हृदय की व्यथा से करती हैं। उनका विश्वास है कि कृष्ण का यह चरित्र विश्व का मंगल करने के लिये है। इसी से वे जीवित हैं और अन्त तक जीवित रहेंगी।

उपर्युक्त भाव-धारा लेकर ही पाठक जी ने अपने 'श्री गोपिका गीत' को प्रस्तुत किया है। कवि ने बालकृष्ण भट्ट के लिए लिखित 'समुपस्थिति' में इस काव्य के सम्बन्ध में लिखा भी है—'इसमें मूल बहुत छूट गया है, पर शायद कुछ बड़ा बिगाड़ नहीं हुआ, उसकी छाया बहुत कुछ आ गई है।' पाठक जी के इस स्वच्छन्द छायानुवाद से निस्सन्देह भागवत की भक्ति-भावना की रक्षा ही हो सकी है। मूल में गोपियों के गान में जिस उद्दाम भक्ति का स्रोत उमड़ा है, भुक्तभोगी होने के कारण उनके अन्तरतम का समर्पण जिस सरलता एवं स्वाभाविकता से व्यक्त हो सका है और जिस अभिन्नता से अपने लाड़ले के लिये रुदन करती हुई वे उसकी बलैया ले सकी हैं—वह पाठक जी के काव्य में अवश्य ही उपलब्ध नहीं हो पाता तथापि गोपियों के मानस-पटल के अनुराग को व्यक्त करने में उनकी वाणी असफल नहीं है। बड़ी विनम्रता से अपने उन्मन चित्त की अनुरागमयी भावनाओं को वे व्यक्त कर सकी हैं, जिनमें मर्यादा एवं नारी-

सुलभ वियोग-जनित करुण व्यथा की अभिव्यक्ति हैं ।

कृष्ण के जन्म से ब्रज-प्रदेश सुखी तथा धन्य हुआ और जब 'गरल आप', 'व्याल ताप', 'जलद बात' एवं 'वज्रपात' आदि से उसका सर्व-प्रकारेण संरक्षण हुआ तब उसे कृतकार्य हो ही जाना चाहिए था । उपकार के साथ आकर्षण के लिये उनमें सौन्दर्य और प्रेम की माधुरी भी थी । इससे गोप और गोपियों की अन्तरात्माएँ अपने लाड़ले के लिये ललक ही उठनी चाहिए थीं । गोपियों के संयोग का जीवन आनन्द का था—रास-क्रीड़ा का सुधामय था—उस रास-माधुरी में वियोग का जीवन कैसे गरलमय न हो जाता । अन्ततः गोपियाँ मानवीय थीं और तज्जनित विकार अपने मानस में छिपाये थीं—

> महर नन्द का पुत्र तू नहीं
> निखिल सृष्टि का साक्षि रूप है ।
> उदित हुआ वृष्णि-वंश में
> व्यथित विश्व के त्राण के लिये ।। (४)

जब कृष्ण का चरित्र विश्व के मंगल के लिए महत्तम है फिर गोपियों के पक्ष में इतनी निष्ठुरता और उदासीनता उनका स्वयं का दुर्भाग्य ही कहा जावेगा, इसी से उनके दर्शनों के लिए वे आकुल हैं ।

> स्वजन-वृन्द के क्लेश हैं हरे
> सुकृत हैं करे वीरता-भरे
> हम प्रभो ! तेरी प्रेम-किंकरी
> बदन-चंद का दर्श चारु दे । (६)

इस अनुरागमय जीवन के लिए गोपियों को बहुत कुछ सहन करना पड़ा, फिर भी वह विश्वासी अपने विश्वास को न निभा सका ।

> पति सुतादि की लाज छाँड़ के
> तव समीप हैं आगईं छली ।
> मधुर गीत से मोह के हमें
> उचित है अहो त्यागना नहीं । (१६)

'छली' शब्द के प्रयोग में गोपियों के प्रेम की निष्कपट भावना व्यक्त हो उठी है । उनका अपना समर्पण अन्तरात्मा से निस्वार्थ था । वे क्या समझती थीं कि उनका प्रेमी इस प्रकार वियोग द्वारा उनके हृदय पर आघात देकर

अपनी दारुण निष्ठुरता का व्यवहार करेगा।

अपनी वाणी में गोपियाँ अपने प्रियतम के लिए करुण व्यथा छिपाये हैं। उसके निष्करुण व्यवहार के लिए उनके हृदय में जो पीड़ा है उसका अनुभव करके दर्शन के लिए याचना करना गोपियों के पक्ष की बड़ी बात है। हम कहें तो कह सकते हैं कि इस स्थल पर भी नारी का चिरन्तन नारीत्व युगों-युगों की विनम्रता और शालीनता लिए खड़ा है। पाठक जी इस छायानुवाद द्वारा भागवत्कार की मूल भावनाओं को संरक्षण प्रदान करने में अवश्य ही सफल हो सके हैं, इसमें सन्देह नहीं।

भागवत्कार ने गोपियों को कृष्ण की आत्मा कहकर अपने प्रियतम में एकाकार हो जाने के लिए उनकी आकुलता की स्वाभाविकता को प्रमाणित किया है। वस्तुतः इस भावना से भागवत का अध्ययन करने में विशेष आनन्द मिल सकता है। यदि हम उनके आत्मा-परमात्मा के सम्बन्ध को छोड़ भी दें तो हमें उनके उदात्त प्रेम की अनुभूति होती है, जो विश्व में स्वाभाविक भी है। इस प्रकार 'श्री गोपिका गीत' में वर्णित प्रेम भी स्वच्छन्दतावादी भावना का पूर्ण स्वरूप प्रस्तुत करता है, इसमें संदेह नहीं।

काव्य-रचना के दृष्टिकोण से १-२-५-८-१०-११ और १२ संख्या के छन्दों में अवश्य पाठ-दोष है। सर्वत्र 'तेरे' शब्द के प्रयोग में ही त्रुटि है। इस दोष को पाठक जी स्वयं जानते थे। इसी से पाठ-क्रम में उन्होंने स्पष्ट लिख दिया है "लघु के स्थान में व्यवहृत गुरु लघुवत उच्चार्य।" तेरे (ऽऽ) के स्थान पर कवि (।ऽ) अपेक्षित समझता है। समश्लोकी छन्द के प्रयोग में कवि ने संस्कृत श्लोक का ही प्रयोग नहीं किया है; परन्तु उस तुकान्त के युग में भी उन्होंने उसे अतुकान्त ही रखा है। भाषा के सम्बन्ध में भी कवि ने युग की माँग के अनुसार खड़ी बोली का ही प्रयोग किया है। "साथ ही खड़ी हिन्दी सामने खड़ी दृष्टि पड़ी और उसमें जो प्रथम श्लोक बना वह अच्छा लगा।" साथ ही संयत अनुप्रासमयी भाषा के प्रयोग से काव्य में यत्र-तत्र काव्य-सौष्ठव भी विद्यमान है।

भारत गीत (रचना-काल—द्वि० संस्करण १९८५ वि०)

हिन्दी काव्य की राष्ट्रीयता का प्रारम्भिक स्वरूप भारतेन्दु-युग में स्पष्ट परिलक्षित होता है, जिसका संकेत यथास्थल दिया जा चुका है। जिस प्रकार आधुनिक हिन्दी-साहित्य की प्रगति के लिए मुख्यतः सभी प्रवृत्तियों का नेतृत्व स्वयं भारतेन्दु जी करते हैं, उसी प्रकार राष्ट्रीयता की गतिविधि का प्रस्फुटन

भी उन्हीं के द्वारा हुआ है। उस युग के बदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन', प्रताप नारायण मिश्र एवं राधाकृष्ण आदि सभी कवियों में यह प्रवृत्ति विद्यमान है।

श्रीधर पाठक भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युग के मध्य की एक महत्वपूर्ण कड़ी हैं। वह भारतेन्दु-युग के अभ्युदयशील कवियों में से थे। इससे राष्ट्रीयता की भावना उन्हें भी अभिप्रेरित किये बिना न रह सकी। पाठक जी ने अपनी भक्ति-भावना और प्रतिभा से उसे यथासाध्य पुष्ट किया और द्विवेदी-युग की राष्ट्रीय प्रगति के लिए उत्कृष्ट आदर्श रक्खा। कालान्तर में माखनलाल चतुर्वेदी एवं मैथिलीशरण गुप्त द्वारा देश के राष्ट्रीय संघर्ष के साथ-साथ यह भावना पूर्ण उत्कर्ष को प्राप्त हुई। पाठक जी में देश-भक्ति की यह भावना थी—

वन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज-अभिमानी हों।
बाँधवता में बँधे, परस्पर परता के अज्ञानी हों॥
निन्दनीय वह देश, जहाँ के देशी निज-अज्ञानी हों।
सब प्रकार पर-तन्त्र पराई प्रभुता के अभिमानी हों॥[1]

देश के प्रति स्वाभिमान रखना और एकता के सूत्र में बँधे रहना—राष्ट्रीयता के सम्पोषण के लिए पाठक जी इन्हें परमावश्यक समझते हैं; किन्तु यही भावना आगे चलकर 'भारत-भारती' में मानवमात्र को यों चुनौती दे रही है—

जिसको न निज गौरव तथा निज देश का अभिमान है।
वह नर नहीं, नर पशु निरा है और मृतक समान है॥

उनका 'भारत-गीत', यों देश-भक्ति के गीतों का संग्रह है; किन्तु इस काव्य के द्वितीय संस्करण में 'भ्रमर-गीत' एवं 'चरगीत' संग्रहीत कर दिए गए हैं और परिशिष्ट १ तथा २ में क्रमशः 'विज्ञान-मंगल', 'सान्ध्य अटन', 'आर्य महिला' एवं मजदूरनियों के गाने योग्य देश-भक्तिपरक गीत भी सम्मिलित कर दिए गए हैं। इन रचनाओं में राष्ट्रीय भावना के गीतों से विषयान्तर हो गया है जिनकी अपनी अलग महत्ता है। इन भारत-गीतों के अध्ययन से पाठक जी की राष्ट्रीयता-परक निम्न प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ता है—

(१) देश के प्रति पूज्य भावनाओं का आरोप।
(२) देश के अतीत गौरव एवं वर्तमान की शोचनीय परिस्थितियों का ज्ञान।
(३) देश के प्राकृतिक सौन्दर्य एवं अन्य विभूतियों का उल्लेख।

---

१. श्रीधर पाठक—भारत गीत, स्मरणीय भाव, पृष्ठ २५, द्वि० संस्करण १९८५ वि० (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।

(४) सुषुप्त देश व देशवासियों के उत्थान के लिए सम्यक् चेतावनी आदि-आदि।

(१) मातृभूमि का हृदय विशाल और उसकी भावनाएँ उदार होती हैं। देश की क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर सभी के लिए स्वतन्त्र रूप से उन्मुक्त हैं। सभी अपनी अभिरुचि के अनुकूल उनका उपभोग करते हैं और उसी के अन्न-जल से पोषित होकर बलवान होते हैं। इससे मातृ-भूमि के प्रति पूज्य भावना का होना स्वाभाविक ही है :—

त्रिभुवन-वंद्य भारत-धाम
त्रिजग-सम्पति-सुकृत-सुख-थल, त्रिजग-छवि-अभिराम।[1]

बंदहुँ मातृ-भारत-धरनि
सकल-जग-सुख-श्रैनि, सुखमा-सुमति-संपति-सरनि
ज्ञान-धन, विज्ञान-धन-निधि, प्रेम-निर्भर-झरनि
त्रिजग-पावन-हृदय-भावन,-भाव-जन-मन-भरनि
बन्दहुँ मातृ-भारत-धरनि।[2]

पाठक जी अपने देश के केवल अभिनन्दन से ही सन्तुष्ट न होकर विश्व की तुलना में उसे श्रेष्ठ ठहराकर उसके गौरव की अभिवृद्धि भी करते हैं। सभ्यता और संस्कृति के सम्बन्ध में भारत को विश्व-जननी का गौरव प्राप्त हो रहा है, इससे इस प्रकार का कथन अतिशयोक्ति-पूर्ण भी नहीं है :—

जय अति सुन्दर, जय सुख-कन्दरि
जगत-जोति, जग-सृष्टि-धुरन्धरि
श्रीधर प्रनत प्रान बलिहारी
जय जय भारत भूमि हमारी।[3]

प्यारा देश जय देशेष
अजय अशेष, सदय विशेष
जहाँ न सम्भव अघ का लेश

---

१. श्रीधर पाठक—भारत गीत, भारत धाम, पृष्ठ २०।
२. ,, ,, भारत धरनि, पृष्ठ २१।
३. ,, ,, भारत भूमि, पृष्ठ २३।

सम्भव केवल पुण्य-प्रवेश
जय जय प्यारा भारत-देश ।[1]

पाठक जी ने तुलसी की 'श्री रामचन्द्र कृपाल भजु मन हरण भव-भय दारुणम्' की पद्धति पर ही 'नौमि भारतम्' और 'भारत वन्दना' लिखी हैं और अभिनव जयदेव की 'गीत गोविन्द' की अनुस्वारान्तमयी मधुर शैली में 'भारताष्टक', 'भारत स्तव' एवं 'स्वदेश पंचक' आदि लिखे हैं ।

१. सुख-धाम, अति-अभिराम-गुण-निधि, नौमि नित प्रिय भारतम्
सुठि सकल-जग संसेव्य सुभ-थल, सकल-जग-सेवा-रतम् ।[2]

२. भजे भारतम् चारु-शोभाऽभिरामम्
शुभं, शाश्वतं, भारती-भव्य-धामम्
पदं पैतृकं मातृपीठं ललामम्
सदा संदधेऽहं मुदा पुण्य-नामम् ।[3]

उपर्युक्त उदाहरणों में प्रथम तुलसी की और द्वितीय अभिनव जयदेव की काव्य-पद्धति पर रचित है ।

(२) देश के अतीत के गौरव के साथ वर्तमान की शोचनीय परिस्थितियों के चित्रण भी राष्ट्रीय भावनाओं में बड़े सार्थक होते हैं । एक से उत्कर्ष द्वितीय से अपकर्ष दिखलाकर कवि पाठक की सहानुभूति का अधिकारी हो जाता है । उत्कर्ष में जहाँ स्वाभिमान और अहंकार आ जाता है अपकर्षण में उन्हीं पर आघात लगने लगता है, जिससे पाठक तिलमिला जाता है । उसकी उस करुण स्थिति में ही देश के उत्थान और पतन की बात कहकर कवि उसमें देशभक्ति की स्थायी भावना जगा देता है :—

उन्नत-मन, अति उदार, साधन-धन-सिद्धि-द्वार
जतन-रतन-निधि अपार, दीन दीनताऽरी
सुर-तरु कैं कामधैनु, कै हर सुख माँग-दैनु
धन-पति-भँडार ऐन, जासु जग भिखारी
यूरप, अफगान-पाल, जाचक कीन्हें निहाल
विश्वपाल, कै गोपाल नटवर गरधारी

---

१. श्रीधर पाठक, भारतगीत, देशगीत, पृष्ठ २६ ।
२. " " नौमि भारतम्, पृष्ठ ३३ ।
३. " " भारताष्टक, पृष्ठ ३६ ।

कै यह कोई कमल-फूल, कोमल आनन्द-मूल
धूल हेत रूस हूस, भौंर भीर भारी।[1]

अपनी सम्पन्नता और उदारता से भारत ने सभी ही देशों को जो उसके संसर्ग में आये हैं, उपकृत किया है; किन्तु कालान्तर में उसके दुर्भाग्य ने उसे पतन के गर्त में गिराकर उसके सौभाग्य को छीन ही लिया।

प्रेम का था यह आदि निवास।
सभ्यता, विद्या का घर खास॥
प्राप्त था सब सुख बिना प्रयास।
व्याप्त था विक्रम विभव विकास॥
द्रोह के पथ में नहीं पड़े।
बिछड़ने वाले यों बिछड़े।
पिछड़ने वाले यों पिछड़े॥

* * *

उन्होंने लेकिन यह क्या किया।
किए पर एक दम चौका दिया॥
स्नेहरस छाँड़ द्रोह-मद पिया।
प्रेम का गला घोट बिस दिया॥
गिरे हो औंधे खोद गढ़े॥
बिछड़ने वाले यों बिछड़े।
पिछड़ने वाले यों पिछड़े॥

* * *

शीघ्र ही बड़ा देश का क्लेश।
बदल गई सूरत बिगड़ा देश॥
मेल का नाम हुआ निश्शेष।
फूट का धाम हो चला देश॥
पुण्य के फिसल पाँव बिछड़े॥
बिछड़ने वाले यों बिछड़े।
पिछड़ने वाले यों पिछड़े॥[2]

---

१. श्रीधर पाठक—भारत गीत, भारत-प्रशंसा, पृष्ठ ४९।
२. ,, ,, बिछड़ने वाले यों बिछड़े, पृष्ठ ९१-९२।

ऐसा कौन-सा व्यक्ति होगा जो देश के इस प्रकार के पतन की करुण गाथा सुनकर उसको पुनः गौरव-युक्त करने के लिए प्रोत्साहित न हो उठे। राष्ट्रीय कवि-कर्म की यही सार्थकता है— जिसमें पाठक जी पूर्ण सफल हैं।

(३) एक देश-भक्त के लिए अपने देश का कण-कण तक पूज्य होता है। मातृभूमि के उपकारों से उपकृत भावुक उसकी रजकण तक में प्यार-भरी मुस्कान और जीवन का अमर संदेश प्राप्त कर फूला नहीं समाता। वह उसके वन, पर्वत, नदी, नद और नाले में विशुद्ध प्रकृति का साहचर्य अनुभव कर तृप्त हो जाता है और उसकी वाणी उनके अनुपमेय सौन्दर्य के मिस देश का गुण-गान गा उठती है।

भारत हमारा कैसा सुन्दर सुहा रहा है।
शुचि भाल पै हिमाचल, चरणों पै सिन्धु-अंचल
उर पर विशाल-सरिता-सित-हीर-हार-चंचल
मणि-बद्ध-नील-नभ का, विस्तीर्ण-पट अचंचल
सारा सुदृश-वैभव मन को लुभा रहा है।।[1]

* * *

सेत हिमगिरि, सुपय सुरसरि, तेज-तप-मय तरनि
सरित-वन-कृषि-भरित-भुवि-छवि-सरस-कवि-मति हरनि
बंदहुँ मातृ-भारत-धरनि।[2]

प्रकृति-चित्रण के साथ-साथ कवि भारत की महान विभूतियों को भी स्मरण करता है। कृष्ण, राम एवं बुद्ध आदि का वर्णन करते हुए पाठक जी निम्नलिखित विभूतियों को अपने काव्य का विषय बनाते हैं।

त्यों नृप विक्रम, अशोक, कीरति-सुरभित-त्रिलोक
दीने अघ पुंज रोकि पुण्य-डोर डारी
शंकर, नानक, जुगिन्द त्यों ही श्री गुरु-गुविन्द
अन्तिम मुनि दयानन्द सुमिरत सुख भारी
जय-जय भुवि-भार-हरन, भारत-हितकारी।[3]

---

१. श्रीधर पाठक, भारत गीत, सुन्दर भारत, पृष्ठ ६५।
२. " " भारत-धरनि, पृष्ठ २१।
३. " " भारत-हितकारी, पृष्ठ ६१।

इसी प्रकार 'हिन्दी-हितकारी' के अन्तर्गत पाठक जी हिन्दी के नवरत्न कवियों का स्मरण करते हैं।

(४) अतीत में यह देश गौरव, अपनी सभ्यता और संस्कृति में विश्व के शीर्ष पर रहा। अब पराधीनता में इसका इतना अधःपतन हुआ कि अब गर्व करने के योग्य भारत में उसके पास कुछ भी नहीं। सम्पन्नता के स्थान पर निर्धनता का करुण-व्यंग—उसी के बच्चे दाने-दाने के लिए तरसें, सभ्यता और संस्कृति के स्थान पर अनैतिकता और अज्ञानता का आधिपत्य—उसी के सपूत कपूत कहलाये जाकर पग-पग पर ठोकरें खाएँ, सभी प्रकार से स्वतन्त्र और देवभूमि का दम भरने वाली भूमि अब परतन्त्र हो अपने दुर्भाग्य के लिए आठ-आठ आँसू रोये और विश्व में अपमानित हो—यह परिस्थितियाँ देश के लिये महान व्यथापूर्ण और निराशाजनक थीं। पाठक जी का भावुक हृदय देश के इन मार्मिक पतनों से तिलमिला उठा। इसके सम्मान की रक्षा के लिए देश और देश-वासियों को जागरूक करने के लिए उन्होंने अपनी वाणी से प्रेरणा-प्रद और उत्साह-वर्द्धक शंखनाद किया :—

> **भारत, चेतहु नींद निवारौ**
> **बीती निशा उदित भये दिन-मनि कबकौ भयौ सकारौ**
> **निरखहु यह शोभा-प्रभात वर प्रभा, भानु की अद्‌भुत**
> **किहि प्रकार क्रीड़ा-कलोल-मय विहग करहिं प्रात-स्तुत**
>
> * * *
>
> **गहरी नींद परे मत सोवहु, बात हमारी मानहु**
> **"सोय खोय जागत पावत" जग-कहन सत्य अनुमानहु।**[1]

निस्संदेह भारत अपनी भारतीयता को भूल जाने के कारण ही संसार में इतना निन्द्य हो गया अन्यथा कौन देश उसकी तुलना में खड़ा हो सकता था। इसी से 'सोय खोय जागत पावत' प्रोक्ति द्वारा कवि ने पुनः उसे जाग्रत रहने का संदेश सुनाया है।

नवयुवक छात्र-वृन्द किसी भी राष्ट्र की आशा हैं। यदि वे अपने कर्त्तव्य को यथोचित रूप से समझ लेते हैं तो देश का दुर्भाग्य सौभाग्य में परिणत हो सकता है, इसमें सन्देह नहीं। कवि ने इस दारुण परिस्थिति से देश को मुक्त करने के लिए उन्हें भी सचेत किया है:—

---

१. श्रीधर पाठक, भारत गीत, भारतोत्थान, पृष्ठ ५१।

ए हो ! नवयुववर, प्रिय छात्र-वृन्द
भारत-हृदि-नन्दन, आनन्द-कन्द

* * *

शैशव-गुन-सम्भव, नव नव तरंग
नव वय, नव विद्या, नव-युव-उमंग
बाढ़हु भुवि स्वर्गिक सेवा के हेतु
फहरै जग भारत कीरत कौ केतु।[1]

आगे 'चरगीत' के अन्तर्गत भी पाठक जी चरों को देश-व्रत का पाठ ही पढ़ाते हैं :—

मन में अटल देश-व्रत भरले
तन में अतुल तेज-बल भरले
शुभ संकल्प प्रेम-प्रण करले
तज दे छल-छन्दे।
द्वेष के तज दे छल-छन्दे ॥
देश की सेवा कर बन्दे ॥[2]

पाठक जी की राष्ट्रीय प्रवृत्ति के इस संक्षिप्त विवेचन से यह विश्वासपूर्वक कहा जा सकता है कि भारतेन्दु-युग में जिस राष्ट्रीय भावना का प्रस्फुटन हुआ था उसकी अपेक्षा पाठक जी की वाणी में अधिक बल और प्रभाव है। भारतेन्दु-युग में इस दृष्टिकोण के सम्बन्ध में सीमित भावनाएँ हैं। राजभक्ति के कारण उस युग के कवि स्वतन्त्रतापूर्वक अधिक कहने में समर्थ भी न हो सके थे; किन्तु पाठक जी के काव्य में इस संकीर्ण भावना का परित्याग मिलता है। इस प्रकार पाठक जी की वाणी ने राष्ट्रीयता को नव-जीवन से प्रतिष्ठित कर द्विवेदी-युग में अधिक स्वच्छन्दता से खेलने का अवसर प्रदान किया है। अनन्तर मैथिलीशरण गुप्त एवं माखनलाल चतुर्वेदी ने अपने राष्ट्रीय चिन्तनों द्वारा इसे शीर्ष स्थान पर पहुँचा दिया।

स—पाठक जी का गद्य-साहित्य

मूलतः निबन्ध का आलोच्य विषय १८७५ ई० से १९२५ ई० तक की स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति पर दृष्टिपात करना है। इस भावना के कारण

१. श्रीधर पाठक—भारतगीत, भारत सुत, पृष्ठ ५५।
२. „ „ चरगीत, पृष्ठ १२६।

ही उपर्युक्त अर्द्ध शताब्दी के मध्यकाल में उसकी प्रगति का विवेचन करने का विनम्र प्रयास किया गया है। भारतेन्दु-युग में स्वच्छन्दतावादी भावना अंकुरित होकर पं० श्रीधर पाठक द्वारा पोषित हुई। अनन्तर द्विवेदी-युग में उसकी संकीर्ण एवं परम्परावादी भावनाओं द्वारा उसके विकास में व्याघात लगने पर भी पाठक जी द्वारा उसे जीवन-दान मिलता रहा। काव्य का यह संपोषण १९२५ ई० तक चला। अनन्तर काव्य का यह स्वच्छन्दतावाद छायावाद में बदल गया। सम्पूर्ण निबन्ध इन्हीं काव्य-प्रगतियों पर आधारित होने के कारण इन पर ही प्रकाश डालता है। विषय काव्य से सम्बन्धित है; इससे किसी स्थल पर भी गद्य-साहित्य की प्रगति को विवेचन का विषय नहीं बनाया गया है।

आलोच्य विषय के अनुसार पाठक जी की कृतियों का अनुशीलन आवश्यक था, वह विगत पृष्ठों में किया ही जा चुका है। पाठक जी की कृतियों के सफल अनुशीलन के लिए उनका जीवन-वृत्त देना एवं व्यक्तित्व पर प्रकाश डालना भी आवश्यक हो गया। यदि ऐसी दशा में उनके गद्य-साहित्य पर प्रकाश न डाला जाता तो निबन्ध अपूर्ण लगता। केवल इसी प्रलोभन से उनके गद्य-साहित्य पर संक्षेप में प्रकाश डाला जा रहा है। उसे विवेचन न समझकर केवल परिचय ही समझने की चेष्टा की जावेगी।

पाठक जी के गद्य-साहित्य में पूर्ण पुस्तक के रूप में 'तिलिस्माती मुँदरी' (१९१६ ई०) ही उपलब्ध होती है। शेष में छोटे-बड़े उनके अनेकों निबन्ध हैं, जिनके प्रकाशन 'हिन्दी प्रदीप', 'भारतेन्दु' एवं 'ब्राह्मण' पत्रिकाओं में होते रहे हैं। उनके पत्रों की निधि भी बड़ी ही महत्वपूर्ण है। यह पत्र श्री पिन्काट, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त एवं जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी आदि-आदि को लिखे गए थे। यदि यह पत्र प्रकाश में आ जावें तो तत्कालीन साहित्यिक प्रगति पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

पूर्ण पुस्तक होने के कारण 'तिलिस्माती मुँदरी' पर अलग से प्रकाश डाला गया है। 'पाठक जी की कृतियों के सामान्य परिचय' के अन्तर्गत उनके निबन्धों के (१) गम्भीर विवेचना-युक्त निबन्ध, (२) सुधारात्मक निबन्ध एवं (३) चुटकुले एवं मनोरंजनार्थ लिखे निबन्ध तीन विभाग किये गये हैं; किन्तु मैं उन सभी का विवेचन एक साथ ही करूँगा। पाठक जी के पत्र अधिक संख्या में हैं; किन्तु वे अनुपलब्ध हैं इससे उन पर विस्तृत प्रकाश डाल सकना कठिन है।

'तिलिस्माती मुँदरी' (या) (काश्मीर के राजा की लड़की) (रचना काल—७ मार्च, १९१६ ई०)

पाठक जी के गद्य-साहित्य में उनके पत्रों और निबन्धों के साथ उनकी कहानी 'तिलिस्माती मुँदरी' को सन्निविष्ट किया जा सकता है। पाठक-साहित्य में कहानी के नाम पर केवल यही रचना है। इससे उसका महत्व अवश्य बढ़ जाता है। पाठक जी ने 'भारतेन्दु-युग' (१८८७–१८८८ ई०) में इस कहानी को लिखना प्रारम्भ किया था और उसकी समाप्ति 'द्विवेदी-युग' में गद्य-साहित्य के प्रसार के द्वितीय उत्थान (१९५०–७५ वि०) में होती है। इस रचना की इस प्रकार की प्रगति से पाठक जी की युग के साथ रहने वाली प्रवृत्ति का भी पता चल जाता है।

नाटकों एवं निबन्धों की अभिवृद्धि के साथ-साथ 'भारतेन्दु-युग' में उपन्यास लिखने की भी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। कितने ही उपन्यास अंग्रेजी एवं बंगला से अनूदित होकर हिन्दी-जगत् के समक्ष प्रस्तुत हुए। अनूदित उपन्यासों के आदर्श से यथासमय मौलिक उपन्यास भी लिखे गए। लाला श्रीनिवासदास (परीक्षा गुरु), बा० राधाकृष्णदास (निस्सहाय हिन्दू), पं० बालकृष्ण भट्ट (नूतन ब्रह्मचारी) तथा (सौ अजान और एक सुजान) आदि इस युग के मौलिक उपन्यासकार थे। द्विवेदी-युग में आकर उपर्युक्त परम्परा के मेल में ही गोपालराम गहमरी, देवकीनन्दन खत्री एवं किशोरीलाल गोस्वामी आदि के नाम लिए जा सकते हैं। उन्होंने चटपटी और सरल भाषा में जासूसी उपन्यास भी लिखे थे। पाठक जी के इस उपन्यास का आधार वस्तुतः १८६१ ई० की एक अंग्रेजी पत्र में प्रकाशित कहानी है।

'तिलिस्माती मुँदरी' में नौ अध्याय हैं। पाठक जी ने इसमें हिन्दुस्तानी भाषा का ही प्रयोग किया है। इसी से इसमें फ़ारसी और अरबी के शब्दों का आजाना स्वाभाविक है। अरबी और फ़ारसी के शब्दों के सम्बन्ध में पाठक जी का कथन है कि "इस कारण वह (अरबी-फ़ारसी के शब्द) हिन्दी के कुनबे में सम्मिलित हैं और उनका हिन्दी पुस्तकों में विशेषकर कहानी की पुस्तकों में व्यवहार करना मैं कोई अपराध की बात नहीं समझता।" उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि पाठक जी इसे कहानी का नाम प्रदान करते हैं।

इस कहानी से काश्मीर के राजा का सिंहासनच्युत होना, उसकी दोहती

को मार दिए जाने के चार बार के प्रयास एवं पुनः काश्मीर के राजा का सिंहासनासीन होना आदि घटनाओं का समावेश है। कहानी का स्थल भी केवल एक ही प्रदेश न रहकर, गंगोत्तरी, काश्मीर एवं लाहौर आदि हैं। उपर्युक्त से यह स्पष्ट है कि यह कहानी जीवन-व्यापी समस्या का निरूपण करती है। इससे इसका उद्देश्य लघु न होकर महान है। फलस्वरूप इस कहानी को उपन्यास संज्ञा देना ही उचित होगा।

तत्कालीन प्रकाशित जासूसी उपन्यासों की परम्परा में 'तिलिस्माती मुँदरी' भी एक कड़ी है। इस प्रकार के उपन्यासों में घटनाओं की ही प्रधानता रहती है, चरित्रों की नहीं। फलस्वरूप इस उपन्यास में केवल घटनाएँ ही आकर्षण का विषय हैं, घटनाओं से अनुशासित चरित्र गौण होकर रह गये हैं।

उपर्युक्त विवेचन से इस कहानी को उपन्यास-कोटि में रखना ही उचित होगा। फलस्वरूप उपन्यास-तत्वों के अन्तर्गत इस पर विचार करने से इसके अस्तित्व का मूल्यांकन करने में सुविधा होगी।

कथावस्तु—काश्मीर के राज-सिंहासन से च्युत वहाँ का राजा गंगोत्तरी के किनारे योगी का जीवन व्यतीत करता था। उसने गंगा में गिरे हुए दो कौओं को जीवन-दान दिया। उन्होंने आभारी होकर एक अँगूठी योगी को प्रदान की। योगी पक्षियों की बोली समझने लगा। उसने अपनी प्रिय पुत्री का कुशलवृत्त लाने के लिए कौओं को काश्मीर भेजा। कौओं से अपनी पुत्री के निधन एवं विमाता द्वारा एकमात्र दोहती के प्राण-संकट का दुर्वृत्त प्राप्त कर वह बड़ा दुखी हुआ। उसने कौओं को दोहती की देखभाल के लिए काश्मीर के राजमहल में नियुक्त किया और पक्षियों की बोली समझने के लिए वह प्रदत्त अँगूठी भी दोहती के समीप भेज दी।

दोहती इच्छा होते हुए भी अपने नाना के समीप न पहुँच सकी। राजा के शिकार पर जाने पर विमाता ने बब्बू गुलाम की सहायता से दोहती के प्राण लेने के लिए विष-मिश्रित रोटी दी। पालतू तोता एवं कौए की सहायता से उसके प्राण बचे। विमाता ने खीजकर उसे मारना प्रारम्भ किया। तोता ने विमाता के बच्चे के पास पर्दे में आग लगाकर दोहती को संकट से मुक्त किया। इन प्रिय पक्षियों की सहायता से दोहती महल से भाग निकली। पक्षियों ने उसके भोजन सम्बन्धी तथा अन्य व्यवस्थाएं कीं। दोहती की उँगली से मुँदरी के गिर जाने से उसके लिए पुनः संकट आ गया। अँगूठी विमाता के सिपाही को मिली। वह उसके द्वारा बलात् विमाता के पास पहुँचा दी गई।

विमाता और बब्बू गुलाम की योजना से दोहती के गले में पत्थर बाँधकर उसे झील में गिराया गया; किन्तु पक्षियों एवं माहगीर की सहायता से वह पुनः बच गई। पक्षियों ने पुनः उस दोहती को उसके नाना के पास पहुँचाना चाहा; परन्तु दुर्भाग्य से वह एक कंजरी के हाथ लग गई। वह उसे बेचने लाहौर ले गई। वहाँ कोतवाल की बीवी ने उसे खरीद लिया। समवयस्का होने के कारण कोतवाल की सुपुत्री दयादेयी एवं दोहती (चांदनी) बड़े प्रेम से साथ-साथ रहने लगीं। नाना को अपनी दोहती के सकुशल रहने का समाचार प्राप्त कर बड़ी प्रसन्नता हुई। विमाता ने लाहौर पर आक्रमण किया। प्रत्येक घर की तलाशी हुई। कोतवाल की बीवी एवं दयादेयी की सहायता से दोहती मीनार में छिप गई। काली लौंडी ने यह समाचार शत्रु-पक्ष को दिया। दोहती के स्थान पर दयादेयी लौंडी बना ली गई। दोहती दयादेयी को बचाने के लिए स्वयं बन्दिनी बनी। यह सभी गुलाम और लौंडी काश्मीर भेजे गए। विमाता ने दोहती को देखकर उसे लौंडियों से अलग कर लिया। इसी बीच कौवों का संदेश पाकर योगी वन-उकावों की सहायता से काश्मीर आया। उसने पुनः राज्य प्राप्त किया। विमाता और बब्बू को क्षमा प्रदान की गई। दोहती का विवाह लाहौर के राजकुमार से कर दिया गया। इस नव-दम्पति को काश्मीर का राज्य सौंप कर वह योगाभ्यास के लिए पुनः गंगोत्तरी चला गया। दोहती के पक्षी-मित्र उसके समीप वाटिका में रहने लगे।

उपर्युक्त कथानक से यह पूर्ण स्पष्ट है कि इसमें मानवीय जीवन-तत्व की पूर्ण उपेक्षा कर दी गई है। यथार्थ जीवन से कोसों दूर सम्भावित और असम्भावित घटनाओं से समन्वित यह कहानी परी-देश की कहानी-सी परिलक्षित होती है। इसमें न तो रस-परिपाक ही हो सका है और न उद्देश्य का स्पष्ट निदर्शन ही। घटना-प्रधान यह कहानी केवल घटनाओं का चित्रण करती चली जाती है। मानवीय पात्रों का विकास होने का अवसर ही नहीं आ सका है।

यह अवश्य सत्य है कि इसमें न जासूसी नकाबपोश व्यक्ति दृष्टिगोचर होते हैं न वासनामय प्रेम का माधुर्य है और न जासूसों के हथकंडे ही प्रयुक्त होते दिखाई पड़ते हैं। इन सभी के स्थान पर 'तिलिस्माती मुँदरी' का एकाधिपत्य है। उसके महत्तम प्रभाव को देखकर आश्चर्य-चकित हुए बिना नहीं रहा जाता। हंसों द्वारा दोहती का झील पार करना, उल्लू और उल्लुन की सहायता से दोहती का मीनार से उतरना एवं वन्य उकावों की सहायता से योगी का गंगोत्तरी से काश्मीर पहुँचना आदि ऐसी घटनाएँ हैं, जो मानवेतर हैं।

दोहती के दुखी जीवन में अवश्य करुणा का अंश है। विमाता कही जाने वाली नारी से वह इतनी अधिक पीड़ित है। यदि उसे पक्षियों का सहयोग न मिला होता तो उसका जीवन असम्भव ही होता। इस प्रकार की कारुणिक घटनाएँ विश्व में पग-पग पर घटित होती हैं—यह मानवीय सत्य ही इस उपन्यास का मूलाधार है।

चरित्र-चित्रण—यह उपन्यास घटना-प्रधान है, चरित्र-प्रधान नहीं। फलस्वरूप घटनाओं के प्रभाव से चरित्र दब गए हैं। अधिकांश पात्रों का संकेत तो मिलता है; किन्तु उनके प्रमुख कार्य न होने के कारण उनके चरित्र प्रकाश में नहीं आ सके हैं। नारी-पात्रों में दोहती, पुरुष-पात्रों में योगी एवं पक्षी-पात्रों में तोता अधिक कर्मण्य हैं, नृशंस कार्यों में विमाता सक्रिय है और उसकी नृशंस योजनाओं में बब्बू गुलाम भी सहयोगी है।

दोहती कोमल एवं दयालु-हृदया है। अपने उपकारियों से प्राप्त मुँदरी के खो जाने से वह अनुशासित एवं नियंत्रित परिवार की अपराधिनी बालिका के समान ही भयभीत एवं दुःखी है। विवेकयुक्त होते हुए भी वह परिस्थितियों से चालित है। वह दैवी विधान से इतनी दुखी है कि अनार के रूप में जो ज़हर मोहरा है तोता के बार-बार संकेत करने पर भी खाने को उद्यत नहीं होती। विमाता और बब्बू गुलाम को क्षमा प्रदान करने में उसकी उदार एवं कर्त्तव्यशील भावनाओं का ही पता चलता है। दयादेयी के उसके स्थान पर लौंडी बना लिये जाने पर वह स्वयं बन्दी-गृह में जा पहुँचती है। इसीसे उसकी साहचर्य भावना एवं आभार के प्रति विनम्रता टपकती है।

दयादेयी एवं कंजरी के जीवन में भी स्नेह का अंश है। दयादेयी दोहती के वंश-ज्ञान से उसकी मित्र बन जाती है और उसके स्थान पर स्वयं लौंडी बनती है। उसके घर में और मीनार के निवास की स्थिति में वह उसके भोजन व अन्य सुखों की व्यवस्था के लिए तत्पर रहती है। दोहती से उपकृत कंजरी भी उसके साथ स्नेह का व्यवहार करती है। उसे दुष्टा स्त्री के हाथ बिकने नहीं देती है।

विमाता नृशंसात्मा है और बब्बू उसका सहयोगी है। यह दोनों दोहती को पीड़ित करने का जितना प्रयास करते हैं, उसका उतना ही प्रतिकार तोता और दोनों कौवे करते हैं। तोता दोहती के हित-चिन्तन में कौवों को संदेश लाने और ले जाने में व्यस्त रखता है। विमाता के षड्यन्त्रकारी प्रयासों को विफल करने का श्रेय तोता और कौवों को ही है।

योगी में अपत्य स्नेह कूट-कूटकर भरा है। वह अपनी दोहती के लिए बड़ा ही आकुल है। कोतवाल के गृह में उसकी व्यवस्था से उसे सुख ही हुआ था। मुरारसिंह को संबोधित करते हुए उसने काश्मीर की भूमि में अपना पैर रक्खा था। उसके इस कर्म में एक दृढ़ता है और विश्वास है। भिन्न-भिन्न स्थलों पर घटित घटनाओं को एक सूत्र में पिरोने का कार्य योगी पर ही आधारित है।

वार्त्तालाप (सम्वाद)—अभिनयात्मक स्वरूप प्रदान करने के लिए इस उपन्यास में सम्वाद बहुत कम हैं। जो सम्वाद हैं भी उन पर तिलिस्माती मुँदरी का प्रभाव है। यों पक्षी पक्षी-भर ही हैं; किन्तु मुँदरी के प्रभाव से उसका धारण-कर्त्ता पक्षियों की भाषा समझने में समर्थ हो जाता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि पशु-पक्षी की भावनाएँ भी मानवीय भावनाओं के अनुकूल ही निसृत होती हैं। दोहती की अँगुली से गिरी हुई मुँदरी सिपाही को प्राप्त हो जाती है। उसमें पक्षियों की बोली समझने की शक्ति आ जाती है। सिपाही और कौवों के मध्य का वार्त्तालाप श्रवण करने योग्य है—

सिपाही—कौन जाता है ?

कौवे—हम दो कम-नसीब कौवे हैं और आपके ताबेदार हैं।

सिपाही—तुम चिड़िया होकर इस तरह बात क्योंकर कर सकते हो ?

एक कौवा—साहब ! आपकी उँगली में एक जादू की अँगूठी है, जिसके ज़ोर से आप हमारी बोली समझ सकते हैं और हमको मजबूरन आपके हर सवाल का जवाब देना पड़ता है।

सिपाही—हाँ ! यह बात है ? अच्छा तो बतला किस राजा की लड़की का अभी तू ज़िक्र कर रहा था ?

कौवा—काश्मीर के राजा की लड़की का।

सिपाही—क्या खूब इस लड़की के पकड़ने वाले को तो पचास अशर्फी का इनाम है। क्या वह लड़की इस वक़्त यहीं कहीं पर है ?[1]

मुँदरी के प्रभाव से विहीन दोहती और कंजरी का वार्त्तालाप भी देखिये—

दोहती—वह तोता मेरा है और मेरा पता लगाता हुआ मेरे पास आया है। इन लड़कों ने मुझसे छीन लिया है—सिर्फ यह तोता ही मेरा दुनियाँ में एक दोस्त है।

कंजरी—अच्छा, अगर तू अच्छी तरह रहेगी और रंज न करेगी कि जिस्से उम्दा और मोटी-ताज़ी मालूम पड़े जबकि हम तुझे लाहौर में बेचने के लिए ले जाँय तो तेरा तोता तुझे मिल जायगा।[2]

---

१. श्रीधर पाठक—तिलिस्माती मुँदरी, पृष्ठ १२।
२. „ „ „ पृष्ठ २८।

इस प्रकार के वार्त्तालाप उपन्यास में एक-आध स्थल पर और भी हैं। कहीं-कहीं वार्त्तालाप का कार्य पक्षियों के संकेत से ही निकाला गया है।

शैली—तिलिस्माती मुँदरी में साधारण रूप से दैनिक बोलचाल के शब्दों का प्रयोग किया गया है। इससे अरबी-फ़ारसी के शब्दों के प्रयोग भी स्थल-स्थल पर हुए हैं। इस सम्बन्ध में पाठक जी की अपनी नीति थी जिसका उल्लेख उन्होंने इस उपन्यास के 'नोट' के अन्तर्गत किया है—

"इसमें फ़ारसी, अरबी के अनेक शब्द आये हैं; परन्तु मैं आशा करता हूँ कि उनके कारण हिन्दी के प्रेमी पाठक मुझ पर क्षुब्ध न होंगे, क्योंकि करीब-करीब वह सारे शब्द लाखों हिन्दी बोलने वालों की रोज की बोलचाल में आते हैं, इस कारण वह हिन्दी के कुनबे में सम्मिलित हैं और उनका हिन्दी पुस्तकों में विशेषकर कहानी की पुस्तकों में व्यवहार करना मैं कोई अपराध की बात नहीं समझता।"

तिलिस्माती मुँदरी में जिस भाषा-शैली का प्रयोग किया गया है, उस पर निम्न अंश से प्रकाश पड़ता है—

"देरा तरबूजों के पास ही डाला गया और दूसरे रोज सुबह को, बाद तरबूजों की दूसरी जियाफत के वहाँ से कूच हुआ और गधों पर जितने आ सके तरबूज लाद दिये गये, क्योंकि डर था कि शायद दूसरे पड़ाव का कुआँ भी सूखा निकले, लेकिन वह सूखा न था। वह लोग बाकी रेगिस्तान को बगैर किसी मुसीबत के तै कर गये। अब वह कंजर राजा की लड़की पर दुचन्द मिहर्बान थे, क्योंकि उसने उनकी जान बचाई थी; और कंजरी ने उससे कहा कि 'मैं तो तुझे छोड़ दूँ लेकिन मेरा खाविन्द मना करता है, मगर तू अन्देशा मत कर। मैं ऐसा करूँगी कि तू किसी नेक बीबी के हाथ बेची जायगी जो तेरी खूब परवरिश करेगी और तुझे खुश रखेगी'।"[1]

इस प्रकार की शैली में फ़ारसी तत्सम शब्द जैसे 'जियाफत', 'दुचन्द' 'खाविन्द' आदि शब्दों के प्रयोग हुए हैं। 'बाद तरबूजों के दूसरी जियाफत के (देरा) वहाँ से कूच हुआ' इस वाक्य के प्रयोग में भी फ़ारसी की शैली को अपनाया गया है।

उद्देश्य—अन्य जासूसी उपन्यासों के समान इस उपन्यास का उद्देश्य भी पाठक को कौतूहल एवं आश्चर्य की स्थिति में डाल देना है। तिलिस्माती मुँदरी से यह सभी सम्भव हो सका है।

---

१. श्रीधर पाठक—तिलिस्माती मुँदरी, पृष्ठ ३२।

इस तिलिस्म के प्रभाव को देखने के लिए लेखक ने पृष्ठभूमि में विमाता के दुर्व्यवहारों का चित्रण किया है। दोहती का प्राण संकट में आ जाने पर तिलिस्माती मुँदरी उस संकट का निराकरण कर जाती है, जिससे सीमा पर पहुँची हुई पाठक की भावनाओं को पुनः विश्राम मिल जाता है, और पाठक के लिए कौतूहल की सामग्री प्रस्तुत हो जाती है। विमाता के नृशंस व्यवहार एवं लाहौर में स्त्रियों का बेचा जाना—ये जीवन के यथार्थ चित्रण हैं, जिनको पाठक जी ने स्पर्श करने का प्रयास किया है।

उपन्यास के उपर्युक्त तत्वों का विवेचन करने से उसके सम्पूर्ण अंगों पर प्रकाश अवश्य पड़ जाता है। यद्यपि इसमें यत्र-तत्र असम्भावित घटनाओं का भी समावेश है; किन्तु यथार्थ का वातावरण प्रस्तुत होने के कारण उपन्यास मानवेतर नहीं लगता है। भारतीय तन्त्र-शास्त्र के अन्तर्गत इस प्रकार की सिद्धियाँ मिलती रही हैं, जिनसे असम्भव कार्य भी सम्भव हो सके हैं। इससे तिलिस्म से युक्त यह मुँदरी भी विशेष आश्चर्य का पदार्थ नहीं रह जाती है।

पाठक जी के निबन्ध एवं पत्र आदि

यद्यपि पाठक जी के निबन्ध अधिक संख्या में उपलब्ध हैं, तथापि 'पाठक जी की कृतियों के सामान्य परिचय' के अन्तर्गत उनके प्रमुख निबन्धों की [illegible] उन्हें प्रकाशित करने वाले पत्रों का नाम दिया गया है।

'निबन्ध' संज्ञा के विचार के अनुसार ऐसे बहुत कम लेख हैं, जिनमें गंभीरता का पुट है। अधिकांश ऐसे ही लेख हैं जिनमें मनोरंजन एवं हास्य का समन्वय है। 'हिन्दी प्रदीप' के दिसम्बर १८८४ ई० के अंक में उन्होंने एक औषधि का उल्लेख किया था जो निम्न प्रकार से है—

बीमार हिन्द के लिये सिहतावर जोशाँदा

फूट के कड़वे दाने	=३ माशे
तुखम कुढंग	=१ तोला
जिद्द और काहिली की सूखी फली	=२ तोला
रोग़न फसाद	=६ माशे
गुल गुलामी	=२ माशे
मगज पंडिताई	=३ तोला

इन सब दवाइयों को कूट-पीसकर कपरछन कर पाँच सेर काले पानी में

चढ़ा दो। जब पानी जलते-जलते छटाँक भर रह जाय तो सेर भर बर्फ और सोडा वाटर में मिलाय मियाँ हिन्द को पिला दो और नीचे लिखा मरहम बदन भर में पोत दो तो जरूर सब नासूर फौरन दूर हो घावों को पुरा देगा।

मरहम

विलायती कुतिया की जबान
अंग्रेजी लियाकत का तेल
लाल समुद्र का पानी
काले आदमियों की मोमियाई।

यकीन कामिल रखो, इन दो दवाइयों से हजरत-हिन्दोस्तान को जरूर आराम हो, इस बुढ़ापे में एक बार फिर पहले के से हट्टे-कट्टे सण्ड-मुसण्डे हो उठेंगे।

'हकीम-पस्त दिल शिकस्त अकिल-खफगान लुकमान।'

उपर्युक्त निबन्ध के अन्तर्गत न जाकर परिहास के अन्तर्गत ही सन्निविष्ट होगा। यह सत्य है—उपर्युक्त पंक्तियाँ साधारणतयः मनोरंजन ही प्रस्तुत करेंगी; किन्तु इससे मनोरंजन केवल उन्हीं का होगा जो विचार एवं भावना शून्य हैं। राष्ट्रीय भावना एवं भारतीय संस्कृति के उपासक के लिए उपर्युक्त पंक्तियाँ बड़ी ही सारगर्भित हैं।

जुलाई १८८५ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' में उनका 'आता है' निबन्ध छपा था। यह निबन्ध गद्य-पद्यमय शैली के कारण भी बड़ा ही महत्वपूर्ण है। इसका कुछ अंश भी देखिए—

आता है

आता है—अच्छा साहब क्या आता है—सच जानिये हमें तो कुछ नहीं आता जो आपको बतला सकें कि कहाँ-कहाँ क्या आता है—हाँ, इतना अलबत्ता कह सकते हैं कि आजकल गर्मी खूब पड़ रही है, सो सभी के बदन में पसीना आता है, जिससे जी ऐसा उकताता और घबराता है कि कुछ कहते नहीं बन आता—वरन कभी-कभी तो जी में ऐसा पागलपन सा आता है कि ख्याल के टट्टू को नैनीताल ही की तरफ भगा ले जाता है और उस सर्दिस्तान में पहुँच जाता है, तभी चैन आता है। खैर, ज्यों-ज्यों गर्मी बीती वर्षा आई अब गगन में भ्रमण करती हुई सघन-वन-उपवन-विहारिणी मनोहारिणी हरियाली की डहडही छाँव की छटा देख वियोगी मन सावधान हो जाओ। × × ×

छलकता बेधड़क यह वारिशे दीवाना आता है।
सुनाया हमने इतना आपको खिल करके मुसफिक आज।
यकीं है अब तो समझोगे हमें कुछ भी तो आता है।

भारतेन्दु-युग में पं० प्रतापनारायण मिश्र एवं पं० बालकृष्ण भट्ट ने साधारण विषयों के निबन्धों को लिखने के लिए हास्य का पुट देकर उनको सजीव स्वरूप दिया है; उसी परिपाटी पर 'आता है' विषय पर उनका निबन्ध है।

देश के मतमतान्तरों पै भी पाठक जी को बड़ा दुख एवं क्षोभ है। जनवरी १८८५ ई० के 'हिन्दी प्रदीप' के अंक में 'एक अनोखे सैलानी की अनोखी कहानी' के अन्तर्गत पाठक जी का कथन है—

"× × × उसमें कभी शिव-समुदाय वैष्णवों को गाली देते थे। उधर शाक्त अपनी वारुणी के आनन्द में मस्त अपनी ही तान गा रहे थे। कभी नागे लोग धोती लंगोटा फेंक नंगे हो शैव और संन्यासियों पर हल्ला करते थे। उधर दयानन्दी पोपों को गाली सुना रहे थे।"

इस प्रकार पाठक जी अपने निबन्धों द्वारा समाज में प्रचलित विवाहों के झगड़े, बाल-विवाह-प्रथा, वैधव्य जीवन, आधुनिक शिक्षा की बुराइयाँ, बेकारी आदि पर भी प्रकाश डालते हैं। उनके निबन्धों में सामाजिकता कूट-कूट कर भरी हुई है।

गम्भीर निबन्धों के मध्य में पाठक जी के 'संक्षिप्त जीवन परिचय' (१९०६ ई०) ('आराध्य शोकांजलि' के अन्तर्गत अपने पूज्यपाद पिता जी पं० लीलाधर का जीवन-वृत्त) एवं हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का लखनऊ (१९१५) के वार्षिकोत्सव में हिन्दी की प्रगति पर व्याख्यान रखे जा सकते हैं।

प्रथम निबन्ध जीवन-चरित्र है, इससे पाठक जी ने अपने पूज्यपाद पिता जी के प्रपितामह श्री कुशल मिश्र से लेकर वंश की विभूतियों का वर्णन करने की चेष्टा की है। उनकी साहित्यिकता, विद्वत्ता एवं शास्त्रीयता के सम्बन्ध में पूर्ण प्रकाश डालने का प्रयास किया है। निम्न अंश स्वयं पाठक जी से सम्बन्धित है—

"× × × मैं उनका (पं० लीलाधर का) एक ही अवशिष्ट पुत्र हूँ, मुझे गोपाल जी का प्रसाद समझते थे, यद्यपि मेरे अंग्रेजी संसर्ग-दूषित स्वतन्त्र

सिद्धान्तों पर प्रायः खेद करते थे। अन्तर में मुझ पर प्रसन्न थे पर मेरे सामने बड़ाई कभी न करते थे, ऐसा करना हानिकारक मानते थे। मुझ पर उनका अथाह वात्सल्य था। मेरी भक्ति-विषयक कविता की प्रशंसा करते थे; परन्तु शेष को व्यर्थ की बकवाद बतलाते थे। उनकी आज्ञा थी कि सब कविता केवल भगवत् सम्बन्ध में होनी चाहिये; परन्तु इस आज्ञा का पालन मुझसे न हो सका। इसका मुझे बहुत अनुताप है।"

निबन्ध परिचयात्मक रहा है। इससे पाठक जी ने सहृदयता-पूर्वक वास्तविक तथ्यों पर भावुक शैली में प्रकाश डालने का प्रयास किया है। इस अंश में 'हास' एवं 'व्यंग' का पुट नहीं है। इससे गम्भीरता का आ जाना स्वाभाविक ही है।

सम्मेलन के लखनऊ के पंचम अधिवेशन का उनका व्याख्यान गम्भीर साहित्यिक पुट से परिपूर्ण है। उसकी शैली भी संस्कृत-गर्भिता है। पाठक जी ने 'हिन्दी' शब्द की सार्थकता, साहित्य और जातीयता, साहित्य-सर्जना के लिए उपयोगी विषय नाटक, उपन्यास, काव्य-विषयक उनकी प्रगति एवं अस्तित्व के सम्बन्ध में चर्चा की है। साथ में पं० श्याम बिहारी मिश्र एवं गणेश बिहारी मिश्र कृत 'मिश्रबन्धु विनोद', प्रो० रामदास गौड़ एम० ए० द्वारा अनूदित 'भारी भ्रम', श्रीयुत विनायक गणेश एम० ए० कृत 'विकासवाद', पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' द्वारा रचित 'प्रिय प्रवास' एवं श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा रचित 'भारत-भारती' आदि के सम्बन्ध में परिचयात्मक विवरण प्रदान किये हैं।

"हिन्दी हमारी भाषा का प्रकृत वा 'जनम' का नाम है, जिसका प्रयोग हमारे साहित्य में बाहुल्य के साथ हो चुका है और होता है। अतः वर्तमान के अनेकों संशोधक जो इस नाम के व्यवहार को त्याज्य सिद्ध करने के लिए भाँति-भाँति की युक्तियाँ देते हुए उसके बहिष्कार में तत्पर हैं, केवल अपनी शक्ति और समय के अपव्यय में प्रवृत्त हैं। 'हिन्दू' शब्द का कि जिससे 'हिन्दी' शब्द सम्बद्ध है किसी दूसरी भाषा में अर्थ चाहे जो हो, चाहे वह अवमानना-सूचक हो चाहे घृणा-व्यंजक हो और वही अर्थ चाहे उसका संस्कृत में घुस पड़ा हो (संस्कृत में उणादि से क्या-क्या नहीं हो सकता) हमारी इस भाषा में उसका वह अर्थ नहीं है।"[1]

१. पं० श्रीधर पाठक—हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ के पंचम अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण—पंचम हिन्दी साहित्य सम्मेलन, लखनऊ, कार्यक्रम प्रथम भाग, पृष्ठ १७, द्वितीय संस्करण सम्वत् १९८५ वि०।

'हिन्दी' शब्द पर तत्कालीन साहित्यिक वातावरण में बड़ी आपत्ति थी। कुछ उसके स्थान पर 'आर्यभाषा' नामकरण करना चाहते थे, किन्तु 'हिन्दू' शब्द के साथ 'हिन्दी' इतना निकट का परिचयात्मक शब्द है कि पाठक जी अन्य शब्द को अंगीकार करना ही नहीं चाहते।

साहित्य और समाज का बड़ा ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। फलस्वरूप सामाजिक विकास के लिए साहित्य के सम्पूर्ण अंगों का विकास ही आवश्यक और परमोपयोगी है। इस सम्बन्ध में पाठक जी का कथन है :—

"साहित्य को सर्वांगपूर्ण और सर्वांग-सुन्दर बनाने और रखने तथा उसके अंग-भंग की संभावना रोकने के लिये यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसके सब अंगों और प्रत्येक अंग पर कड़ी और युगपत दृष्टि रखी जाय। जब तक किसी उद्यान का प्रत्येक वीरुध, प्रत्येक पौधा, प्रत्येक गुल्म, प्रत्येक लता, प्रत्येक रौस, प्रत्येक क्यारी, फल, प्रत्येक फूल सुचतुर माली के निरन्तर निरीक्षण में रहता है तब तक उसकी स्थिति रमणीय रहती है। निरीक्षण में शिथिलता आते ही दशा बिगड़ जाती है।"[1]

तार्किक एवं विवेचनात्मक शैली पर चलने के कारण पाठक जी अपने विचार-प्रदर्शन में दुरूह हो गये हैं, जो सभी प्रकार से स्वाभाविक है।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से वह स्पष्ट है कि पाठक जी का गद्य साहित्य एवं समाज की प्रगतियों पर पूर्ण प्रकाश डालता है। निबन्ध अपनी प्रवृत्ति में भारतेन्दु-युग के निबन्धों की शृङ्खला में ही आबद्ध है। अपने विचार प्रकट करने में पाठक जी वैसे ही स्वच्छन्द हैं जैसे वह काव्य में रहे हैं। फिर भी यह सत्य है कि उनका काव्य गद्य की अपेक्षा महत्वपूर्ण है। उनका काव्य साहित्य में नवीन धारा का वपन कर सका जब कि गद्य सामयिक परिस्थितियों का दिग्दर्शन मात्र है।

पाठक जी के पत्र

पत्र व्यक्तिगत जीवन से सम्बन्धित रहने के कारण लेखक के जीवन एवं उसकी अभिरुचि पर प्रकाश डालते हैं। इस प्रकार लेखक की जीवन-प्रगति

---

१. श्रीधर पाठक—लखनऊ के हिन्दी साहित्य सम्मेलन के पंचम अधिवेशन का अध्यक्षीय भाषण।

पर यथोचित प्रकाश पड़ जाता है। पाठक जी का श्री पिन्काट, महावीरप्रसाद द्विवेदी, बालमुकुन्द गुप्त, जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी, रायदेवीप्रसाद 'पूर्ण', लोचनप्रसाद पाण्डेय एवं बनारसीदास चतुर्वेदी आदि-आदि से पत्र-व्यवहार चलता रहा है। भाषा और साहित्य के निर्माण के सम्बन्ध में पाठक जी के ये पत्र बड़े ही महत्वपूर्ण हैं। यदि पत्रों की यह निधि जो अन्धकार के गर्त में पड़ी है, प्रकाश में आ जाय तो भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युगों पर भी एक नवीन प्रकाश पड़ सकता है। कितनी ही ज्ञातव्य बातों और तथ्यों से हिन्दी-विश्व अवगत हो सकता है। 'मनोविनोद' के १६१७ ई० के नवीन संस्करण के परिशिष्ट भाग में उनके कुछ पत्र उद्धृत हैं। ये पत्र संस्कृत एवं हिन्दी दोनों में ही हैं; किन्तु उनमें काव्य का स्वरूप विद्यमान है।

> स्वस्ति सर्वगुणमंडितेषु मे पंडितेषु निजधर्मकर्मसु
> 'मन्निलाल' इतिनामशर्मसु श्रीधरस्यनतयस्त्वितस्तराम्
> भव्यभाव इह सर्वतः सदाऽभीप्सितः स भवतां भवाद्भवे
> यापितोऽत्र समयो मयामुदात्वदियोगत इतस्तु योगतः
> आगरारम्यनगरस्य कालिजादागतोऽस्मि तु गृहं परीक्षितः
> सार्द्धसप्तनवतीतिनंबरान्दुर्लभान्खलु लभेस्म सर्वतः
>
> (दिसम्बर, १८७७)

प्रयाग से ५ जनवरी १८८४ ई० को पाठक जी ने भारतेन्दु जी को निम्न पत्र लिखा था—

> हरिश्चन्द्र हरि-चन्द-गुण-उदाहरण-एकत्र
> नहि केवल तुम इन्दु हो, किन्तु भारती-मित्र
> अति विचित्र विधि-कृत्य हौ अति अद्भुत—मति-गेह
> नित्य-नित्य शोभित रहौ, लहौ जगत-नव-नेह
> अमृत-सरोवर-हृदय-घर हे पियूष - वचनालि
> हे कवि कुल-कमलार्कवर, हे ग्रीवा-श्रुति-मालि
> परम धन्य तुमसे सुजन परम धन्य तुम मित्र
> परम धन्य काशी जहाँ तुम सम पुरुष विचित्र।

श्री लोचनप्रसाद जी पाण्डेय अपना 'प्रवासी' काव्य पाठक जी से संशोधित कराना चाहते थे; किन्तु रुग्णता के कारण वैसा सम्भव नहीं हुआ। उस

परिस्थिति में पाठक जी ने पाण्डेय जी को ये पत्र लिखे थे—

खुशहाल पर्वत, श्रीप्रयाग
११ सितम्बर, १९०६

नमस्कार

आपका कृपापत्र जब आया मैं बीमार था, अब भी बीमार सा ही हूँ। आपकी कृति को अवकाश मिलने पर अवलोकन करूँगा।

शुभैषी—श्रीधर पाठक

इस पुस्तक के सम्बन्ध में पाण्डेय जी को पाठक जी ने तीन पत्र लिखे थे। ११ सितम्बर १९०६ ई० के पत्र की प्रतिलिपि ऊपर दी ही जा चुकी है। इसके अतिरिक्त १५–११–१९०६ ई० एवं २५–१०–१४ ई० को भी उन्होंने उनको पत्र लिखे थे।

१९२३ ई० के नवम्बर में और उसके बाद पाठक जी के चार कार्ड पाण्डेय जी के पास पहुँचे थे। प्रथम पत्र की प्रतिलिपि देखिये, जिसे उन्होंने अस्वस्थ दशा में लिखा था।

श्रीप्रयाग

प्रियवर पाण्डेय जी,

बहुत दिनों बाद आपको पत्र लिख रहा हूँ। आशा है आप सपरिवार सुजीवन-सुख सानन्द उपभोग कर रहे होंगे। आप जानते होंगे कि मैं बरसों से श्वास-रोग से ग्रस्त हूं। उसी रोग के कारण इस शीत ऋतु का कुछ भाग मैं श्री जगन्नाथपुरी में व्यतीत करना चाहता हूँ। परन्तु उत्कल देश में मेरा कोई परिचित अथवा मित्र नहीं है। आप उत्कल भाषा के श्रेष्ठ कवि हैं अतः सम्भव है वहाँ आपके कोई मित्र हों। यदि हों तो उनके नाम और पते आप मुझको बता दें तो बड़ा अनुग्रह हो। उनके द्वारा वहाँ मैं मकान आदि का प्रबन्ध कर सकूँगा। कष्ट जो आपको दे रहा हूँ, आशा है आप क्षमा करेंगे।

कृपाभिलाषी,
श्रीधर पाठक

इसके अतिरिक्त पाठक जी के २०–११–२३, २८–११–२३ एवं १०–१२–२३ के तीन पत्र उनकी सेवा में और पहुँचे थे।

'कविवर पं० श्रीधर पाठक से भेंट' शीर्षक के अन्तर्गत पाण्डेय जी ने उपर्युक्त सभी पत्रों का प्रकाशन फरवरी १९२९ (फाल्गुन १९८५) के 'विशाल भारत' में कराया था।

उपर्युक्त के अतिरिक्त इसी प्रबन्ध में 'पं० श्रीधर पाठक की जीवनी के सूत्र एवं व्यक्तित्व' के अन्तर्गत कुछ महत्वपूर्ण पत्र सन्निविष्ट हैं। स्वामी भगीरथ पुरी के लिये लिखित पत्र में एक छात्र की सी विनम्रता, बालमुकुन्द गुप्त एवं गंगाप्रसाद अग्निहोत्री के लिए लिखे हुए पत्रों में मैत्री भाव एवं बनारसीदास चतुर्वेदी के प्रति लिखित पत्रों में आत्मीयता स्पष्ट व्यक्त होती है।

अध्याय १०

पाठकोत्तर स्वच्छन्दतावादी काव्य-परम्परा की प्रगति

(१६००—१६२५ ई०)

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' (१८६८—१६१५ ई०)

जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व—द्विवेदी-युग में दो प्रकार की काव्य-प्रवृत्तियाँ हिन्दी-जगत् में प्रचलित थीं। प्रथम प्रकार की वे प्रवृत्तियाँ थीं, जिन पर द्विवेदी जी का पूर्ण आभार था अथवा उनकी विचारधाराओं से पूर्णरूपेण अनुशासित एवं अनुप्रेरित थीं। द्वितीय प्रकार की वे प्रवृत्तियाँ थीं, जो द्विवेदी जी की विचार-धाराओं से मुक्त थीं। इस परिपाटी के कवि और साहित्यिक काव्य के इति-वृत्तात्मक अनुशासन से दूर थे।

'पूर्ण' जी ऐसी ही विभूति थे जो द्विवेदी-युग में साहित्य-सर्जना करते हुए भी युग की प्रवृत्तियों से पूर्ण अछूते थे। उनका निजी मार्ग था, जिस पर वह चलकर द्विवेदी-मण्डल की काव्य-भूमि से बाहर अपना क्षेत्र बनाये हुये थे। उनके काव्य-विवेचन में प्रविष्ट हुआ जाय उससे पूर्व उनके जीवन और व्यक्तित्व का अध्ययन उपयोगी होगा। इससे इस स्थल पर उनका जीवन-परिचय अत्यावश्यक है।

राय देवीप्रसाद 'पूर्ण' का जन्म मार्गशीर्ष कृष्ण १३, सं० १६२५ वि० को जबलपुर में हुआ था। उनके पिता का नाम राय वंशीधर था। वह जबलपुर में वकालत करते थे। यह श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। इनके पूर्वज कानपुर जिले में घाटमपुर तहसील के भदरस (भद्रपुर) ग्राम के रहने वाले थे। 'राय' बादशाही काल की पदवी थी। इनका परिवार सभी प्रकार से सम्मानित और

सुशिक्षित था। राय देवीप्रसाद चार वर्ष के भी न हो पाये थे कि उनके पिता का अकाल निधन हो गया।

पिता के निधनोपरान्त उनके चाचा राय लीलाधर ने उनका पालन-पोषण किया और उन्हीं के निरीक्षण में कानपुर में उनका विद्यार्थी-जीवन प्रारम्भ हुआ। वह अपने बाल्यकाल से ही प्रतिभा-सम्पन्न और विद्याव्यसनी थे। विद्यार्थी-जीवन के प्रारम्भिक काल से ही उनमें कविता की प्रवृत्ति थी और धार्मिक ग्रंथों के अध्ययन का प्रेम था। अपनी कक्षाओं में वह सदैव प्रथम रहा करते थे। १८८१ ई० में उन्होंने मिडिल परीक्षा, अनन्तर कलकत्ता यूनिवर्सिटी से एण्ट्रेन्स, एफ० ए०, बी० ए० एवं बी० एल० परीक्षाएँ उत्तम श्रेणी में उत्तीर्ण कीं। परीक्षाओं से निवृत्त होकर उन्होंने अपने परिवार का पैतृक व्यवसाय वकालत कानपुर में प्रारम्भ की और वहाँ के वकीलों में उच्च स्थान प्राप्त कर लिया। वह दीवानी के प्रमुख और सफल वकीलों में थे।

सामाजिक सेवाओं और अपने काव्योत्कर्ष के कारण कानपुर के सामाजिक जीवन के वह प्राण थे। सभा-सोसाइटियों के वह कर्णधार थे और नगर के हित के कार्य करने में वह कभी पीछे न हटते थे। 'पूर्ण' जी से पूर्व कानपुर के नागरिक जीवन में पं० पृथ्वीनाथ वकील ने नवजीवन फूंका था और उनके अनन्तर उस दायित्व का उनके द्वारा पूर्ण संवहन किया गया। 'कानपुर प्यूपिल्स एसोसियेशन' के वह सभापति थे। 'सनातन-धर्म-प्रवर्द्धिनी' सभा के स्थान पर उन्होंने अपने प्रयास से 'श्री ब्रह्मावर्त-सनातनधर्म-महामण्डल' की संस्थापना की थी। इसी संस्था के तत्त्वावधान में आगे चलकर 'सनातन धर्म कालेज' की स्थापना हुई।

दक्षिण-अफ्रीका के भारतवासियों पर किये गये अत्याचारों के विरोध में कानपुर के युक्त प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन में स्वागताध्यक्ष के पद से एवं १९१५ ई० में गोरखपुर के युक्त-प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अध्यक्ष पद से उन्होंने बड़े उत्कृष्ट भाषण दिये थे। कानपुर में गोखले महोदय के पधारने पर उनके अंग्रेजी भाषण का सारांश उन्होंने बड़ी विद्वत्ता से उपस्थित जन-समाज को हिन्दी में सुनाया था। हिन्दू-विश्वविद्यालय के लिये चन्दा एकत्रित करने के लिये आये हुए श्री मदनमोहन मालवीय के स्वागत में उन्होंने एक मार्मिक कविता पढ़ी थी।

वह सनातन धर्मावलम्बी थे। आर्य-समाज के सिद्धान्तों को वह कृत्रिम और संकीर्ण मानते थे। 'सत्यधर्म के खोजने वालों को चेतावनी' कविता में उनका

आर्य-समाज का विरोध स्पष्ट झलकता है — वेदान्त के स्वयं बड़े ज्ञाता थे। आचार्य शंकर के 'तत्वबोध' एवं 'मृत्युंजय' दार्शनिक ग्रन्थो का हिन्दी में छन्दोबद्ध अनुवाद किया था। 'कान्ह तुम्हारी गैयां कहाँ गईं' में उनका गो-प्रेम छलकता है। वह गोवध के बड़े विरोधी थे। राजनीतिक दृष्टिकोणों में वह 'नरम दल' के थे।

'धाराधरधावन' (कालिदास के 'मेघदूत' का अनुवाद) 'चन्द्रकलाभानुकुमार नाटक', 'स्वदेशी कुण्डल', 'राम-रावण विरोध', 'चम्पू', 'राजदर्शन' एवं 'धर्मकुसुमाकर' आदि उनकी प्रमुख रचनाएँ थीं।

यद्यपि वह ब्रजभाषा के कवि थे तथापि उन्होंने 'स्वदेशी कुण्डल', 'सन् १९१० का स्वागत', 'नवीन संवत्सर का स्वागत', 'हिन्दू विश्वविद्यालय', 'क्या हिन्दी मुर्दा भाषा है' एवं 'वसन्त वियोग' आदि-आदि उनकी खड़ी बोली की रचनायें हैं।

'गोरखपुर के प्रान्तीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन' से लौटने के उपरान्त उन्हें ताप आना प्रारम्भ हुआ। अनन्तर ४७ वर्ष की अवस्था में ३० जून, १९१५ ई० को १२ बजे मध्याह्न में उनका देहान्त हो गया। उनके निधन से सम्पूर्ण कानपुर में शोक छा गया और उस दिन का सार्वजनिक कार्य बन्द कर दिया गया। उनकी अन्त्येष्टि क्रिया के समय नगर के प्रमुख सम्भ्रान्त व्यक्ति उपस्थित थे। अनन्तर क्राइस्ट चर्च कालेज में कलक्टर महोदय एवं प्रयागनारायण के शिवालय में बाबू विक्रमाजीतसिंह की अध्यक्षता में शोक सभाएँ हुईं। कानपुर के 'रसिक समाज' ने उनके निधन पर शोक-विषयक कवितायें पढ़ीं।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—'पूर्ण' जी के जीवन-वृत्त देने से पूर्व युग की काव्य-प्रवृत्तियों का भी संकेत किया जा चुका है और यह भी कहा जा चुका है कि पूर्ण जी 'द्विवेदी-कवि-मण्डल' की बाहर की विभूति थे। इस कोटि के कवियों के काव्य में दो भाषा शैलियों और दो भाव-क्षेत्रों का समन्वय मि है। इस सम्बन्ध में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—

"इन कवियों में अधिकांश दो रंगी कवि थे जो ब्रजभाषा में शृंगार, वीर, भक्ति आदि की पुरानी परिपाटी की कविता कवित्त-सवैयों या गेय पदों में करते आते थे और खड़ी बोली में नूतन विषयों को लेकर चलते थे।...देश-दशा, समाज-दशा, स्वदेश-प्रेम, आचरण सम्बन्धी उपदेश आदि ही तक नई

धारा की कविता न रहकर जीवन के कुछ और पक्षों की ओर भी बढ़ी पर गहराई के साथ नहीं।"[1]

'पूर्ण' जी इसी प्रवृत्ति के कवि थे। दूसरे शब्दों में हम यह भी कह सकते हैं कि स्वच्छन्दतावादी प्रवृत्तियों से अभिप्रेरित भारतेन्दु-युग की अवशिष्ट द्विवेदी-युग में एक महत्वपूर्ण विभूति थे। अन्तर केवल यह है कि भारतेन्दु-युग में खड़ी बोली का सम्यक् विकास न हो सकने के कारण तत्कालीन कवि खड़ी बोली की अपेक्षा ब्रज-भाषा की ओर झुक गए। द्विवेदी-युग में खड़ी बोली का भारतेन्दु-युग से कहीं अधिक प्रचार हो गया। इससे युग के कवि ब्रज-भाषा की अपेक्षा खड़ी बोली की ओर झुके रहे। साथ में कांग्रेस आन्दोलनों तथा अन्य जीवन-क्षेत्रों में जाग्रति के कारण भारतेन्दु-युग की अपेक्षा इस युग की परिस्थितियाँ भी बदल गई। इस प्रकार 'पूर्ण' जी भारतेन्दु-युग की अपेक्षा एक विकसित युग के कवि हैं।

'ईश्वर प्रार्थना' के अन्तर्गत तक कवि अपने व्यक्ति तक ही सीमित न रहकर समाज और देश को भी प्रमुखता देता है। देश पारस्परिक विद्वेष एवं फूट आदि के दुष्परिणामों से जैसा जर्जरित और दुर्बल था—कवि समझ कर नैतिक सुधार की भी कामना करता है —

लक्ष्मी दीजै लोक में मान दीजै, विद्या दीजै सभ्य सन्तान दीजै।
हे हे स्वामी, प्रार्थना कान कीजै, कीजै कीजै देश-कल्याण कीजै॥
सुमति सुखद दीजै, फूट को लोग त्यागैं,
कुमति हरन कीजै, द्वेष के भाव भागैं,
तजि कुसमय निन्द्रा, चित सौं चेति जागैं,
विषम कुपथ त्यागैं, नीति के पन्थ लागैं।[2]

'पूर्ण' जी के जीवन-वृत्त के अन्तर्गत यह भी उल्लेख किया जा चुका है कि 'पूर्ण' जी अपने राजनीतिक दृष्टिकोणों में 'नरम दल' के थे। इससे भारतेन्दु-युग के कवियों के समान 'पूर्ण' जी की वाणी देश-भक्ति और राज-भक्ति संबंधिनी भावनाओं से समलंकृत थी। पूर्ण जी के 'दिल्ली दरबार' (१६११) के वर्णन में वस्तु-वर्णन की प्रधानता है। कवि को 'राज-भक्ति' से किसी प्रकार की लज्जा नहीं। वह उसमें भी अपनी निष्कृति समझता है।

---

१. रामचन्द्र शुक्ल, हिन्दी साहित्य का इतिहास, (न० प्र० सभा) पृष्ठ ६२२।
२. पूर्ण संग्रह, 'ईश्वर प्रार्थना,' पृष्ठ ७४ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।

बड़ाई पावे इंगलिस्तान हिन्द से, उससे हिन्दुस्तान ;
हुआ जब दोनों का सम्बन्ध, बढ़े जग में दोनों का मान।
हमारा आर्य देश है, आर्य, पराये नहीं आप के जार्ज।
पूर्व सम्बन्ध बिना, सम्राट, न मिलता तुम्हें यहाँ का चार्ज।[1]

दरबार के उपलक्ष में पाठशाला के विद्यार्थियों को आनन्द है और दीन-दुःखियों को भी सुख का अनुभव होता है—

क्या अच्छी तातील मिली है; सबके मन की कली खिली है।
आओ मित्र मिठाई खावें ; महाराज की विजय मनावें।
क्या-क्या खावें कितना खावें, ऐसा पेट कहाँ से लावें।
किस व्यंजन की करें बड़ाई ; भारत-भूपति जयति सदाई।
अधिक भूप का आयुर्बल हो ; दिल्ली का दरबार सफल हो।
हुर्रे-हुर्रे हिप-हिप हुर्रे ; उड़ा देव चिन्ता के धुर्रे।[2]

* * *

दुबरे दरिद्री दीन, कंगाल संकट लीन,
भूखे सदा के हीन, तिन आज भोजन कीन।[3]

'स्वदेशी कुण्डल' देश-भक्ति की उनकी सफल रचना है। देश की ~~दीन~~ हीनता, पारस्परिक विद्वेष एवं पराधीनता से उत्पन्न दारुण सन्ताप आदि ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनको कवि सफलता से अंकित कर सका है।

देशी प्यारे भाइयो ! हे भारत सन्तान।
अपनी माता भूमि का है कुछ तुमको ध्यान।
है कुछ तुमको ध्यान ? दशा है उसकी कैसी ?
शोभा देती नहीं किसी को निद्रा ऐसी ?
वाजिब है हे मित्र, तुम्हें भी दूरंदेशी,
सुन लो चारों ओर मचा है शोर 'स्वदेशी'।[4]

देश के जागरण का शंखनाद करते हुए भी कवि देश-भक्ति और राज-भक्ति

---

१. पूर्ण-संग्रह, दिल्ली दरबार, पृष्ठ २६२ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)
२. ,, ,, ,, २६४ ,,
३. ,, ,, ,, २६४ ,,
४. ,, स्वदेशी कुण्डल ,, ३०५ ,,

को समन्वित किये हुये है और इस सम्मिश्रण में ही अपने जीवन की वास्तविक निष्कृति समझता है।'पूर्ण' जी के जीवन का यह मूलमन्त्र है :—

परमेश्वर की भक्ति है मुख्य मनुज का धर्म।
राजभक्ति भी चाहिये सच्ची सहित सुकर्म।
सच्ची सहित सुकर्म देश की भक्ति चाहिए।[1]

देश की दारुण दरिद्रता का एक मार्मिक चित्रण देखिये :—

मारा है दारिद्र का भरतखण्ड आधीन।
कारीगर बिन जीविका है दुःखित अति दीन।
है दुःखित अति दीन वस्त्र के बुनने वाले।
धीरे-धीरे हुनर समय के हुआ हवाले।
भरा देश में हाय निकम्मा कपड़ा सारा।
तुमने ही कोरियों, जुलाहों को बस मारा।[2]

प्रकृति-वर्णन में 'पूर्ण' जी के काव्य में अवश्य मौलिकता है। उन्होंने रीति कवियों की भाँति प्रकृति को शृङ्गार के उद्दीपन विभाव की चेरी नहीं बना दिया है। उनके द्वारा प्रकृति के सरल और स्वाभाविक स्वरूप से स्वच्छन्दतावादी भावना की सर्जना हुई है।

हरे-हरे लहलहे विपुल द्रुम वृन्द-वृन्द वन सोहे।
लोनी-लतिका-कलित ललित फल वलित लेत मन मोहे।
लाले पीरे सेत बैंजने सुमन सुहावन फूले।
गुंज गान करि चंचरीक मकरन्द पान में भूले।[3]

निम्नलिखित घनाक्षरी में कवि ने वसन्त का रूपक मतंग के साथ बाँधा है। यद्यपि अभिव्यंजना और काव्य के स्वरूप में प्राचीनता का ही आग्रह है तथापि कवि के सूक्ष्म निरीक्षण में मार्मिकता है—

कूजनि विहंगनि की घण्टिका बजैं सों मंजु,
ओस कन सोई मद झरत निहारो है।
'पूरन' प्रसूनन की सुरंग अँवारी सजी,
भृंगन की भीर सों सरीर वरियारो है।

---

१. पूर्ण-संग्रह, स्वदेशी कुंडल, पृष्ठ २०६ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।
२. ,, ,, २१६
३. ,, प्रकृति-सौन्दर्य-वर्णन, पृष्ठ १२२।

बैठों ऋतुराज तापै जग को करत सैर,
सौरभ अतंक जग माहि विस्तारो है।
धावत महावत अनंग के इसारे बीर,
सुरभि समीर यह मतंग मतवारो है।[1]

इस प्रकृति-चित्रण में श्रीधर पाठक के समान सजीव स्वच्छन्दतावादी स्वरूप न होने पर भी कवि की सहृदयता तो स्पष्ट व्यक्त होती ही है, इसमें सन्देह नहीं।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से 'पूर्ण' जी की काव्यगत प्रवृत्तियों पर प्रकाश पड़ जाता है। यह अवश्य सत्य है कि श्रीधर पाठक के समान स्वच्छन्दतावादी काव्य का स्वरूप उनमें नहीं है; किन्तु भारतेन्दु-युग की स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रेरक प्रवृत्तियाँ जो द्विवेदी-युगीन परम्परावादी प्रवृत्तियों से आत्मसात करली गई थीं, उनको नूतन प्रेरणा 'पूर्ण' जी के काव्य से अवश्य मिली। इतने ही द्विवेदी-कवि-मण्डली से वह मुक्त थे और इतने ही यह स्वच्छन्दतावादी थे।

पं० रामचन्द्र शुक्ल (१८८४ ई०–१९४१ ई०)

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व—हिन्दी के पुण्य और सौभाग्य से आचार्य शुक्ल जी कवि और लेखक की संपूर्ण सम्भावित प्रतिभा से युक्त हो अवतरित हुए थे। लेखक की अपेक्षा उनमें कवि-सुलभ संस्कारों का आधिक्य था। फलतः गद्य-रचनाओं में भी यत्रतत्र उनकी भावुकता और सहृदयता टपकी पड़ती है। यह केवल इसलिये संभव हो सका कि वह अपने कवि-हृदय की विशाल परिधि में गद्य के विवेचनात्मक स्वरूपों को सोचा करते थे। उनका मानस मध्यकालीन काव्य-सरोवर को लहराता हुआ देखकर तृप्त था। उधर से कुछ निश्चिन्त से थे। साहित्य के गद्य-पक्ष को निर्बल और शिथिल देखकर वह अग्रसर हुये—इस दिशा में द्विवेदी जी का जो भी अपूर्ण कार्य अवशिष्ट था, उसे उन्होंने पूर्ण किया। फलतः तुलसी, सूर एवं जायसी के भाव-रत्नों को खोजकर हिन्दी-विश्व को चकित कर दिया और काव्य-रस के स्थायी भावों का प्रत्येक कोण से निरीक्षण कर काव्य को सभी प्रकार से पुष्ट करने की सामग्री प्रस्तुत कर दी। यह कार्य छोटा न था। भगवान् ने उन्हें महान् व्यक्तित्व

---

१. पूर्ण-संग्रह, प्रकृति-सौंदर्य-वर्णन, पृष्ठ ९५।

दिया था, जिसके बल पर वह यह सब कर सके थे।

आचार्य शुक्ल के वंश का गोत्र गर्ग है और वह सरयूपारी ब्राह्मण हैं। इनके पूर्वज जिला गोरखपुर के अन्तर्गत मेड़ी नामक गाँव में निवास करते थे। शुक्ल जी के पितामह पं० शिवदत्त शुक्ल का ३० वर्ष की अवस्था में ही अकाल निधन हो के गया था। शुक्ल जी की पितामही अपने एकमात्र पुत्र पं० चन्द्रबली शुक्ल (पं० रामचन्द्र शुक्ल के पिता) को लेकर बस्ती की बूढ़ी रानी साहिबा के साथ रहने लगी। रानी साहिबा इन्हें कन्यावत् मानती थीं। चन्द्रवली शुक्ल काशी के क्वीन्स कॉलेज से एण्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण कर सुपरवायजर कानूनगो के पद पर सरकारी नौकरी करने लगे। इनका विवाह गाना के पवित्र मिश्र परिवार की कन्या से हुआ था।

बस्ती के समीप ही अगोना ग्राम में रानी साहिबा ने शुक्ल जी की पितामही एवं पिता के लिये मकान बनवा दिया था। इसी अगोना ग्राम (बस्ती) में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का आश्विन पूर्णिमा सं० १९४१ वि० को जन्म हुआ था।

६ वर्ष की अवस्था में राठ (हमीरपुर) में, जहाँ शुक्ल जी के पिता सुपरवायजर कानूनगो होकर गये थे, इनका शिक्षारम्भ कराया गया। इनका वहाँ दो वर्ष भी अध्ययन न हो पाया था कि उनकी नियुक्ति मिर्जापुर में सदर कानूनगो के पद पर हो गई। मिर्जापुर में जब वह निवास की व्यवस्था के लिये गये हुये थे शुक्ल जी की माता जी का असामयिक निधन हो गया। अपने पीछे उन्होंने बीस दिन के छोटे शिशु शुक्ल जी के अनुज कृष्णचन्द्र को छोड़ा।

अनन्तर शुक्ल जी के पिता सम्पूर्ण परिवार को मिर्जापुर ले आये। मिर्जापुर के 'रमई पट्टी' मुहल्ले में आकर वह बस गये। जहाँ शुक्ल जी के पिताजी ने अपना निवास बनाया था वहाँ केवल चार-पांच घर और थे। उस स्थल का वातावरण बड़ा ही सांस्कृतिक एवं साहित्यिक था। उनके पड़ोस में ही प्रकृति के भावुक पुजारी पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद एवं भारतीय संस्कृति के अनन्य अनुरागी बाबू बलभद्रसिंह डिप्टी कलक्टर रहते थे। बलभद्र जी के यहाँ प्रतिदिन रामायण, महाभारत एवं भागवत आदि का पाठ चलता रहता था, उनके यहाँ श्रोताओं का जमघट लगा रहता था। पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के निवास पर शिष्य-मंडली माघ, कालिदास एवं भवभूति के अध्ययन के लिए आया करती थी। सन्ध्या-वेला में जब पंडित जी अपनी शिष्य-मंडली के साथ समीप के पर्वत अथवा सरोवर के किनारे घूमने जाया करते थे तब संस्कृत-

काव्य के मधुर एवं ललित श्लोकों को वह मधुर कण्ठ से गाया करते थे। बड़े होने पर शुक्ल जी भी उक्त शिष्य-मंडली में सम्मिलित होकर जाने लगे। इसी प्रवृत्ति ने उन्हें प्रकृति-अनुरागी एवं संस्कृत-प्रेमी बना दिया। इस प्रकार का वातावरण शुक्ल जी के पिताजी के अनुकूल न होते हुए भी उनको पूर्ण रुचिकर था। राठ की अपेक्षा यहाँ के वातावरण ने उनके जीवन-निर्माण में विशेष सहयोग दिया। मिर्जापुर के स्थानीय जुबिली स्कूल में ६ वर्ष की अवस्था में प्रविष्ट होकर उन्होंने उर्दू के साथ अंग्रेजी पढ़ना प्रारम्भ किया। साढ़े चौदह वर्ष की अवस्था में उन्होंने प्रथम श्रेणी में मिडिल परीक्षा पास की। अनन्तर यथासमय ही उन्होंने एण्ट्रेन्स परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। एफ० ए० का अध्ययन करने के लिये कायस्थ पाठशाला, प्रयाग में प्रविष्ट भी हुये; किन्तु गृह-कलह के कारण उनका अध्ययन न चल सका। वह अगोना लौट आये। कुछ दिनों के उपरान्त पुनः कानून पढ़ने के लिये वह प्रयाग गये; किन्तु दो वर्ष अध्ययनोपरांत अनुत्तीर्ण होने पर मिर्जापुर लौट गये। कुछ दिनों तक मिशन स्कूल में अध्यापक के पद पर भी कार्य किया।

जब शुक्ल जी ग्यारह वर्ष के थे उसी समय उनके पिता ने दूसरा विवाह कर लिया था। बारह वर्ष की अवस्था में शुक्ल जी का भी विवाह हो गया था। उनकी विमाता का व्यवहार शुक्ल जी एवं उनके अनुजों के प्रति अच्छा न था; किन्तु जब तक उनकी दादी जीवित रहीं, सब यथोचित रूप से निभता रहा। उनकी मृत्यु के उपरान्त विमाता ने बच्चों को कष्ट देना प्रारम्भ किया। उनके पिताजी भी रुष्ट हो गए, लड़कों की फीस भी बन्द कर दी गई थी। इस कलह ने शुक्ल जी को ६-७ वर्ष तक पीड़ित रखा।

आगे चलकर शुक्ल जी के पिता का स्वभाव बदल गया था। अब शुक्ल जी एवं उनके भाइयों से वह रुष्ट न रहते थे। फ़ारसी के स्थान पर हिन्दी के प्रति उनकी अभिरुचि बढ़ने लगी। रामायण, रामचन्द्रिका एवं भारतेन्दु जी के ग्रंथों का वह अवलोकन करते थे। उनके इस प्रकार के परिवर्तन पर रमई पट्टी के साहित्यिक वातावरण का बहुत प्रभाव पड़ा था। 'मनोहर छटा' नाम की इनकी प्रथम कविता सरस्वती भाग २, संख्या १० में छप चुकी थी। अनंतर 'शिशिर पथिक', 'वसन्त पथिक', 'भारत और वसन्त' तथा 'दुर्गावती' आदि उनकी रचनाएँ प्रकाशित हुईं। उनके पिता उनसे प्रसन्न रहने लगे। प्रेमघन जी की 'आनन्द कादम्बिनी' में उनकी रचनाएँ निरन्तर निकलने लगीं।

शुक्ल जी सदैव से अध्ययनशील रहे हैं। मिर्जापुर के अंग्रेजी के विद्वान्

पं० रामगरीब चौबे से उनको अंग्रेजी अध्ययन का प्रोत्साहन मिला था। काशी में काशीप्रसाद जायसवाल से भेंट होने पर उनका हिन्दी का अनुराग बढ़ा। काशी के पण्डित केदारनाथ जी पाठक से भेंट हो जाने पर उनकी कृपा से उन्हें हिन्दी और बंगला की पुस्तकें पढ़ने को मिलने लगीं।

ख्याति हो जाने पर नागरी-प्रचारिणी-सभा काशी के हिन्दी कोष के सहायक सम्पादक के पद पर आप बुलाये गये। उन्होंने 'नागरी-प्रचारिणी-पत्रिका' का भी आठ-नौ वर्ष सम्पादन किया था। इसके उपरान्त काशी, हिन्दी-विश्वविद्यालय में हिन्दी अध्यापक के पद पर नियुक्त हुये और जीवन-पर्यन्त वहीं रहे। बा० श्यामसुन्दरदास के निधन के उपरान्त उन्होंने हिन्दू-विश्वविद्यालय में हिन्दी-विभाग के अध्यक्ष-पद पर भी कार्य किया था।

'What has India to do?' 'Hindi and the Mussalmans' आदि उनके अंग्रेज़ी के मौलिक लेख भी प्रकाशित हुये थे। 'कल्पना का आनन्द' (एडिसन के Essay on the Imagination), 'मेगस्थनीज़ का भारतवर्षीय वर्णन' (अंग्रेजी से अनुवादित), 'राज्य प्रबन्ध शिक्षा' (सर टी. माधव राव के Minor Hints का अनुवाद), 'आदर्श जीवन' (Plain living and high thinking का अनुवाद) 'विश्व प्रपंच' (Riddle of the Universe का अनुवाद), 'शशांक' (बंगला से अनूदित नाटक), हिन्दी-साहित्य का इतिहास, फ़ारस का प्राचीन इतिहास, बुद्ध चरित्र (आर्नल्ड के Light of Asia का अनुवाद) तथा कितना ही विवेचना साहित्य उन्होंने हिन्दी को प्रदान किया।

जीवन-पर्यन्त हिन्दी की सेवा कर २ फरवरी १९४१ ई० को वह दिवंगत हुए थे।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—यों पद्य-साहित्य की अपेक्षा उन्होंने गद्य-साहित्य अधिक लिखा है। उनका गद्य-साहित्य हिन्दी की अपूर्व निधि है; किन्तु उनका काव्य-साहित्य कम महत्वपूर्ण नहीं है। इससे ही उनके काव्य की महत्ता एवं उसकी प्रवृत्तियों पर विचार करना ही इन पंक्तियों का विनम्र प्रयास है।

संस्कृत के आचार्य पं० विन्ध्येश्वरीप्रसाद के आचार-विचार एवं उनकी प्रेरणा से शुक्लजी को जीवन में बहुत कुछ सीखने को मिला था। वह भारतीयता के प्रतीक थे। जिससे उनकी प्रवृत्ति भी भारतीय संस्कृति की ओर उन्मुख हुई; साथ ही उनके संसर्ग से मिर्जापुर के चतुर्दिक क्षेत्रों की प्रकृति-माधुरी के रसास्वादन का सुअवसर भी मिला। इस स्थल की 'आर्य माधुरी'

आज भी इतनी सबल और महत्तम है कि पाश्चात्य 'नूतन करालता' दूर हाथ जोड़े खड़ी है।

पंडित 'श्री विन्ध्य' जो की मधुर सरस वाणी,
भारत की भारती की ज्योति को जगाती है।
वीथियों में स्वच्छ शुभ्र शिष्यों की फिरती हुई,
मण्डली पुराना दृश्य सामने फिराती है।
परम पुनीत रीति नीति भरी 'भद्र' जी की,
द्वापर की छाया बट-इत बीच छाती है।
यों इस भूखण्ड की निराली आर्य माधुरी का,
नूतन करालता न लोप कर पाती है।

उपर्युक्त पंक्तियों में भारतीयता और राष्ट्रीयता के प्रति उनका अनन्य प्रेम झलकता है। उन्हें अतीत के भारत पर भी गर्व है जब उसने दूर-दूर के देशों को पराजित कर उन पर अपना अधिकार किया था।

पारसिन को मान मर्दन कियो इन बहु बार।
मेमिरमिस को जाय ठेल्यो बाबिलिन के द्वार॥
यव सुमात्रा आदि दीपन थापि निज अधिकार।
कियो अपने हाथ में सब पूर्व को अधिकार॥

भारत की इतनी महत्ता होते हुए भी पाश्चात्य देश उसकी जो उपेक्षा किये हैं, शुक्ल जी उससे दुःखी हैं। भारत ने अपनी विचार-धाराओं, विद्वत्ता एवं कला-कौशलों से आज के सभ्य कहे जाने वाले सभी राष्ट्रों को आभारी किया है। आज वही उपकृत देश अभिमानवश शिरोत्थान किये हैं और भारत का सम्मान करने में भी लज्जा का अनुभव करते हैं—

विविध विद्या-कला-कौशल जगत में फैलाय।
कियो अपने जान तो उपकार ही इन हाय।
हा, कृतघ्न प्रतीचि जन सब सीखि इनते ज्ञान।
विभव मद में चूर सकुचत करत अब सम्मान॥

देश के उत्थान-पतन के साथ शुक्ल जी के मानस की करुणा का उद्रेक तो हुआ ही है साथ ही उनकी अन्य रचनाओं में भी यह भावना व्यक्त होती है। 'शिशिर पथिक' की नायक-नायिका दोनों का परस्पर का प्रेम भी करुण भारतीय है। नायिका का पत्नी-व्रत ही साधना के स्वरूप में विद्यमान है,

जिससे जीवन के कठोर थपेड़ों को भी सहन करती हुई जीवन को सुरक्षित किये हुये है :—

> अब कहौ परिचै तुम आपनो,
> इत चले किततें, कित जावगे ?
> विचलि कै चित के केहि वेग सौं
> पग धर्यो पथ-तीर अधीर ह्वै ?
> सलिल सौं नित सींचति आस के,
> सतत राखति जो तन बेलि है ?
> पथिक ! बैठि अरे ! तुव बाट कोऊ,
> युवति जोवति है कतहूँ कोऊ ?
> नयन कोउ निरन्तर धावते
> तुमहिं हेरन को पथ-बीच में ?
> श्रवण-द्वार कोऊ रहते खुले
> कहुँ अरे, तुम आहट लेन को ?
> कहु कहूँ तोहि आवत जानि कै,
> निकटता तव मोद-प्रदायिनी ।
> प्रथम पावन हेतुहि होत है,
> चरण लोचन बीच बदाबदी ।

उपर्युक्त रचना में काव्य का यथार्थ स्वरूप प्रस्फुटित हो उठा है। नायक-नायिका के वचनों में वैयक्तिक अनुभूतियों का पूर्ण सम्मिश्रण है। उपर्युक्त पंक्तियों में एक विरहिणी बाला के हृदय का करुण चीत्कार है। युगों से अनुपस्थित प्रियतम के शुभागमन बेला पर 'चरण' और 'लोचनों' के मध्य में प्रथम प्राप्त करने की जो बदाबदी है उसमें कवि ने मनोवैज्ञानिक अध्ययन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है।

२५-२६ जनवरी १९४१ ई० को आचार्य शुक्ल जी ने श्री सोहनलाल द्विवेदी से कहा था :—

"लोगों ने मुझे बनारसी समझ लिया है, यह मेरे साथ अन्याय है। मैं मिर्जापुर का हूँ और मिर्जापुर मुझे अत्यन्त प्रिय है। मैं मिर्जापुर की एक-एक झाड़ी और एक-एक टीले से परिचित हूँ। उनके टीलों पर चढ़ा हूँ। बचपन मेरा इन्हीं झाड़ियों की छाया में पला है। मैं इसे कैसे भूल सकता हूँ।

लोगों की अन्तिम कामना रहती है कि वे काशी में मोक्ष-लाभ करें; किन्तु मेरी अन्तिम कामना यही है कि अन्तिम समय मेरे सामने मिर्जापुर का वही प्रकृति का दिव्य खण्ड हो, जो मेरे मन में, भीतर-बाहर बसा हुआ है।

आपने कवि-सम्मेलन की आयोजना पुस्तकालय भवन में की है, यह ठीक नहीं। दूसरी बार कवि-सम्मेलन कीजिये, तब पहाड़ पर झाड़ियों में कीजिये, जब पानी बरस रहा हो, झरने झर रहे हों, तब मैं भी हूँगा, और आप लोग भी। तब मिर्जापुर के कवि-सम्मेलन का आनन्द रहेगा। यों तो कवि-सम्मेलन सर्वत्र ही होते हैं।"[1]

आचार्य शुक्लजी की जिस अन्तिम आकांक्षा का उपर्युक्त पंक्तियों में प्रस्फुटन है उनसे ही उनके हृदय की प्रकृति-परक उदात्त भावना का परिचय मिलता है। यदि उनका कवि-हृदय गद्य-साहित्य के सृजन में संलग्न न हो गया होता तो आज वह प्रकृति के सबसे बड़े मनीषी कवि सिद्ध होते तथापि उनका उपलब्ध प्रकृति-काव्य कम महत्वपूर्ण नहीं। उसमें काव्य की स्वच्छन्द भावना का प्रदर्शन है। कवि अबाध रूप से प्रकृति के स्वच्छन्द स्वरूप को देखता है। उसके उस कृत्य में कवि की किसी वासना की गन्ध नहीं है। उन्होंने अपने प्रकृति-काव्य से ठा० जगमोहनसिंह एवं पं० श्रीधर पाठक की प्रकृति-परम्परा का चिरंजीवी रखा है, यही शुक्लजी के प्रकृति-काव्य की विशेषता है।

विकल पीड़ित पीय पयान ते,
चहुँ रह्यो नलिनी-दल घेरि जो।
भुजन भेंटि तिन्हें अनुराग सों,
गमन उद्यत भानु लखात है॥
तजि तुरन्त चले मुँह फेरि कै,
शिशिर-शीत-सशंकित मेदिनी।
विहंग आरत बैन पुकारते,
रहि गये पर नेकु सुन्यो नहीं॥
तनि गए सित ओस-वितान हू,
अनिल-झार-बहार धरा परी।

---

१. 'साहित्य संदेश', शुक्ल अंक, भाग ४, अंक ८–९, पृष्ठ ३६९ (अप्रेल-मई १९४१)।

लुकन लोग लगे घर बीच हैं।
विवर भीतर कीट पतंग से।
युग भुजा उर बीच समेटि कै,
लखहु आवत गैयन फैरि कै।
कंपत कंबल बीच अहीर हैं,
भरमि भूलि गई सब तान है।
तम चहूँ दिशि कारिख फेरि कै,
प्रकृति-रूप कियो धुँधलो सबै।
रहि गये अब शीत-प्रताप तैं,
निपट निर्जन घाटऽरु बाटहू॥
(शिशिर पथिक)

उपर्युक्त पंक्तियों में शिशिर-संध्या का सीधा-सरल चित्रण मिलता है। कवि ने ब्रजभाषा की परम्परागत अभिव्यंजना-शैली को अपनाने का प्रयास किया है तथापि काव्य कृत्रिमता विहीन है। साज-सज्जा विहीन भाषा साधारण मानवीय स्तर पर उतर आई है। इससे प्रासादिकता के साथ काव्य की मधुरिमा टपकी पड़ती है।

प्रकृति के विविध रूपों को शुक्लजी ने बड़ी सहृदयतापूर्वक देखा है। हरी-भरी घास और उसमें खिली हुई पीली सरसों के दृश्य बड़े ही मनोहर हैं। वसन्त का सौंदर्य निम्न पंक्तियों में दृष्टव्य है—

भूरी हरी घास आस पास फूली सरसों है,
पीली-पीली बिन्दियों की चारों ओर है प्रसार।
कुछ दूर विरल सघन फिर और आगे,
एक रंग मिला चला गया पीत पारावार॥
गाढ़ी हरी श्यामता की तुंग राशि रेखा घनी,
बाँधती है दक्षिण की ओर उसे घेर घार।
जोड़ती है जिसे खुले नीले नभ मण्डल से,
धुँधली-सी नीली नगमाला उठी धुँआधार।

कवि की दृष्टि सरसों पर ही नहीं फूली हुई मटर पर भी गई है। नील, रक्त एवं श्वेताभ मटरों के सुन्दर दृश्य हृदयाकर्षक हैं—

अंकित नीलाभ रक्त और श्वेत सुमनों से
मटर के फैले हुए घने हरे जाल में।

करती हैं फलियाँ संकेत जहाँ मुड़ते हैं
और अधिकार का न ज्ञान इस काल में।
बैठते हैं प्रीति-भोज हेतु आस पास सब
पक्षियों के साथ इस भरी हुई थाल में।
हाँक पर एक साथ पंखों ने सराटे भरे
हम मेंड़ पार हुए एक ही उछाल में॥

कवि ने वसन्तकालीन हरित-भरित दृश्यों को ही अपने गान का विषय नहीं बनाया है। शरपत्र (सरपतक) के किनारे सूखी तलैया को भी अपने काव्य का विषय बनाकर अपनी स्वच्छन्द भावना को प्रमाणित किया है।

सूखती तलैया के चारों ओर चिपकी हुई
लाल-लाल काइयों की भूमि पार करते।
गहरे पड़े गोपद के चिह्नों से अंकित जो
श्वेत बक जहाँ हरी दूब में विचरते॥
बैठ कुछ काल एक पास के मधूक तले
मन में सन्नाटे का निराला सुर भरते।
आए 'शरपत्र' के किनारे जहाँ रूखे खुले
टीले कंकरीले हैं हेमन्त में निखरते॥

'बुद्ध-चरित' में भी कवि ने प्रकृति के स्थलों के प्रति न्याय किया है। आर्नाल्ड के Light of Asia का रूपान्तर होने के कारण 'बुद्ध-चरित' में जो ऐसे स्थल हैं भी वस्तुतः वे सब मूल कवि की ही भावनायें हैं, तथापि अभिरुचि के अनुकूल होने के कारण ही शुक्लजी इस रूपान्तर को इतना सुन्दर स्वरूप दे सके हैं—इसके लिये वह साधुवाद के पात्र हैं।

विवाहोपरान्त गौतमबुद्ध के 'रंगभवन' के निर्माण की व्यवस्था है। उस स्थल का शुक्लजी ने यों वर्णन किया है—

खड़ो उत्तर ओर हिमगिरि की अमल प्राकार
नील नभ के बीच निखरो धवल मालाकार।
विदित वसुधा बीच जो अद्भुत अगम्य अपार,
जासु विपुल अधित्यका औ उठे बिकट कगार,
शृङ्ग तुङ्ग तुषार मण्डित, वक्ष विशद विशाल,
लहलहे अति ढार औ बहु दरी, खोह कराल,

जात मानव ध्यान लै ऊँचे चढ़ाय-चढ़ाय,
अमर धाम तकाय राखत सुरन बीच रमाय।
निर्भरन सौं खचित औ घन-आवरण सौं छाय,
श्वेत हिम तर रही काननराजि कहुँ लहराय।
परत नीचे चीड़, अर्जुन, देवदार अपार।
गरज चीतन की परै सुनि, करिन को चीत्कार।
कहुँ चटानन पै चढ़े वनमेष हैं मिमियात।
मारि के किलकार ऊपर गरुड़ हैं मँड़रात।
और नीचे हरो पट पर दूर लौं दरसाय,
देववेदिन तर बिछायों मनौ आसन लाय।[1]

Northwards soared
The stainless ramps of huge Himala's wall,
Ranged in white ranks against the blue-untrod,
Infinite, wonderful—whose uplands vast,
And lifted universe of crest and crag,
Shoulder and shelf, green slope and icy horn,
Riven ravine and splintered precipice
Led climbing thought higher and higher, until
It seemed to stand in heaven and speak with gods.
Beneath the snows dark forests spread, sharp-laced
With leaving cataracts and veiled with clouds.
Lower grew rose-oaks and the great fir groves
Where echoed pheasants' call and panther's cry,
Clatter of wild sheep on the stones and scream
Of circling eagles, under these the plain

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल, 'बुद्ध-चरित', द्वितीय सर्ग, पृष्ठ ४० (ना० प्र० स०)।

Ieamed like a praying carpet at the foot
Of those divinest altars)[१]

इसी प्रकार रूपान्तर का एक अन्य स्थल भी दृष्टव्य है—

नृपद्वार कुमारि चलीं पुर की,
अँगराग सुगन्ध उड़ै गहरी।
सजि भूषण अम्बर रंग-विरंग,
उमंगन सौं मन माँहि भरी।
कवरीन में मंजु प्रसून गुछे,
दृगकोरन काजर-लीक परी।
सित भाल पैरोचन-बिन्दु लसै,
पग| जावक-रेख रची उछरी ॥[२]

Thus flocked
Kapilvastu's maidens to the gate
Each with her dark hair newly
Smoothed and bound,
Eye lashes lustured with the soorma stick,
Fresh, bathed and scented, all in shawls and cloths
Of gayest, slender hands and feet new-stained
With crimson and the tilka,
spots stamped bright,[3]

शुक्ल जी की ब्रजभाषा माधुर्य-प्रसाद-समन्वित, सानुप्रासिक और स्वाभाविक प्रवाह से परिपूर्ण है। इन गुणों का समन्वय होते हुये भी इन गुणों को लाने में वह कहीं भी प्रयत्नशील नहीं है। इसी से 'बुद्धचरित' उनका विशेष सफल काव्य है।

'बुद्धचरित' के उपर्युक्त प्रकृति-परक रचना में भी शुक्ल जी का वही दृष्टिकोण रहा है जो उनकी प्रकृति की अन्य रचनाओं के सम्बन्ध में है।

प्रकृति-काव्य के सम्बन्ध में स्वयं आचार्य शुक्लजी का क्या दृष्टिकोण रहा है वह भी विचारणीय है—

1. Arnold : 'Light of Asia' Canto 2.

२. श्री रामचन्द्र शुक्ल, 'बुद्ध-चरित', द्वितीय सर्ग, पृष्ठ २४ (ना० प्र० स०)।

3. Arnold 'Light of Asia' Canto 2.

प्रकृति के शुद्ध रूप देखने को आँखें नहीं
जिन्हें वे ही भीतरी रहस्य समझाते हैं।
झूठे-झूठे भावों के आरोप से आच्छन्न उसे
करके पाषंड कला अपनी दिखाते हैं ।।
अपने कलेवर की मैली औ कुचैली वृत्ति
छोपके निराली छटा उसकी छिपाते हैं ।
अश्रु-श्वास-ज्वार-ज्वाला नीरव रुदन नृत्य
देख अपना ही तंत्री तार वे बजाते हैं ।।

उपर्युक्त पंक्तियों से यह पूर्ण स्पष्ट है कि शुक्लजी प्रकृति में मानवी भावनाओं के आरोप से सहमत नहीं हैं। प्रकृति के उन्मुक्त स्वरूप के ही वह उपासक थे। इसी भावना से उन्होंने प्रकृति-काव्य का सृजन किया है। इससे उनके इस प्रकार के काव्य में स्वच्छन्दतावादी भावना पूर्णरूप से विद्यमान है।

उपर्युक्त पंक्तियों के संक्षिप्त विवेचन के आधार पर यह कहने में जरा भी अतिशयोक्ति नहीं कि गद्य-साहित्य के समान शुक्लजी का काव्य-साहित्य भी महत्वपूर्ण है। उन्होंने अपनी मौलिक प्रतिभा से काव्य को सजीव कर श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावादी भावना को सप्राण रखा है।

रूपनारायण पाण्डेय(जन्म—१८८४ ई०)

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व—काव्य के दृष्टिकोण से रूपनारायण पाण्डेय द्विवेदी-मण्डल के बाहर की काव्य-भूमि पर अवतरित हुए हैं। यद्यपि पाण्डेय जी को आचार्य द्विवेदी के सामीप्य का लाभ था और वह भी पुत्र के समान ही उन्हें आशीर्वाद-भाजन बनाए हुए थे तथापि उनके काव्यगत दृष्टिकोण द्विवेदी जी से भिन्न थे। काव्य के विषय चुनने और उनके अभिव्यंजन के सम्बन्ध में उनमें उदारता और सरलता का अपूर्व समन्वय रहा है। इसीसे परम्परागत संकीर्णताओं का उनमें पूर्ण अभाव है। उनकी इन विशेषताओं के कारण ही स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति में उनके काव्य को अध्ययन का विषय बनाया गया है।

लखनऊ के रानी कटरे में पाण्डेय जी का जन्म आश्विन शुक्ल १२, १९४१ वि० सं० को हुआ था। इनके पिता का नाम पं० शिवराम पाण्डेय था। आप कान्यकुब्ज ब्राह्मण गेगासों के पाण्डेय हैं। छः पीढ़ियों से पाण्डेय परिवार रानी कटरे के इसी घर में रह रहा है, जिसमें आजकल पण्डित रूपनारायण पाण्डेय रह रहे हैं। लखनऊ में आने से पूर्व इनके पूर्वज जिला रायबरेली अनन्तर जिला

फतेहपुर में भी रहे थे। पं० रूपनारायण पाण्डेय जब एक वर्ष के थे तभी उनके पिता का देहान्त हो गया था। इससे उनके लालन-पालन का पूर्ण दायित्व उनके पितामह पर आया। परिवार में रूढ़िवादिता के कारण उनके पितामह ने उनके अंग्रेजी अध्ययन की व्यवस्था न की। प्रारम्भ में उन्होंने स्वयं ही संस्कृत का अध्ययन कराया। अनन्तर पण्डित ज्ञानेश्वर एवं पण्डित रामकृष्ण शास्त्री के निरीक्षण में उनका संस्कृत का अध्ययन चला। यथासमय ही उन्होंने केनिंग कालेज से संस्कृत की प्रथमा परीक्षा उत्तीर्ण की। मध्यमा परीक्षा के तीन खण्ड उन्होंने उत्तीर्ण कर लिए थे। इसी समय पितामह के देहान्त हो जाने के कारण उन्हें अपना अध्ययन स्थगित कर देना पड़ा। परिवार का भार आ जाने के कारण निर्वाहार्थ वृत्ति के लिए उन्हें नौकरी खोजनी पड़ी। नौकरी काल में भी वह एक जिज्ञासु विद्यार्थी के समान अध्ययन में जुटे रहे। वर्णमाला देखकर ही उन्होंने एक सप्ताह में बँगला भाषा का ज्ञान कर लिया था। अनन्तर सब-जज बाबू कालीप्रसन्नसिंह के यहाँ रहकर 'कृत्तिवास रामायण' के पद्यानुवाद करने में बँगला से वह भली-भाँति परिचित हो गए थे। इसी प्रकार स्वाध्ययन के बल पर ही उन्होंने मराठी, गुजराती एवं उर्दू भाषाओं को सीखा तथा अंग्रेजी भाषा से परिचित हुए।

'कृत्तिवास रामायण' के अनुवाद के उपरान्त लखनऊ रहकर 'नागरी-प्रचारक-पत्र' का सात वर्ष तक सम्पादन करते रहे। इसके आर्थिक भार का उत्तर-दायित्व इलाहाबाद बैंक की लखनऊ शाखा के बाबू गोपाललाल खन्ना को था। वह बड़े हिन्दी-प्रेमी थे। वह क्लर्क थे। अनन्तर वह सहायक मैनेजर हो गए थे। पत्र के सम्पादन का भार पाण्डेय जी पर था। उनके द्वारा 'भारत धर्म महामण्डल' की मुख-पत्रिका 'निगमागम चन्द्रिका' का भी ३ वर्ष तक सम्पादन किया गया। दो वर्ष काशी के मासिक पत्र 'इन्दु' के सम्पादकीय विभाग में रहकर आपने अपनी सम्पादन-कुशलता का परिचय दिया था। इसके उपरान्त पत्नी के निधन पर लखनऊ लौट आए थे। एक वर्ष के अनन्तर वह इण्डियन प्रेस, प्रयाग के हिन्दी विभाग के अध्यक्ष हो कर गए। वहाँ वह ३ वर्ष रहे। दो वर्ष 'कान्यकुब्ज' मासिक पत्रिका का भी सम्पादन किया। अनन्तर पुनः लखनऊ आकर नवल किशोर प्रेस से 'माधुरी' निकलवाई। प्रारम्भ में उन्होंने पांच वर्ष उसका सम्पादन किया। इसी समय प्रेस के अधिकारियों में पारस्परिक विद्वेष के कारण वह वहाँ से हटकर ३ वर्ष तक 'सुधा' का सम्पादन करते रहे। मध्य में 'माधुरी' प्रेमचन्द जी से सम्पादित होती रही। बारह वर्ष का यह समय

'माधुरी' के लिए बड़े संकट का रहा। १९३३ ई० से पाण्डेय जी ने पुनः माधुरी-सम्पादन का कार्य सम्हाला और १९५० ई० तक उसका सम्पादन किया।

उन्होंने अपने जीवन में पत्रों का ही सम्पादन विशेष रूप से किया है। इसी से सम्पादन-कला में वह विशेष पटु हैं। अपनी अध्ययनशीलता एवं लिखने की सुरुचि के कारण ही वह अब तक लगभग १०० पुस्तकें लिख सके हैं। इन पुस्तकों में अधिकांशतः बँगला तथा संस्कृत भाषाओं की पुस्तकों के सफल अनुवाद हैं। आप गद्य तथा पद्य बड़े ही अधिकार और विश्वास के साथ लिखते चले आ रहे हैं।

काव्य की परिभाषा में वह मम्मट से सहमत हैं। कालिदास का सम्पूर्ण काव्य उन्हें विशेष प्रिय है। अब भी समय मिलने पर वह कालिदास की कृतियों का ही अध्ययन करते हैं। उनकी रचनाएँ भावना-प्रधान हैं और प्रासादिकता उनका विशेष गुण है।

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी लखनऊ आने पर अपने परम मित्र पं० गोविन्दप्रसाद वाजपेयी के निवास पर ही ठहरा करते थे। एक बार आचार्य द्विवेदी जी ने 'अँगना अनंग की' समस्या पाण्डेय जी को दी। पाण्डेय जी ने बड़े चातुर्य के साथ उक्त समस्या की पूर्ति निम्न घनाक्षरी में की।

शंकर की सेवा में उपस्थित उमा को देख,
काम ने बसन्त ने चढ़ाई एक साथ की।
योगिराज का भी मन चंचल हुआ तो पर,
रोक ली प्रवृत्ति वहीं उठतीं उमंग की।।
रोष से तृतीय नेत्र खोलकर देखते ही,
राख ही दिखाई पड़ी मदन के अंग की।
होकर अचेत त्यों ही जड़ से उखाड़ी गई,
लतिका समान गिरी 'अँगना अनंग की'।।

द्विवेदी जी उनकी इस काव्य-प्रतिभा से बड़े ही प्रसन्न हुए और अनन्तर आजीवन उनका आशीर्वाद पाण्डेय जी के साथ रहा।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—अपनी प्रारम्भिक रचनाओं में पाण्डेय जी से ब्रज-भाषा की रचनाएँ प्रस्तुत की थीं; किन्तु कालान्तर में उन्होंने खड़ी बोली ही काव्य के लिए उपयुक्त समझी। खड़ी बोली के भी व्यावहारिक स्वरूप को ही वह पसन्द करते थे, इसी से शैली में दुरूहता कहीं नहीं आ पाई है।

कहते हैं सब लोग हमें, हम दीन-हीन हैं भिक्षुक हैं।
कुछ भी हो, हम लोग अभी अच्छे होने के इच्छुक हैं।
सच है, वैभव नहीं रहा पर बुद्धि हमारी दीन नहीं,
पौरुष कम है ; मगर हुए हैं मनुष्यत्व से हीन नहीं।[1]

—इस प्रकार की सीधी-सच्ची भाषा का ही उनके काव्य में सर्वत्र प्रयोग है।

द्विवेदी-युग राष्ट्र-निर्माण का युग था। इससे राष्ट्र, समाज, जाति एवं धर्म आदि के नव-निर्माण के लिए इस समय के कवियों की रचनाओं में उपदेशात्मक एवं इतिवृत्तात्मक काव्य का प्राधान्य था। यद्यपि पाण्डेय जी के काव्य में सर्वत्र ऐसे उपदेश का आग्रह नहीं है तथापि देश, जाति एवं धर्म-विषयक रचनाओं के अन्त में वह निर्माण-विषयक सन्देश दे ही देते हैं—

ब्रह्मदेव, फिर उठो देश का हित करने को,
रोग, शोक, दारिद्रय, दुःख दुर्मति हरने को।
ज्ञान, प्रेम, आनन्द प्राप्त कर कर्मी हम हों,
आलस, बैर, विकार, वासना, विप्लव कम हों।
देखे फिर सारा जगत, क्या है सच्ची सभ्यता,
पराकाष्ठा धर्म की और भाव की भव्यता।[2]

और—

पालन कर कर्त्तव्य जगत के तुम भी गुरु बन जा सकते,
प्रथम प्रतिष्ठा पासकते, फिर पुरुष-सिंह कहला सकते।
इच्छा करने से तुरन्त तुम हो सकते सब के समकक्ष,
हो सकते समकक्ष न केवल, बन सकते सबके अध्यक्ष।[3]

इस प्रकार के निर्माण-विषयक नैतिक सन्देश उनकी अन्य रचनाओं से भी उपलब्ध किए जा सकते हैं। युग का यह ऐसा प्रभाव था जिसको पाण्डेय जी दूर नहीं कर सके हैं। समाज एवं राष्ट्र के इस प्रकार के हित-सम्पादन में ही वह 'शिव' आँकते हैं।

---

१. रूपनारायण पाण्डेय— मातृभूमि, पराग, पृष्ठ २२ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।
२. रूपनारायण पाण्डेय—दिग्दर्शन, पराग, पृष्ठ १५ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।
३. रूपनारायण पाण्डेय—प्रोत्साहन, पराग, पृष्ठ २२ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)

'वन-विहंगम' रचना में उनकी भावुकता और सरसता स्पष्ट परिलक्षित होती है। यद्यपि यह रचना कपोत-कपोती के त्यागभरे कथानक पर आधारित है तथापि बीच-बीच में कवि ने उपदेशों का पुट भी दिया है। बच्चों के वात्सल्य के कारण कपोत और कपोती ने प्राणों को होम दिया है। इस महान त्याग के कारण ही इस काव्य का उद्देश्य महत्तम बन गया है—

> **वन-बीच बसे थे, फँसे थे ममत्व में, एक कपोत, कपोती कहीं,**
> **दिन रात न छोड़ता एक को दूसरा, ऐसे हिले-मिले दोनों वहीं।**
> **बढ़ने लगा नित्य नया-नया नेह, नई-नई कामना होती रही,**
> **कहने का प्रयोजन है इतना, उनके सुख की रही सीमा नहीं ॥**[1]

स्थल-स्थल पर उनके काव्य में दुःखवाद एवं असारता का दृष्टिकोण भी झलकता है। ऐसे स्थलों पर वैयक्तिक अनुभूति के कारण कवि बड़ा ही कोमल हो गया है—

> **अहह, अधम आँधी, आ गई तू कहाँ से ?**
> **प्रलय-घन-घटा सी छा गई तू कहाँ से ?**
> **पर-दुख-सुख तूने हा ! न देखा, न भाला,**
> **कुसुम अधखिला ही हाय, यों तोड़ डाला।**
> **तड़प-तड़प माली अश्रुधारा बहाता,**
> **मलिन-मलिनिया का दुःख देखा न जाता।**
> **निठुर फल मिला क्या व्यर्थ पीड़ा दिये से,**
> **इस नव लतिका की गोद सूनी किये से ?**[2]

यह दुःखवाद ही, जो जीवन की असारता पर टिका है, छायावाद में आकर निराशामूलक हो गया है। वस्तुतः 'दलित कुसुम' का कवि द्वारा पर्यवेक्षण बड़ा ही मार्मिक है।

इसी प्रकार उनकी वैयक्तिकता की अमर छाप स्त्री-वियोग के अवसर पर लिखित 'तिलांजलि' नाम्नी रचना में उपलब्ध होती है—

---

१. रूपनारायण पाण्डेय—वन विहंगम, पराग, पृष्ठ ६२ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।

२. रूपनारायण पाण्डेय—दलित कुसुम, पराग, पृष्ठ ८८ (गंगा पुस्तकमाला, लखनऊ)।

चन्द्रिका-सदृश दम-भर खिलकर, हा हन्त ! हुई अन्तर्हित यों,
कर हृदय हमारा अन्धकार, उठ गई जगत से दम भर में।
प्रियतमे, देवि, तुम तो अनन्त-सौभाग्य शालिनी निश्चय हो,
बालक-वियोग-वेदना नहीं सह सकीं, गई पीछे उसके।

शोक-सूचक रचनाओं में यों ही कवि का व्यक्तिवाद प्रस्तुत रहता है, वही इस स्थल पर भी है। कवि ने पंक्तियों को अतुकान्त रखने का प्रयास किया है।

अंग्रेजी की Sonnet के ढंग पर पाण्डेय जी ने भी पक्तियाँ लिखी हैं। इस स्थल पर चाँदनी रात के उपलक्ष में लिखी हुई उनकी चतुर्दशपदी दृष्टव्य है :—

नील नभोमण्डल में कैसा सुन्दर रंग झलकता है,
जिसको देख हृदय प्याले से रसमय भाव झलकता है।
छाई शुभ्र शरद की शोभा पूर्ण इन्दु के मण्डल में।
सागर सारा समा रहा ज्यों एक बिंदु के मण्डल में।
शुक्ला अभिसारिका सदृश यह शरद-शर्वरी मन-भाई,
प्रिय प्रभात से मिलने को हँसती सी देखो, है आई।
चटकीली चाँदनी पड़ी चादर सी चन्द्र-वदन पर है,
तारे हैं या चाँदी के तारों का काम मनोहर है।[1]

उपर्युक्त के अतिरिक्त ग्रीष्म आदि के वर्णन में भी कवि ने अपने को परम्परा-पालन से मुक्त रखा है। प्रकृति का भी कवि में मौलिक निरीक्षण है।

उपर्युक्त काव्य के संक्षिप्त विवेचन से इतना स्पष्ट है कि पं० श्रीधर पाठक द्वारा प्रतिपादित काव्य की स्वच्छन्दतावादी धारा अथवा द्विवेदी जी की परम्परागत काव्य की प्रगति के प्रति उनका कोई विशेष आग्रह नहीं है। कवि ने सामयिक परिस्थितियों को ही अपने काव्य का विषय बनाकर ईमानदारी के साथ सरल और प्रासादिक शैली में उनका वर्णन कर दिया है। द्विवेदी-युग में रहकर भी उनका काव्य छायावादी युग की पृष्ठभूमि प्रस्तुत करने में प्रवृत्त है, यही उनके काव्य की विशेषता है।

मन्नन द्विवेदी गजपुरी (१८८५ ई०—१९२१ ई०)

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व—मन्नन द्विवेदी गजपुरी के पूर्वज जिला गोरखपुर के अन्तर्गत राप्ती नदी के किनारे गजपुर ग्राम के रहने वाले थे। इनके पिता

१. रूपनारायण पाण्डेय—चाँदनी रात, पराग, पृष्ठ ८९।

पं० मातादीन द्विवेदी अपने ग्राम के जमींदार थे और वह ब्रजभाषा के अच्छे कवि भी थे। आप कश्यपगोत्रीय कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। आपके ही परिवार में मन्नन द्विवेदी का सं० १९४२ वि० में जन्म हुआ था। उन्होंने सं० १९६५ में गवर्नमेंट कालेज, बनारस से बी० ए० परीक्षा उत्तीर्ण की थी। अपनी छोटी अवस्था से ही वह कविता करने लगे थे।

आजमगढ़ जिले में वह तहसीलदार थे। अवकाश-प्राप्त समय में वह साहित्य-सेवा किया करते थे। 'सरस्वती' एवं अन्य पत्रिकाओं में उनकी कविताएँ प्रकाशित होती रही हैं। सं० १९७८ में उनका देहान्त हो गया था।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता एवं नैतिकता के बन्धन से मन्नन द्विवेदी दूर थे। यों राष्ट्रीयता की प्रगति के साथ, जो द्विवेदी-युग की प्रमुख प्रवृत्ति थी, उनका काव्य भी अग्रसर हुआ है। उनकी वाणी में भी देश के नव-निर्माण का संदेश है। देश के अतीत के स्वर्णिम-युग का गान कर पतनावस्था से दुखी होकर कवि पुन: उत्थान की भावना प्रदान करता है। इस भावना से रूढ़िवादिता के स्थान पर कवि-हृदय की विशालता ही ज्ञात होती है।

जन्म-प्रदायिनी माँ से मातृभूमि का पद उच्च और प्रधान है। इस सम्बन्ध में द्विवेदी जी का कथन है—

जन्म दिया माता सा जिसने किया सदा लालन-पालन।
जिसके मिट्टी जल आदिक से, रचा गया हम सबका तन॥
गिरिवर गण रक्षा करते हैं, उच्च उठा के शृंग महान।
जिसके लता द्रुमादिक करते, हमको अपनी छाया दान॥
माता केवल बालकाल में, निज अंकन में धरती है।
हम अशक्त जब तलक तभी तक पालन पोषण करती है॥
मातृ-भूमि करती है मेरा, लालन सदा मृत्युपर्यन्त।
जिसके दया-प्रवाहों का नहिं, होता सपने में भी अन्त॥

* * *

ऐसी मातृ-भूमि मेरी है, स्वर्ग लोक से भी प्यारी।
जिसके पद-कमलों पर मेरा तन-मन-धन सब बलिहारी॥

कवि हिमालय एवं अन्य प्राकृतिक दृश्यों से संयुक्त देश की सुषमा का गान करने में अपने को गौरवान्वित समझता है; किन्तु देश की हीनावस्था उसे

विचलित कर देती है और वह करुण होकर पूछ उठता है :—

बतादे गंगा कहाँ गया है, प्रताप पौरुष विभव हमारा ?
कहाँ युधिष्ठिर, कहाँ है अर्जुन, कहाँ है भारत का कृष्ण प्यारा ?

अनन्तर कवि ईश्वर से अनन्य कामना करता है :—

सिखादे ऐसा उपाय मोहन, रहें न भाई पृथक् हमारे।
सिखादे गीता की कर्म शिक्षा, बजाकर बंशी सुनादे प्यारे॥
अँधेरा फैला है घर में माधो, हमारा दीपक जलादे प्यारे।
दिवाला देखो हुआ हमारा, दिवाली फिर भी दिखादे प्यारे॥

जन्म-भूमि के प्रेम के साथ कवि में दुःखवाद का भी मिश्रण था। द्विवेदी जी की रचना 'वीर बोनापार्ट के अन्तिम दिन' निस्सन्देह बड़ी करुण है :—

आज दिखाई पड़ते हैं जो सुमन सुभग शोभाशाली
कल प्रभात ही उन्हें तोड़ने वह देखो आता माली।[1]

विश्वव्यापी यह असारता अपने स्वरूप में सर्वत्र विद्यमान है। इसका ऐसा प्रभावशाली बन्धन है कि आज तक उससे कोई भी नहीं बच सका है। मरणासन्न बोनापार्ट की निम्न भावनाओं में उसके हृदय का सच्चा प्रस्फुटन है। जिस प्रकार वह अपने वीर-कृत्यों में महान् था उसी प्रकार उसकी भावनाएँ भी महान् थीं। उसके हृदय की स्वच्छन्द पुकार थी :—

मर जाने पर मुझे कार्सिका-द्वीप भेज देना होगा।
जिसकी है यह देह उसी में इसे मिला देना होगा॥
अथवा मुझको मेरे प्यारे फ्रांस देश को भिजवाना।
मेरी 'कब्र' 'सीन' सरिता के परिचित तट पर बनवाना॥
मेरे सगे सहोदर के सम फ्रांस निवासी आवेंगे।
बैठ बैठ गुण गाकर मेरा आँसू वहीं बहावेंगे॥
अथवा मुझे सुला देना तुम, उस प्यारे झरने के तीर।
जिसका जल पीकर जीता था यह नृप सैनिक बन्दीवर॥[2]

बोनापार्ट के इस प्रकार के सोचने में मस्ती अवश्य है। बन्दीगृह का बन्दी बोनापार्ट जब लौकिक कारा से मुक्त हो जावेगा तब उसके शव का क्या होगा ?

---

१. मन्नन द्विवेदी—'वीर बोनापार्ट के अन्तिम दिन' सरस्वती, जून १९१३।
२. ,, ,, ,,

उसकी आकांक्षा पूर्ण होती है अथवा नहीं, यह तो भविष्य ही जाने; किन्तु उसकी विचारधारा पूर्ण मानवी है, यह सत्य है।

जब हाथ बढ़ाया लेने को हा, हृदय उसे दे देने को,
सब टूट गई पाँखुरी वहीं मोती सी फैली बिखर-बिखर।
आनन्द मृत्यु का भी कारण कहते हैं होता कभी-कभी,
क्या छूजाने ही से मुझसे वह मोदमत्त निर्जीव हुआ।
या जड़ शरीर को छोड़ प्रेममय होकर अन्तर्धान हुआ,
मिल गया स्नेह के सागर में उसके जल का कण होकर के।
या खण्डित कर शरीर अपना करने में मेरा शुभ स्वागत,
वह हाथ बढ़ा प्यारा-प्यारा देकर सुगन्ध-उपहार मुझे।
प्राणेश कहाँ वह लोप हुआ किसका कैसा यह कोप हुआ,
मैं व्याकुल बैठा सोच रहा, हैं पड़ी पाँखुरी उसकी कुछ।[1]

इन पंक्तियों में द्विवेदी जी परम्परावादी भावनाओं से पूर्ण मुक्त हैं। उनकी भावनाएँ स्वतन्त्रतापूर्वक भावलोक में भ्रमण करती हुई पुष्प के शाश्वत प्रेम के स्वरूप को भी व्यक्त करती हैं। इसमें स्थूल का चित्रण न होकर सूक्ष्म का निरीक्षण है।

द्विवेदी-युग में काव्य के स्थूल स्वरूप ही सामने आ सके थे। जिन कवियों ने द्विवेदी के प्रभाव से मुक्त हो काव्य-रचना की थी, उनमें ही मौलिकता और सरलता का समावेश रहा था। वे अपनी विचारधाराओं के साथ न्याय अवश्य कर सके थे। मन्नन द्विवेदी की 'चमेली' रचना में कवि का स्वच्छन्द निरीक्षण है। पंक्तियाँ बड़ी ही सुन्दर और मधुर हैं:—

सुन्दरता की रूपराशि तुम, दयालुता की खान चमेली।
तुमसी कन्याएँ भारत को, कब देगा भगवान् चमेली॥
चहक रहे खगवृन्द वनों में, अब न रही है रात चमेली।
अमल कमल कुसुमित होते हैं, देखो हुआ प्रभात चमेली॥
प्रेम-मग्न प्रेमी जन देखो, करें प्रभाती गान चमेली।
जिसने तुमसा वृक्ष लगाया, कर माली का ध्यान चमेली॥
जग-यात्रा में सहने होंगे, कभी-कभी दुःख-भार चमेली।
काट-छाँट से मत घबराना, यह भी उसका प्यार चमेली॥

१. मन्नन द्विवेदी, गुलाब की पाँखुरी, सरस्वती, सितम्बर, १९१५।

छिन्न-भिन्न डालों का होना, अपने ही हित जान चमेली ।
हरे-हरे पत्ते निकलेंगे सुमनों के सामान चमेली ।।
भ्रमर-भीर गुंजार करेगी, तुझसे हास विलास चमेली ।
दिग्दिगन्त सुरभित होवेगा, पाकर सुखद सुवास चमेली ।।
अटल नियम को भूल न जाना, जग में सबका नाश चमेली ।
अस्त अंशुमाली भी होता, घूम अखिल आकाश चमेली ।।
नहीं रहेगा मूल न शाखा, नहीं मनोहर फूल चमेली ।
निराकार से मिलकर होना, प्रियतम-पद की धूल चमेली ।।[1]

द्विवेदी जी के काव्य का उत्कृष्ट स्वरूप इस रचना में प्रस्फुटित हुआ है। कवि ने 'चमेली' के द्वारा लौकिक जीवन को 'जन्म' से लेकर 'मरण' तक निरीक्षण किया है। जीवन में निर्भय एवं निशंक होकर कालयापन करने का शुभ सन्देश देकर उसे स्वच्छन्दजीवी बनाये जाने का प्रयास किया गया है।

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन एवं कवि के उद्धरणों से यह पूर्ण स्पष्ट है कि मन्नन द्विवेदी गजपुरी भाव, भाषा एवं छन्द आदि के सम्बन्ध में परम्परावादी नहीं हैं। उनकी भावनाएँ भी उन्मुक्त हैं। इस प्रकार श्रीधर पाठक द्वारा जिस स्वाभाविक एवं सरल जीवन का दर्शन कराया गया था द्विवेदी जी के काव्य ने भी उसी पथ पर चलकर हिन्दी को गौरवान्वित किया है।

बदरीनाथ भट्ट (१८८६ ई०–१९३३ ई०)

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व—खड़ी बोली के बाह्य स्वरूप के निर्मित हो जाने पर उसकी अन्तर्भावना को प्रमुखता देकर चलने वाले कवियों में मैथिलीशरण गुप्त एवं मुकुटधर पाण्डेय के साथ बदरीनाथ भट्ट का भी नाम लिया जाता है। इन लोगों ने विचारों के क्षेत्र में क्रान्ति उपस्थित कर दी और श्रीधर पाठक की स्वच्छन्दतावादी भावना को सफलतापूर्वक अग्रसर किया।

भट्ट जी आगरा (गोकुलपुरा) के रहने वाले थे। उनके पिता रामेश्वर भट्ट हिन्दी और संस्कृत के विद्वान् थे। उन्होंने अपने जीवन में कितनी ही संस्कृत और हिन्दी काव्य-पुस्तकों की टीकाएँ की थीं। पिता की साहित्य-मर्मज्ञता का बदरीनाथ भट्ट जी पर भी प्रभाव पड़ा था। उन्होंने हिन्दी गद्य-पद्य में लिखना आरम्भ किया। द्विवेदी जी के 'सरस्वती' के सम्पादन-काल में उनकी गद्य-पद्य की रचनाएँ सरस्वती में बहुधा निकला करती थीं।

---

१. श्री मन्नन द्विवेदी, 'चमेली', सरस्वती, जनवरी, १९१६।

सन् १८८६ ई० के लगभग उनका जन्म हुआ था। आपने बी० ए० तक अध्ययन किया था। अपनी योग्यता के कारण ही आपने लखनऊ विश्वविद्यालय में हिन्दी-प्राध्यापक का पद प्राप्त किया था।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—बीसवीं शताब्दी के द्वितीय दशक में मैथिलीशरण गुप्त एवं मुकुटधर पाण्डेय के समान बदरीनाथ भट्ट जी भी अन्तर्भावनाओं को काव्य में प्रमुखता देकर चले थे। उनके हृदय में भी विश्व-व्यापी अव्यक्त सत्ता के लिए जिज्ञासा उठी थी और संसार की असारता ने उनके कवि-हृदय को भी व्यथित किया था। 'प्रार्थना'[1] के अन्तर्गत 'अशरण-शरण शरण हम तेरी' भावना को भट्ट जी व्यक्त करते हैं। इसमें कवि अपने को आत्मिक उद्धार एवं कल्याण की संकुचित सीमा में ही आबद्ध नहीं कर देना चाहता है, उसके स्थल पर 'भारतमाता' की कल्याण कामना करते हुए राष्ट्रीय भावना के विकास और प्रसार की अनन्य कामना भी करते हैं। इस प्रकार के महान् कल्याण के लिए 'स्वार्थ' के आवरण को भी हटा देने की आवश्यकता है। इस प्रकार यह सब हित-चिन्तन देश के लिए है—राष्ट्र-निर्माण के लिये है। कवि 'देशभक्ति-लाली' 'सुसमीर एकता', 'मृदु प्रेम की सुरभि', 'सद्भाव पंकज' एवं जातीयता नलिनी आदि की 'प्रार्थना'[2] करता है। देशवासियों की निष्क्रियता और आलस्य ही से वास्तव में देश की दुर्गति थी :

> **ऐ सोने वाले जाग जाग**
> **ले माल लुटेरा चला गया**
>
> ◇ ◇ ◇
>
> **है संकट चारों ओर घोर आया जीवन का पास छोर,**
> **क्या जाने कट जाय डोर डस रहा तुम्हें है काल-नाग।**
> **ऐ सोने वाले जाग जाग**
> **उठ अब भी अपने को संभाल, आई जो विपदा उसे टाल**
> **है समय बचाले जान माल, अब तो आलस की नींद त्याग**
> **ऐ सोने वाले जाग जाग**[3]

प्रकृति-देवि के परिवर्तन के कारण भी कवि निर्माण के लिए 'अनुरोध

---

१. बदरीनाथ भट्ट, 'प्रार्थना', सरस्वती, अप्रैल, १९१५।
२. " 'प्रार्थना गजल', सरस्वती, मार्च १९१४।
३. " 'चेतावनी' माधुरी, १७ जून, १९२६ ई०।

करता है। इस प्रकार की प्रेरणा वस्तुतः बड़ी ही सरल और स्वाभाविक है :—

अब तो आँखें खोलो प्यारे
पूर्व दिशा अब तरुण हुई है,
प्रकृति-देवि पट बदल रही है।
यम ने तम की बाँह गही है,
छिपकर भागे तारे।
उषा देवि के दर्शन पाकर
हुए प्रफुल्लित सभी चराचर
तुम क्यों सोये शीश झुकाकर
सुधि बुधि सभी बिसारे।
अब तो आँखें खोलो प्यारे ॥[1]

प्रकृति, जो मानव के समान ही सजीव है, अपने परिवर्तनों से अपने जीवन को व्यक्त करती है फिर मानव की अलसायी हुई स्थिति कितनी लज्जास्पद है।

भट्ट जी ने प्रकृति के सरल और स्वाभाविक स्वरूप को देखा है। मुकुटधर पाण्डेय के समान प्रकृति में अव्यक्त ईश्वरीय सत्ता को उन्होंने नहीं देखा है। इस कारण वह विशुद्ध प्रकृतिवादी कहे जा सकते हैं :—

खिला है नया फूल उपवन में,
सुखी हो रहे हैं सब तरुवर बेलें हँसती मन में ॥
प्रात समीर लगी, सुख पाया, पहली दशा भुलाई।
जिधर निहारा उधर प्रेम की थाली परसी पाई ॥
रूप अनूठा लेकर आया, मृदु सुगंध फैलाई।
सब के हृदय-देश में अपनी प्रभुता ध्वजा उड़ाई ॥
जीत लिया है तूने सबको ऐसी लहर चलाई।
रोकर हँसकर सभी तरह से अपनी बात बनाई ॥[2]

प्रकृति के सस्मित स्वरूप को देखकर कवि जीवन के शुक्ल पक्ष पर दृष्टि-

१. बदरीनाथ भट्ट, अनुरोध, पद्य-संग्रह, सम्पादक ब्रजराज एवं गोपाल स्वरूप सं० १९७८, (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग)।

१. बदरीनाथ भट्ट, नया फूल, सरस्वती, जुलाई, १९१५।

पात करता है। साथ में 'सूखी पत्ती' में 'समय का फेर' अनुभव कर वह दुःख-वाद को भी अपने अंक में छिपाये है।

> पड़ी भूमि पर ठोकर खाती पीला तेरा रंग हुआ है।
> सब रस रूप समय ने लूटा चुरमुर सारा अंग हुआ है।।
> जिस पर रहती थी सवार नित, घुल-घुलकर बातें करती थी।
> वही हवा अब धूल फेंकती उलटा सारा ढंग हुआ है।।
>
> * * *
>
> अब क्या जुड़ सकती है तरु में ? किसकी है तू कौन है तेरा ?
> इस दुनिया में कोई किसी के दुःख में कभी न संग हुआ है।
> 'दुःख' क्या है ? अभिमान प्रतिध्वनि, है आशा का रूप निराशा।
> है जीवन का हेतु मरण ज्यों मणि का हेतु भुजंग हुआ है।[1]

उपर्युक्त संक्षिप्त विवेचन से भट्ट जी की प्रमुख काव्य-प्रवृत्तियों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है। भट्ट जी भी मुकुटधर पाण्डेय के समान द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता एवं नीतिवादिता से दूर थे। उन्होंने जीवन-निर्माण के सम्बन्ध में अकृत्रिम स्वरूप को ही प्रस्तुत किया है। प्रकृति के निरीक्षण में कवि स्वाभाविक रहा है। उसके अन्तर में प्रविष्ट होकर जीवन की असारता, परिवर्तनशीलता एवं दुःखवाद की भावना की भी उन्होंने अनुभूति की है।

इस प्रकार श्रीधर पाठक द्वारा प्रचलित की हुई स्वच्छन्दतावादी भावना का पूर्ण संरक्षण हमें बदरीनाथ भट्ट के काव्य में उपलब्ध हो जाता है। उनके काव्य में वैयक्तिक भावना का स्वरूप विद्यमान है।

रामनरेश त्रिपाठी (जन्म—१६८६ ई०)

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व—काव्य में जिस स्वच्छन्दतावाद का प्रारम्भ पं० श्रीधर पाठक द्वारा किया गया था उसका स्वाभाविक स्वरूप ही त्रिपाठी जी के काव्य में प्रस्फुटित हुआ। उनकी स्वच्छन्दवादिता राष्ट्रीय भावना-परक है। उनकी रचनाओं से राष्ट्रीयता का विशेष आकर्षक विषय ही पाठक के समक्ष प्रस्तुत हो जाता है।

जिला जौनपुर के अन्तर्गत कोइरीपुर ग्राम में सं० १६४६ में आपका जन्म

---

१. बदरीनाथ भट्ट, 'समय का फेर', सरस्वती, मार्च, १६१५।

हुआ था। आपके पिता का नाम पं० रामदत्त त्रिपाठी था। उनका परिवार सरयूपारीय ब्राह्मण है। वह गीता, रामायण एवं महाभारत आदि धार्मिक ग्रंथों के बड़े ही प्रेमी थे। उन्हीं से त्रिपाठी जी को रामायण का अनुराग हुआ था। त्रिपाठी जी का अध्ययन कक्षा ६ से अधिक नहीं चल सका। अपने जन्म-ग्राम से अपर प्रायमरी परीक्षा उत्तीर्ण कर वह जौनपुर के हाई स्कूल में अंग्रेजी पढ़ने गए; किन्तु अंग्रेजी पढ़ने के सम्बन्ध में पिता जी का उनसे विरोध हो गया। वह अंग्रेजी के पक्ष में न थे। नौकरी करके धन कमाने की उनकी आकांक्षा थी। उनकी रुष्टता के कारण उन्हें बिना सूचित किये वह कलकत्ता भाग गये।

कलकत्ता में वह संग्रहणी रोग से पीड़ित हो गए। डाक्टरों ने भी उनके जीवन के लिए निराशा प्रकट की। अन्त में वह राजस्थान चले गए और फतहपुर (शेखावटी) में जाकर ठहरे। वहाँ वह स्वस्थ हो गये। अन्त में वह घर लौट गये; किन्तु उनमें रोग के कुछ लक्षण विद्यमान थे। इससे आप पुनः वहीं चले गये। वहाँ मारवाड़ी सज्जनों के सहयोग से एक पुस्तकालय स्थापित किया। पुस्तकालय से हिन्दी, संस्कृत एवं अंग्रेजी पुस्तकों का आपने जमकर अध्ययन किया।

कलकत्ता में रहकर उन्होंने बंगला भाषा का ज्ञान किया था और राजपूताने में निवास करने से गुजराती आदि सीखने का भी सौभाग्य प्राप्त हुआ। त्रिपाठी जी के साहित्यिक जीवन का प्रारम्भ राजस्थान से ही होता है। वहाँ आपने कितनी ही काव्य-पुस्तकें लिखीं।

१९१५ ई० में पिता के देहान्त पर आप अपनी जन्मभूमि में लौट आये। दो वर्ष के उपरान्त १९१७ ई० में वह प्रयाग में जाकर रहने लगे। नवयुवक थे ही, राष्ट्रीय आन्दोलनों में उन्होंने सक्रिय भाग लिया। आन्दोलनों में उनको कारावास भी हुआ। १९२४ ई० में आपने हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग और १९३१ ई० में हिन्दी-मन्दिर-प्रेस, प्रयाग की स्थापना की।

'मिलन', 'स्वप्न' एवं 'पथिक' आदि उनकी महत्वपूर्ण राष्ट्रीय रचनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त उन्होंने कविता कौमुदी, ग्राम गीतों के संग्रह तथा अन्य कितना ही गद्य और पद्य साहित्य का सृजन किया। सुल्तानपुर से आपने 'उद्योग' नाम की पाक्षिक पत्रिका निकाली थी। १९३१ ई० से आपने 'वानर' का सम्पादन प्रारम्भ किया। कुछ समय तक सम्मेलन पत्रिका का संपादन भी किया था।

आपने सुल्तानपुर में अपना घर बनवा लिया है। अब आप आजकल सपरिवार वहीं रह रहे हैं।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—त्रिपाठी जी की काव्य-विषयक सेवा के सम्बन्ध में आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल का कथन है—

"काव्य क्षेत्र में जिस स्वाभाविक स्वच्छन्दता (Romanticism) का आभास पं० श्रीधर पाठक ने दिया था उसके पथ पर चलने वाले द्वितीय उत्थान में त्रिपाठी जी दिखलाई पड़े। 'मिलन', 'पथिक' और 'स्वप्न' नामक इनके तीनों खण्ड-काव्यों में इनकी कल्पना ऐसे मर्म पथ पर चली है जिस पर मनुष्य मात्र का हृदय स्वभावतः ढलता आया है। ऐतिहासिक या पौराणिक कथाओं के भीतर न बँधकर अपनी भावना के अनुकूल स्वच्छन्द संचरण के लिए कवि ने नूतन कथाओं की उद्‌भावना की है। कल्पित आख्यानों की ओर यह विशेष झुकाव स्वच्छन्द मार्ग का अभिलाष सूचित करता है।"[1]

त्रिपाठी जी के उपर्युक्त तीनों खण्डकाव्य ही स्वाभाविक स्वच्छन्द भावना के लिए प्रमुख हैं। इससे उनके तीनों काव्यों की अलग-अलग विवेचना ही उचित होगी।

'मिलन' (१९१७ ई०) में युवक (आनन्दकुमार) युवती (विजया) दोनों ही राष्ट्रीय भावनाओं से ओत-प्रोत हैं। देश की दयनीय परिस्थिति से दोनों ही व्यथित और मर्माहत हैं।

शत्रुओं से देश को मुक्त करने के लिए युवक के समक्ष अपना निम्न उद्देश्य है :—

> **रक्षित रखने को भूतल पर**
> **मनुष्यता का नाम।**
> **उठने वाले ईश्वर के,**
> **कर असंख्य अविराम।**
> **अस्थि-चर्ममय कंकालों में,**
> **जो कुछ बल है शेष।**
> **संचय कर रिपु रहित करूँगा,**
> **अपना प्यारा देश।**
>
> (सर्ग १—११)

---

१. पं० रामचन्द्र शुक्ल—हिन्दी साहित्य का इतिहास, काव्य खण्ड, नई धारा, द्वितीय उत्थान (सं० १९५०–७५), पृष्ठ ६२८ (ना० प्र० सभा)।

इस भावना से प्रेरित होकर अपनी प्रियतमा से विदा लेने के लिए उसके पास पहुँचा।

प्रिये, विदा प्रियतमे विदा दो,
सुमुखि सहर्ष सहास।
मैं पतंग हूँ प्रेम-डोर का,
फिर आऊँगा पास।

(सर्ग १—१२)

किन्तु नारी इस वियोग के प्रस्ताव से दुःखी हो उठी। वह क्षण भर के लिये किंकर्त्तव्य-विमूढ़ थी—

शक्ति नहीं जो नाथ तुम्हारा,
सुन भी सकूँ प्रयाण।
रहते प्राण न जाने दूँगी,
मेरे जीवन प्राण।
सुन प्रणयी के इन्दु-बदन में
मृदुल कौमुदी-हास।
विकसित हुआ झुकाया उसने,
शशि को शशि के पास।

(सर्ग १—१३)

दमयन्ती, सीता एवं द्रौपदी के देश में पल्लविता विजया भी अपने प्रियतम की सहगामिनी बनने के लिए आकुल हो उठती है। नारी-वेश को परिवर्तित कर पुरुष-वेश में चल देती है। दोनों ही नौका से यात्रा करते हैं। तीव्र पवन से नौका टूट जाती है और दोनों ही अतल जल में प्रवेश करते हैं, दोनों ही अचेत हो जाते हैं और एक-दूसरे से बिछुड़ जाते हैं, युवती सचेत होने पर कहती है :—

प्रियतम बिना न जी सकती हूँ
बच न सकेंगे प्राण।

(सर्ग २—७)

प्रेम स्वर्ग है, स्वर्ग प्रेम है,
प्रेम अशंक अशोक।
ईश्वर का प्रतिबिम्ब प्रेम है,
प्रेम हृदय आलोक।

प्रेम का उदात्त स्वरूप नारी मे विद्यमान था। युवक में भी उसी के समान गाढ प्रेम था। अचेत अवस्था में ही वह बरकने लगता है :—

विजया, प्रेम रूपिणी विजया,
प्राण-वल्लभे वाम ।
तूने यह पूछा है मुझ से,
प्रश्न बड़ा अभिराम ।
मुझ पर और देश दोनों पर,
रखते हो अनुराग ।
किसके लिये किसे, तुम प्रियतम,
कर सकते हो त्याग । (सर्ग ३—१२)

प्रणय-जीवन में नारी का पूछा हुआ यह प्रश्न प्रस्फुटित हो उठता है। मुनि जिसने युवक को बचाया था वह मुनि ही नहीं था उसका पिता भी था। उसकी देश-प्रेम की भावना को सुनकर वह भी देश-सेवा के लिये अग्रसर हो उठता है। उसे सभी प्रकार से आश्वस्त कर मुनि भी कुटी छोड़कर देश-सेवा के लिये चल देता है।

विजया भी स्वस्थ हो गाँव-गाँव घूमती है। ग्रामीण पीड़ित थे। युवक, युवती एवं मुनि के प्रोत्साहन से प्रजा में क्रान्ति की भावना उठी। राज-शक्ति का विरोध हो उठा। राजशक्ति ने युवक, युवती एवं मुनि को पकड़ने का आदेश दिया। युद्ध का स्वरूप प्रस्तुत हो जाता है। युवक हारने वाला है। मुनि प्रजावर्ग की एक टुकड़ी लेकर आ जाता है। युवक को बल मिलता है। युवती भी भैरवी बनकर आकर लोगों को प्रोत्साहित करती फिरती है। प्रतिहिंसा जाग उठती है। युवक पर किये गये तलवार के वार को मुनि अपनी छाती पर लेता है। मूर्छित होकर मुनि गिर जाता है; किन्तु मृत्यु से पूर्व युवक के पिता होने की बात का उल्लेख कर देता है। युवक विजयी होता है और उसका अपनी प्रियतमा से 'मिलन' हो जाता है।

पथिक (१९२० ई०) का दुखान्त स्वरूप बड़ा ही करुण है। प्रकृति प्रेमी पथिक गार्हस्थ्य जीवन के सुख का परित्याग कर प्रकृति के मधुर स्वरूप का रसास्वादन करता है। उसकी प्रियतमा वियोग से विह्वल हो उसकी खोज में निकलती है। अपने प्रियतम को प्राप्त कर घर लौट चलने के लिये वह बाध्य भी करती है; किन्तु एक साधु उसे कर्त्तव्य की महत्ता बतलाकर देश-सेवा के लिये प्रेरित करता है। पथिक देश में घूमता है, प्रजा को क्रान्ति के लिये

उत्साहित करता है। अन्त में उसे प्राणदंड स्वरूप विष-प्याला पीने को दिया जाता है। उसकी पत्नी इस दुर्वृत्त को सुनकर भीड़ चीर युवक के पास आकर विषपान करके मर जाती है। 'साधु' भी युवक की देश-सेवा से प्रसन्न हो प्राण त्याग देता है। युवक का पुत्र भी राज-कर्मचारी द्वारा मार दिया जाता है। प्रजा में असन्तोष और उदासीनता का साम्राज्य छा जाता है। प्रजा राजा को देश-परित्याग को बाध्य कर देती है। उन चारों की पुण्य स्मृति में मेला लगता है और कवि उनकी प्रशंसा के गान करते हैं।

पत्नी अपने पति को प्राप्त कर अपने हृदय के उदात्त प्रेम को प्रकट कर उठती है। पति और फिर हिन्दू नारी का पति उसका सर्वस्व था।

हे जीवन की ज्योति, हृदय की शक्ति, आँख के तारे।
हे स्मृति के आधार, प्राण के प्राण, प्रेम सम प्यारे॥
हे मेरे मन की तरंग, जीवन के एक सहारा।
सौ सुधांशु लाखों कमलों से मुख है मंजु तुम्हारा॥ (१–१४)

मेरे मुख को चन्द्र बताकर तुम चकोर बनते थे।
नीर भरे घन से मेरे कच देख मोर बनते थे।
आँखों का जीवन कह मुझको सदा देखते रहते।
मेरी बातों को स्वप्राण की साँस तुम्हीं थे कहते॥ (१–२८)

तीव्र प्रेम का स्वरूप पति-पत्नी दोनों में विद्यमान था; किन्तु पथिक का हृदय प्रकृति-प्रेम से ओत-प्रोत था। उसके समक्ष वह लौकिक प्रेम में भी आबद्ध नहीं होना चाहता।

यदि तुम प्यार करती हो कोमल-करुण हृदय से।
करो न मुझको देवि दयामयि, वंचित प्रकृति प्रणय से। (१–४६)

इसी समय एक साधु उसे देशभक्ति का अमर संदेश सुनाता है और उससे देशभक्ति की आशा करता है।

पैदा कर जिस देश जाति ने तुमको पाला-पोसा।
किये हुये हैं वह निज हित का तुमसे बड़ा भरोसा॥
उससे होना उऋण प्रथम है सत्कर्त्तव्य तुम्हारा।
फिर दे सकते हो वसुधा को शेष स्वजीवन सारा॥ (२–४८)

पथिक देश में घूमकर उसकी स्थिति से परिचित होता है। स्थल-स्थल पर देश में जनता का करुण-क्रन्दन है। निर्धनता का साम्राज्य है। वह प्रजा को उसके कर्त्तव्य समझाता है—

इसका क्या कारण है तुमने कभी हृदय में सोचा ?
किस बल से जनता का जीवन है जारहा दबोचा ?
सोचो तो क्या निज जीवन के स्वयं नहीं तुम दुःख हो ?
क्या तुम सब स्वतन्त्र शासन के सुख से नहीं विमुख हो ? (३-७०)

राजा के हृदय में पथिक की देश-भक्ति का आतंक छा गया, जिसकी क्रोधाग्नि में पत्नी, पुत्र, साधु एवं पथिक स्वयं भस्मसात हो गये।

जननी की मृत्यु पर अबोध बालक का हृदय छटपटा उठा।

कहने लगा—सोगई क्यों तू माँ, उठ चल अब घर को।
मुझे लगी है भूख अकेला जाऊँ कहाँ किधर को ? (४-३१)
माँ, तू कुछ न खिलाती मुझको, कभी न दूध पिलाती।
सारे दिन रोती रहती है, खेल कभी न खिलाती॥ (४-३२)

इस प्रकार के छटपटाते हृदय को देखकर किसका हृदय टूक-टूक न हो उठेगा। फिर पथिक के समक्ष उसकी पत्नी ही आत्म-हत्या करे और उसके समक्ष ही उसका पुत्र भूख से तड़पे। कितना करुण था। उसके समक्ष ही उसके पुत्र की नृशंस हत्या हो—यह भावुक हृदय कैसे सह सकता है ? विधि का विधान ही प्रबल था कि पथिक के अपने कहलाने वाले चारों प्राणी ही काल के ग्रास हुए।

नृप ने सुन बध-वृत्त कहा, 'मिट गई आपदा सारी।
अच्छा हुआ मर गये चारो पथिक, साधु, सुत, नारी'॥ (४-७९)

त्रिपाठी जी ने श्रीरामेश्वरम की यात्रा में पर्वत, नदी, वन, एवं समुद्र-तट के प्राकृतिक सौन्दर्य देखे थे। वस्तुतः रामेश्वरम की स्मृति-स्वरूप ही 'पथिक' की रचना हुई थी। इसीसे इसमें यत्र-तत्र प्रकृति-सौन्दर्य का स्वरूप विद्यमान है।

प्रतिक्षण नूतन वेश बनाकर रंग-विरंग निराला।
रवि के सम्मुख थिरक रही है नभ में वारिद माला॥
नीचे नील समुद्र मनोहर ऊपर नील गगन है।
घन पर बैठ बीच में बिचरूँ यही चाहता मन है॥ (१-१५)

इस प्रकार के अनेकों दृश्य 'पथिक' में विद्यमान हैं।

इन दो खंडकाव्यों के उपरान्त त्रिपाठी जी ने 'स्वप्न' नाम की काव्य-रचना भी प्रस्तुत की है। इस काव्य के सम्बन्ध में उनका निम्न कथन है :—

"'पथिक' मेरी दक्षिण-यात्रा का स्मृति-चिह्न है और यह 'स्वप्न' उत्तर-यात्रा का। इसमें मैंने आजकल के नवयुवकों के द्विविधामय हृदय को चित्रित करने का प्रयत्न किया है। आजकल एक ओर तो देश का दुःखदैन्य करुण रस उत्पन्न कर रहा है, दूसरी ओर सौन्दर्य, शृंगार और सुख के लिए प्रकृति का प्रोत्साहन है। नवयुवकों का मार्ग शृंगार और करुण रस के बीच का है। शुद्ध हृदय के लिए दोनों ओर प्रबल आकर्षण है। किधर जाना चाहिये? इस समस्या का हल करने के लिये ही यह 'स्वप्न' तैयार किया है। इससे इसमें दो परस्पर विरोधी रसों का मिश्रण हो गया है।

मैं प्रकृति का पुजारी हूँ। इससे प्रकृति के प्रति मेरा आन्तरिक अनुराग पथिक की तरह इसमें भी जहाँ-तहाँ उमड़ पड़ा है। काश्मीर में जिन प्राकृतिक दृश्यों ने मुझे लुभा लिया था, उनका वर्णन मैंने इसके अनेक पद्यों में किया है।"[1]

स्वच्छन्दतावादी काव्य में 'स्वप्न' काव्य भी महत्वपूर्ण है; किन्तु यह रचना आलोच्य काल की सीमा के बाहर पड़ती है। इससे इस स्थल पर उसकी विशद विवेचना नहीं की गई है; किन्तु यह सत्य है कि सुमना के द्वारा उसके पति वसन्त का स्वप्न पूर्ण होता है। उसने परिस्थिति की अनिश्चित दशा में अपने पति को सहयोग प्रदान कर भारतीय अर्द्धांगिनी नारी के कर्त्तव्य को यथोचित रूप से निबाहा है। उसने अपने जीवन के साथ अपने पति के जीवन को भी धन्य किया।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि कवि त्रिपाठी जी ने लौकिक प्रेम और व्यावहारिक राष्ट्रीयता का स्वरूप हमारे सामने रखने का प्रयास किया है। उनके काव्य का यह स्वरूप बड़ा ही स्वाभाविक और हृदयाकर्षक है। प्रासादिक भाषा के प्रयोग से प्रेम की उदात्त भावनाएँ हृदय को स्पर्श करने में सफल हैं। फलस्वरूप त्रिपाठी जी के काव्य का स्वरूप बड़ा ही मधुर और प्रिय हो गया है।

वास्तव में पं० श्रीधर पाठक के उपरान्त हिन्दी-काव्य में इतनी विशुद्ध और प्रबल स्वच्छन्दतावादी भावना पं० रामनरेश त्रिपाठी में ही आ सकी है। ग्राम-गीतों का संग्रह भी उनकी इसी प्रवृत्ति का द्योतक है। फलतः त्रिपाठी जी के काव्य का अध्ययन स्वच्छन्दतावादी काव्य के सम्बन्ध में बड़ा ही महत्वपूर्ण है।

---

१. श्री रामनरेश त्रिपाठी, स्वप्न की प्रेरणा—स्वप्न—भूमिका अंश (हिन्दी-मन्दिर, प्रयाग)।

जयशंकर 'प्रसाद' (१८८६ ई०–१९३७ ई०)

जीवनवृत्त और व्यक्तित्व—आधुनिक हिन्दी-काव्य में प्रसाद जी का काव्य बड़ा ही महत्वपूर्ण है। उसके द्वारा ही द्विवेदी-युग के काव्य को नवीन दिशा प्राप्त हुई और उसमें नवीन चेतना आई। इतिवृत्तात्मक एवं नैतिक काव्य के स्थान पर कवि ने अपनी अन्तर्भावनाओं को प्रमुखता दी। स्थूल के स्थान पर सूक्ष्म का आग्रह बढ़ चला। आज जिस काव्य को हम छायावादी संज्ञा प्रदान करते हैं उसके आदि प्रणेता का श्रेय प्रसाद जी को ही है। आधुनिक हिन्दी-काव्य को शीर्ष पर पहुँचाने में यों प्रसाद, पन्त और निराला ने अथक प्रयास किये हैं; किन्तु इनमें भी प्रसाद अवशिष्ट दोनों विभूतियों के अग्रज हैं।

एक सम्पन्न और सम्मानित वंश में जन्म लेने पर भी प्रसाद जी का जीवन एक संघर्षों की कहानी है; किन्तु भाग्य के वह धनी थे, जो जीवन की विलोम परिस्थितियों से जूझते हुये भी सफलीभूत हो विश्व के समक्ष आये। वस्तुतः उनमें अदम्य साहस और महान सहिष्णुता थी, जिससे वह सभी प्रकार से समर्थ होकर जीवन में अग्रसर हो सके। इन सभी के मूल में उनके मौलिक संस्कार और उनकी मौलिक प्रतिभा ही उत्तरदायी थी।

वह कान्यकुब्ज-वैश्य-हलवाई वंश से उत्पन्न थे। उनका परिवार 'सुँहनीसाहु' के नाम से काशी में प्रसिद्ध था। काशी में काशी-नरेश के सम्मान और प्रतिष्ठा के उपरान्त यदि किसी परिवार का नाम लिया जाता था तो वह 'सुँहनीसाहु' का परिवार ही था। प्रसाद जी के पितामह बाबू शिवरत्न साहु बड़े ही धर्मात्मा और पुण्यात्मा थे और गंगा-स्नान से लौटने पर अपना लोटा और धोती तक दान दे देते थे। कहते हैं—उनके द्वार से कभी भी कोई याचक निराश नहीं गया। उन्हीं ने जरदा, सुरती और तम्बाकू आदि के व्यापार से प्रभूतमात्रा में धन अर्जित किया था। अभिवादन में काशी-नरेश के लिये जिस प्रकार 'हर-हर महादेव' शब्द का उच्चारण किया जाता था वैसे ही उनके अभि-वादन में भी लोग उस शब्द का उच्चारण करते थे।

बाबू शिवरत्न साहु के एकमात्र पुत्र बाबू देवीप्रसाद ने येन-केन-प्रकारेण अपने पिता और वंश की प्रतिष्ठा को स्थिर रखा। इन्हीं बाबू देवीप्रसाद के परिवार में माघ शुक्ल १२, १९४६ वि० सम्वत् को प्रसाद जी का जन्म हुआ था। उनके दो पुत्र उत्पन्न हुए थे—ज्येष्ठ शम्भूरत्न और कनिष्ठ जयशंकर।

प्रसाद जी का बचपन बड़े ही लाड़-दुलार में बीता था। अपने बाल्य अवस्था

के संस्मरणों को वह बड़े प्रेमपूर्वक सुनाया करते थे। सम्वत् १९५७ में उन्होंने अपनी माता के साथ धारा क्षेत्र, ओंकारेश्वर, पुष्कर, उज्जैन, जयपुर, ब्रज एवं अयोध्या आदि की तीर्थ-यात्राएँ की थीं। उस समय ही अमरकण्टक पर्वत के मध्य में नौका द्वारा नर्मदा की यात्रा उन्होंने की थी, जिसे वह आजीवन न भूले थे।

प्रसाद जी का विद्यालय-जीवन बहुत ही अल्पकालिक रहा। उन्होंने स्थानीय क्वीन्स कालेज में कक्षा ७ तक ही अध्ययन किया था। इसी समय सम्वत् १९५८ में उनके पूज्यपाद पिता जी के असामयिक निधन से परिवार पर नवीन वज्रपात हुआ। घर और बाहर का पूर्ण दायित्व उनके ज्येष्ठ भ्राता शम्भूरत्न पर आया। उन्होंने प्रसाद जी के अंग्रेजी और संस्कृत के अध्ययन की व्यवस्था घर पर ही की। श्री दीनबन्धु ब्रह्मचारी से उन्हें संस्कृत एवं उपनिषद् आदि पढ़ने का सुअवसर मिला था। अपने विद्यानुराग बल से ही वह बौद्ध-कालीन इतिहास, वेद, पुराण एवं स्मृतियों आदि के अध्ययन कर सके थे। पितामह और पिता के समय से ही समस्याओं की पूर्ति करनेवाले कवियों का उनके द्वार पर जमघट रहा करता था। फलस्वरूप वह ब्रजभाषा की कविता करने की ओर अग्रसर हुये थे।

प्रसाद जी की पन्द्रह वर्ष की अवस्था में उनकी माता जी का भी देहान्त हो गया। प्रसाद जी के जीवन में एकाकीपन आ गया। उन्हें पढ़ाई-लिखाई के उपरान्त दुकान पर भी बैठना पड़ता था। उनका कवि-कर्म वहाँ भी चला; किन्तु उनके भाई को जब उनकी इस प्रवृत्ति का पता चला तो वह रुष्ट हुये। अनन्तर वह उनसे छिपाकर कविता करने लगे। जब साहित्यिकों के मध्य में उनका सम्मान बढ़ा तब शम्भूरत्न जी भी उनसे प्रसन्न हो गये।

शम्भूरत्न भी अपने पितामह और पिता के समान उदार और दानी थे। इससे परिवार पर ऋण हो गया था। जब प्रसाद जी १७ वर्ष के थे उसी समय उनके अग्रज का भी देहान्त हो गया।

अभी तक के निश्चित जीवन के उपरान्त उन पर परिवार का बोझ आ पड़ा; साथ में पारिवारिक ऋण ने उन्हें विशेष चिन्तित बना दिया। संसार में शम्भूरत्न की पत्नी के अतिरिक्त उनका अपना कोई न था। अन्य जो अपने को उनका बतलाते थे वे उनकी अवशिष्ट सम्पदा को हड़प जाने के लिये प्रयत्नशील थे।

इतने प्रबल व्यवधानों के होते हुए भी प्रसाद जी अपने अध्ययन में सदैव

सचेष्ट रहे। व्यक्तित्व के विकास के साथ उनको संसार की अनुभूतियों का ज्ञान भी हुआ। दर्शन आदि के अध्ययन की ओर प्रवृत्ति थी ही। फलस्वरूप उनकी रचनाओं में दर्शन का पुट आजाना स्वाभाविक था। आर्य-समाज के आन्दोलन ने भी उन्हें प्रभावित कर रखा था, जिसकी स्पष्ट छाप उनके उपन्यासों में उपलब्ध होती है।

प्रसाद जी को अपने विवाह स्वयं करने पड़े थे। उन्होंने अपने जीवन में तीन विवाह किये थे। प्रथम दो पत्नियों के निधन पर वह जीवन से उदासीन हो गये थे; किन्तु अपनी भाभी के आग्रह पर उन्होंने तीसरी शादी भी की। इसी तृतीय पत्नी से रत्नशंकर पुत्र-रत्न उत्पन्न हुए थे। तत्परतापूर्वक व्यापार में लगे रहकर उन्होंने १९२९-३० ई० को पारिवारिक ऋण से अपने को मुक्त कर पाया था।

इतने व्यवधानों के होते हुए भी उनका अध्ययन अबाध रूप से चलता रहा। उनकी रचनाएँ 'इन्दु' एवं 'जागरण' में प्रकाशित होती रहती थीं। 'इन्दु' का तो उनके आदेशानुसार उनके भांजे श्री अम्बिका प्रसाद गुप्त ने प्रकाशन प्रारम्भ किया था और 'जागरण' का प्रकाशन 'पुस्तक मन्दिर' से किया गया था। 'इन्दु' के समान यह पत्र भी साहित्यिक था। आगे चलकर यह पत्र प्रेमचन्द जी को दे दिया था। उन्होंने उसको साप्ताहिक पत्र के रूप में निकाला।

प्रसाद जी की नारियल बाज़ार की दूकान पर नित्य ही साहित्यिक गोष्ठी जुड़ती थी। यह साहित्यिक वार्तालाप ६ बजे से ९ बजे रात्रि तक नित्य ही चला करता था। काव्यपाठ होता था और साहित्य विषयों पर तर्क भी चलता था। उनके मित्र बहुत कम थे। रायकृष्णदास, केशवप्रसाद मिश्र एवं विनोदशंकर व्यास आदि ही उनके मित्र थे। यों वह घर से बहुत कम बाहर निकलते थे। जब बाहर जाते भी थे तब इन्हीं लोगों के यहाँ जाया करते थे।

प्रसाद जी ने अपने घर के सामने एक वाटिका लगा रखी थी। वह नियमित रूप से २–३ घंटे का समय इसमें व्यतीत किया करते थे। गीत और कहानियां आदि वह इसी वाटिका में बैठकर लिखा करते थे।

प्रसाद जी अपने स्वभाव से बड़े संकोची थे। उन्होंने कभी किसी कवि-सम्मेलन और सभा-सोसायटी का सभापतित्व नहीं किया। श्रोताओं के आग्रह पर वह बैठे-बैठे पुस्तक से पढ़ दिया करते थे। नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी के कोशोत्सव के अवसर पर ही उन्होंने खड़े होकर 'नारी और लज्जा' नाम की कविता पढ़ी थी, जिसको सुनकर सभी मुग्ध हो गये थे।

यों नाटक, उपन्यास, कहानी एवं काव्य लिखकर उन्होंने हिन्दी-साहित्य की अभिवृद्धि की ही थी; किन्तु 'कामायनी' महाकाव्य लिखकर उन्हें परम सन्तोष हुआ था।

वस्तुतः 'कामायनी' महाकाव्य लिखने के अथक परिश्रम ने उन्हें थका दिया था। १९३६ ई० की लखनऊ-प्रदर्शनी देखने के लिये वह गये। लौटकर २८ जनवरी १९३७ ई० से वह ज्वरग्रस्त हुए। २२ फरवरी १९३७ को उनके कफ की परीक्षा हुई। उन्हें राजयक्ष्मा का रोग था। उनका शरीर क्रमशः सूखने लगा। अन्तिम दिनों में उन्हें चर्म रोग हो गया था, जिससे उनकी मुखाकृति भयानक-सी लगने लगी थी। डाक्टरों ने स्थान बदलने की भी राय दी; किन्तु उन्होंने उसे पसन्द नहीं किया। ९–१० नवम्बर से उनकी हालत बहुत बिगड़ी। १४ नवम्बर एकादशी को उनके रोग ने सभी को निराश कर दिया। साँस लेने में भी कष्ट होने लगा। १५ नवम्बर १९३७ ई० को प्रातः साढ़े चार बजे उनका निधन हो गया। प्रसाद जी के महामहिम व्यक्तित्व को खोकर हिन्दी की निस्सन्देह बड़ी क्षति हुई, जिसकी पूर्ति की कोई सम्भावना नहीं है।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—भारतेन्दु जी के काव्य के दो स्वरूप थे। प्रथम में रीतिकाव्य-पद्धति का प्राधान्य था, द्वितीय में नूतन परिस्थितियों के आग्रह से सृजित काव्य का। भारतेन्दु जी की इन दोनों पद्धतियों पर क्रमशः जगन्नाथदास 'रत्नाकर' जी एवं श्रीधर पाठक जी चले। भारतेन्दु-युग के उपरान्त द्विवेदी-युग के प्रारम्भ में भारतेन्दु जी की द्वितीय विकसित काव्य-पद्धति के अन्तर्गत प्रसाद जी का समावेश हुआ। वह भारतेन्दु एवं द्विवेदी-युग दोनों की संधिकाल के विकासशील भावुक कवि थे।

'द्विवेदी-युग' के आरम्भ के पूर्व श्रीधर पाठक का खड़ी बोली और ब्रज-भाषा का काव्य प्रभूत मात्रा में था ही। कहना अतिशयोक्ति न होगा कि स्वयं द्विवेदी जी को भी पाठक जी के काव्य से प्रेरणाएँ मिली थीं। ये प्रेरणाएँ भावनात्मक न होकर प्रधानतः शैलीगत ही थीं। यदि द्विवेदी जी ने उनकी भावनाओं का समावेश कर काव्य का आदर्श रखा होता तो द्विवेदी-युग का आज अस्तित्व न होता, क्योंकि पाठक जी में भावनाओं का प्राधान्य था जबकि द्विवेदी जी में केवल भाषा-निर्माण का ही आग्रह था।

मैथिलीशरण गुप्त एवं जयशंकर प्रसाद दोनों कवि ही प्रारम्भ में ब्रजभाषा के कवि थे। गुप्त जी के 'सरस्वती' के अन्तर्गत आ जाने पर उनके काव्य में खड़ी बोली के काव्य के लिए आग्रह अवश्य बढ़ा; किन्तु भावनाओं के क्षेत्र में

द्विवेदी जी के आशीर्वाद के कारण वह पुरातनवादी ही रहे। यों प्रसाद जी गुप्त जी के उपरान्त खड़ी बोली के काव्य में आये; किन्तु वह कहीं भी द्विवेदी जी के अनुशासन में नहीं रहे। उनका अपना स्वच्छन्द मार्ग था। वह जन्मजात कवि थे। उनमें कवि-सुलभ प्रतिभा थी। इससे द्विवेदी-युगीन इतिवृत्त एवं नीति से वह दूर ही रहे। उपर्युक्त से स्पष्ट है कि गुप्त जी द्विवेदी जी की शिष्य-परम्परा में हैं जब कि प्रसाद जी पाठक जी से अभिप्रेरित हैं।

प्रसाद जी की रचना-काल का प्रारंभ १९०५ई० है। इस समय उन्होंने ब्रजभाषा में 'प्रेम-पथिक' लिखा। अनन्तर १९१३ ई० में उसका प्रथम संस्करण अतुकान्त खड़ी बोली में प्रकाशित हुआ था। उस समय तक पाठक जी के गोल्डस्मिथ के अंग्रेजी काव्यों के अनुवाद एवं 'काश्मीर सुषमा' (१९०४ ई०) जैसा मौलिक काव्य प्रकाश में आ चुका था। पाठक जी के काव्य से प्रबन्धकाव्य की भावना के साथ-साथ प्रेम और प्रकृति की कविताओं से उद्भूत नवीन आलम्बनों ने मुक्तक के लिये भी मार्ग प्रशस्त किया था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि द्विवेदी-युग में कालयापन करते हुए भी वह द्विवेदी काव्य-भूमि के बाहर थे। रचना-काल-क्रम के अनुसार प्रसाद जी ने निम्न काव्य-साहित्य की रचना की है :—

(१) चित्राधार (२) कानन-कुसुम (३) महाराणा का महत्व (४) प्रेम-पथिक (५) झरना (६) आँसू (७) लहर (८) कामायनी।

उपर्युक्त रचनाओं में 'आँसू' विरह-काव्य तक हमारे आलोच्य विषय की सीमा पहुँचती है। आँसू १९२५ ई० की रचना है। इस काल तक स्वच्छन्दतावाद की प्रवृत्तियाँ पल्लवित होती रहीं, अनन्तर युग छायावादी काल में परिवर्तित हो गया। इससे आँसू काव्य बड़ी महत्वपूर्ण रचना है।

प्रसाद जी की रचना का प्रारम्भ ब्रजभाषा में हुआ है और उसमें भी वह प्रकृति को सजीव स्वरूप प्रदान कर चले हैं। द्विवेदी-युग में प्रकृति-उपासना गौण हो गई थी। कवि लोग ऐतिहासिक, पौराणिक एवं अन्य प्रकार के विषयों को लेकर रचना में प्रवृत्त थे। प्रकृति-निरीक्षण का अवसर ही कहाँ था? इस काल के कवियों के काव्य में जो प्रकृति-चित्रण है भी वह प्रबन्ध-काव्य के अन्तर्गत कथा के साथ है। 'प्रिय प्रवास' एवं 'साकेत' में जो प्रकृति-निरीक्षण है भी वह परम्परा का पालन-सा है। उसे हम स्वच्छन्द निरीक्षण नहीं कह सकते।

'चित्राधार' के 'पराग खण्ड' में प्रकृति का स्वरूप मिलने लगता है। प्रकृति

के सौंदर्य को देखकर उनमें उसके निर्माण करने वाले के लिये जिज्ञासा उठती है। ग्यारह वर्ष की अवस्था में पुरी एवं अमरकण्टक की यात्राओं से प्रसाद जी के मानस में प्रकृति-सौंदर्य का स्थायी स्वरूप चित्रित हो गया था। साथ में कवि का दर्शन का अध्ययन था ही। इससे काव्य में दार्शनिकता का पुट आजाना स्वाभाविक था।

पात बिन कीन्ह्यों जिन्हैं पतझर रोष करि
तिन सब द्रुमन सुमन पूर कीने तू।
शारद कुमोदिनी के विरह विहाल अलि,
सहकार मंजरी सो मोद भरि दीने तू।
नगर बनाली कोकिला की काकली सो भर्‌यो,
सुखद प्रसाद रस रंग केलि भीने तू।
छोह छरि लीने मन औरे करि दीने,
रे वसन्त रस भीने कौन मंत्र पढ़ि दीने तू।

कवि ने परम्परागत समस्यापूर्ति के समान 'वसन्त' के वैभव का वर्णन किया है। पतझड़ के कारण जो प्रकृति में उदासीनता आदि थी उसको भी वसन्त ने बलपूर्वक नष्ट कर दिया है। उपर्युक्त कवित्त की पंक्तियों से स्पष्ट है कि कवि जीवन में अधिक कहने के लिए अभ्यास-सा कर रहा है।

कमल-कोश भरे मकरन्द सों,
जिमि विराजत चारु अमन्द सों॥
निज सुगन्ध लिये वह आप ही,
रहत मोद भरे चुपचाप ही॥
धरत रूप मनोहर मोद सों,
हृदय हूँ तिमि कंज विनोद सों॥
वह सुधारत मंजुल नेम को,
लहत है जब नीरव प्रेम कों॥

'नीरव' की अनुभूति इतनी सुखद और मधुर होती है कि उसको व्यक्त कर सकता भी कठिन है।

करन व्यक्त चहै वहि भाव को,
पर न पावत कोउ उपाव को॥
तिमि करौ तुम केलि अमन्द सों,
हृदय में करिकै छल छन्द सो॥

तदपि नाहिं कबौं दरसात हौ,
प्रगट हौन चहौ छिपि जात हौ ।।

कवि सौन्दर्य के साथ प्रेम का भी कवि है। इससे उस अव्यक्त सत्ता के साथ उसका प्रेम है । वह गूँगे के गुड़-सा है, उसका प्रकट हो सकना कठिन है। उपर्युक्त पंक्तियों ने ही कवि को वास्तव में रहस्यवादी बना दिया है ।

ऐसो ब्रह्म लेइ का करिहैं ?
जो नहीं करत, सुनत नहीं जो कुछ, जो जन-पीर न हरिहैं ।।
होय जो ऐसो ध्यान तुम्हारो ताहि दिखाओ मुनि कौ ।
हमरी मति तौ इन झगड़न समुझि सकत नहीं तनिकौ ।।

इस प्रकार कवि प्रसाद में 'जिज्ञासा' की भावना घर किये है, जिसका जीवन में विकास होता गया है ।

प्रसाद ने प्रकृति के साथ सदैव ही कामना का समन्वय भी नहीं रखा है । उन्होंने प्रकृति के विशुद्ध-स्वरूप को भी देखने का प्रयास किया है । 'करुणालय' के अन्तर्गत सन्ध्या का वर्णन बड़ा ही सजीव है । हरिश्चन्द्र नाव द्वारा सरयू में जल-विहार करते हुए सन्ध्या के सौन्दर्य का वर्णन करते हैं—

सान्ध्य-नीलिमा फैल रही है, प्रान्त में
सरिता के । निर्मल विधु बिम्ब विकास है,
जो नभ में धीरे-धीरे है चढ़ रहा ।
प्रकृति सजाती आगत-पतिका रूप को ।
मलयानिल ताड़ित लहरों में प्रेम से,
जल में ये शैवाल-जाल हैं झूमते ।
हरे शालि के खेत पुलिन में रम्य हैं,
सुन्दर बने तरंगायित ये सिन्धु से,
लहराते जब वे मारुतवश झूम के ।
जल में उठती लहर बुलाती नाव को,
जो आती हैं उस पर कैसी नाचती ।
अहा ! खिल रही विमल चाँदनी भी भली
तारागण भी उस मस्तानी चाल को
देख रहे हैं चलती जिससे नाव है ।

(करुणालय, पृष्ठ १-२)

गीति-नाट्य की शैली पर लिखी हुई उपर्युक्त पंक्तियों की उनकी अभिव्यंजना के दृष्टिकोण से भी महत्ता है। तुकान्त विहीन मात्रिक छन्द को कवि ने अपनाकर हिन्दी-कविता के समक्ष एक आदर्श रखने का प्रयास किया है। उपर्युक्त अभिव्यंजना-पद्धति की विशेषता के साथ प्रसाद जी का प्रकृति का भावनात्मक निरीक्षण भी बड़ा सूक्ष्म है।

प्रकृति के प्रति 'चित्राधार' में तादात्म्य अवश्य नहीं है; किन्तु प्रेम का स्वरूप उसके द्वारा अवश्य जग चुका था। जगन्नियन्ता के प्रति जिज्ञासा भी उसी प्रेम का एक प्रस्फुटन था। 'कानन कुसुम' में प्रसाद जी का प्रेमानुभव आगे बढ़ा है और उनकी ईश्वर के प्रति जिज्ञासाएँ भी अधिक मुखर हो उठी हैं।

तुम्हारा स्मित हो जिसे निरखना
वो देख सकता है चन्द्रिका को
तुम्हारे हँसने की धुन में नदियाँ
निनाद करती ही जा रही हैं
विशाल मन्दिर की यामिनी में
जिसे देखना हो दीप-माला
तो तारका-गण की ज्योति उसका
पता अनूठा बता रही है।

(कानन कुसुम—प्रभो !)

'चित्राधार' की जिज्ञासा इन पंक्तियों में अधिक सुस्पष्ट है। प्रसाद जी ने प्रकृति के द्वारा ईश्वर के सर्वव्यापक स्वरूप को देखने की चेष्टा की है। इस प्रकार काव्य की रूप-रेखा अधिक उभर आई है।

प्रसाद जी मानवता के कवि हैं। मानवी अभावों से उन्हें भी विशेष पीड़ा थी। 'गान' के अन्तर्गत कवि निर्माण का नव-संदेश सुनाता है। यदि वह हार्दिक विकारों को दूर कर अपने उन्मुक्त हृदय से विश्व में व्यवहार करता है तो विश्व की संकीर्णता की कड़ियां तत्काल ही टूट जावेंगी, यह निस्सन्देह सत्य है।

युवकों के लिये कवि का संदेश है:—

खुले-किवाड़-सदृश हो छाती सबसे ही मिल जाने को,
मानस शान्त, सरोज हृदय हो सुरभि-सहित खिल जाने को।
जो अछूत का जगन्नाथ हो, कृषक-करों का दृढ़ हल हो,
दुखिया की आँखों का आँसू और मजूरों का बल हो॥

प्रेम भरा हो जीवन में, हो जीवन जिसकी कृतियों में,
अचल सत्य संकल्प रहे न रहे सोता जाग्रतियों में।
ऐसे युवक चिरंजीवी हों देश बना सुख राशी हो,
और इसलिये आगे वे ही महापुरुष अविनाशी हों॥

श्रीधर पाठक के काव्यों से अभिप्रेरित होकर ही 'प्रेम-पथिक' एवं 'महाराणा का महत्व' प्रसाद जी ने लिखे थे। कवि इन काव्यों में पूर्ण मानवी स्तर पर उतर आया है। 'प्रेम-पथिक' द्वारा कवि ने प्रेम के विराट स्वरूप को विश्व के समक्ष रखने का प्रयास किया है।

इस पथ का उद्देश्य नहीं है श्रान्त भवन में टिक रहना,
किन्तु पहुँचना उस सीमा पर जिसके आगे राह नहीं।

कवि ने प्रेम का यह महत्तम उद्देश्य प्रेमी जगत् के समक्ष रखा है, साथ में उसकी विशेष परिस्थितियों की ओर भी कवि का संकेत है।

प्रेमी और प्रेमिका लौकिक जीवन के कटु तथ्यों से दूर जीवन में निरीह भटकते और प्रेम की पीर को मानस में छिपाये हुये समाज से दूर एकान्त में वन्य जीवन व्यतीत करते हैं।

पथिक प्रेम• की राह अनोखी भूल-भूलकर चलना है,
घनी छाँह है जो ऊपर तो नीचे काँटे बिछे हुये।
प्रेम यज्ञ में स्वार्थ और कामना हवन करना होगा,
तब तुम प्रियतम स्वर्ग-बिहारी होने का फल पाओगे।
इसका निर्मल विधु नीलाम्बर मध्य किया करता क्रीड़ा,
चपला जिसको देख चमककर छिप जाती है पनघट में।
प्रेम पवित्र पदार्थ न इसमें कहीं कपट की छाया हो,
इसका परिमित रूप नहीं जो व्यक्तिमात्र में बना रहे।
क्योंकि यही प्रभु का स्वरूप है जहाँ कि सबको समता है॥

उपर्युक्त प्रेम जैसे अलौकिक विषय को कवि ने व्यक्ति से सम्बन्धित मानते हुए भी उसके रूप को अपरिमित और 'प्रभु' से सम्बद्ध माना है। इस प्रकार कवि की दृष्टि अलौकिक वस्तु-चित्रण की ओर रही है। साथ में नायक और नायिका जो समाज से पलायन कर उठे हैं, एकान्त जीवन व्यतीत करने के लिये बाध्य होना पड़ा है, इससे उनमें वन्य-जीवन की भावना भी आ गई है।

अभी तक के काव्यों में प्रसाद जी की भावना बहिर्मुखी थी; किन्तु 'झरना'

की रचनाओं द्वारा कवि अन्तर्मुखी हो उठा है। प्रकृति के पदार्थों में प्रसाद जी जीवन आँकने लगते हैं और प्रसाद जी के कवि-हृदय की वैयक्तिकता का स्फुरण होने लगता है :—

किरण, तुम क्यों बिखरी हो आज,
रंगी हो तुम किसके अनुराग।
स्वर्ण सरसिज किंजल्क समान,
उड़ाती हो परमाणु पराग।
धरा पर झुकी प्रार्थना सदृश,
मधुर मुरली-सी फिर भी मौन।
किसी अज्ञात विश्व की विकल,
वेदना दूती सी तुम कौन?

* * *

सुदिन-मणि-वलय विभूषित उषा,
सुन्दरी के कर का संकेत।
कर रही हो तुम किसको मधुर,
किसे दिखलाती प्रेम-निकेत।
चपल, ठहरो कुछ लो विश्राम,
चल चुकी हो पथ शून्य अनन्त।
सुमन मन्दिर के खोलो द्वार,
जगे फिरे सोया वहाँ वसन्त।

प्रसाद जी के मानस का उपर्युक्त पंक्तियों में तादात्म्य हो उठा है। 'किरण' में भी कवि ने अव्यक्त प्राण को परखने का प्रयास किया है। इस प्रकार पंक्तियों में काव्य का छायावादी स्वरूप पूर्ण रूप से विद्यमान् है।

'विषाद' की निम्न पंक्तियाँ भी बड़ी ही मधुर हैं। कवि की कोमल भावनाओं ने प्रसाद जी को और भी उच्च स्तर पर पहुँचा दिया है :—

कौन प्रकृति के करुण काव्य सा,
वृक्ष पत्र की मधु छाया में।
लिखा हुआ सा अचल पड़ा है,
अमृत सदृश्य नश्वर काया में।

* * *

किसी हृदय का यह विषाद है,
छेड़ो मत यह सुख का करण है।
उत्तेजित कर मत दौड़ाओ,
करुणा का विश्रान्त चरण है।

इन पंक्तियों में भी छायावाद का स्वरूप उपलब्ध होता है।

" 'आँसू' काव्य में मानवी विरह का स्वरूप छनकर हमारे सामने आया है। उसमें काव्य का छायावाद अथवा रहस्यवाद अणुमात्र को भी नहीं है; किन्तु मानव के विलासी जीवन की वियुक्ति के कारण उस जीवन में जो विरह है—वही आंसू के विरह का विषय है। इस प्रकार 'आंसू' काव्य में मानव-जीवन का संस्पर्श है और वह लोक-जीवन के अधिक समीप है। इस काव्य के सम्बन्ध में आचार्य पं० नन्ददुलारे बाजपेयी का कथन है—

"आंसू' प्रसाद जी की पूर्व की रचनाओं से बहुत आगे है। उसमें 'चित्राधार' की सी हलकी, चमत्कार-चंचल दृष्टि नहीं है, न 'प्रेम पथिक' का सा 'रोमाण्टिक' प्रेमादर्श का निरूपण है—वह अधिक गहरी चीज़ है। 'आँसू' कवि के जीवन की वास्तविक प्रयोगशाला का आविष्कार है। 'आँसू' में कवि निस्संकोच भाव से विलास-जीवन का वैभव दिखाता है, फिर उसके अभाव में आँसू बहाता और अन्त में जीवन से समझौता करता है। विलास में जो मद, जो विराट् आकर्षण है उसे कवि उतने ही विराट् रूपकों और उपमानों से प्रकट करता है। उसके अभाव में जो वेदना है वही आँसू बनकर निकलती है।"[1]

इस करुणा कलित हृदय में
अब विकल रागिनी बजती
क्यों हाहाकार स्वरों में
वेदना असीम गरजती?

* *

मानस-सागर के तट पर
क्यों लोल लहर की बातें
कल-कल ध्वनि से हैं कहती
कुछ विस्मृत बीती बातें?

---

१. आचार्य पंडित नन्ददुलारे बाजपेयी, 'हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी' श्री जयशंकर प्रसाद, पृष्ठ १२१।

'आँसू' के चित्रण बड़े ही मनोवैज्ञानिक एवं सजीव बन पड़े हैं। अपनी कोमल भावनाओं के कारण ही 'कामायनी' के उपरान्त प्रसाद जी का 'आँसू' अमर काव्य है।

'आँसू' में कवि की जिस विकल रागिनी का समन्वय है, वह 'लहर' में प्रशान्त हो उठती है। 'आँसू' के वियोग ने कवि को जीवन के 'संयोग' पक्ष की ओर देखने का अवसर दिया है। इसीलिये इसमें सुख का एक आदर्श हमारे सामने आ सका है। 'कामायनी' कवि की मानवी सृष्टि की अपूर्व कथा है। इसमें मानव के प्रतीक मनु की सम्पूर्ण चित्तवृत्तियों का सफल चित्रण है। महाकवि प्रसाद ने जीवन में ज्ञान और भक्ति तथा आत्मा और शरीर दोनों युग्मों की सार्थकता को सिद्ध किया है।

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट है कि पंडित श्रीधर पाठक में स्वच्छन्दतावादी काव्य की जो प्रवृत्तियाँ थीं वह अधिक विकसित रूप में प्रसाद जी में आ गई हैं। उनमें प्रकृति, प्रेम एवं मानवता आदि की जो प्रवृत्तियाँ थीं प्रसाद जी ने अपनी मौलिक प्रतिभा के बल पर उन्हें और सुदृढ़ और पुष्ट किया है, प्रसाद जी की यही मौलिक विशेषता थी। उनके द्वारा ही छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य की परम्परा का प्रारम्भ है, जिसको आगे चलकर पंत, निराला एवं महादेवी आदि ने एक विशेष दिशा प्रदान की है।

१९२५ ई० के उपरान्त स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्ति में छायावादी एवं रहस्यवादी भावना ने संयुक्त होकर उसे विशेष बलशाली बना दिया, जिसके कारण द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मकता त्राहि-त्राहि कर उठी और अपने को तिरोहित कर ले जाने में ही अपना कल्याण समझी।

मुकुटधर पाण्डेय (जन्म—१८९५ ई०)

जीवनवृत्त एवं व्यक्तित्व—प्रकृति-परक एवं रहस्यात्मक अनुभूति लेकर चलने वाले कवियों में मुकुटधर पांडेय का प्रमुख स्थान है। आत्माभिव्यंजन में द्विवेदी-युग के किसी भी कवि से वह कहीं आगे हैं।

मध्यप्रदेश में छत्तीसगढ़ के बिलासपुर जिले में महा नदी के किनारे बालपुर नामक ग्राम है। मुकुटधर पांडेय का जन्म इसी ग्राम में आश्विन सं० १९५२ में हुआ था। आप सरयूपारीय ब्राह्मण वंश से हैं, आपका वंश प्राचीनता और प्रतिष्ठा के दृष्टिकोण से उस क्षेत्र में बड़ा सम्मानित था। पांडेय जी की माता देवहुती देवी नारी-सुलभ शीलता और सद्गुणों के कारण समाज की आदर्श

महिला थीं और पिता पं० चिन्तामणि पांडेय सच्चरित्र और अध्ययनशील व्यक्ति थे। सामाजिक भावना उनमें बड़ी ही प्रबल थी। उन्होंने अपने ग्राम में हिन्दी का एक विशाल पुस्तकालय खोल रखा था तथा एक विद्यालय की स्थापना कर रखी थी। ग्रामीण-क्षेत्र की अज्ञानता को मिटाने के लिये इन दोनों संस्थाओं ने बड़ा काम किया था। उनकी पितामही कुसुमदेवी एवं पितामह पं० शालिग्राम पांडेय भी बड़े ही सच्चरित्र और धार्मिक थे। मुकुटधर पांडेय चार भाई हैं—पांडेय पुरुषोत्तम प्रसाद, पांडेय लोचन प्रसाद 'काव्य विनोद' एवं पांडेय मुरलीधर। 'पांडेय परिवार' के चारों भाई बड़े ही साहित्यिक और कवि हैं। लोचन प्रसाद पांडेय हिन्दी एवं उत्कल भाषा के उत्कृष्ट कोटि के कवि और लेखक हैं। पुरुषोत्तम प्रसाद और लोचन प्रसाद के संसर्ग और उनके काव्यादर्शों ने मुरलीधर एवं मुकुटधर को कवि बना दिया है।

उन्होंने सं० १९७२ में प्रयाग विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षा उत्तीर्ण की थी। उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिये उन्होंने प्रयाग के क्रिश्चियन कालेज में नाम भी लिखाया था। किन्तु अस्वस्थता के कारण वहाँ उनका अध्ययन न चल सका और अपने गाँव में लौट आये। वहाँ अपने पिता द्वारा संस्थापित पाठशाला में अध्यापन कार्य करने लगे।

काव्य की प्रवृत्तियाँ—आधुनिक काव्य के द्वितीय उत्थान में परम्परावादी, बंगला तथा अंग्रेजी काव्य के प्रभाव से रचना करने वाले कवि हिन्दी-काव्य में प्रयुक्त अभिव्यंजना-शैली में देख रहे थे कि कल्पना एवं अन्तर्भावनाओं का पूर्ण बहिष्कार सा था। क्रमशः नूतन भावनाओं को अपनाकर चलने वाले कवियों में इनको काव्य में अधिकाधिक स्थान देने की प्रवृत्ति बढ़ी। इस ओर जो कवि बढ़े भी उनमें मुकुटधर पांडेय का मुख्य स्थान है।

इस सम्बन्ध में पांडेय जी में विशेषता रही है कि वह प्रत्येक विषय के अन्तरतम तक में प्रविष्ट हो सके हैं। विश्व की असारता की अनुभूति प्रत्येक मानव को पल-पल पर और पग-पग पर होती है। इस सम्बन्ध में काल जितना कुटिल है उतना अन्य कोई नहीं। वही मानव को थपेड़े मारकर जीवन की वस्तुस्थिति का पता देता है।

थे कल मुदित हम आज हमको मोद पाना है नहीं,
इस जिन्दगी का भाइयो, कुछ भी ठिकाना है नहीं।
पाकर क्षणिक सुख भोग हैं हा, हम अभी फूले हुये,
घट जाय कैसे कौनसी घटना, इसे भूले हुये।

है उदय से ही अस्त जीवन से मरण प्रत्यक्ष है,
संयोग से समझो सदा दुस्सह वियोग समक्ष है।
सुख-कौमुदी छिटकी अभी दुख-मेघ देखो घिर रहा,
यों नित्य सुख के संग ही दुख भी सदा ही फिर रहा।

* * *

रहते किसी को ज्ञात परिवर्तन भला ये क्या कहीं ?
है काल की यह कुटिलता जानी कभी जाती नहीं।[1]

जीवन का यही दुखवाद छायावादी युग में प्रकर्ष को प्राप्त हुआ था, जिसकी अनुभूति प्रसाद, पन्त, निराला एवं महादेवी सभी को हुई थी।

जीवन की परिवर्तनशीलता और असारता की कटुता का उसी समय विनाश हो सकता है जब विश्व की मानवी सृष्टि जगन्नियन्ता की विभूति को पहिचान ले। जीवन के दुःख ही मानव को इस ओर अभिप्रेरित करते हैं। फलतः वह ईश्वरीय सत्ता से अवगत होने के लिये आतुर हो उठता है। लौकिक साधनों से नियंत्रित होने के कारण कवि ने उस सत्ता को वेद, शास्त्र, पुराण एवं गीता आदि में ढूँढ़ने का प्रयास किया; किन्तु वह निष्फल रहा। ऊपर से उनके इतने सारगर्भित होने पर भी भीतर कितना छिछलापन था—यह जानकर कवि को परिताप भी हुआ। अन्त में उसे उस सत्ता का ज्ञान भी हुआ जो धर्मज्ञों के लिये कितना विचित्र था।

दीन हीन के अश्रुनीर में।
पतितों की परिताप पीर में,
सन्ध्या की चंचल समीर में,
करता था तू गान।
सरल स्वभाव कृषक के हल में
पतिव्रता रमणी के बल में,
श्रम सीकर से सिंचित धन में,
विषय मुक्त हरिजन के मन में,
कवि के सत्य पवित्र वचन में,
तेरा मिला प्रमाण।

---

१. मुकुटधर पांडेय, काल की कुटिलता, 'कविता कुसुम माला' सम्पा० पांडेय लोचनप्रसाद (इण्डियन प्रेस, प्रयाग)।

देखा मैंने यहीं मुक्ति थी,
यहीं भोग था, यही भुक्ति थी,
घर में ही सब योग युक्ति थी,
घर ही था निर्वाण।[1]

इन पंक्तियों में रूढ़िवादिता का पूर्ण परित्याग है। प्रासादिक शैली में रचित पंक्तियाँ मार्मिक हैं।

इसके समतुल्य ही प्रकृति के व्यापक स्वरूप में भी उसी सत्ता के प्रति जिज्ञासा है। यह जिज्ञासा ही आगे चलकर रहस्यात्मकता में परिवर्तित हो गई है।

प्राची में अरुणोदय-अनूप,
है दिखा रहा निज दिव्य रूप,
लाली यह किसके अधरों की,
लख जिसे मलिन नक्षत्र-हीर।
विकसित सर में किंजल्क-जाल,
शोभित उन पर नीहार-माल।
किस सदय बन्धु की आँखों से,
है टपक पड़ा यह प्रेम-नीर ?[2]

'रूप का जादू' भी बड़ा ही मोहक है, जिसने कवि को मंत्र-मुग्ध कर रखा है।

निशिकर ने आ शरद-निशा में, बरसाया मधु दशों दिशा में,
विचरण करके नभो देश में, गमन किया निज धाम।
पर चकोर ने कहा भ्रान्त हो,
प्रिय वियोग दुख से अशान्त हो,
गया छोड़कर के जीवन धन, मुझे कहाँ ? हा राम !
हुआ प्रथम जब उसका दर्शन, गया हाथ से निकल तभी तम।
सोचा मैंने—यह शोभा की सीमा है प्रख्यात।
वह चित-चोर कहाँ बसता था,

१. मुकुटधर पाण्डेय, सरस्वती, दिसम्बर, १९१७।
२. मुकुटधर पाण्डेय, अधीर, कविता कौमुदी भाग २, पृष्ठ ५५८-५५९

किसको देख-देख हँसता था,
पूँछ सका मैं उसे मोहवश नहीं एक भी बात ॥[1]

अव्यक्त के लिये यह जिज्ञासा ही पांडेय जी को रहस्यवादी कवि के समीप प्रतिष्ठित कर देती है।

पाण्डेय जी की 'आँसू' तथा 'हृदय' नामक रचनाओं में वैयक्तिकता के साथ-साथ दुःख एवं सहानुभूतियों की मनोवृत्तियों का पूर्ण समावेश है। प्रासादिक एवं मधुर शैली के साथ भावना में एक मस्ती है। इस प्रकार उसके काव्य में स्वच्छन्द काव्य का स्वरूप उपलब्ध हो जाता है।

देखकर प्रिय को पड़ा त्रयताप में,
वेदना होती हृदय-धन को महा।
शोक विह्वल वह कराह-कराह कर,
आँसुओं की धार देता है बहा।

* * *

प्रेमियों के हृदय-सागर में कढ़े
यत्न से इन मोतियों को गूँथ कर
जो बनाता हार अपने कण्ठ का
भाइयो, है विश्व में वह धन्य नर।[2]

'आँसुओं' की सार्थकता यदि प्रेमी के लिये अविरल धारा बहाने में है तो 'हृदय' का अस्तित्व केवल इस पर ही आधारित है कि वह सहानुभूति के अवसरों को न जाने दे। केवल इस भावना पर ही उसकी महत्ता अवलम्बित है—

वह सिसकता जो सड़क पर है खड़ा
है नहीं घर-द्वार का जिसके पता
बाँह ऐसे दीन की गहता हृदय
और उसके आँसुओं को पोंछता

* * *

प्यार की दो बात कहने के लिये
जिस दुखी के पास है कोई नहीं।

---

१. मुकुटधर पाण्डेय, रूप का जादू, कविता-कौमुदी, पृष्ठ ५६०।
२. " आँसू, सरस्वती, दिसम्बर १९१९।

पास उसके दौड़ कर जाता हृदय
और घंटों बैठ रहता है वहीं।
गोद जिसकी आज खाली हो गई
है अनूठा रत्न जिसका खो गया।
देखकर उस दुःखिनी माँ की दशा
बावला सा क्यों हृदय है हो गया।[1]

पाण्डेय जी के काव्य में अनन्त एवं अज्ञात जगन्नियन्ता के प्रति भी लालसा है :—

कहाँ गये तुम नाथ, मुझे दो भूल ?
गड़ता है उर बीच विरह का शूल।
थे जब तक तुम सन्तत मेरे पास,
किया तुम्हारा मैंने नित उपहास।
सुनता था जब नित्य तुम्हारी बात,
था उसका माधुर्य नहीं तब ज्ञात।

* * *

मिलो वहीं जो रोष हृदय का त्याग,
तुम्हें दिखाऊँ अपने जी की आग।[2]

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'गीतांजलि' एवं अंग्रेजी काव्य के प्रभाव से मुकुटधर पाण्डेय के काव्य में अन्तर्भावना को विशेष अवकाश मिलने लगा था। फलतः पाण्डेय जी की १९१५ ई० के बाद की रचनाओं में यह भावना विशेष-रूपेण उपलब्ध होने लगती है; किन्तु इससे पूर्व कवि प्रकृति-निरीक्षण में पूर्ण सरल और स्वाभाविक था। उससे पूर्व कवि की इस प्रकार की कोई कामना नहीं थी।

वर्षा बहार सब के मन को लुभा रही है,
नभ में घटा अनूठी घनघोर छा रही है।
बिजली चमक रही है बादल गरज रहे हैं,
पानी बरस रहा है झरने भी ये बहे हैं।
चलती हवा है ठंडी हिलती हैं डालियें सब,
बागों में गीत सुन्दर गाती हैं मालिनें अब।

---

१. मुकुटधर पाण्डेय, 'हृदय', सरस्वती, मार्च १९१७।
२. 'मर्दित मान', सरस्वती, नवम्बर, १९१८।

तालों में जीव जलचर अति हैं प्रसन्न होते
फिरते लाखों पपीहे हैं ग्रीष्म-ताप खोते ।[1]

उपर्युक्त के अतिरिक्त 'पूजा-फूल' में ग्राम-गुण-गान, फूल, गुलाब, कुमुदिनी, पूर्ण चन्द्र, शरद शर्वरी, महानदी, ग्रीष्म में मेरे गमले, ग्राम्य-जीवन, प्रभात, सन्ध्या, वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा-विहार, शरद, हेमन्त, शिशिर, प्रभात-भ्रमण एवं एक लहर आदि-आदि अन्य प्रकृति-परक रचनाएँ हैं। पाण्डेय जी ने निष्काम-भाव से ही प्रकृति को देखा है।

प्रकृति के प्रति प्रेम में कवि को आत्मिक सुख मिलता है। इस कारण ही पाण्डेय जी ने प्रकृति को ही अपने काव्य की आधार-शिला बनाया है। इसके सम्बन्ध में उनके निम्न दृष्टिकोण हैं।

हरित पल्लवित नव वृक्षों के दृश्य मनोहर,
होते मुझको विश्व बीच हैं जैसे सुखकर।
सुखकर वैसे अन्य दृश्य होते न कभी हैं,
उनके आगे मुझे तुच्छ परम वे सभी हैं।[2]

उपर्युक्त पंक्तियों द्वारा पाण्डेय जी की काव्य-प्रवृत्तियों पर पूर्ण प्रकाश पड़ जाता है। उनमें अपने समकालीन किसी भी कवि से अधिक स्वच्छन्दता एवं रहस्यात्मकता है। प्रकृति के अन्तर्गत अव्यक्त शक्ति की अनुभूति उन्हीं की विशेषता थी। इसीसे पाण्डेय जी का व्यक्तित्व एवं काव्य दोनों ही महत्वपूर्ण हैं।

* * *

---

१. मुकुटधर पाण्डेय, 'वर्षा बहार', 'पूजा फूल', प्रकाशक ब्रह्म प्रेस, इटावा प्रथम संस्करण।

२. मुकुटधर पाण्डेय मेरा प्रकृति प्रेम ,, ,, ,,।

उपसंहार

१७वीं-१८वीं शताब्दी में जब योरुप में प्रकृति-विज्ञान, दर्शन, समाज-विज्ञान, राजनीति एवं अर्थशास्त्र आदि में परिवर्तन हो रहे थे, उस समय भी महाद्वीप के बुद्धिजीवियों के हृदय में रोम एवं ग्रीस की परम्पराओं तथा शास्त्रीयता के प्रति विश्वास था। जान काल्विन और मार्टिन लूथर के रूढ़िवादिताओं के विरुद्ध सुधारवादी आन्दोलन होने पर भी उस समय सम्पूर्ण योरुपीय विश्वविद्यालयों एवं शिक्षण संस्थाओं में लेटिन और ग्रीक-साहित्य की प्रवृत्तियों के प्रति ममता और आस्था थी। कालान्तर में यद्यपि लोक-भाषाओं के प्रयोग की अभिवृद्धि हुई तथापि इन भाषाओं का प्रारम्भिक सृजित साहित्य अपने विषय एवं अभिव्यंजना के सम्बन्ध में उक्त भाषाओं का ही ऋणी एवं आभारी था।

जर्मनी में मार्टिन आपिज (Martin Opitz), स्पेन में काल्डिरन (Calderon), फ्रांस में कार्निले (Corneille), मॉलियर (Molier) एवं रैसिन (Racine) तथा इंग्लैण्ड में मिल्टन (Milton), ड्रायडन (Drydon) एवं पोप (Pope) आदि परम्परावादी शास्त्रीय काव्य के सम्बन्ध में प्रतिनिधित्व कर रहे थे; किन्तु शास्त्रीयता का सम्मोहन दीर्घकाल तक समाज को आकर्षित न कर सका। सामयिक परिस्थितियों ने सामाजिकों को मानवतावादी और यथार्थवादी बना दिया। फलतः स्वच्छन्दतावादी भावना का सूत्रपात हो उठा। विल्सन एवं पिरानेजी के प्रकृति-चित्रणों ने फ्रांस में इस भावना के लाने में विशेष प्रेरणा दी। साथ ही फ्रांस में वाल्टेयर एवं रूसो द्वारा विचारों में इस प्रकार की क्रान्ति प्रस्तुत कर दी गई कि मानवता मुक्त होने के लिये छटपटा उठी। फलतः फ्रांस की विश्व-व्यापी राज्य-क्रांति हुई और रूसो की यह विचार-धारा 'मानव स्वतन्त्र जन्मा है; किन्तु वह सर्वत्र बन्धनों में आबद्ध है' मानवता के उपासकों के लिये गुरुमन्त्र ही सिद्ध हुई। जर्मनी में काण्ट, फिशे एवं हीगेल

ने आध्यात्मिक भूमि पर कर्तव्यनिष्ठा, आदर्शवादिता एवं रहस्यवादिता का सम्पोषण किया। इन लोगों की विचारधाराओं ने यथार्थ पर जोर देकर स्वाभाविक भावनाओं की उत्पत्ति के लिये क्षेत्र तैयार किया। इस भावना से इंग्लैण्ड भी प्रभावित हुये बिना न रहा। टॉमसन, कॉलिन्स और ग्रे आदि के काव्यों में अंग्रेजी काव्य के आगस्टन-युग की परम्परावादी प्रवृत्तियों से विशेष भावनाओं का समन्वय उपलब्ध होता है। योरुपीय स्वच्छन्दतावादी प्रगति के प्रचार और प्रसार के द्वारा इस ओर एक सुदृढ़ पृष्ठभूमि तैयार कर दी गई।

भारतीय साहित्य में सदैव शास्त्रीयता का प्राबल्य रहा। कारण धर्मशास्त्र, नीतिशास्त्र एवं राजनीतिशास्त्र आदि में सर्वत्र ही आदर्श की पूजा एवं प्रधानता रही है। हिन्दी-साहित्य के वीरगाथा काल (१०५०-१३७५ वि० सं०) और रीतिकाल (१७००–१६०० वि० सं०) में व्यक्तिवादी भावना से दूर शास्त्रीय काव्य ही प्रसूत रहा। प्रथम में अतिशयोक्ति से परिपूर्ण आलंकारिक ब्रजभाषा का प्रयोग हुआ। काव्य में कृत्रिमता की बहुलता रही। द्वितीय में संस्कृत के आचार्यों की रीति-परिपाटी पर ही सम्पूर्ण रीतिकाव्य की रचना हुई, इससे वह सोलहों आना परम्परावादी काव्य ही है। भक्तिकाल (१३७५–१७०० वि० सं०) में व्यक्ति-प्रधान काव्य अवश्य प्रसूत हुआ तथापि उसमें स्वच्छन्दवादिता के लक्षण न आ सके। सम्पूर्ण भक्ति-काव्य के अन्तर्गत चिर-प्रतिष्ठित भारतीय दर्शन ही तानों-बानों में बुना हुआ है। राम-कृष्ण की भक्ति-भावना को लेकर सूर और तुलसी ने उत्कृष्ट कोटि का काव्य सृजन किया; किन्तु अपने आदर्शों से संयुक्त होने के कारण वे स्वयं अपनी परम्परा के अनुयायियों के लिये अनुकरणीय हो गये।

अंग्रेजों के आर्थिक शोषण तथा सामाजिक और राजनीतिक दमन से भारतीय इतिहास में एक नूतन अध्याय अवश्य खुला, इसमें सन्देह नहीं। परतन्त्रता से अपमानित और क्षुब्ध भारतीय १८५७ ई० के भारतीय विद्रोह में अंग्रेजों के विरुद्ध स्वतन्त्रता उपलब्धि के लिए अवश्य उठ खड़े हुए; किंतु परस्पर के विद्वेष एवं फूट से अंग्रेजों को ही बल मिला। इस विद्रोह में यह अवश्य सत्य है कि भारतीयों को अपने दुर्भाग्य से असफलता का ही साक्षात्कार करना पड़ा; किंतु इससे जाग्रति का भारत को अनुभव अवश्य हुआ। वस्तुतः उसे नव चेतना का आशीर्वाद मिला, जिससे वह अन्ध-विश्वास की खुमारी छोड़कर यथार्थ को परखने में समर्थ हो सका। परम्परागत रूढ़ियों को धक्का लगा जिससे जीवन के सत्य के प्रति उसका ममत्व बढ़ चला। ऐसे अनुकूल वातावरण में ही

भारतेन्दु एवं उनकी गोष्ठी के कवियों को काव्य के विषय, छन्द एवं भाषा आदि के परिवर्तन आदि के लिये बाध्य होना पड़ा। इसमें सन्देह नहीं कि उनके परम्परावादी काव्य में वही शास्त्रीय निष्ठा अब भी विद्यमान थी; किन्तु वह काव्य-क्षेत्र में नूतनता की उपेक्षा भी न कर सके। जनता की भाषा (प्रचलित खड़ी बोली) में लोक-प्रचलित छन्दों (लावनी, गजल, होली एवं कबीर आदि) में जनता की समस्याओं (भुखमरी, अविद्या, परतन्त्रता एवं समाज के अन्याय विकार आदि) के वर्णन प्रस्तुत किये गये। यह सब स्वच्छन्दवादिता अवश्य नहीं थी; किन्तु इनसे तत्सम्बन्धी प्रेरणाओं की अनुभूति अवश्य हुई, इसमें सन्देह नहीं। स्वच्छन्दवादिता की कुछ प्रवृत्तियाँ ठाकुर जगमोहनसिंह के काव्य में उभरी हुई उपलब्ध होती हैं, अनन्तर पं० श्रीधर पाठक के द्वारा अनूदित 'एकांतवासी योगी' काव्य के प्रस्तुत कर देने पर स्वच्छंदतावादी काव्य का स्वरूप हिन्दी-काव्य में प्रसूत हो उठता है। 'एकान्तवासी योगी' का प्रकाशन हिन्दी के लिये एक नवीन घटना थी। देश-विदेश के सभी काव्यानुरागियों ने इस काव्य की भूरि-भूरि प्रशंसा की और आचार्य पं० रामचन्द्र शुक्ल ने उन्हें प्रथम हिन्दी का स्वच्छन्दतावादी कवि सिद्ध किया।

भारतेन्दु-युग के उपरान्त द्विवेदी-युग की उपदेशात्मक एवं इतिवृत्तात्मक काव्य-प्रवृत्तियों के कारण स्वच्छन्दवादिता की स्वाभाविक धारा में व्यवधान अवश्य प्रस्तुत हुये; किन्तु पं० श्रीधर पाठक के कारण स्वच्छन्दतावादी-काव्य की परम्परा चलती अवश्य रही। द्विवेदी-काव्य-भूमि के बाहर के कवि राय देवी-प्रसाद 'पूर्ण', रामनरेश त्रिपाठी एवं रूपनारायण पाण्डेय आदि के द्वारा स्वच्छ-न्दवादिता को सम्पोषण मिलता रहा। १६१५ ई० के उपरान्त पाश्चात्य काव्य के परिचय और रवीन्द्र बाबू की गीतांजलि के प्रभाव से छायावादी कविता का युग प्रारम्भ हो गया। स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति आलोच्यकाल की समाप्ति १६२५ ई० तक चलती रही। स्वच्छन्दतावादी एवं छायावादी काव्य के लक्षण अधिकांशतः समान हैं। इससे १६१५–२५ ई० के मध्य में दोनों प्रकार के काव्यों का सम्मिश्रण समान रूप से चलता रहा। प्रसाद, पन्त एवं निराला आदि के काव्यों में इस प्रकार के मिश्रित काव्य के लक्षण स्पष्ट परिलक्षित हैं।

अब देखना है—योरुप एवं भारत दोनों की स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा के मूल में कौनसी परिस्थितियाँ थीं, जिनसे इसे विशेष बल मिला। इतना देशान्तर होते हुये भी निस्सन्देह दोनों स्थलों के स्वच्छंदतावादी काव्य के मूल में

पूँजीवाद के उत्थान का ही मूल कारण था जिससे उसे जाग्रति मिली। योरुप में मूलतः औद्योगिक क्रान्ति एवं भारत में अंग्रेजों के आर्थिक शोषण, दासता और मिलों के प्रचार से व्यक्ति-प्रधान स्वच्छन्दतावादी काव्य के लिये प्रसार-क्षेत्र मिला। कवि-गण नवीन स्वातन्त्र्य लालसा और योरुपीय सांस्कृतिक और साम्राज्यवादी प्रसार की महत्वाकांक्षा से अनुप्रेरित होकर काव्य-क्षेत्र में अवतरित हुये। सामन्त-युगीन समाज-व्यवस्था का ह्रास होता गया तथा क्रमशः मध्य वर्ग की स्थिति सुस्थिर हो चली। कविगण अपने को स्वात्म-निर्भर समाज-निरपेक्ष रूप में देखने लगे। सामाजिक दृष्टि में तथा सामाजिक बन्धनों में वैयक्तिक आत्म-निर्भरता का उत्थान स्वच्छन्दतावादी कविता के लिये उपयुक्त सम्बल सिद्ध हुआ। योरुप के प्रारम्भिक स्वच्छन्दतावादी कवि जिन विद्रोही और महत्वाकांक्षा-युक्त भावनाओं को लेकर अग्रसर हुये उनमें वेदना के लिये कोई विशेष अवकाश न था। भारतीय परिस्थिति भिन्न रही। भारतीय पूँजीवाद योरुपीय पूँजीवाद के द्वारा आक्रांत रहा है। योरुपीय राष्ट्रों की साम्राज्यवादी नीतियों ने हिन्दी-कवियों के स्वच्छन्दवादिता को एक अन्तर्निहित वेदना से आच्छन्न कर रखा। योरुपीय और भारतीय सामाजिक स्थितियों के अन्तर के कारण दोनों की स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रेरणा बहुत भिन्न है। फिर भी दोनों में समानता का अंश कम नहीं है। योरुपीय स्वच्छन्दतावाद के समान ही हिन्दी काव्य का स्वच्छन्दतावाद सामन्तवादी समाज-व्यवस्था के विरोध में उपस्थित हुआ। दोनों में मध्यवर्गीय आत्म-निर्भरता और वैयक्तिक स्वातन्त्र्य भावना प्रबल है। स्वच्छन्दवादिता के अन्य उपकरण भी जैसे प्रकृति-प्रेम, स्वच्छन्द-प्रेम, अज्ञात की लालसा दोनों में समान हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि योरुप और भारत की स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रवृत्तियों में समानता और भिन्नता की पर्याप्त मात्राएँ विद्यमान हैं।

यदि भारत पराधीन न होता और पूँजीवाद के संघर्ष स्वाभाविक रूप से ही घटित हुये होते तो दोनों देशों की स्वच्छन्दवादिता में किसी भी प्रकार का अन्तर न होता।

इंग्लैण्ड में १७९८ में Lyrical Ballads के प्रकाशन से स्वच्छन्दतावादी काव्य का सुदृढ़ स्वरूप प्रदर्शित हुआ। इसमें कालरिज की Ancient Mariner, Kublakhan एवं Christabel तथा वर्ड्सवर्थ की The Prelude एवं The Excursion आदि रचनाएँ नवीन स्फूर्ति एवं चेतना लेकर प्रकट हुईं।

अनंतर बायरन, शेले एवं कीट्स आदि के द्वारा अंग्रेजी का स्वच्छंदतावादी काव्य पूर्ण उत्कर्ष पर पहुँच गया। बायरन ने सामाजिक रूढ़ियों, शेले ने सामाजिक अत्याचारों के विरुद्ध काव्य-रचना कर तथा कीट्स ने प्रेम और सौंदर्य के अमर गान गाकर अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा को विशेष सबल बना दिया।

हिन्दी के स्वच्छन्दतावादी एवं छायावादी कवि अंग्रेजी के इस सम्पन्न काव्य से बड़े ही प्रभावित हुए थे। प्रसाद, पन्त एवं निराला आदि पर भी इसका प्रभाव पड़ा है। स्वयं पं० श्रीधर पाठक ने इस भावना से ही अनुप्रेरित होकर गोल्डस्मिथ के अमर काव्यों के हिन्दी-अनुवाद किये थे, जिनसे हिन्दी के परम्परावादी एवं व्यवहारवादी काव्य में एक नवीन युगोन्मेष हुआ।

सत्य तो यों है कि इस प्रकार के काव्य में जीवन की सच्ची व्याख्या का सार तत्व और मानव-हृदय को स्पर्श करने वाली संवेदनशीलता विद्यमान थी। फलस्वरूप इस प्रकार के काव्य का सम्मान बढ़ना स्वाभाविक ही नहीं अनिवार्य था। व्यवहारवादी काव्य की तड़क-भड़क और भूल-भुलैयाँ कब तक सबोध प्राणी को सम्मोहन-ग्रस्त कर पातीं ? मानवता से परे कृत्रिम संकीर्ण वातावरण में पल्लवित वह काव्य कब तक अपने अस्तित्व की दुहाई देता ? लोक-जीवन के यथार्थ के साथ वह कब तक आँख-मिचौनी खेल पाता ? —ये ऐसे प्रश्न थे जिनसे काव्य-विषयक शास्त्रीयता पलायन कर उठी। राम-कृष्ण के लोक-रंजन-गान कवि की वाणी से उस समय भी प्रस्फुटित थे, मन चलने पर उनके लिये शृंगारिक काव्य का द्वार भी उन्मुक्त था ; किन्तु उनमें जीवन की मुस्कान न थी। कवि का वह सब सृजन सप्राण न था। फलतः हिन्दी का स्वच्छन्दतावादी काव्य लौकिक आशीर्वाद प्राप्त कर रिंग चला।

'भारतेन्दु-युग' के स्वच्छन्दतावादी प्रेरक तत्वों ने प्रभावोत्पादन तो किया; किन्तु ठाकुर जगमोहनसिंह तद्विषयक अपने प्रयोगों में अन्यों से क्या अपने युग-नियामक (भारतेन्दु जी) से भी आगे ही रहे। उनकी अपनी प्रवृत्तियाँ थीं—अपनी प्रतिभा थी। अपने युग में अग्रसर होते हुए भी उस क्षेत्र में ठाकुर साहब का काव्य लोक-व्यापी न हो सका। अनन्तर द्विवेदी-युगीन काव्य की अधिकाधिक प्रवृत्तियों को पराभूत करते हुए पाठक जी को अप्रतिम सफलता मिली थी। स्वच्छन्दतावादी काव्य के राज-पथ में यदि ठाकुर साहब प्रथम पथ-चिह्न थे तो पाठक जी द्वितीय थे। पाठक जी ने व्यापक क्षेत्र घेरा—केवल काव्य में ही नहीं व्यावहारिक जीवन में भी। फलतः हिन्दी के आचार्य ने उन्हें प्रथम

स्वच्छन्दतावादी कवि की संज्ञा प्रदान की, जो न्यायतः सत्य थी और शत-प्रतिशत उनके काव्य और जीवन में चरितार्थ थी।

प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि होते हुए भी उनके व्यक्तित्व ने बहुसंख्यक कवियों को प्रभावित किया। वस्तुतः उनका व्यक्तित्व स्वच्छन्द था—मौलिक था। इससे उन जैसे कृती के प्रति आचार्य द्विवेदी तक की आस्था थी। काव्य-भाषा को लेकर राधाचरण गोस्वामी और उनकी गोष्ठी ने उनका विरोध किया; किन्तु उनसे तुर्की-बतुर्की उत्तर पाकर साहित्य का चिर सत्य उनकी समझ में आ गया। हिन्दी के सर्वोच्च वैयाकरण कामताप्रसाद गुरु ने उनकी काव्य-पद्धति पर व्यंग कसे; किन्तु पाठक जी भी व्यंग करना जानते थे। उस नोंक-झोंक का भी आचार्य द्विवेदी के कारण अनुकूल ही समाधान हो गया। यह सब पाठक जी के महत्तम व्यक्तित्व के कारण ही सम्भव हो सका। द्विवेदी जी के प्रभावोत्पादक व्यक्तित्व के होते हुए भी द्विवेदी-मण्डल की काव्य-भूमि के बाहर के कवि लोग अपने अस्तित्व को सुरक्षित किये थे। उनके पीछे पाठक जी के नूतन प्रयोग थे। इससे वह निराश क्यों रहते ?

काव्य के अन्तरंग एवं बहिरंग दोनों स्वरूपों में परिवर्तन प्रस्तुत हो उठे। यद्यपि भारतेन्दु-युग में परिस्थितियों ने कवि-वर्ग को भाव, भाषा एवं छन्द आदि सभी क्षेत्रों में स्वच्छन्दताजीवी बना दिया था; किन्तु अपने मन से वह स्वच्छन्दतावादी न बन सके थे। उनमें वैयक्तिक प्रधान काव्य का वैसा समावेश न हो सका था जैसा स्वयं पाठक जी, अनन्तर द्विवेदी-काव्य-मण्डल के बाहर तथा अवशिष्ट छायावादी भावना लेकर चलने वाले कवियों के काव्यों में था। वस्तुतः इस प्रकार के काव्य में भारतेन्दु एवं द्विवेदी दोनों युगों की प्रतिक्रिया सन्निहित थी। छायावादी युग का काव्य, जिसने इस प्रकार के काव्य पर अपनी आधार-शिला बनाई थी, मूलतः द्विवेदी-युग की इतिवृत्तात्मक प्रवृत्ति की विशुद्ध प्रतिक्रिया थी। यह सब स्वच्छन्दतावादी काव्य की सार्थकता के कारण सम्भव हो सका था। केवल अपने इसी पुण्य से वह अर्द्धशताब्दी तक अबाध गति से प्रगतिशील रहा।

भारतेन्दु-युग से लेकर द्विवेदी-युग तक काव्य की भाषा का निर्णय अवश्य हो चुका था। अकेली ब्रजभाषा अब तक प्रान्तीय बोलियों को उपेक्षित कर राजरानी-सी समादृत थी। अन्य टुकुर-टुकुर उसकी प्रतिष्ठा को देखती हुई अपने अस्तित्व को संरक्षित किये थीं। अकेले इतने बड़े सौभाग्य का संवहन छोटी बात न थी; किन्तु जब विषयों के क्षेत्र में व्यापकता बढ़ी तब वह पंगु ही सिद्ध हुई।

इससे लोक-भाषा को अपनाना ही सर्वग्राह्य हुआ। फलतः लोक-भाषा के सामान्य स्वरूप में खड़ी बोली की प्रतिष्ठा बढ़ना स्वाभाविक ही हुआ। यों भाषा के साधन से स्वच्छन्दवादिता का उत्कर्ष तो अवश्य नहीं हुआ ; किन्तु उसके द्वारा उसके विभिन्न अंगों में से एक अंग की पुष्टि अवश्य हो उठी।

भाषा के स्थान पर किसी भी काव्य के लिए भावनाएँ प्रमुख साध्य हैं। भाषा यदि काव्य का वाह्यावरण है तो भावनायें उसकी अन्तरात्मा हैं। भावनाओं के बिना काव्य की भित्ति बालू की दीवाल है और उसका अस्तित्व पूर्ण निरर्थक है। इन्हीं भावनाओं के आधार पर आलोच्यकाल में प्रगीत एवं प्रबन्ध-काव्य (खण्ड एवं महाकाव्य) लिखे गये, जिनमें स्वच्छन्दवादिता का पूर्ण अथवा आंशिक स्वरूप विद्यमान रहा। उपर्युक्त प्रकार के काव्यों में यद्यपि प्रगीतात्मकता स्वच्छन्दतावादी काव्य के सृजन में विशेष सहायक हुई है ; किन्तु अन्य अवशिष्ट प्रकार के काव्यों में भी उसके सन्निवेश से स्वच्छन्दवादिता का सूत्रपात हो उठा है।

आलोच्यकाल की प्रगीतात्मक काव्य-शैली के निर्माण में भक्ति-काव्य की पद-शैली की प्रेरणा पृष्ठ-भूमि में अवश्य रही है। यों भक्त कवि की वैयक्तिक भावना उन पदों में भी विद्यमान रही ; किन्तु भारतीय भक्तिवाद का संस्थापन जिन दार्शनिक सिद्धान्तों पर आधारित रहा वही सब भक्त कवियों का आदर्श था। इससे उस प्रकार के काव्य में व्यवहारवादिता शत-प्रतिशत प्रस्तुत रही। भारतेन्दु-युग तक ही क्या आज तक जो व्यक्ति अपनी आस्तिक-भावना की अर्चना अपने देवता के चरणों में अर्पित करना चाहता है वह चिर-परिचित-इसी पद शैली को अपना लेता है और उन्हीं चिर-परिचित भावनाओं के गान में अपनी निष्कृति का अनुभव करता है।

उक्त पद-शैली के अतिरिक्त मुसलमानी-काल की गजल-पद्धति का विशेष प्रचार बढ़ा और भारतेन्दु जी एवं उनकी मण्डली के कवियों ने गजल के अतिरिक्त रेखता, होली, कबीर एवं कजलियाँ आदि लोक-प्रगीतों का प्रयोग किया था।

उपर्युक्त भारतेन्दु-युग की गीत-प्रगति का द्विवेदी-युग में उत्कर्ष ही रहा। स्वयं राय देवीप्रसाद पूर्ण ने टेक देकर गीत लिखे हैं; किन्तु उनमें नैतिक एवं परम्परावादी काव्य की भावनाएँ ही प्रमुख हैं। इस प्रगीत-शैली का स्पष्ट स्वरूप मैथिलीशरण गुप्त की 'झंकार', पाण्डेय मुरलीधर और पाण्डेय मुकुटधर के 'पूजा फूल' के अन्तर्गत आशीर्वादात्मक पद्य, मातृ-पूजा एवं प्रभाती आदि, जयशंकर प्रसाद के 'झरना' और 'सरस्वती' में प्रकाशित मैथिलीशरण गुप्त, बदरीनाथ भट्ट, मुकुटधर पाण्डेय एवं गिरिधर शर्मा आदि-आदि के प्रगीतों द्वारा

प्रमुख दिशा मिली है। आगे चलकर यही प्रगीत-शैली छायावादी काव्य का प्रमुख आधार बनी है।

प्रबन्ध-काव्य की परम्परा में सर्वप्रथम श्रीधर पाठक द्वारा 'एकान्तवासी योगी' प्रस्तुत किया गया था। फिर उसी परम्परा में मैथिलीशरण गुप्त ने 'रंग में भंग', जयशंकर प्रसाद ने 'प्रेम पथिक' एवं 'महाराणा का महत्व' आदि, सियारामशरण ने 'मौर्य-विजय' और रामनरेश त्रिपाठी ने 'मिलन' और 'पथिक' आदि खण्ड-काव्य तथा अयोध्यासिंह उपाध्याय ने 'प्रिय प्रवास', रामचरित उपाध्याय ने 'रामचरित-चिन्तामरिण' और मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' (आंशिक रूप) महाकाव्य के स्वरूप में प्रस्तुत किये थे। इस स्थल पर यह जान लेना भी आवश्यक है कि उपर्युक्त सम्पूर्ण प्रबन्ध-काव्य स्वच्छन्दतावादी-काव्य के उत्पादन न थे। उपर्युक्त खण्डकाव्यों में जयशंकर प्रसाद का 'प्रेम पथिक' एवं रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' और 'पथिक' ही उस कोटि में आ सकते हैं। 'प्रिय प्रवास' एवं 'साकेत' यद्यपि हमारे व्यवहारवादी काव्य की ही शृंखला में हैं; तथापि इनके द्वारा भी स्वच्छन्दतावादी वैयक्तिक-काव्य का प्रस्फुटन हुआ है।

भारतेन्दु-युग तक रामायण एवं महाभारत काव्यों के चरित्रों की ही प्रधानता रही है; किन्तु तत्कालीन परिस्थितियों से बाध्य होकर कवि ने 'स्व' को भी काव्य का विषय बनाना प्रारम्भ कर दिया था। उस युग में ठाकुर जगमोहन सिंह ने अवश्य अपनी प्रेमिका श्यामा को लेकर जिन वैयक्तिक प्रेम-काव्यों की रचना की उनमें प्रेम को लेकर जो जिज्ञासा, उत्कण्ठा और विरहजनित उत्पीड़न है, उनमें यों भक्ति का आवरण अवश्य है; किन्तु उनमें ठाकुर साहब का वास्तविक व्यक्तित्व ही झाँकता है। इससे उन काव्यों में ठाकुर साहब एक प्रेमी नायक के रूप में ही प्रस्तुत होते हैं।

राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रबल हो जाने पर भारतेन्दु-युग की अपेक्षा द्विवेदी-युग में निर्माण का विशेष प्रश्न था। फलस्वरूप देश के गौरवपूर्ण भूत से पौराणिक, ऐतिहासिक, सामाजिक एवं धार्मिक आदि आदर्श चरित्र लेकर उन पर छोटी-बड़ी रचनायें हो उठीं। आस्था प्रधान देश को ऐसे चरित्रों से उत्थान में प्रेरणाएँ मिलीं। उपर्युक्त के अतिरिक्त काल्पनिक चरित्रों का भी आधिक्य बढ़ा। रामचन्द्र शुक्ल का 'शिशिर पथिक', प्रसाद का 'प्रेम पथिक' एवं 'आँसू' तथा रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' एवं 'पथिक' खण्ड-काव्यों के नायक, नायिकायें

एवं अन्य चरित्र काल्पनिक ही रहे हैं। 'आँसू' में उत्पीड़ित मानव का चरित्र है, जो पूर्ण काल्पनिक है।

इस प्रकार के काल्पनिक चरित्रों से वैयक्तिक प्रधान काव्यों का सृजन तो हुआ ही है; किन्तु उनसे प्रेम, करुणा, जीवन का दर्शन एवं प्रकृति-साहचर्य की भावनाएं भी उपलब्ध हुई हैं, जिनके ऊपर छायावादी काव्य अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सका है।

आलोच्यकाल में विविध रसों में रचना हुई है। युग के जितने भी प्रेम-काव्य हैं उनमें रूप-माधुरी के आकर्षण से उत्पन्न संयोग एवं विरह से वियोग दोनों पक्षों से परिपक्व होकर शृंगार-रस का स्पष्ट स्वरूप हिन्दी काव्य में प्रस्तुत हुआ है। प्रसाद के 'प्रेम पथिक', रामनरेश त्रिपाठी के 'मिलन' एवं 'पथिक' में त्याग भरे प्रेम का उद्दाम स्वरूप विद्यमान है। 'प्रिय प्रवास' एवं 'साकेत' के प्रारम्भिक सर्ग में भी उसका प्रस्फुटन हुआ है।

मैथिलीशरण गुप्त के 'भारत भारती', 'किसान', 'जयद्रथ वध' सनेही के 'कृषक क्रन्दन', सियारामशरण के 'अनाथ', रामनरेश त्रिपाठी के 'पथिक' आदि-आदि काव्यों में करुण, आलोच्य-काल की पत्रिकाओं की सम्पूर्ण राष्ट्रीय कविताओं, मैथिलीशरण गुप्त के 'जयद्रथ वध', सियारामशरण गुप्त के 'मौर्य विजय', जयशंकर प्रसाद के 'महाराणा का महत्व' आदि की रचनाओं में वीर रस, इसी प्रकार से अवशिष्ट रसों पर भी आलोच्य-काल में काव्य रचा गया है।

आलोच्य-काल में प्रकृति-काव्य के विविध स्वरूपों को लिया गया है। उससे अनुरंजन एवं उपदेशात्मक भाव भी ग्रहण किये गये हैं। किन्तु उसमें चेतना एवं मानवी स्वरूपों का समावेश एक नवीन प्रगति थी। प्रकृति की चेतनता एवं मानवी स्वरूपों के आरोप के द्वारा ही छायावादी युग के कवि को प्रतीकात्मक शैली को अपनाने में सुविधा हुई थी। राय देवीप्रसाद 'पूर्ण', मैथिलीशरण गुप्त, जयशंकर प्रसाद, मुकुटधर पाण्डेय, सुमित्रानन्दन पन्त एवं सूर्यकान्त त्रिपाठी 'निराला' आदि सभी के काव्यों में प्रकृति अपने विविध स्वरूपों में विद्यमान है।

इतनी प्रवृत्तियों के अतिरिक्त आलोच्य-काल के कवि-वर्ग अपने जीवन-दर्शन से भी उदासीन न थे। सामाजिक विषमताओं, प्रेमाख्यानों तथा राष्ट्र के उत्थान-पतनों ने कवियों को जीवन की ओर झाँकने का अवकाश दिया। सुख-दुःख के अवसरों ने सामाजिक जीवन में हास-रुदन की व्यवस्था करदी। मैथिली-

शरण गुप्त, मुकुटधर पाण्डेय, प्रसाद, पन्त एवं निराला आदि सभी कवियों के काव्यों में जीवन की असारता एवं सुख-दुख के दर्शन का सन्निवेश किया गया है। जीवन की असारता एवं अवसाद की भावनाओं से ही छायावादी काव्य के निराशावाद एवं वेदनावाद के उत्पन्न होने में सहायता मिली है। आगे चलकर इसी प्रवृत्ति के द्वारा कवि काव्य के रहस्यवादी क्षेत्र में प्रविष्ट हो सका था।

आलोच्य काल के काव्य के विवेचन से इतना पूर्णतः स्पष्ट है कि काव्य अपने स्थूल स्वरूप से सूक्ष्म की ओर अग्रसर होता गया है। १८७५ ई० के उपलब्ध काव्य में उसका स्थूल शरीर ही सामने आ सका था; किन्तु अपने क्रमिक विकास में १६२५ ई० के काव्य में उसकी अन्तरात्मा भी दृष्टिगोचर हो उठी। काव्य की यही वह गति-विधि थी जिस पर छायावादी एवं रहस्यवादी काव्य अपने अस्तित्व को सुरक्षित रख सके हैं। यह गति-विधि जिसके फलस्वरूप यह सब सम्भव हो सका, साहित्य की साधारण धारा एवं परिस्थिति न थी। अपनी इस महत्ता के कारण ही स्वच्छन्दतावादी हिन्दी-काव्य की इस विशेष धारा को आलोचना का विषय बनाकर आलोच्य काल के मध्य में उसकी प्रगति का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। भक्ति और रीतिकालों की शास्त्रीयता निस्सन्देह काव्य के स्वाभाविक स्वरूप पर पटाक्षेप किये थी। स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति से उसकी अवरुद्ध-गति को एक नूतन जीवन मिला। फलतः काव्य में मानवी चेतना का प्रस्फुटन हुआ। इस प्रकार हिन्दी के कृत्रिम काव्य के स्थान पर स्वाभाविक काव्य का स्वरूप सुशोभित हुआ। वास्तव में काव्य के इसी स्वरूप में साहित्य-देवता का 'सत्यं-शिवं-सुन्दरं' निवास करता है। इससे इस विशेष धारा से हिन्दी-काव्य का महान उपकार हुआ, साथ ही उसने उसे गरिमामय और महिमामय भी बना दिया, यह सत्य है।

पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग की भावधारा एवं काव्य शैली आदि दोनों दृष्टियों से जो काव्य-प्रवृत्तियां संचित हो रही थीं उनका प्रगल्भ परिपाक प्रसाद जी के आंसू, पन्त और निराला की आरम्भिक रचनाओं में दिखाई देता है।

इन दोनों काव्य-भूमियों का साहित्यिक विवेचन हमारी प्रबन्ध की सीमा के बाहर है; परन्तु इतना निवेदन करना अप्रासंगिक न होगा कि ठा० जगमोहन सिंह, श्रीधर पाठक, एवं रामनरेश त्रिपाठी की काव्य-कृतियों की अपनी आरम्भिक स्थिति का परिचय देने वाली काव्य-भावना ही प्रसाद और परवर्त्ती कवियों में अपनी पूर्ण तरुणाई में उपस्थित हुई है। अतएव आचार्य शुक्ल जी के

इस मत[1] से सहमत होना हमारे लिये कठिन है कि प्रकृति-स्वच्छन्दतावाद ठा० जगमोहनसिंह एवं श्रीधर पाठक की कृतियों में ही उपलब्ध होता है तथा प्रसाद, पन्त और निराला आदि में आकर उक्त काव्य-धारा संकुचित और साम्प्रदायिक बन जाती है। उल्टे हम यह मानते हैं कि ठाकुर साहब और पाठक जी का आरम्भिक काव्योन्मेष ही इन छायावादी कवियों में वेगपूर्ण होकर पूर्णरूप से प्रस्फुटित हुआ है।

---

१. ब्लैक आदि के पीछे सन् १८८५ में जो प्रतीकवाद-मिश्रित नूतन रहस्यवाद साहित्य-क्षेत्र के एक कोने में प्रकट हुआ—जिसकी नकल बंगला से होती हुई हिन्दी में आई—वह किस प्रकार एक साम्प्रदायिक वस्तु है और योरुप के अधिकांश साहित्यिकों द्वारा किस दृष्टि से देखा जाता है, यह हम अच्छी तरह दिखा चुके हैं। दूसरी बात लीजिये। हम नहीं समझते कि हिन्दी वालों की खोपड़ी को एक दम खोखली माने, उनके बीच इस प्रकार के अर्थशून्य वाक्य 'छायावाद' के सम्बन्ध में कैसे कहे जाते हैं कि 'यह नवीन जाग्रति का चिह्न है, देश के नवयुवकों के हृदय की दहकती हुई आग है इत्यादि, इत्यादि। भला, देश की नई 'जाग्रति' से देशवासियों की दारुण दशा की अनुभूति से और असीम-ससीम के मिलन, अव्यक्त और अज्ञात की झांकी आदि का क्या सम्बन्ध ? क्या हिन्दी के वर्तमान साहित्य-क्षेत्र में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बिलकुल टूट गया है ? क्या शब्दों की गर्द-भरी आँधी विलायत के कलाक्षेत्र से धीरे-धीरे हटती हुई अब हिन्दी वालों की आँख खोलना मुश्किल करेगी ?

—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, काव्य में रहस्यवाद, 'चिन्तामणि' भाग २, पृष्ठ १६६, सरस्वती मन्दिर, काशी, २००२ वि०

परिशिष्ट

परिशिष्ट १

योरुप में स्वच्छन्दतावादी काव्यान्दोलन की पृष्ठभूमि

(१६००-१८५०)

विषय-प्रवेश

योरुप के १८वीं और १९वीं शताब्दी (पूर्वार्द्ध) के एतिहासिक वायुमण्डल में इस प्रकार की प्रगतियाँ और परिवर्तन घटित हुए, जिनसे योरुप ही नहीं; किन्तु विश्व के संपूर्ण महाद्वीप प्रभावित हुए। इनकी पृष्ठभूमि में वे विचार-धार ाँ थीं, जो १७वीं और १८वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही अपना प्रभाव डालती हैं। आलोच्य-काल के समाज के लिए ये घटनाएँ पथ-चिह्न थीं, जिनसे अनुप्रेरित होकर उसने अपना नवीन मार्ग निर्धारित किया।

१६वीं और १७वीं शताब्दी में जागीरदारी प्रथा (Feudal System) सम्पूर्ण योरुप में ही प्रचलित थी। राजा ईश्वर का प्रतिनिधि समझा जाता था। इनकी निरंकुशता से शासित बड़े ही आक्रान्त थे। उनके अस्तित्व की इकाई की वस्तुतः कोई गणना ही नहीं थी। इस प्रकार की एकतन्त्रता फ्रान्स में बॉरबन्स (Bourbons), स्पेन में हेब्सबर्ग (Habsburges) और बॉरबन्स (Bourbons) तथा रूस में पीटर महान द्वारा प्रचारित थी। इसके विरोध में उत्तरी नीदरलैंड के निवासियों ने स्पेन के सम्राट फिलिप द्वितीय से संघर्ष भी किया; किन्तु वे असफल रहे।

१७वीं शताब्दी के प्रारम्भ में ही वोहीमिया के चेक्स (Zeches) ने भी अपने राजा फर्डिनैण्ड द्वितीय को शक्ति-विहीन करने का प्रयास किया; किन्तु वह भी असफल रहे। १७वीं और १८वीं शताब्दी में पोलैण्ड में इस प्रकार की एक राजनीतिक संस्था का उदय हुआ, जिसके अन्तर्गत राजा प्रजा से चुना जाता था और जिस पर नागरिकता, चर्च तथा सभ्यों के संरक्षण का दायित्व था।

यद्यपि निरंकुशता के विरुद्ध ये सभी प्रयास विफल हुए; किन्तु इंगलैण्ड को

इस सम्बन्ध में पूर्ण सफलता मिली। उसकी जनतन्त्र शक्ति का इस प्रकार क्रमिक विकास हुआ कि राजकीय शक्ति झकझोर डाली गई।

शक्ति-सम्पन्न होते हुए भी ब्रिटेन के राजा चार्ल्स प्रथम को प्रजा के शासन के समक्ष अपना जीवन अर्पित कर देना पड़ा। १६८८ ई० की इंगलैंड की 'गौरवपूर्ण राजक्रान्ति' से तो जेम्स द्वितीय को सिंहासन छोड़कर ही भाग जाना पड़ा। इस प्रकार इंगलैण्ड का सिंहासन पूर्णरूप से पार्लियामेण्ट के हाथ में आ गया। इस समय से इंगलैण्ड का राजा सदैव के लिए पार्लियामेण्ट के हाथ की कठपुतली हो गया।

जब इंगलैण्ड में इस प्रकार के स्थायी परिवर्तन हो रहे थे उस समय भी महाद्वीप में राजाओं के निरंकुश शासन का एकाधिपत्य था। लुई १४वाँ इस प्रकार के स्वेच्छाचारी राजाओं का आदर्श था।

१८वीं शताब्दी में फ्रान्स के दो विचारक वॉल्टेयर और रूसो इस प्रकार के व्यक्ति थे, जिन्होंने अपने मौलिक विचारों से अपने युग को प्रभावित किया। वॉल्टेयर अन्याय, अत्याचारों और निरंकुशताओं का पूर्ण विरोधी था। धर्म पर अन्धविश्वास उसे पसन्द नहीं था। अपनी इन विचारधाराओं के कारण उसे जेल में भी रहना पड़ा; किन्तु फिर भी विचारपूर्ण सत्साहित्य लिखकर उसने रूढ़ियों के विरुद्ध क्रान्ति उपस्थित कर दी। रूसो दूसरा विचारक था जिसने अपने साहित्य से समाज के नेत्र खोल दिए। Social Contract (Du Contract Social) में उसके मौलिक विचारों का समावेश है।

"रूसो ने क्रान्ति का पाठ नहीं पढ़ाया, शायद उसे इस प्रकार की क्रान्ति की आशा भी नहीं थी; किन्तु उसकी पुस्तकों और विचारों ने मनुष्यों के मस्तिष्कों में इस प्रकार के बीज वपन कर दिए, जिनसे क्रान्ति अंकुरित हो उठी।"[1]

१८वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में योरुप में तीन महत्वपूर्ण क्रान्तियाँ घटित हुई—(१) अमेरिका का स्वातंत्र्य-संग्राम, (२) फ्रान्स की राजक्रान्ति और (३) औद्योगिक क्रान्ति। वास्तव में इन सभी के प्रभाव से योरुप का स्वरूप ही

1. Rousseau did not preach revolution, probably he did not expect one. But his books and ideas certainly sowed the seed in men's mind which blossomed out in revolution.

—Jawaharlal Nehru : 'The Glimpses of World History', Page 338.

बदल गया। इनमें से प्रथम दो राजनीतिक एवं अन्तिम आर्थिक क्रान्ति रही है।

(क) तत्कालीन परिस्थितियाँ

१. राजनीतिक स्थिति

१. अमेरिका का स्वातंत्र्य संग्राम

१८वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध, जैसा उल्लेख किया जा चुका है, अपनी घटनाओं के कारण योरुपीय इतिहास में प्रसिद्ध है। १७४८ ई० में 'आस्ट्रिया का उत्तराधिकार' विषयक युद्ध समाप्त हुआ और 'एक्स-ला-चैपेल' की सन्धि के अनुसार मेरिया थेरेसा को आस्ट्रिया की उत्तराधिकारिणी मान लिया गया और सिलीसिया का प्रान्त प्रशा के सम्राट फ्रेडरिक के समीप ही रहने दिया गया। सन्धि का अभिनय अवश्य हो गया; किन्तु मेरिया थेरेसा फ्रेडरिक के कारण उत्पन्न संकट और अपमान को नहीं भूली थी। मेरिया उस अवसर की प्रतीक्षा में थी जब वह अपने प्रान्त सिलीसिया को लौटा ले और फ्रेडरिक को कुचल दे। इसी भावना से प्रेरित होकर 'सप्तवर्षीय युद्ध' (१७५६-६३ ई०) में उसने फ्रांस का साथ दिया था।

सप्तवर्षीय युद्ध के क्षेत्र योरुप, अमेरिका तथा भारतवर्ष में थे। फ्रांस को इस युद्ध में काफी क्षति उठानी पड़ी। उसने आस्ट्रिया को सहायता देने के लिए प्रशा और इंगलैण्ड के विरुद्ध राइन नदी पर एक सेना भेजी; किन्तु फ्रांस की सेना जर्मनी में रोजबक (Rossback) स्थान पर परास्त हुई। अमेरिका और भारत में भी फ्रांस इंगलैण्ड से परास्त हुआ। सर्वप्रथम १७५८ ई० में कनाडा में ओहियो के बेसिन से अंग्रेजों ने फ्रांसीसियों को निकाल दिया। इस प्रकार कनाडा पर अंग्रेजों का अधिकार हो गया। भारत में भी फ्रांसीसी अंग्रेजों से कई स्थलों पर परास्त हुए और उनकी शक्ति का सदैव के लिए ह्रास हो गया।

१७६३ में इस युद्ध की समाप्ति पर पेरिस की सन्धि द्वारा इंगलैण्ड को फ्रांस से अमेरिका में कनाडा और मिसीसिपी नदी के पूर्व का प्रदेश मिला और कुछ बन्दरगाहों के अतिरिक्त फ्रांसीसी भारत से हटा दिये गये।

सप्तवर्षीय युद्ध से निस्सन्देह अंग्रेजी साम्राज्य की नींव दृढ़ हुई और उसका यश दिग-दिगन्त तक फैल गया; किन्तु थोड़े समय के उपरान्त अमेरिका में अंग्रेजों की बस्तियों का अंग्रेजी साम्राज्य से संघर्ष प्रारम्भ हो गया, जिसमें उनकी दानवी और स्वार्थी नीति का व्यवहार हुआ, जिससे उन्हें अपनी बस्तियों

से ही हाँथ नहीं धोना पड़ा; किन्तु अपयश भी हाथ लगा।

१७६५ ई० में अंग्रेजी पार्लियामेंट ने सैनिक व्यय के लिए Stamp Act नामक कर अमेरिका पर लगाया, किन्तु रॉकिंघम (Rockingham) के मंत्री होते ही यह कर हटा दिया गया। अमेरिका के लोग बड़े ही प्रसन्न हुए; किन्तु थोड़े समय के उपरान्त ब्रिटिश पार्लियामेंट ने बस्तियों पर कर लगाने का अधिकार सिद्ध किया। इससे जनता में फिर असन्तोष फैल गया। लार्ड नॉर्थ के मन्त्रित्व में १७७० ई० में काँच और कागज का कर समाप्त कर दिया गया; किन्तु चाय का कर ज्यों का त्यों रहा। फलतः सस्ती पड़ने के कारण जब चाय भारत से बोस्टन बंदरगाह पर पहुंची तब कर से खीजे अमेरिकनों ने चाय के बोरे रात्रि में समुद्र में फेंक दिये। यह घटना इतिहास में The Boston Tea Party (१७७०) के नाम से प्रसिद्ध है।

इसके उपरान्त अंग्रेज सम्राट की सरकार द्वारा काफी कड़ाई का व्यवहार किया गया। "बस्तियों और इंगलैण्ड के मध्य में युद्ध आरम्भ होने से कुछ ही पूर्व १७७४ ई० में 'वाशिंगटन' ने घोषित किया था कि उत्तरी अमेरिका का कोई भी विचारशील व्यक्ति स्वतन्त्रता नहीं चाहता था।······वे इंगलैण्ड और अमेरिका के जन-वर्ग के मध्य में ऐक्य और सद्भावना के पुनर्स्थापन के लिये हृदय से अभिलषित थे। वे केवल औपनिवेशिक सरकार चाहते थे।"[1]

अमेरिकन बस्तियों की माँग अंग्रेजी साम्राज्यवादिता के क्रूर हाथों द्वारा कुचल डाली गई। फलतः अमेरिकनों के समक्ष संघर्ष में सम्मिलित होने के अतिरिक्त कोई चारा भी नहीं रह गया था। विचार-विनिमय और आगामी कार्यक्रम के निर्धारण के लिये ४ जून १७७६ ई० को इन लोगों की 'महाद्वीपीय समिति' (Continental Congress) की बैठक हुई। जिसमें स्वतंत्रता का घोषणा-पत्र (Declaration of Independence) प्रस्तुत करने का निश्चय हुआ। इस घोषणा-पत्र को लिखने का सौभाग्य वर्जीनिया के एक

---

1. In 1774 a little before war began between the colonies and England Washington stated that no thinking man in all North America desired independence ××× They were ardently desirous of restoring harmony and good will between England and American children. All they ask for is some kind of dominion Government.

—Jawahar Lal Nehru : The Glimpses of World History, Page 359.

ग्रामीण महाशय टॉमस जेफर्सन (Thomes Jefferson) की है। इस घोषणा-पत्र[1] की निम्न धाराएँ थीं।

स्वातन्त्र्य घोषणा ने यह स्पष्ट कहा—

"१—केवल अंग्रेज ही नहीं सभी मनुष्य ईश्वर द्वारा प्रदत्त कतिपय अविच्छेद्य अधिकारों से युक्त होते हैं, जिनमें जीवन, स्वतन्त्रता और आनन्द की उपलब्धि मुख्य है।

२—सभी शासक अपनी उचित शक्तियों को शासितों की स्वीकृति से प्राप्त करते हैं। यह सुव्यवस्थित वक्तव्य सत्ताधारियों के शासन के स्थान पर जनतंत्र के अधिकारों का सिद्धान्त है।

३—फलतः अत्याचारी शासन को उलट देना और सर्वप्रिय शासन की यदि आवश्यकता हो तो अस्त्रों-शस्त्रों के बल से भी स्थापना करना न्यायोचित है। दूसरे शब्दों में क्रान्ति उपस्थित करना जनता का अधिकार है।"

इस घोषणा-पत्र के अन्तर्गत उन्होंने अंग्रेजों के करों का विरोध प्रारम्भ कर दिया और 'बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं' का नारा बुलन्द किया, तथापि ब्रिटिश पार्लियामेंट में उनके प्रतिनिधि का समावेश न हो सका। अमेरिका के निवासियों के पास सेना नहीं थी तथापि वाशिंगटन के सेनापतित्व में एक सेना बनी। इसी समय फ्रांस ने बस्तियों की सहायता की। स्पेन ने भी इंगलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। युद्ध की समाप्ति अमेरिका के पक्ष में हुई। फलस्वरूप पेरिस की सन्धि १७८३ ई० में हो गई।

यही बस्तियाँ स्वतंत्र होकर संयुक्त राष्ट्र अमेरिका बनी। जार्ज वाशिंगटन

---

1. 1. All men—not merely English men—are endowed by their Creator, the declaration boldly asserted certain inalienable rights among which are life, liberty and pursuit of happiness.

 2. All Governments derive their just powers from the consent of the Governed—a succint statement of the principle of popular, as opposed to aristrocratic Government.

 3. Hence it is perfectly justifiable to over-throw a tyrannical Government and to establish a popular one by force of arms, if necessary, in other words there is a right of revolution.

—J. H. Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Page 482

संयुक्त राज्य अमेरिका का प्रथम अध्यक्ष था।

अंग्रेजों की इस पराजय से उनकी साम्राज्यवादिता को बहुत बड़ा धक्का लगा। निस्सन्देह वॉल्टेयर और रूसो की साम्यवादी विचारधारा से जागीरदारी और शासकीय परम्परा की सामन्तशाही ध्वस्त होने लगी। जिसका प्रथम पुष्प अमेरिका की स्वतन्त्रता के रूप में पुष्पित हुआ और जिसका विकसित रूप 'फ्रांस की राजक्रांति' के रूप में आने को था।

२. फ्रांस की राजक्रांति

बहुत से फ्रांसीसी युवक जो अमेरिका के इस युद्ध में सम्मिलित हुए थे वहाँ से बहुत-सी प्रेरणाएँ लेकर लौटे और अपने देश में आकर उन प्रेरणाओं को कार्यान्वित करने का प्रयास किया।

फ्रांस के साम्राज्य में कुलीन और पादरियों को बड़ी ही सुविधायें मिली हुई थीं। इस प्रकार फ्रांस में दो श्रेणियों के लोग थे। प्रथम सभी प्रकार की सुविधायें और सम्मान-प्राप्त दूसरे सभी प्रकार की सुविधायें और सम्मान विहीन। द्वितीय श्रेणी के लोगों पर ही वस्तुतः शासन का कोप पड़ता था और उन्हीं को करों के भार का वहन करना पड़ता था। इसके अतिरिक्त द्वितीय श्रेणी के लोग सेना, चर्च और राजकीय नौकरियाँ आदि में कहीं भी कोई उच्च पद प्राप्त नहीं कर सकते थे।

मजदूर तथा कृषक-वर्ग की दशा भी बड़ी शोचनीय थी। मजदूर धनी-मानी कारखाने के स्वामियों से पीड़ित थे और कृषक जागीरदारी प्रथा से। कृषक को भूमि का लगान, चर्च का कर तथा राजा द्वारा लगाये कर सभी कुछ देने पड़ते थे। उनके पास कभी-कभी खाने को भी न रह जाता था।

इसी समय देश की ऐसी दशा देखकर विद्वान लोगों को बड़ी ही चिन्ता हुई। उन्होंने आलोचना और प्रत्यालोचना करके देश की दशा सुधारने का बीड़ा उठाया। इस प्रकार के विचारकों में वॉल्टेयर तथा रूसो प्रमुख थे।

१७७४ ई० में लुई १६वें के सिंहासनारूढ़ होने से लेकर १७८९ ई० तक अर्थात् क्रान्ति होने से पूर्व तक उसने धनाभाव की पूर्ति के लिये यथासाध्य प्रयास किये। उसने विचार भी किया कि अमीरों और पादरियों की सुविधायें बन्द कर दी जायें; किन्तु अमीर लोग बड़े ही रुष्ट हुए। उसके समक्ष कोई चारा भी नहीं था, विवश होकर १७८९ ई० में उसने States General को भी

बुलाया। प्रश्न यह भी उठा कि States General में अमीरों का आधिक्य रहे अथवा नवीन वैधानिक परिवर्तन किये जावें। साधारण लोग प्रतिनिधित्व के लिए कटिबद्ध थे ही। फलतः राजा तथा पादरियों को विवश होकर उन्हें States General में सम्मिलित होने का आदेश देना पड़ा।

रोवस्पियेर की मृत्यु के उपरान्त 'आतंक का राज्य' समाप्त हो गया और डायरेक्टरी के शासन (१७६५ ई०) का प्रारम्भ हुआ। इस समय ही नेपोलियन बोनापार्ट देश के समक्ष आता है। उसने अपने देश के महान शत्रु आस्ट्रिया पर आक्रमण कर दिया। वहाँ उसकी गौरवपूर्ण विजय हुई। नेपोलियन को सेना में उच्च पद मिला। अनन्तर पीड माउण्ड, मिलान तथा लोम्बार्डी को भी उसने परास्त किया। योरुप में उसने बड़े-बड़े युद्ध किये और वह विजयी भी हुआ। इंगलैण्ड से फ्रान्स का युद्ध अब भी चल रहा था। युद्ध का कारण केवल क्रान्ति के सिद्धान्त ही नहीं थे; किन्तु १७वीं शताब्दी से ही सामुद्रिक शक्ति पर अधिकार करने की जो योजना थी, उसके कारण यह संघर्ष जाग्रत था। उसकी योजना थी कि ईजिप्ट को परास्त कर भारतवर्ष पर आक्रमण कर अंग्रेजी शक्ति को कुचल दिया जाय; किन्तु मिस्र में उसकी पराजय हुई।

नेपोलियन अभी तक डायरेक्टरी के अन्तर्गत सेनापति था; किन्तु इटली और आस्ट्रिया को परास्त करने तथा अपने सफल आतंकों के कारण फ्रान्स की जनता का उसमें विश्वास जम गया। १७६६ ई० में डायरेक्टरी का अन्त कर दिया गया। इस समय तीन कौंसिलों की राष्ट्रीय समिति (National Assembly) ने जिसका प्रधान नेपोलियन था, सर्वप्रथम उपयोगी विधान निर्माण करने की योजना प्रारम्भ की; किन्तु परिस्थितिवश उससे यह कुछ भी करते न बना। राजा और राष्ट्रीय समिति में मैत्री भाव के अभाव के कारण रात-दिन संघर्ष चलता था। इससे जनता रुष्ट थी। वह अपने को नियंत्रित न कर सकी। फलतः १४ जून १७८६ को बेस्टील का बन्दीगृह इन क्रान्तिकारियों द्वारा उन्मुक्त कर दिया गया। वस्तुतः संघर्ष और क्रान्ति यहीं से प्रारम्भ हो जाती है। ४ अगस्त १७८६ ई० में सभी कुलीन और पादरियों ने देश की इस प्रकार संकटमय स्थिति को देखकर अपनी सुविधाओं को National Assembly को अर्पित कर दिया और निवेदन कर दिया कि उन्हें भी नागरिकों की कोटि में गिना जावे। मिराब्यू (Mirabeau) का, जो राजा का भक्त था और जो सरलतापूर्वक ही इस क्रान्ति को मिटाने के पक्ष में था, इसी समय निधन हो जाता है। राजा तथा राज-परिवार बन्दी था ही। राजा

ने गुप्त रूप से भागने का विचार किया और वह भागा भी; किन्तु पकड़ लिया गया। वह बन्दी बनाकर पेरिस लाया गया। इसी समय National Assembly में दो विचारधारायें उठीं। एक विचारधारा राजकीय शक्ति को पुनः सिंहासनारूढ़ देखना चाहती थी, द्वितीय विचारधारा जनतन्त्र के पूर्ण पक्ष में थी।

इस समय योरुप की शक्तियां फ्रांस के इन परिवर्तनों को ध्यान से देख रही थीं। १७९२ ई० में फ्रांस ने आस्ट्रिया से युद्ध प्रारम्भ कर दिया। आस्ट्रिया की सेनायें फ्रांस में घुसीं और उनके द्वारा फ्रांस की सेनायें परास्त हुईं। इस सम्बन्ध में फ्रांसीसियों ने अपने राजा का शत्रु पक्ष से मिल जाने का भ्रम किया। राजा के महल पर आक्रमण हुआ। राजा बन्दी बनाया गया। फ्रांस की सेनाओं ने आगे चलकर आस्ट्रिया और प्रशा की सेनाओं को परास्त भी किया। २१ सितम्बर सन् १७९२ ई० को National Convention की बैठक हुई जिसमें फ्रांस में जनतन्त्र की घोषणा हुई। लुई १६वें पर अभियोग भी चला। अन्त में २३ जनवरी सन् १७९३ ई० को उसे मृत्युदण्ड मिला। इसके उपरांत देश में 'आतंक का साम्राज्य' रहा। लुई की रानी तथा जिरोंदिस्ट दल के बहुत से नेताओं को प्राणदण्ड दिया गया। जो भी राज-पक्ष के लोग थे, उनके साथ इसी प्रकार का व्यवहार किया गया। क्रमशः अपनी शक्ति को बढ़ाता हुआ नेपोलियन फ्रांस का सम्राट् भी बन गया। इसके उपरान्त स्पेन तथा इंगलैंड आदि से उसे युद्ध भी करने पड़े। १८ जून सन् १८१५ ई० में वह वाटरलू के रणक्षेत्र में ड्यूक ऑव वेलिंगटन के द्वारा परास्त हुआ और बंदी बनाया गया।

फ्रांस की राजक्रांति के परिणाम

इस क्रान्ति से सम्पूर्ण योरुप में 'जनतन्त्रवादी' भावना का पूर्ण प्रचार हुआ। अभी तक राजा दैवी अधिकार से शासन करते चले आ रहे थे। फ्रांस के इस विश्वव्यापी प्रभाव के कारण इटली, हालैण्ड, स्विट्जरलैंड, स्पेन तथा जर्मनी आदि देशों में जनतन्त्र राज्य का प्रारम्भ हुआ। इसी क्रान्ति के कारण देश के नागरिकों को स्वतन्त्रता उपलब्ध हुई और उन्हें वोट देने का अधिकार मिला। इटली तथा हालैंड देशों में भी नागरिक स्वतन्त्रता का प्रचार हुआ। नागरिकों को सभी करों से मुक्त किया गया। समाज के जीवन में भी

अधिक परिवर्तन हुए। कुलीन तथा पादरियों की सामन्तशाही सदैव के लिए समाप्त हो गई। शिक्षा का प्रचार भी चर्च के हाथों से लेकर राज्य के एक विभाग के अन्तर्गत कर दिया गया। इससे फ्रांस तथा अन्य देशों में भी राष्ट्रीयता की लहर दौड़ गई।

निस्संदेह इस क्रान्ति ने योरुपीय प्रदेशों की सामन्तशाही तथा कुलीनता को हिला डाला। इस सभी का श्रेय वाल्टेयर तथा रूसो को ही था, जिनकी विचार-धाराओं के कारण इतने महान् परिवर्तन हुए।

"वॉल्टेयर, डिडरो और रूसो द्वारा राजक्रान्ति पोषित और प्रोत्साहित हुई। जिनकी रचनायें उस सघन विशाल वृक्ष के समान थी, जिसकी छाया में दूसरे पौधों का पनपना सम्भव भी नहीं था।"[1]

२. आर्थिक स्थिति

औद्योगिक क्रान्ति

अमेरिका के स्वातन्त्र्य युद्ध से विश्व के धरातल पर जनतन्त्रवाद भावना का उदय होता है। जिसके कारण साम्राज्यवादिता तथा जागीरदारी प्रथा पर काफी आघात लगा। अनन्तर फ्रान्स की राजक्रान्ति आधुनिक इतिहास का सूत्र-पात करती है, जिसके कारण विश्व में मानवता की पूजा आरम्भ हुई और उसके अस्तित्व का मूल्य समझा गया। इन राजक्रान्तियों का निस्सन्देह मार्मिक प्रभाव विश्व की राजनीतिक परिस्थितियों पर पड़ा, किन्तु इन सभी से अधिक 'औद्योगिक क्रान्ति' का प्रभाव पड़ा, जिसने विश्व के आर्थिक ढांचे को ही बदल डाला, जिसके फलस्वरूप समाजगत मानवीय विचारों पर भी काफी प्रभाव पड़ा है।

यह 'औद्योगिक क्रान्ति' वस्तुतः इंगलैंड में पल्लवित हुई; परन्तु इसका प्रभाव इंगलैंड से सम्बन्धित योरुपीय प्रदेशों तथा विदेशों में भारतवर्ष तथा

---

1. The revolution was nourished and inspired by Voltaire, Diderot and J. J. Rousseau, whose works formed so to speak a thick and tall plantation in whose shadow, no other growth was possible.

Andre Lebon—Modern France : The History of the Nations, Page 128

अमेरिका में भी पड़ा। इससे इसका आशय यहां संकुचित क्षेत्र में केवल इंगलैंड के लिए लेना उचित न होगा। जहाँ तक इस क्रान्ति के समय का सम्बन्ध है कोई भी निर्धारित समय बता सकना कठिन ही नहीं असम्भव भी है, क्योंकि इस क्रान्ति की प्रगति क्रमिक विकास पर ही आधारित है, तथापि १७५० ई० के उपरान्त इस क्रान्ति के बीज के अंकुर फूटने लगते हैं। १७५० ई० से १८१५ ई० तक इस क्रांति की प्रगति प्रारम्भिक ही रही; किन्तु १८१५ ई० के उपरान्त वैज्ञानिक विकास के कारण इस क्रान्ति को वैज्ञानिक सहयोग भी उपलब्ध हुआ, जिससे यह क्रान्ति और भी अधिक तीव्रगामी सिद्ध हुई।

योरुपीय इतिहास में १७वीं शताब्दी इंगलैंड के सम्राट् और पार्लियामेंट के संघर्षों के लिए, १८वीं शताब्दी इंगलैंड और फ्रान्स के युद्धों के लिए तथा १९वीं शताब्दी विज्ञान के विकास के लिये प्रसिद्ध है। इस सम्बन्ध में एक राजनीतिक विद्वान् का कथन है "यदि अन्तिम शताब्दी में सभ्य जीवन का सम्पूर्ण लौकिक ढांचा बदला है, तो इसके लिये हम न तो राजनीतिज्ञों के आभारी हैं और न राजनीतिक संस्थाओं के, हम इसके लिये उन लोगों के सामूहिक प्रयासों के ऋणी हैं, जिन्होंने विज्ञान का विकास और उपयोग किया है।"[1]

औद्योगिक क्रान्ति से पूर्व योरुप का मानव प्रकृति से गुंथा हुआ था। उसका सरल और स्वाभाविक जीवन था। भूमि ही उसके उत्पादन का सबसे बड़ा साधन थी। प्राचीन परिपाटी से खेती होती थी। तकली और चर्खा से सूत काता जाता था तथा लकड़ी के करघों पर सूत बुना जाता था। लोहार हथौड़ा से कार्य करते थे। गाँवों की संख्या अधिक थी। नगर जो एकाध थे भी वे इतने सम्पन्न न थे और न वहाँ का व्यस्त जीवन ही था; किन्तु विज्ञान के विकास से उपर्युक्त परिस्थितियों पर बहुत बड़ा प्रभाव पड़ा। मशीनों के निर्माण से मानव-जीवन परिवर्तित हो गया। मशीनों ने मनुष्यों का स्थान ले लिया। कार्य तथा उत्पादन शीघ्रता से होने लगा। कुटीर-उद्योगों का स्थान

---

1. If in the last hundred years the whole material setting of civilized life has altered, we owe it neither to politicians nor to political institutions, we owe it to the combined efforts of those who have advanced science and those who have applied it. —Warner and Martin: The Ground Work of British History, Section III. Page 584.

बड़ी-बड़ी मशीनों और फैक्ट्रियों ने ले लिया। इस प्रकार मशीनों के निर्माण और उपयोग से सभ्यता के इतिहास में एक नवीन अध्याय जुड़ा है।

विज्ञान

कृषि के क्रमशः विकास प्राप्त करने के उपरान्त अन्य क्षेत्र, जिनमें औद्योगिक क्रान्ति का प्रवेश हुआ, वह वस्त्र का व्यवसाय था। १८वीं शताब्दी के मध्य तक सूत कातने के साधन तकली और चरखा तथा वस्त्र बुनने का साधन करघा था। योरुप के प्रदेशों की घरेलू उद्योग-धन्धों की वही स्थिति थी जो अभी तक भारतीय ग्रामों की रही।

रुई से सूत कातने और सूत से वस्त्र बुनने के सम्बन्ध की मशीनों के आविष्कार से इस क्षेत्र में उत्पादन की मात्रा में एक साथ ही वृद्धि हुई। १७३८ ई० में जानके ने इस प्रकार का नाल (Shuttle) बनाया जो करघे के एक ओर से दूसरे ओर तक मशीन द्वारा फेंका जा सकता था। १७६४ ई० में हारग्रीव्ज ने इस प्रकार के चरखे को बनाया जिससे ८-१० सूत एक साथ निकलने लगे। इस प्रकार की बनी हुई मशीन का नाम (Spinning Jenny) था। १७६९ ई० में आर्कराइट ने इस प्रकार की मशीन बनाई जिसमें बेलन से सूत कतता था और यह बेलन यान्त्रिक शक्ति से घूमते थे। १७८५ ई० में कार्टराइट द्वारा इस प्रकार का करघा बनाया गया जिसमें ताना-बाना अपने आप बुना जाता था। इस प्रकार वस्त्रोत्पादन के क्षेत्र में वर्णनातीत विकास हुआ।

"सन् १८१५ ई० में राबर्ट आवन नाम का एक वस्त्र-व्यवसायी अभिमान से कहा करता था कि उसके अपने एक कारखाने में दो हज़ार कारीगर जितना कपड़ा तैयार करते हैं, पुराने तरीकों से सारे स्कॉटलैण्ड के सब जुलाहे मिलकर भी उतना कपड़ा न तैयार कर सकते थे।"[1]

जब उपर्युक्त प्रकार के अन्वेषण और आविष्कार हो रहे थे उस समय लोहे के सम्बन्ध में भी जनता की अभिरुचि बढ़ी। अभी तक लोहा लकड़ी के कोयले से गलाया जाता था। जंगलों के कम होते जाने से ईंधन का दाम भी बढ़ गया। १८वीं शताब्दी में १७५० ई० पत्थर के कोयला के उपयोग का ज्ञान हुआ। फलतः इसके प्रयोग से अधिक उष्णता उपलब्ध हुई, जिससे लोहा ढालने के काम में सुविधा हुई। हेनरी कार्ट (Henry Cart) के प्रयत्नों से लोहे

---

१. सत्यकेतु विद्यालंकार—'योरुप का आधुनिक इतिहास', पृष्ठ २८१।

के ढालने और विविध पदार्थ-निर्माण करने में काफी सहायता मिली। १८वीं शताब्दी के अन्त में स्थल-स्थल पर लोहे के कारखाने बन गए।

भाप की शक्ति

भाप की शक्ति के प्रयोग से 'औद्योगिक क्रान्ति' को अधिक प्रोत्साहन मिला। १७६६ ई० में वाट (Watt) ने भाप का इंजिन निर्मित किया। १८१२ ई० में Comet नाम का जहाज क्लाइड नदी में तैराया गया। १८१४ ई० में स्टीफेन्सन के प्रयास से भाप-शक्ति से संचालित इंजिन प्रयोग में आया। १८२५ ई० में इंगलैंड में पहली रेलवे लाइन बनी। वह केवल १२ मील लम्बी थी। १८३० ई० में मैनचेस्टर और लिवरपूल के बीच में रेलवे लाइन बन जाने से रेलगाड़ियों का दौड़ना सुलभ हो गया।

इन आविष्कारों से जल और भूमि पर आवागमन में आश्चर्यजनक परिवर्तन हुए। माल ढोने में और एक स्थल से दूसरे स्थल तक सरलता और सुरक्षित रूप से जाने में महान सुविधाएँ हुईं। इस सम्बन्ध में मनुष्य का जीवन सुखमय हो गया।

औद्योगिक क्रान्ति के परिणाम

नवीन यन्त्रों के निर्माण और आविष्कारों से निस्सन्देह विश्व के सामाजिक और आर्थिक जीवन पर काफी प्रभाव पड़ा। अभी तक कुटीर-उद्योग-धन्धों के प्रचार और विकास से जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सामाजिकों में पारस्परिक आदान-प्रदान चलता रहता था। जीवन में किसी भी प्रकार की प्रतियोगिता न होने के कारण सभी शान्ति और सुख से कालयापन कर रहे थे। उस समय अपने व्यवसाय में कला-चातुर्य-प्रदर्शन करने में सुविधायें थीं। जीवन में स्वावलम्बन और ईमानदारी थी; किन्तु मशीनों के निर्माण और उपयोग से जीवन का ढांचा ही बदल गया।

जिन शिल्पियों को अपने शिल्प पर गर्व था, जिसके कारण समाज में उनकी उपयोगिता समझी जाती थी, गृह-उद्योगों के नष्ट हो जाने से वही शिल्पी उदर-पोषण के लिए घूमते थे और उन्हें पूँजीपतियों के संकेत पर फैक्ट्रियों में काम करना पड़ता था।

इन उद्योग-धन्धों को लेकर पूँजीपतियों ने आर्थिक दृष्टि से अधिक लाभ उठाया। उनके समीप सम्पदा थी, जिससे उन्होंने नवनिर्मित मशीनों को क्रय

कर शिल्पियों को कार्य में लगाया। शिल्प के सम्बन्ध में क, ख, ग, न जानते हुए भी उन्होंने शिल्प के नए उत्पादनों से काफी धन कमाया। जब कारखानों में उत्पादन की मात्रा बढ़ी तब उन्हें खपाने के लिए विश्व में उचित बाजार ढूंढ़ने की आवश्यकता हुई। अमेरिका, एशिया, अफ्रीका तथा आस्ट्रेलिया महाद्वीपों में अँग्रेज, फ्रान्सीसी, पुर्तगीज़ तथा डच आदि अपनी-अपनी बस्तियाँ स्थापित कर व्यापार करने लगे। इन महाद्वीपों से कच्चा माल योरुप के प्रदेशों में पहुँचता था। वहाँ उनसे विविध प्रकार के पदार्थ निर्मित होते थे और अनन्तर उन्हीं देशों में ऊँचे मूल्य पर बिकने चला जाया करता था। इस प्रकार पूँजीपतियों ने पिछड़े देशों से जिनमें कलों का प्रयोग नहीं हुआ था, काफी धन कमाया और धनवान हो गए। भारतवर्ष भी इसी प्रकार अँग्रेजों, फ्रान्सीसियों तथा अन्य योरुप निवासियों का बाजार था; किन्तु व्यापार की प्रतियोगिता और राजनीति के दांव-पेंचों में अँग्रेज सबसे प्रवीण थे। फलतः अँग्रेज विजयी हुए। उन्होंने भारत चूस डाला। भारत दाने-दाने के लिए अनाथ हो गया। इस शोचनीय परिस्थिति को मिटाने के लिए ही महात्मा गान्धीजी ने मशीनों से बने पदार्थों का बहिष्कार किया। विदेशी-बहिष्कार से मैनचेस्टर तथा इंगलैण्ड के कपड़े की फैक्ट्रियाँ हिल गईं। स्वदेशी पदार्थों के प्रचार से भारतीय उद्योग-धन्धों को विकास प्राप्त हुआ। खादी को प्रमुख स्थान देने के कारण देश का काफी उपकार हुआ।

कलों के प्रयोग के आधिक्य से पूँजीपतियों की नीति में काफी विकार आ गया। वे अधिक से अधिक पैसा कमाना चाहते थे। फलतः शिल्पियों को मजदूरी में भी कसते थे।

"स्त्रियों तथा छोटे बच्चों तक को वायु-विहीन और अस्वस्थ स्थानों में घण्टों देर तक इतना काम करना होता था कि उनमें से बहुत से मूर्छित और थकान से निष्प्राण हो जाते थे।"[1]

बड़ी-बड़ी फैक्ट्रियों की स्थापना से अधिक जनसंख्या वाले नगरों की वृद्धि हुई। इस प्रकार के नगर समुद्र के किनारे और लोहे-कोयले की खानों के समीप

1. Women, and little children even worked long hours in stuffy, unhealthy places till many of them almost fainted and dropped down with fatigue.
—Jawahar Lal Nehru : 'The Glimpses of World History,' Page 352.

बस गये थे। १७६० ई० में लिवरपूल की आबादी चालीस हजार थी। १८४१ में वही आबादी दो लाख २८ हजार हो गई। सन् १८०० ई० में योरुप में अठारह नगर ऐसे थे जिनकी आबादी १ लाख से अधिक थी। एक शताब्दी के उपरान्त इन नगरों की संख्या २ लाख से ऊपर हो गई।

'औद्योगिक क्रान्ति' का पारिवारिक जीवन पर भी प्रभाव पड़ा। गाँव तथा दूर से काम करने के लिए आने वाले परिवारों को नगरों में स्थानाभाव के कारण निवास के लिए समुचित स्थान नहीं मिलता था। इससे इन परिवारों को बड़े कष्ट से रहना पड़ता था। इससे सार्वजनिक स्वास्थ्य पर भी काफी प्रभाव पड़ा।

योरुप के अन्य देशों पर इसका प्रभाव

यद्यपि 'औद्योगिक क्रान्ति' सर्वाधिक इंगलैंड में हुई ; किन्तु दूसरे देश भी इससे अछूते नहीं रहे। फ्रान्स की राजक्रान्ति के उपरान्त देश में मशीनों का उपयोग बढ़ा। १७८५ ई० में फ्रान्स में कपड़े का सबसे बड़ा कारखाना खुला, जिसके लिए सभी मशीनें इंगलैंड से मंगाई गई थीं। रुई के अतिरिक्त फ्रान्स ने रेशमी और ऊनी वस्त्र बनाने में सन्तोषजनक प्रगति की। साबुन, तेल, शराब, कपड़ा, घड़ी, शीशा आदि बनाने में फ्रांस इंगलैंड से कहीं आगे हो गया। जर्मनी व्यावसायिक दृष्टिकोण से अन्य देशों से बहुत कुछ पिछड़ा रहा। प्रिंस विस्मार्क के समय में जब सम्पूर्ण जर्मनी राजनीतिक एकता से युक्त हुआ उस समय वहाँ व्यावसायिक प्रगति गतिशील हुई।

योरुप के बेल्जियम, डेनमार्क, हालैंड तथा स्वीडन आदि भी इससे प्रभावित हुए।

३. सामाजिक स्थिति

सामाजिक जीवन में व्यक्ति का वही स्थान है जो भवन के अस्तित्व के लिये एक ईंट अथवा पत्थर का। इनका आधार अथवा सहायता लेकर जिस प्रकार भवन विश्व में सुशोभित होता है उसी प्रकार समाज की इन इकाइयों से समाज का निर्माण होता है। सबोध होने के कारण मानव विचारशील और भावना-प्रधान भी होता है। फलतः उसके चतुर्दिक घटित होने वाली परिस्थितियाँ उसे प्रभावित किये बिना नहीं रहतीं। इन परिस्थितियों का प्रभाव ही समाज के प्राणियों को प्रगति देता है। यह प्रगति ही किसी समाज का क्रमागत इतिहास है। फलतः इन्हीं से सामाजिक स्थिति अवगत होती है।

१८वीं शताब्दी के अन्तिम भाग तथा १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ में समाज में कुलीन, पादरी, कृषक तथा मजदूर आदि ये चार वर्ग थे। कुलीन तथा पादरियों के अधिकार तथा सुविधाएँ राजपरिवार से कुछ ही कम थीं। अन्यथा समाज में इन्हें सबसे उच्च स्थान प्राप्त था। जागीरदारी प्रथा अब भी अपनी पूर्व-परम्परा के अनुसार जीवित थी। जागीरदारों से कृषकों को भूमि मिली हुई थी। कृषक अपने जागीरदारों के एक प्रकार से नौकर थे। वे प्रासादों में निवास करते थे और ये उनके आश्रित उन्हीं के समीप साधारण मकानों में रहते थे।

पादरियों की श्रेणियों में भी दो विभाजन थे। अधिकार-प्राप्त पादरियों का समाज में विशेष सम्मान था। वे जागीरदार तथा कुलीन समाज के समान ही बड़ी ही साज-सज्जा तथा विलास में जीवन व्यतीत करते थे। चर्चों में बड़ी-बड़ी सम्पत्तियाँ लगी हुई थीं, जिनकी सम्पूर्ण आय उच्च पादरियों के हाथ में आती थी। इनमें से बड़े-बड़े अधिकारी भी होते थे—कार्डिनल (Cardinal), आर्च बिशॅप (Archbishop), बिशॅप (Bishop) तथा एबॅट (Abbot)। इनके अतिरिक्त साधारण पादरी भी थे, जिनकी दशा बड़ी हीन थी। शिक्षित एवं धार्मिक होते हुये भी समाज में इनका सम्मान नहीं के बराबर था। सम्मान-प्राप्त पादरियों की स्थिति भारतवर्ष के महन्तों की-सी थी। भले ही उनमें योग्यता एवं साधना न हो; किन्तु परम्परागत गद्दी के अधिकारी होने के कारण अन्धविश्वासी समाज उन्हें पूजता था।

'औद्योगिक क्रान्ति' के कारण समाज में पूँजीवर्ग तथा मजदूरवर्ग की स्थापना हुई। कुलीन लोगों के पास पैसा था ही। इससे भारतवर्ष तथा अमेरिका से व्यापार करके वह धनराशि कमा रहे थे। अनन्तर वैज्ञानिक उन्नति होने पर उन्होंने कलों को खरीदकर अपने कारखाने भी स्थापित किये। इन कारखानों की स्थापना से पूर्व शिल्पी लोग अपने घरों में रहते हुये अपना कार्य करते थे। बाजार में अपनी निर्मित चीजों को बेचकर अपना भरण-पोषण करते थे। वास्तव में वे इस समय सभी प्रकार से स्वतन्त्र थे। उनकी आत्माएँ नियन्त्रण-विहीन थीं, जिससे कल्पना के विकास में बड़ी ही सुविधाएँ रहीं; किन्तु कारखानों की स्थापना से इसमें आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। मशीनों द्वारा सस्ता माल बनने के कारण शिल्पियों का अपने माल से उनकी प्रतियोगिता में खड़ा रह सकना असम्भव हो गया। टिकाऊपन तथा सौन्दर्य के दृष्टिकोण से मशीनों की बनी चीजें निस्सन्देह दो कौड़ी की थीं; किन्तु समाज

अपने निर्वाह के लिये सस्ती चीज के सामने महँगी चीज में अधिक धन फेंकने में बुद्धिमानी नहीं समझता था। फलतः शिल्पियों का पतन हुआ। कारखानों में पूँजीपतियों के संकेतों पर उन्हें कार्य करना होता था। मशीन के सामने उनकी प्रतिभा सुषुप्त हो गई थी। कारखानों के स्वामी विदेशों के बाजार में प्रतियोगिता करने की दृष्टि से सदैव यह चाहते थे कि उन्हें अपने माल बनवाने में कम व्यय करना पड़े। इससे वह कारीगरों को कम से कम देने का प्रयत्न करते थे। शिल्पियों की दशा कारुणिक होती गई, उन्हें पेट की ज्वाला शान्त करने के लिये भी काफी नहीं मिलता था। फलतः उनकी स्त्रियों और बच्चों को भी बन्द कारखानों तथा खानों में काम करना पड़ता था। उनके निवास-गृह बुरे थे, भर पेट भोजन न मिलता था। इससे शिल्पी समाज क्रमशः निर्धन से निर्धनतर होता गया। पूँजीवर्ग अपने धन के समक्ष इन शिल्पियों की चिन्ता क्यों करता ? इस प्रकार इनके धन के मद ने मानवता को कुचलना प्रारम्भ कर दिया।

समाज के प्रत्येक क्षेत्र में विषमताएँ थीं। शासन के लिये अब भी योरुपीय प्रदेशों में राजा सिंहासनारूढ़ थे, जिनकी स्वेच्छाचारिता शासितों को पीड़ित किये हुये थी। उनके समक्ष जन-समाज के अभिमत का कोई मूल्य ही नहीं था; किन्तु अमेरिका तथा फ्रांस की क्रान्तियों ने इन स्वेच्छाचारी शासकों को झुका दिया। इसने मानवता को मानव की दृष्टि से देखने के लिये उन्हें प्रेरणा ही नहीं दी; किन्तु बाध्य भी किया।

इस प्रकार देशों को राजकीय स्वतन्त्रता उपलब्धि के साथ जनतन्त्रीय भावनाओं के विकास का सौभाग्य भी प्राप्त हुआ। प्रत्येक व्यक्ति ने स्वतन्त्रता तथा व्यक्तित्व का मूल्य समझा। १९वीं शताब्दी के प्रारम्भ तक पूँजीपतियों के वर्ग के समक्ष मानव परिस्थिति-वश विनत बना हुआ था। इस शोषण के कारण ही वास्तव में साम्राज्यवाद के विरोधी सिद्धान्त का योरुप के प्रदेशों में प्रचार भी हुआ।

विज्ञान के विकास के कारण निस्सन्देह धर्म के प्रति लोगों की आस्था घट रही थी। तार्किक भावना के विकास के कारण तथा जीवन-क्षेत्र में प्रतियोगिताओं के आधिक्य के कारण मानव-जीवन निर्वाह के लिये सामग्री जुटाने के लिये व्यस्त हो गया। धार्मिक क्षेत्र में आडम्बर और दिखावा की क्रमशः उपेक्षा की जाने लगी।

उपर्युक्त के अतिरिक्त मध्यम श्रेणी का वर्ग और भी शक्तिशाली होता जा

रहा था। वास्तव में यह वह वर्ग था, जो सामाजिक, राजनीतिक तथा धार्मिक क्षेत्र में सम्मान प्राप्त लोगों की अपेक्षा उन क्षेत्रों में रहते हुये भी उपेक्षित था। यह लोग विद्वान् और सुशिक्षित थे तथापि रूढ़िवादिता एवं अन्ध विश्वासों के कारण उनका कोई मान ही नहीं था। फलतः इन लोगों की विचारधाराओं में क्रान्ति की भावनाएँ भर रही थीं और वे अपने समाज के सम्मानित व्यक्तियों को उनकी विषम भावनाओं के कारण घृणा की दृष्टि से देखते थे।

४—सांस्कृतिक स्थिति

विगत वर्णनों से स्पष्ट है कि राजनीतिक, आर्थिक तथा सामाजिक सभी क्षेत्रों में क्रांति-सी मची हुई थी। क्रांतिकारियों ने जिस प्रकार राजनीतिक तथा अन्य क्षेत्रों में आशातीत परिवर्तन कर दिये उसी प्रकार १८वीं शताब्दी में इस प्रकार के क्रान्तिकारी विचारक भी उत्पन्न हो गये, जिनकी विचारधाराओं और प्रयासों ने योरुप के बौद्धिक तथा सांस्कृतिक विकास को प्रोत्साहन प्रदान किया। कुछ समय तक यह सभी प्रभाव योरुप महाद्वीप को ही प्रभावित किये रहे; किन्तु अनन्तर शेष विश्व पर भी इनका प्रभाव पड़ा।

"'नवोत्थान युग' एवं 'सुधार युग' से भी अधिक युग-निर्मात्री सांस्कृतिक विकास में उत्कर्ष पर पहुंचती हुई इस बौद्धिक क्रान्ति ने प्रकृति-विज्ञान को इसका आधुनिक रूप प्रदान किया। इसने सामाजिक विज्ञान का बीजारोपण किया। इसने प्राकृतिक विधान और मानवीय विकास का तात्विक ज्ञान उत्पन्न किया। इसने नवीन मानवतावाद पर बल दिया। इसने धर्म को पूर्ण रूप से प्रभावित किया और कला के क्षेत्र में शास्त्रीयता के सुन्दर फलों को नोच फेंका तथा स्वच्छन्दवादिता के उर्वर बीज का वपन किया।"[1]

---

1. Reaching its climax in the 'Enlightenment'—a movement more epochal than 'Renaissance' or 'Reformation'—it gave to natural science its modern vogue, it originated modern social science, it put forth a new metaphysics of natural law and human progress, it emphasized a new humanitarianism, it profoundly affected religion and in art it atonce plucked many fair fruits of classicism and planted the fertile seed of romanticism.

J. H. Hayes: A Political and Cultural History of Modern Europe, Page 496.

(अ) प्रकृति-विज्ञान का विकास

(Progress of Natural Science)

१७वीं-१८वीं शताब्दी में 'प्रकृति-विज्ञान' (Progress of natural Science) का निस्संदेह विकास हुआ। यह विकास कॉपरनिकस (Copernicus), गेलीलियो (Galilio) और हार्वे (Harvey) द्वारा अनुभूत सिद्धान्तों पर ही पूर्ण रूप से आधारित था। अभी तक का प्रकृति-विज्ञान तन्त्रों तथा मन्त्रों पर आश्रित था और इनका अस्तित्व इन्हीं से प्रेरित समझा जाता था; किन्तु इस युग ने विज्ञान को विशुद्ध वैज्ञानिक रूप प्रदान किया और अन्धविश्वास का आवरण उतार फेंका।

इटली, जर्मनी तथा फ्रांस में इस विज्ञान के उत्थान के लिए १७वीं शताब्दी में विद्यापीठें स्थापित की गई। १६६५ ई० के लगभग अंग्रेजी विद्यापीठ ने Philosophical Transactions और फ्राँस ने Journal des savants नाम की पत्रिकाएं निकालीं। इसके अतिरिक्त पैरिस, ग्रीनविच तथा अन्य स्थानों पर वेधशालाएँ तथा संग्रहालय स्थापित किये गये।

राजनीतिज्ञों ने भी वास्तव में इस विज्ञान में अनुराग लेना प्रारम्भ कर दिया था। लुई १४वें का अनुज स्वयं वैज्ञानिक प्रयोगों में आनन्द लेता था और इंगलैंड का राजा चार्ल्स द्वितीय भी Chymical Laboratory में विनोद का अनुभव करता था।

एक डच क्रिश्चियन हुईजेन्स (Christian Huygens) ने, जो गेलीलियो (Galilio) का समकालीन था, पेण्डुलम वाली घड़ी बनाई। इस प्रकार गेलीलियो के गतिशील अन्वेषण में वृद्धि की गई। इसी समय न्यूटन ने (१६४२–१७२७ ई०) गेलीलियो तथा हुईजेन्स के सिद्धान्तों को संकलित किया और उसने The Mathematical Principles of Natural Philosophy पुस्तक प्रकाशित की। न्यूटन के 'आकर्षण शक्ति' के सिद्धान्त से खगोल शास्त्र को नया बल मिला। अपने खगोल शास्त्र के पाण्डित्य के कारण ही हरशल (Herschel) १७८२ ई० में जार्ज तृतीय का राज-ज्योतिषी नियुक्त किया गया। १७८३ ई० में हरशल ने 'Motion of the Solar system in Space' नाम की पुस्तक लिखी, जिससे न्यूटन के आकर्षण का सिद्धान्त उत्कर्ष पर पहुँच गया।

१८वीं शताब्दी में जीव-शास्त्र के अध्ययन को भी प्रोत्साहन मिला। इस

प्रकार के अध्ययन से मानवीय अंग-प्रत्यंगों का ज्ञान भी हुआ, जिससे उपचार की सुचारु व्यवस्था होने में कोई कठिनाई नहीं हुई।

(आ) अध्यात्म विद्या

"विज्ञान १७वीं-१८वीं शताब्दी में केवल स्थूल जगत के बाह्य ज्ञान के ही विस्तार में व्यस्त नहीं रहा; किन्तु इससे आकाश, शिल्प, कृमि-कीट तथा पशु-पक्षियों के गहन तथा विस्तृत निरीक्षण से 'प्रयोगशाला' के प्रयोगों की अभिवृद्धि हुई। यह मानवीय अस्तित्व, आदि सृष्टि के कारण और ईश्वर-विषयक सिद्धान्तों के ज्ञान को, जो दर्शन की वह शाखा रही है, जिसे अरस्तू के समय से ही अध्यात्म विद्या कहा जाता रहा और जिसके सिद्धान्त स्थूल जगत् से परे और ऊँचे हैं, प्राप्त करने में संलग्न रहा।"[1]

१७वीं शताब्दी से पूर्व अध्यात्म का सम्बन्ध धर्मशास्त्र से था; किन्तु इस शताब्दी से इसका सम्बन्ध प्रकृति-विज्ञान से हो गया।

डिसकार्टिस बेकन, गीयारडानो, ब्रूनो आदि की परम्परा का दार्शनिक था। वह आधुनिक विवेचनात्मक दर्शन का जनक कहा जाता है। डिसकार्टिस को इसका श्रेय है कि—कल्पना एवं अनुमान पर आधारित दर्शन को भी उसने मानवीय चेतन और अनुभूति पर आश्रित किया और ईश्वर तथा बाह्य जगत् के पदार्थों का सम्बन्ध सिद्ध किया। बरुस्पिनोजा (Baruch Spinoza) (1632-1677), विलहेम लिवनिज (Wilhelm Leibnitz) (1646-1716) जानलॉक, (John Locke) (1632-1704) एवं डेविड ह्यूम (David Hume) (1711-1776) द्वारा

---

1. "Science" in the 17th and 18th centuries, involved not merely an increase of detailed knowledge about the physical universe, a multiplying of laboratory experiments, a closer and wider observation of the heavens, the rocks, the insects, the birds and the beasts. It involved also a great access of speculation about the nature of being, of first causes and of God—about that branch of philosophy which since Aristotle's time had been called metaphysics-speculation about what is beyond or above the physical.

Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Page 506.

आध्यात्मिक सिद्धान्तों को काफी विकास प्राप्त हुआ। उपर्युक्त सभी दार्शनिकों की विचारधाराओं ने इस दिशा में काफी प्रगति की; किन्तु इमेन्युल काण्ट Immanuel Kant—(१७२४–१८०४) का इन सभी में महत्वपूर्ण स्थान है। वह दर्शनशास्त्र के अतिरिक्त प्रकृति-विज्ञान का महान् पण्डित था। उसने भूचाल, मानव, चन्द्र तथा भूगोल आदि पर सफलतापूर्वक लिखा। इतना होते हुए भी वह दार्शनिक के रूप में ही अमर है। वस्तुतः वह आदर्शों का परम पुजारी था। प्रत्येक से आदर्शवादी होने की आशा भी करता था। नैतिक कर्तव्य और आदर्श अभी तक धर्म से ही सम्बद्ध थे; किन्तु वह प्रकृति-विज्ञान से उनको सम्बन्धित करना चाहता था। इस प्रकार का मानवीयकरण ही काण्ट की मौलिकता थी। फलतः इसकी सफलता के लिए ही काण्ट ने अपनी दार्शनिक रचनाएँ कीं।

"इस समस्या की व्याख्या उसका आदर्श था, जब हम ईश्वर के अस्तित्व को नहीं जान सकते हैं तब हमारी नैतिक चेतना के लिए यह आवश्यक हो जाता है कि हम ईश्वर के अस्पष्ट अस्तित्व को और उसी प्रकार संकल्प की स्वतन्त्रता और आत्मा की अमरता को पहिचानें।"[1]

काण्ट के आदर्शवाद से १८वीं शताब्दी समाप्त हुई और १९वीं शताब्दी का प्रारम्भ हुआ। वस्तुतः इस समय तक सभी ही वैज्ञानिक दार्शनिक थे और सभी ही दार्शनिक वैज्ञानिक थे। प्रकृति के उपयोग के सम्बन्ध में विगत वर्षों के विद्वानों की अपेक्षा यह लोग निस्संदेह अधिक संस्कृत थे। फलतः इसी कारण प्राकृतिक पदार्थों की व्याख्या के सम्बन्ध में उन्हें संशय था।

आध्यात्मिक विचार-धाराओं को लेकर अधिक मात्रा में आलोचनायें और प्रत्यालोचनायें हुईं। धार्मिक, राजनीतिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में इनकी जो मान्यता भी थीं वे इस प्रकार के सांस्कृतिक विकास से पृष्ठभूमि में जा पड़ीं। इस विकास से प्राकृतिक विधान को लेकर ज्ञान-संवर्धन, मानवीय विकास,

---

1. His solution of the problem was idealism—the doctrine that while we cannot know that God exists, our moral sense requires us to recognize the transcendental existence of God likewise the freedom of the will and the immortality of soul.

—Hayes : A Political and Cultural History of Modern Europe, Page 510

व्यष्टिगत स्वातन्त्र्य तथा अन्य लौकिक सुविधायें स्वाभाविक-रूपेण उपलब्ध हुईं।

(इ) धर्मनिष्ठा और आस्तिकवाद

(१) धर्मनिष्ठा (Pietism)

योरुप के इतिहास में १७वीं शताब्दी से ही धर्मनिष्ठा के प्रति एक आकर्षण हो चला था। मानव में यह विश्वास जम चला था कि धर्म की कट्टरता के कारण उसके मूल तत्व का विनाश हो जाता है। इस भावना को प्रोत्साहन वस्तुतः ईसाई धर्म के अन्तर्गत विविध शाखाओं के परस्पर संघर्ष के रक्तपात से ही मिला। यद्यपि वैज्ञानिक प्रगति आरम्भ हो चली थी; किन्तु ईसाइयों में धार्मिक कट्टरता के प्रति उदासीनता का कारण विज्ञान न होकर संघर्ष ही था। इंगलैंड में ही रानी मेरी ट्यूडर ने केवल कैथोलिक धर्म की कट्टरता के कारण प्रोटेस्टेण्ट एवं स्वतन्त्र धार्मिक भावना वाले लोगों को आग में फेंकवा दिया अथवा मरवा दिया था। यह धर्म-पालन न था; किन्तु मानवता का हनन था। फलतः कुछ विचारक यह भावना लेकर उठे—यदि ईसाई धर्म के प्रतिपादित सिद्धान्तों को त्यागकर उसके अनुयायी महात्मा ईसा के मूल उपदेशों का ही अनुशीलन करते तो शायद विश्व का अधिक कल्याण होता। यही एक विचारधारा थी, जो इतिहास में धर्मनिष्ठा के नाम से प्रसिद्ध है।

जर्मन में प्रचलित 'धर्मनिष्ठा' के सम्बन्ध में फिलिप स्पेनर (Philip Spener) (१६३५-१७०५) का नाम लिया जा सकता है। उसने १६७५ ई० में "Heart felt longings for a reform of the true Evangilical church which will be pleasing to God." नाम की पुस्तक प्रकाशित की। उसने लूथर के द्वारा प्रचलित धार्मिक परम्परा के अपने अनुयायियों को विवादात्मक और संघर्षात्मक विषयों को त्याग देने के लिए उपदेश दिये। काण्ट वस्तुतः इसी प्रकार के वातावरण में पल्लवित हुआ था।

स्वीडन बॉर्ग (Swedenborg) (१६८८-१७७२)—यह एक रहस्यवादी धर्मनिष्ठ था, जिसे १७४५ ई० में 'दैवी ज्ञान का बोध' हुआ। अनन्तर उसके द्वारा बहुत-सी रचनायें 'दैवी अनुराग और ज्ञान' और नवीन जेरुसलम पर प्रकाशित हुईं।

जार्ज फाक्स (George Fox) (१६२४-१६६१)–यद्यपि स्पेनर व स्वीडन

बॉर्ग के समान विचार-प्रधान मौलिक न था; किन्तु वह भी उदारचेता था। उसने एक समाज की स्थापना की थी, जिसे उसने क्यूकर (Quaker) नाम प्रदान किया था। इसी प्रकार जान वेसली ने आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में अपने अध्यापन-काल में ही Holy Club नाम की संस्था स्थापित की थी। अनन्तर उसका नाम मेथॅडिस्ट (Methodist) हुआ। अपने महाद्वीपीय भ्रमण में उसका जर्मन धर्मनिष्ठा (German Pietism) से परिचय हुआ था, जिससे उसे काफी प्रेरणायें मिलीं।

(२) आस्तिकवाद (Deism)

इस आस्तिकवाद का प्रचार इंगलैंड से ही प्रारम्भ हुआ। वस्तुत: इस समय तक इंगलैंड के ईसाई धर्म में प्रकृति-विरुद्ध इस प्रकार की मानवता से परे बातों का सन्निवेश हो चुका था कि लोगों को ईसाई धर्म के प्रति एक सन्देह उत्पन्न हो गया। फलत: इन व्यक्तियों की प्रेरणाओं से विश्वसनीय और सरल बोधगम्य प्रकृति-धर्म का प्रचार हो चला। यह विचारधारा ईश्वर के आस्तिकवाद में विश्वास करती थी, नास्तिकवाद में नहीं। धर्म तथा मानवता के क्षेत्र में प्रत्येक स्थल पर वे तथ्य और प्रकृति-स्वरूप के ही प्रोत्साहन-कर्ता थे।

इस प्रकार के प्रकृति-धर्म के लिये (Deism) नाम अंग्रेजी का ही दिया हुआ था। इसके द्वारा ईसाई धर्म सर्वप्रिय हुआ और प्रकृति-विधान, स्वाभाविक अधिकार और तथ्यात्मक तर्कों आदि का प्रचार हुआ।

पियर बेल (Pierre Bayle) (१६४७-१७०६)—डिसकार्टिस की शिष्य-परम्परा में होते हुए भी स्वतन्त्र विचारधारा और धार्मिक सहिष्णुता का अनुयायी था। The Critical and Historical Dictionary उसकी सर्वोत्कृष्ट रचना है। धर्मान्धता तथा पुराणों की कहानियाँ जो बच्चों को डराने तथा मर्यादा के निर्माण के लिए थीं, उन्हें नियंत्रित रखने और रोकने का उसने प्रयास किया।

वॉल्टेयर (१६६४-१७७८)—वॉल्टेयर वस्तुत: आस्तिक दार्शनिक था। १८वीं शताब्दी की आस्तिक-भावना के नेतृत्व का श्रेय उसीको है। वह अपने युग की साहित्यिक प्रगतियों का प्रणेता था। वैज्ञानिक विकास को अपनी विचारधारा के अनुकूल समझता था; किन्तु धार्मिक अन्धविश्वासों की उसने कटु आलोचनायें भी कीं। अँग्रेजों के संसर्ग में आने पर 'Letters on English' लिखकर अँग्रेजी चर्च तथा समाज की व्यंग्यात्मक आलोचनायें भी

कीं। उसके द्वारा सांस्कृतिक-विकास को प्रोत्साहन मिला। वह वास्तव में प्रकृति-विज्ञान, प्रकृति-विधान, स्वाभाविक अधिकार और मानवतावाद का पूर्ण अनुमोदक था। कैथोलिक तथा प्रोटेस्टेन्ट किसी भी धर्म में उसका विश्वास न था। उसे क्योकर (Quaker) प्रगति में विश्वास था। उसका कथन था कि ईसाई चर्चें भले ही मूर्खों को समझा सकें और शान्ति रख सकें; किन्तु बुद्धिमान व्यक्तियों को उनसे किसी प्रकार का भी संतोष न मिल सकता था। उसे उस ईश्वर में विश्वास था, जिसने चन्द्र, सूर्य, तारे, आकाश तथा पृथ्वी का निर्माण किया है।

उपर्युक्त प्रकार का आस्तिक भाव पोप के काव्य में, हर्डर के गद्य में, गिवन की एतिहासिक रचनाओं में, फ्रान्सीसी डिडरो और डी एलेमबर्ट के विश्व-कोष में हैं।

(ई) समाज-विज्ञानों का विकास

समाज-विज्ञान प्रकृति-विज्ञान के साथ ही प्रगतिशील रहा। दोनों ही विषयों ने विश्व और उसकी प्रगतियों को तार्किक विचार-धारा और खुले नेत्रों से देखा। इनकी आधारशिला अन्धविश्वास तथा धर्म से पूर्ण परे थी।

मानव-जीवन की विगत परिस्थितियों का ज्ञान वस्तुतः समाज-विज्ञान है। १७वीं-१८वीं शताब्दी में आलोचनात्मक इतिहास का अध्ययन समाज-विज्ञान के विकास का कारण बना। इस प्रकार के विकास के प्रोत्साहन के लिये योरुप में यत्र-तत्र समृद्धिशाली पुस्तकालय स्थापित हुए। पोप के द्वारा १८वीं शताब्दी में Vatican Library सभी प्रकार से सम्पन्न बनाई गई। इसी शताब्दी में फ्लोरेन्स की Laurentian Library और मिलान की Ambrosian Library में हस्तलिखित पुस्तकों की संख्या बढ़ाई गई। १६६१ ई० में The Royal Prussian Library की नींव पड़ी थी और १७वीं शताब्दी में इसका पुनरुद्धार हुआ। The Royal French Library की प्रगति को लुई के द्वारा संतोषजनक प्रोत्साहन और सहायता मिली।

विको (Vico)(१६६८–१७४४)—ने प्रचलित ग्रीक और रोम के इतिहास का आलोचनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया। हर्डर ने Ideas on the philosophy of History नाम की पुस्तक में इतिहास के अस्तित्व पर अपने मौलिक विचार प्रगट किये।

उपर्युक्त विचारधारा के कारण समाज-विज्ञान के क्षेत्र की अभिवृद्धि हुई। मनुष्य-शरीर-रचना-शास्त्र (Anthropology), पुरातत्व (Archaeology), भाषा-विज्ञान (Philology) तथा तुलनात्मक धर्म (Comparative Religion) का अध्ययन बढ़ा। इन विषयों के समावेश से समाज-विज्ञान के विषय और भी अधिक महत्वपूर्ण हो गये।

विवेचनात्मक इतिहास प्रस्तुत करने का श्रेय गिवन (१७३७–९४) तथा ह्यूम (१७११–७६) को है। प्रथम ने Decline and Fall of Roman Empire, बड़ी ही अलंकृत तथा मर्मस्पर्शी शैली में लिखा, द्वितीय ने History of England सुष्ठ शैली में लिखी और एक राष्ट्र की सामाजिक तथा साहित्यिक प्रगतियों को राजनीतिक उत्थान-पतनों के समतुल्य ही महत्ता प्रदान की।

इन रचनाओं से भी अधिक प्रिय वॉल्टेयर का 'Age of Louis XIV नाम के इतिहास का रहा। Raynal (१७१३–९६) के इतिहास विद्वत्तापूर्ण न थे; किन्तु उनमें दार्शनिकता का अंश था, इससे उनका अपना स्थान था। 'History of the Stathoderate' और 'History of Parliament of England' सामयिक विवरणों से युक्त होने के कारण बड़े ही प्रसिद्ध ग्रन्थ थे; किन्तु इन सबसे अधिक प्रसिद्ध इतिहास Philosophical and Political History of European Commerce and Establishment in the two Indies रहा।

(य) राजनीति-विज्ञान

ब्रिटिश राज्यान्तर्गत १७वीं-१८वीं शताब्दी में इस प्रकार के राजनीतिक प्रस्ताव शासक वर्ग के समक्ष आये थे—राजनीतिक शासकीय सत्ता का शासित मानव के साथ क्या सम्बन्ध है ? इन प्रस्तावों के समाधान के लिये अंग्रेज राजनीतिज्ञों ने उत्तर भी दिये थे। राजनीतिक स्वतन्त्रता सर्वप्रथम उपलब्ध होने के कारण अंग्रेजों की राजनीतिक प्रगति योरुपीय महाद्वीप के प्रदेशों के लिये आकर्षण का विषय थी और सर्व-प्रकारेण अनुकरणीय थी। विशेषरूपेण फ्रांस प्रदेश अंग्रेजों की राजनीतिक प्रगति से अधिक प्रभावित हुआ था।

(र) समाज-विज्ञान के अन्य क्षेत्र

रूसो वस्तुतः मानवता और प्रकृति का अन्यतम विचारक था। उस युग में प्रकृति के प्रति उसे अनुराग था जबकि अन्य लोग प्रकृति का अध्ययन करते

थे, उसे प्रातः और संध्या के स्वर्णिम दृश्य देखने में वही आनन्द आता था, जिस प्रकार एक गणितज्ञ को बीजगणित का अभ्यास करने में। रूसो का वस्तुतः कवि हृदय था। वह स्वच्छन्दतावादी धारा का अधिनायक था। Discourse on Arts and Science (१७४९) में स्वाभाविकता एवं कृत्रिमता का अन्तर उसने स्पष्ट किया। उसने प्रमाणित किया कि सभ्य समाज का मनुष्य अधिक विकृत है और प्रकृति से दूर रहता है जबकि असभ्य और जंगली व्यक्ति में अधिक स्वाभाविकता और सत्यता रहती है।

मानव-समाज तथा उन प्रदेशों को जो राजनीतिक प्रगतियों तथा संघर्षों के कारण व्यथित थे, रूसो की विचारधाराएँ बड़ी ही प्रिय लगीं। उसकी द्वितीय रचना Origin of Inequality Among Men (१७५३) में उसने यह प्रदर्शित किया कि मानवीय प्रलोभन, स्वार्थ और अहंकार के कारण ही विश्व के धरातल पर विषमता उत्पन्न हो जाती है। इसी आधार पर सबल निर्बलों को पीड़ित करते हैं। 'प्रकृति की ओर लौट आओ' (Back to Nature) उसका नारा था।

इसी प्रकार मॉण्टेस्क्यू (Montesquieu) ने कानून के अध्ययन का आदर्श प्रस्तुत किया। उसके 'Spirit of the Laws' के द्वारा प्रमुख देशों के तुलनात्मक कानूनों के अध्ययन का आदर्श उपस्थित किया गया।

उपर्युक्त के समान अर्थशास्त्र, भूगोल, भाषा-विज्ञान आदि का भी अध्ययन किया गया। १८वीं शताब्दी की प्रमुख विचारधारा मानवतावाद से प्रेरित थी। इस मानवतावाद के कारण मानव-समाज में आर्थिक, सामाजिक, वैधानिक, धार्मिक तथा आध्यात्मिक क्षेत्रों में काफ़ी सुधार हुए। इस विचारधारा के कारण ही Negro Slavery समाप्त हुई और अन्तर्राष्ट्रीय शान्ति-स्थापना के लिए प्रयास हुए। मानवता की भावना के दृढ़ हो जाने पर विश्व-बन्धुत्व की भावना भी दृढ़ होने लगी। इस सम्बन्ध में रूसो के वचन थे—"यहाँ न कोई फ्रांस निवासी है, न स्पेन का, न जर्मनी का और न इंगलैंड का। यहाँ केवल सब योरुप निवासी हैं। सभी एक-सी अभिरुचि, एक-सी भावना और एक-से आचार-व्यवहार रखते हैं।"[1] लेसिंग ने कहा था—"देश-प्रेम एक

1. Rosseau—No more are there French men, Spaniards, Germans or English, there are only Europeans. All have the same tastes, the same passions, the same customs.

सबल विकार है जिसे त्याग देने में ही मैं प्रसन्न हूँ।"[1] टॉमसपेन का कथन है—"विश्व हमारा देश है और मानव हमारे भाई हैं।"[2]

५. शास्त्रीयता का परिपाक और स्वच्छन्दवादिता के अंकुर

१७वीं-१८वीं शताब्दी में प्रकृति-विज्ञान, दर्शन और समाज-विज्ञान में जब इस प्रकार से नूतन भाव और सुधार समाविष्ट हो रहे थे उस समय भी योरुप का बौद्धिक जीवन ज्यों का त्यों पूर्ववत ही रहा। उनमें प्राचीन रोम और ग्रीस की शास्त्रीयता के लिए निष्ठा थी—और अपने आदर्शों की भूख मिटाने के लिए वे उन्हीं देशों की साहित्यिक पद्धति का अनुसरण करते थे। उस समय तक बुद्धिमानों और पण्डितों के समक्ष इस प्रकार का कोई सबल आदर्श नहीं था जिसका वे अनुकरण करते। इस सम्बन्ध में उन्हें ग्रीस और रोम से ही, साहित्य ही क्या अन्य क्षेत्रों में भी—आदर्श उपलब्ध होते थे।

उस समय तक योरुप महाद्वीप के सभी विश्वविद्यालय और माध्यमिक विद्यालय चाहे वे प्राचीन परिपाटी पर चल रहे थे अथवा जनतांत्रिक और मार्टिन लूथर जैसे सुधारवादी विचारकों की विचारधारा पर, सभी में रोम और ग्रीस की शिक्षा-परिपाटी का अनुसरण हो रहा था। इस युग में लेटिन भाषा के प्रति एक उदासीनता अवश्य छाने लगी थी। प्रादेशिक भाषाओं का विकास होने लगा था; किन्तु उन पर फिर भी लेटिन और ग्रीस साहित्य की शैली का प्रभाव था। उन पर आलंकारिकता और कृत्रिम शैली का आधिक्य था।

(ख) स्वच्छन्दवादिता का सूत्रपात

अ—जर्मनी में स्वच्छन्दवादिता

इस युग में ही स्वच्छन्दवादिता का जर्मनी में प्रवेश हुआ। जर्मन विद्वान अभी तक फ्रांस प्रदेश की शास्त्रीय भावना का सम्मान करते थे और उसी के अनुयायी थे; किन्तु अब उनकी अभिरुचि अंग्रेजी साहित्य की ओर भी बढ़ी। उन्होंने शेक्सपीयर और मिल्टन का अध्ययन किया। अंग्रेजों के समान ही उनमें भी राष्ट्रीय रचनायें करने की भावना प्रबल हो उठी।

---

1. Lessing—Love of country is at best but an heroic vice which I am quite content to be without.
2. Thomas Paine—The world is my country mankind are my brothers.

Klopstock (१७२४-१८०३), Wieland (१७३३-१८१३) और Lessing (१७२९-८१) वस्तुतः इस प्रकार के जर्मन कवि थे जो इन नवीन भावनाओं को काव्य में प्रमुख स्थान देकर चले।

क्लॉपस्टाक ने मिल्टन के महाकाव्य का अध्ययन कर स्वयं भी महाकाव्य लिखा। मैकफर्सन की Odes के समान Odes भी लिखीं। Messias नाम के काव्य पर उसका यश वस्तुतः आश्रित है। यद्यपि उसमें कल्पना का अभाव था तथापि उसके काव्य में गेय काव्य के सभी गुण हैं। उसकी विचारधारा मानवीय और देवी भावनाओं के मध्य ही प्राण-पोषण पाती रही है। उसमें मानवता के प्रति ममत्व है और स्थल-स्थल पर वैयक्तिक चित्रणों और सौन्दर्य के प्रति आकर्षण है। वीलेण्ड की Oberon नाम की रचना पूर्णरूपेण स्वच्छन्दतावादी है। लैसिंग गेटे से पूर्व एक सफल लेखक, आलोचक और विचारक था। उसने अपनी रचनाओं द्वारा अपने देश की बौद्धिक भावना को विकसित किया। Minna Von Barnhelm (१७६७) और Emilia Galotti (१७७२) के द्वारा राष्ट्रीय और रोमाण्टिक जर्मन नाटक का रूप प्रदर्शित किया। Laokoon तथा Hamburgische Dramaturgie आदि उनकी साहित्यिक आलोचनायें थीं। उसने शिक्षा तथा धर्म-विषयक भावनायें भी व्यक्त कीं। Nathan dev weise नाम के नाटक में इसका नायक विशुद्ध प्रकृति का व्यक्ति है, उसे रूढ़ियां पसन्द नहीं। वह पूर्ण रूप से अपने वचनों में ही नहीं; किंतु अपने आचरण से भी स्वच्छन्दतावादी है। इस प्रकार लैसिंग ने स्वच्छन्दतावादी धारा को काफी अग्रसर किया है।

"यदि गेटे, शिलर और काण्ट ने राष्ट्र को उनकी रचनाओं का स्वागत करते प्राप्त किया तो वे इसके लिये अनेकों कारणों के ऋणी थे; किन्तु उनमें से प्रमुख थे—फ्रेडरिक द्वितीय की राजनीतिक और लैसिंग की साहित्यिक प्रगति।"[1]

ये कलाकार शास्त्रीय होते हुए भी शेक्सपियर, औसियान तथा डा० यंग से काफी प्रभावित थे। इस कारण नवीन विचारधारा का प्रस्फुटन होना स्वाभाविक

1. If Goethe, Schiller and Kant found a nation prepared to receive their works they owed the fact to many causes, but among these the chief were the political activity of Fredrick II and the literary activity of Lessing.

—Encyclopaedia-Britanika, Volume 10.

था। इसी विचारधारा ने सप्तवर्षीय युद्ध के उपरान्त से सम्पूर्ण योरुप को ही मंत्र-मुग्ध कर लिया। प्राचीन रूढ़ियों से विमुक्त नवीन स्वतंत्र भावना के संरक्षण के लिये जर्मन में Sturm Und Drang (Storm and Pressure) नाम का आन्दोलन प्रचलित हुआ।

"Sturm Und Drang का जन्म ही रूढ़ियों को तोड़ फेंकने के लिये हुआ। उनमें से अधिक लोग साहित्य-क्षेत्र में और उसी प्रकार से जीवन में प्रत्येक प्रकार के बन्धन को घृणा करते थे और निरन्तर ही उन्होंने घोषणा की कि प्रतिभा-सम्पन्न व्यक्तियों को प्रकृति की प्रेरणाओं के अनुरूप ही रचना करना चाहिये। 'प्रतिभा' से उनका आशय था—प्रकृति द्वारा प्राप्त सबल चेतना और प्रबल प्रतीकों का उपयोग।"[1]

इस प्रकार के आन्दोलन ने जर्मनी के प्रकृति-प्रेमी भावुक कलाकारों को अपनी ओर आकर्षित किया।

हर्डर (Herder) (१७४४-१८०३)—वस्तुतः हर्डर लैसिंग, गेटे और शिलर के मध्य की कड़ी था। लैसिंग की रचनाओं ने कलाकारों के ध्यान को संगीत और वीरगीतों की ओर अवश्य आकर्षित किया था; किन्तु हर्डर इस प्रकार का प्रथम मौलिक जर्मन था, जिसने भावनाओं का सम्मान किया। उसकी रचना Stimmen der volker (Voices of the peoples) में अनेकों जातियों के गेय काव्यों का संग्रह किया। इस प्रकार अपने देशवासियों के लिये उसने काल्पनिक आनन्द की एक निधि प्रस्तुत कर दी।

गेटे—ग्रीक संस्कृति का पूर्ण अनुयायी था। इसी प्रकार वह पारसी तथा बौद्ध सांस्कृतिक दृष्टिकोणों का सम्मान करता था। वस्तुतः वह अपने हृदय से कवि था। प्रत्येक प्रकार के सौन्दर्य से उसके मानस में भावनाओं का उद्रेक हो उठता था। उसकी भावनाएं बड़ी कोमल होती थीं। 'Gotz von Berlic-

---

1. To break down conventionalities appeared to the 'Sturm Und Drang, most of them despised laws of every kind in literature as well as in life and continually proclaimed that the duty of man of genius was to write precisely as nature dictated. By 'genius they ment vehement sensation by 'nature' a free use of vigor epithets.

Encyclopaedia Britanika, Volume, 10.

hingen' और Die Loidan Jungen Werthers' रचनाएं पूर्ण स्वच्छन्दतावादी थीं। इनमें प्रकृति के मार्मिक चित्र हैं। उसके गीत बड़े ही प्रिय, कलात्मक और आनन्दयुक्त रहे हैं। Hermann Und Dorothea, और Fauste उसके सफल वीर गीत थे।

शिलर (१७५९-१८०५)—शिलर गेटे का प्रतिद्वन्द्वी था। गेटे वस्तुतः कवि था। शिलर इस प्रकार की किसी प्रकार की भावना से प्रेरित न हुआ था। फ्रान्स की राजक्रान्ति से उसे प्रोत्साहन और प्रेरणा मिली थी। वह समाज के किसी भी प्रकार के बन्धन को स्वीकार करने को तैयार नहीं था। Die Rauber, Fiesco और Kabale Und Liebe नाटकों में उसकी भावनाओं का प्राधान्य मिलेगा।

काण्ट—जर्मनी के बौद्धिक विकास में काण्ट की Kritic der Reinen Vernunft का प्रमुख हाथ था। इस पुस्तक का वैसा ही प्रभाव है जिस प्रकार का डारविन की Origin of Species पुस्तक का है। उसके जीवन के अन्तिम भाग के गेय काव्य में पूर्ण नूतनता है। वह दार्शनिक भी था। उसने पदार्थ और मस्तिष्क का जो अन्तर स्थापित किया, उसकी प्रतिक्रिया स्वरूप फिशे, शैलिंग और हीगेल हैं।

गेटे के जीवन काल में ही विशुद्ध स्वच्छंदतावादी काव्य अपने नवीन रूप से अवतरित हुआ। प्रारम्भ में इस प्रगति को गेटे से ही प्रेरणा मिलती रही; किंतु कालान्तर में यह प्रगति उसकी प्रेरणाओं का अतिक्रमण कर गई। फिशे के नवीन दार्शनिक दृष्टिकोण से इस विचार-धारा को और भी बल मिला। उसकी दार्शनिकता ने मानवीय व्यक्तित्व को जो मर्यादा और रूढ़ियों से उन्मुक्त है—विश्व में प्रमुख स्थान दिया। शैलिंग वस्तुतः फिशे से भी अधिक प्रभावशाली था। उसने अपने काव्यात्मक रूप द्वारा मानवीय मस्तिष्क और प्रकृति के सम्बन्ध व्यक्त किये। उसके इस दृष्टिकोण को स्वीकार कर उसके अनेकों ही शिष्य कार्यक्षेत्र में अवतरित हुये। इनमें प्रमुख रूप से स्टीफेन्स (Steffens) का स्थान अधिक महत्वपूर्ण है। उसी ने मानव-जीवन तथा प्रकृतिक्षेत्र में रहस्यों के अस्तित्व का उद्घोष किया। मूलतः इन कलाकारों का प्रमुख उद्देश्य स्वच्छन्दतावादी भावना को शास्त्रीय साहित्य से उपलब्ध स्वच्छन्दतावादी भावना से अधिक स्वतन्त्र पद प्रदान करने का था।

आ—फ्रान्स में स्वच्छन्दतावाद

लुई १४वें का शासन पूर्णरूपेण शास्त्रीय साहित्य के लिये प्रसिद्ध है। वॉल्टेयर भी शास्त्रीय ही था। रूसो स्वच्छन्दतावादी कलाकार था। फ्रान्स की राजक्रान्ति का भी कारण स्वच्छन्दतावादी साहित्य की उद्भावना ही थी। रूसो की वाणी ने फ्रान्स में केवल स्वच्छन्दवादिता को ही उपस्थित नहीं किया, किंतु उसने जनतंत्र का भी सिंहनाद किया। बिरांजर(Beranger) (१७८०–१८५७) शैली और विचारधाराओं में पूर्ण शास्त्रीय ही था; किन्तु उसका गेय काव्य करुणरस, प्रसाद गुण और स्वाभाविक प्रवाह से युक्त होने के कारण अपने सामयिक काव्य से कहीं अधिक स्वच्छन्दतावादी था।

लमरटाइन (Lamertine) (१७९०-१८६९) कवि की The Meditation और The Harmonies दोनों रचनायें क्रमशः शास्त्रीयता और स्वच्छन्दवादिता का रूप प्रदर्शित करती हैं। उसने प्रकृति से ही प्रेरणायें लेकर, आकर्षक चित्रण प्रस्तुत किये हैं। काव्य के विधि-विधान का उसके काव्य में अच्छा समन्वय है। उसकी शैली भी बड़ी ही मार्मिक और स्वाभाविक है।

विक्टर ह्यूगो (H. Victor Hugo) केवल नाटकीय क्षेत्र में ही नहीं कविता में भी स्वच्छन्दतावादी था। चिर प्रचलित विषय, छन्द और शैली आदि सभी में ह्यूगो ने नवीन मार्ग को अपनाया। •१८४८ ई० के फ्रान्स के राजविद्रोह के कारण कवि में गेय काव्य रचने की प्रवृत्ति जागरूक हुई।

ड मस्से (De Musset) स्वच्छन्दतावादी-धारा का सबसे अधिक प्रतिभा-सम्पन्न कलाकार था। वह बायरन के काव्य से बड़ा ही प्रभावित था। उसके काव्य में स्वाभाविकता, सरलता और सौन्दर्य था।

इ—इंगलैण्ड में स्वच्छन्दतावाद

ग्रेट ब्रिटेन में विल्सन के द्वारा किया हुआ प्रकृति-चित्रण, रिचार्डसन के द्वारा लिखे हुए भावुकतापूर्ण उपन्यास, राबर्टबर्न्स के द्वारा जन-वाणी में लिखी हुई काव्यात्मक रचनायें तथा टामस चेटर्टन के द्वारा मध्यकालीन इतिहास के विषयों को लेकर रचित कवितायें—इन सभी ने अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी धारा को अग्रसर किया। स्वच्छन्दवादिता का एक स्थायी स्वरूप १७९८ ई० में कालरिज और वर्डस्वर्थ के सम्मिलित प्रयास से 'Lyrical Ballads' के संस्करण में प्रकाशित हुआ। कालरिज की 'Ancient Mariner' Kublakhan और Christable तथा वर्डस्वर्थ की 'The Prelude

और The Excursion रचनाओं ने स्वच्छन्दवादिता का एक अमर रूप स्थापित कर दिया। इसके उपरान्त वाल्टर स्कॉट के उपन्यासों ने स्वच्छन्दतावादी धारा को अक्षुण्ण रखा।

ई—रूस में स्वच्छन्दतावाद

रूस के साहित्यिक वायु-मण्डल में १८१५ ई० के उपरान्त स्वच्छन्दतावादी धारा प्रवाहित हुई। रूस की इस धारा पर अंग्रेजी और जर्मनी की स्वच्छन्दतावादी धारा का पूर्ण प्रभाव पड़ा है। पुश्किन (Pushkin) रूस का प्रथम स्वच्छन्दतावादी कवि था। वह ज़ार अलेक्जेण्डर प्रथम (Tzar Alexender I) का समकालीन था। अलेक्जेण्डर प्रथम स्वयं अपनी विचारधाराओं में स्वच्छन्दतावादी था। उसने अन्य कलाओं को भी रूढ़िवादिता की सीमा से बाहर लाकर स्वाभाविकता से ओत-प्रोत किया। पुश्किन, बायरन तथा नेपोलियन दोनों का ही परम प्रशंसक था। उसने शेक्सपियर की अनुकृति में Boris Godunov (१८२५ ई०) नामक दुखान्त नाटक लिखा। उसने अन्तिम अवस्था में पीटर महान के द्वारा स्वीडन-निवासियों की पराजय का विषय लेकर एक महाकाव्य की रचना की थी। पुश्किन के अनन्तर रूसी स्वच्छन्दतावादी काव्य को प्रोत्साहन देने और अग्रसर करने का श्रेय गोगल (Gogal) को है। उसने युक्रेनिया और कासक के निवासियों के ग्रामीण-जीवन की कहानियों को लेकर अपने काव्यों की रचना की। Dead Souls (१८४२) उसकी सर्वोत्कृष्ट रचना है, जिसमें प्रादेशिक समाज को उसने अपने काव्य का विषय बनाया।

(ग)—स्वच्छन्दतावादी काव्य पर विहंगम दृष्टि

१७वीं–१८वीं शताब्दी में योरुप में सभी ही ललित कलाओं पर शास्त्रीय भावनाओं का एकच्छत्र साम्राज्य था; किन्तु प्रकृति-विज्ञान के विकास प्राप्त करने पर शास्त्रीय भावना के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया प्रारम्भ हुई। जीवन में और कलाओं के क्षेत्र में जिस कृत्रिमता का प्राधान्य था, उसका क्रमशः ह्रास होने लगा। काव्य-क्षेत्र में भी स्वाभाविकता के समावेश का स्वागत हुआ। फ्रांस की राजक्रान्ति के मूल में जो वॉल्टेयर और रूसो की विचारधारायें थीं उन्होंने तत्कालीन योरुप की सांस्कृतिक प्रगतियों को पोषित किया। कालान्तर में रूसो का Liberty, Equality और Fraternity का सिद्धान्त विश्व का सिद्धान्त बना। जिससे सामाजिक रूढ़ियों का विच्छेद सम्भव हो सका और

व्यक्तिगत स्वतन्त्रता का दृष्टिकोण प्रबल हुआ। अँग्रेजी काव्य में १८वीं शताब्दी में स्वच्छन्दतावादी काव्य का सूत्रपात हुआ और इसका प्रभाव जर्मनी और फ्रान्स के काव्यों पर यथाशीघ्र ही पड़ा। कालान्तर में इस प्रकार की प्रगति सम्पूर्ण योरुप का ही विषय बन गई।

"स्वच्छन्दवादिता वस्तुतः योरुपीय संस्कृति में एक विरोधात्मक प्रगति थी। स्वच्छन्दवादिता का मूल १८वीं शताब्दी में था, किन्तु क्रान्ति-विकास और नेपोलियन के युगों में यह पोषित हुआ और मेटरनिच के युग में इसका सफल फलागम हुआ।"[1]

ग्रीस और रोम से प्रेरणा पाने की अपेक्षा इसने प्रकृति से ही प्राण-प्रतिष्ठा प्राप्त की। शास्त्रीय जीवन की अपेक्षा पर्वत, झरना, झील तथा प्रपातों में कवि अधिक सौंदर्य और आकर्षण देख सका। ग्रामीणों के स्वाभाविक जीवन में जो सरलता का समावेश है—वह मध्ययुगीन एतिहासिक घटनाओं से कवियों के लिये कहीं अधिक महत्वपूर्ण थीं, जिनको कवि-जनों ने अपनी स्वच्छन्दतावादी कविता का वर्ण्य-विषय बनाया। सबसे अधिक भावनाओं और वैयक्तिक विचारधाराओं का सम्मान बढ़ा। काण्ट, फिशे और हीगेल आदि जर्मनी के महान विचारकों ने प्रकृति और मानव-जीवन में रहस्यवादात्मक अंश का समावेश किया। इंगलैण्ड में स्वच्छन्दतावादी काव्य सबसे अधिक सफल और उत्कृष्ट रहा। वर्ड्सवर्थ, बायरन, शेली और कीट्स आदि ऐसी स्वच्छन्दतावादी विभूतियां थीं, जिनके काव्य ने योरुप तथा विश्व के साहित्य को भी प्रभावित किया। इनसे पूर्व टॉमसन, कालिन्स, ग्रे, गोल्डस्मिथ, काउपर, ब्लैक और बर्न्स आदि अंग्रेजी स्वच्छन्दतावादी काव्य के संक्रान्ति-युग के कवि थे। इन्होंने ही रोमांटिक नवोन्मेष (Romantic Revival) के लिये पृष्ठभूमि तैयार की।

---

1. Romanticism was a truly revolutionary force in European Culture. The roots of romanticism were in the 18th Century, but it was nourished by developments of revolutionary and Napoleanic eras and brought to rich fruitage in the period of Matternich.

—Hayes : The Political & Cultural History of Modern Europe, Page 738.

परिशिष्ट २

अंग्रेजी साहित्य में पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रगति

विषय प्रवेश

विगत परिशिष्ट में योरुप में १७वीं-१८वीं शताब्दियों की राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक परिस्थितियों के प्रभावों की एक स्पष्ट रूपरेखा हमारे सामने आ चुकी है। युगों-युगों से योरुपीय जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में परम्परा-प्रियता एवं सामन्तशाही का एकच्छत्र साम्राज्य था, जिनको उपर्युक्त परिस्थितियों ने झकझोर डाला। इस युग में हुई क्रान्तियों (अमेरिका का स्वातन्त्र्य संग्राम, औद्योगिक क्रान्ति एवं फ्रांस की राजक्रान्ति) ने ही वस्तुतः मानव को यथार्थ रूप से देखने की चेतना दी। अपने विचारों और आचरणों तक में वह इतना अन्धा हो चुका था और उसकी आत्मा मर चुकी थी कि जीवन के सीधे-सादे विकारों को न अपनाकर वह रूढ़ियों और कृत्रिमता को ही सर्वस्व मान बैठा था। उसके व्यक्तित्व और विचारधारा का भी कोई मूल्य है—यह प्रथम बार उसे अवगत हुआ।

इस वैयक्तिकता के प्रचार में तत्कालीन विचारकों ने जिस मौलिकता का परिचय दिया है—वह भी कम आश्चर्यजनक नहीं। समाज में व्यवहृत विषमता तो वैसे ही असंतोष फैलाए थी; किन्तु इसी समय रूसो के इस कथन ने 'मानव स्वतंत्र जन्मा है; परन्तु सर्वत्र वह बन्धन में है'—विचारों के क्षेत्र में आग में घी डालने का कार्य किया। फ्रांस की राजक्रान्ति हो उठी, जिससे मानवता की एक कसौटी विश्व के समक्ष आई। १८वीं शताब्दी के योरुपीय इतिहास में इस मानवतावाद (Humanitarianism) पर ही विश्व-बन्धुत्व की भावना

सुदृढ़ हो उठी जिसके पृष्ठपोषक रूसो के अतिरिक्त वॉल्टेयर, लेसिंग एवं टॉमस पेन आदि थे। वैयक्तिक विचारधाराओं को काण्ट, फिशे एवं हीगेल आदि दार्शनिकों के विचारों से भी बल मिला था। इन दार्शनिकों ने ही मानव और प्रकृति के अव्यक्त सम्बन्ध के विषय में भी प्रकाश डाला था। इससे व्यक्तिवादी भावना को एक सुस्थिर प्रगति मिली।

उपर्युक्त व्यक्तिवादी विचारधारा ने ही साहित्य-क्षेत्र में स्वच्छन्दतावादी भावना को उत्पन्न करने में सहायता दी और यथासमय योरुप महाद्वीप के जर्मनी, फ्रान्स, इंगलैंड एवं रूस आदि में इस प्रकार के साहित्य का सृजन हो उठा।

योरुप महाद्वीप में प्रचलित स्वच्छन्दतावादी काव्य-प्रगति का विगत अध्याय में संक्षिप्त विवरण दिया जा चुका है। इस युग की प्रवृत्तियों का विकास वस्तुतः पूर्व स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्तियों पर ही आधारशिला बना सका है। फलस्वरूप पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग भी कम महत्वपूर्ण नहीं है।

हमारे प्रस्तुत प्रबन्ध का विषय हिन्दी की छायावादी काव्य की प्रवृत्ति से पूर्व पड़ता है। इस संक्रान्ति-युग में ही वास्तव में उन प्रवृत्तियों का सृजन हुआ, जिनसे छायावादी काव्य अस्तित्व प्राप्त कर सका। अंग्रेजी साहित्य में पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग के काव्य और हमारे आलोच्य विषय के अनुसार हिन्दी के इस संक्रान्ति-युग के काव्य की प्रवृत्तियों में काफी साम्य है। इससे अंग्रेजी साहित्य के पूर्व-स्वच्छन्दतावादी काव्य की प्रवृत्तियों से परिचय प्राप्त करने के लिए टॉमसन, कॉलिन्स, ग्रे, काउपर, गोल्डस्मिथ, बर्न्स एवं ब्लैक के काव्यों का अध्ययन इस परिशिष्ट में सन्निविष्ट किया गया है।

पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग के कुछ कवि

अ—जेम्स टॉमसन (१७००–१७४८)

टॉमसन का काव्य अँग्रेजी काव्य में अपना विशेष महत्व रखता है। वह वस्तुतः पोप का समकालीन था। पोप की रीतिबद्ध शैली में रचित काव्य जब ड्रायडन के सिद्धान्तों का पूर्ण सम्पोषण करते हुए अँग्रेजी काव्य-भंडार को भर रहे थे उस समय टॉमसन के काव्य ने प्रकृति को अपने काव्य का साधन बनाकर तत्कालीन साहित्यिकों को आश्चर्यचकित कर दिया। उसके काव्य ने ऑगस्टन-युग के काव्य को, जो नगर की संकुचित सीमा में निष्प्राण हो रहा था, गाँव के उन्मुक्त वातावरण में प्रस्तुत कर उसे सप्राण कर

दिया। उसने विषयों के साथ-साथ छन्दों में भी परिवर्तन प्रस्तुत किए। Heroic Couplet के स्थान पर उसने Spenserian Stanza और मुक्त छन्द (Blank Verse) को अपना लिया। उसने दुरूह शैली के स्थान पर प्रासादिक शैली को अपनाया और अभिव्यंजना शैली से कृत्रिमता को यथासाध्य दूर रखा। प्रकृति के प्रति उसके मानस में अगाध ममत्व था। यह अवश्य सत्य है कि वह ग्रे के समान प्रकृति के अन्तरतम में प्रवेश न कर सका और न वर्ड्सवर्थ के समान प्रकृति में मानवीय और ईश्वरीय भावनाओं को चित्रित कर सका; फिर भी प्रकृति का उन्मुक्त रूप उसने काव्य में अवश्य प्रस्तुत किया, जिसके लिये वह स्तुत्य है।

> Be gracious, Heaven for how laborious man
> Has done his part. Ye fostering breezes, blow
> Ye softening dews, ye tender showers, descend
> And temper all, thou world reviving sun,
> Into the perfect year.[1]

(हे देवलोक! परिश्रमी मनुष्य ने किसी प्रकार अपना कर्त्तव्य पूर्ण कर लिया है, इससे आप उसके प्रति दयालु हो जावें। अभिवृद्धि प्रदान करने वाले मृदुल पवन, आप प्रवाहित हों। कोमल ओस कण तथा बौछारें, आप आएँ। हे संसार को जीवन-दान देने वाले सूर्य, आप सभी को आनन्दित कर पूर्ण व्यवस्थित वर्ष बनायें।)

इस प्रकार कवि ने मानव को प्रकृति का एक अभिन्न अंग बना दिया है।

प्रकृति को अपने जीवन की आधारशिला बनाकर कवि भाग्य के प्रति उपहास करता है। इस सम्बन्ध में वह बड़ा ही साहसिक हो उठा है। इस प्रकार की स्वच्छन्द भावना के लिये 'The Castle of Indolence' उसकी महत्वपूर्ण रचना है।

> I care not, Fortune what you me deny :
> You cannot rob me of free Nature's grace ;
> You cannot shut the windows of the sky
> Through which Aurora shows her brightening
> Face,

---

1. Spring, Page 4 : The Poetical Works of James Thomson, London Ward Lock and Co. Warwick House.

You cannot bar my constant feet to trace
The Woods and Lawns, by living stream at Eve ;
Let Health my Nerves and Finer fibers brace
And I their Toys to the great children leave
Of Fancy, Reason, Virtue nought can me bereave.[1]

(भाग्य तुम मेरी उपेक्षा करते हो; किन्तु मुझे तुम्हारी चिन्ता नहीं, तुम मेरे प्रति मुक्त प्रकृति की सहृदयता रोक नहीं सकते। तुम आकाश के झरोखे जिनके द्वारा उषा अपने आभा-पूर्ण मुख को दिखलाती है, बन्द नहीं कर सकते। तुम सायंकाल में वन हरित मैदान एवं सजीव सरिता का आनन्द लेते हुये निरन्तर गतिशील मेरे पगों के लिए व्यवधान प्रस्तुत नहीं कर सकते। स्वास्थ्य का मेरी शिराओं एवं वस्त्रों के लिये बन्धन हो सकता है। मैं विद्वानों के लिये कल्पना, तर्क एवं सदाचार के खिलौने छोड़ता हूँ, इनमें से किसी के लिये मैं शोकाकुल नहीं हो सकता।)

कवि उपर्युक्त भावनाओं में जो मस्ती छिपाये है, वह अप्रतिम है। उसे अपने भाग्यहीन होने की चिन्ता नहीं। क्योंकि प्रकृति का विशुद्ध वातावरण उस दिशा में भी उसे संरक्षण प्रदान कर सकता है। उसे विश्वास है कि प्रकृति अपनी उदारता से उसे निश्चिन्त रखेगी। इस प्रकार टॉमसन के काव्य में भावना-प्रधान वैयक्तिकता एवं प्रकृति-उपासना आकर्षण के विषय हैं।

आ—विलियम कॉलिन्स (William Collins) (१७२१–१७५९)

अँग्रेजी स्वच्छन्दतावादी रचनाओं के विभिन्न विषयों में दुःखवाद को भी प्रमुख स्थान दिया गया है। पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग में कॉलिन्स एवं ग्रे ही इस भावना को प्रधानता देकर चल सके हैं।

कॉलिन्स अपने जीवन में थोड़ी-ही रचनायें कर सका है; किन्तु उसकी वे रचनायें ही बड़ी महत्वपूर्ण हैं। वह संबोध (Odes) का वास्तव में सफल रचयिता था। उसने संबोध (Odes) को सफल प्रवाह ही नहीं दिया; किन्तु अपनी उदात्त भावनाओं का उनमें मधुर संगुम्फन कर दिया है।

1. The Castle of Indolence II-3 Page 366 : The Poetical Works of James Thomson, London Ward Lock & Co. Warwick House.

× × × be mine the hut,
That from the mountain's side,
Views wilds, and swelling floods,
And hamlets brown, and dim discover'd spires,
And hears their simple bell, and marks o'er all
Thy dewy fingers draw
The gradual dusky veil.

(Ode to Evening)

(······पर्वतीय किनारे पर मेरी झोंपड़ी हो, जहाँ से जंगलों, बाढ़ों, भूरे-भूरे ग्रामों एवं अस्पष्ट मीनारों के दृश्य प्रस्तुत हों और उनकी सरल घण्टी की ध्वनि श्रुतिगोचर हो और विशेषरूपेण तेरी ओस की अंगुलियों द्वारा क्रमशः अन्धकार के आवरण को लाने का प्रयास दृष्टिगोचर हो।)

अपनी भावनाओं को पल्लवित करने के लिये कवि प्रकृति का एकान्त चाहता है। कवि यथार्थ जीवन के थपेड़ों से मर्माहत हो प्रकृति के अंक में शांति का अभिलाषी है। इस प्रकार दुःखवाद की भावना व्यक्त हो जाती है। काव्य की पृष्ठभूमि में ग्राम्य प्रदेश का चित्रण तो है ही, साथ में मधुर संगीत का पुट भी है। 'How sleeps the Brave' का निम्न अंश भी विचारणीय है—

By Fairy hands their knell is rung,
By forms unseen their dirge is sung;
Their honour comes, a pilgrim grey,
To bless, the Turf that wraps their clay,
And Freedom shall a while repair,
To dwell a weeping Hermit there.

(अप्सराओं के हाथों से उन वीरों की अर्थियों की घंटी बजाई जाती हैं। अदृश्य स्वरूपों से उनके यशोगान गाये जाते हैं। उनके सम्मानस्वरूप एक वृद्ध तीर्थ-यात्री उस हरी घास को जिसमें उनके मृत शरीर आवृत हैं; आशीर्वाद देने के लिये आता है और थोड़ी ही देर में एक करुणार्द्र संन्यासी के वहाँ निवास करने में स्वतंत्रता का नवीन स्वरूप प्रस्तुत होता है।)

पंक्तियों में प्रासादिकता के साथ-साथ स्वाभाविक प्रवाह है। जहाँ तक

काव्यगत अभिव्यंजना शैली का प्रश्न है उसके काव्य में भी टॉमसन के काव्य के समान ही कृत्रिमता है; किन्तु स्वतंत्र व्यंजनाओं की तुलना में वह टॉमसन से कहीं अधिक सफल है।

टॉमस ग्रे (Thomas Gray) (१७३६--१७७२)

कवि-सुलभ प्रतिभा तथा अन्य ऐसी कितनी ही बातें कॉलिन्स के समान ग्रे में भी थीं; किन्तु जहां पर काव्य क्षेत्र में मौलिकता का प्रश्न है वह कॉलिन्स से बहुत पीछे है। फिर भी वह भाग्य का धनी था। तत्कालीन किसी भी कवि से समाज के मध्य में उसे अधिक सम्मान प्राप्त था। उनकी कविता की अपेक्षा उसकी कविता विशेष लोकप्रिय थी। इस प्रकार के सम्मान का कारण उसकी काव्यगत विशेषतायें हैं। संगीतात्मक छन्द, प्रासादिक शैली, उदात्त भावना एवं दार्शनिक दुःखवाद आदि-आदि का उसकी काव्यकला में सुन्दर सगुम्फन हुआ है।

मैथ्यू आरनाल्ड का उसकी काव्य-कला के सम्बन्ध में निम्न कथन है—

"कवि के रूप में ग्रे का स्थान बहुत ही उच्च है। केवल इसलिये नहीं कि उसकी कविताओं में सौंदर्य का आलोक है और न इसलिये कि शिथिल और कृत्रिम शैली के युग में उसने विशुद्ध शैली का उपयोग किया। इन सभी के ऊपर उसमें प्रतिभा एवं कला-चातुरी थी, जिनसे उसने अपनी कविताओं का सृजन किया। काव्य-साफल्य के दृष्टिकोण से वह कॉलिन्स से कहीं उच्च है। यद्यपि 'Ode to Evening' में कॉलिन्स ग्रे की अपेक्षा कहीं अधिक विशुद्ध है तथापि यह Ode उस सरिता के समान है, जिसका अस्तित्व बालू में ही समाप्त हो जाता है। जब कि ग्रे की कवितायें निश्चित और संतोषजनक निर्माण करती हैं।"[1]

---

1. Gray holds his high rank as a poet not merely by the beauty and grace of passages in his poems ; not merely by a diction generally pure in an age of impure diction ; he holds it, above all, by the power and skill with which the evolution of his poems is conducted. Here is his grand superiority to Collins, whose diction in his best poem—'The Ode to Evening' is purer than Gray's; but then the 'Ode to Evening' is like a river which loses itself in the sand, whereas Gray's best poems have the evolution sure and satisfactory.

Emerson Macmillan Magazine—1884

ग्रे में मौलिकता की कमी होते हुए भी एक जिज्ञासु की भावना भी थी। वह नेत्र खोलकर साहित्य-क्षेत्र में प्रविष्ट हुआ था। इससे उसने ड्रायडन और मिल्टन के काव्यों से बहुत कुछ सीखा था। ड्रायडन के सम्बन्ध में ग्रे का निज का कथन है—

"यदि उसके (ड्रायडन के) काव्य में किसी प्रकार की श्रेष्ठता थी तो उसने उस महाकवि से सीख ली थी।"[1]

'Elegy written in a country church yard' उसकी अमर रचना करुण भावनाओं से ओत-प्रोत है। आदि से लेकर अन्त तक यह रचना गम्भीर वातावरण से ओत-प्रोत होने के कारण मर्मस्पर्शी है। प्रारम्भिक पंक्तियों के हृदयस्पर्शी दृश्य विचारणीय हैं—

The curfew tolls the knell of parting day,
The lowing herd wind slowly o'er the lea,
The ploughman homeward plods his weary way,
And leaves the world to darkness and to me.
Now fades the glimmering landscape on the sight
And all the air a solemn stillness holds,
Save where the beetle wheels his droning flight.
And drowsy tinklings bell the distant folds.

(सान्ध्य वेला की सांकेतिक घण्टी दिवस की बिदाई की घण्टी है। विनीत पशु-समूह-रूपी पवन चरागाह से धीरे-धीरे निकलता है। हलवाहा दैनिक कार्य से थककर घर की ओर आता है और वातावरण विश्व एवं मेरे लिये अन्धकार प्रस्तुत कर देता है।

अब दृष्टिगोचर होने वाला चमकता हुआ प्रदेश अदृश्य होता है और केवल

1. 'If there was any excellence in his own numbers he had learned it Wholly from the great poet.'—Gray
—The Poetical works of Thomson Gray—Bradshaw London, George Bell & Co., Page LXIII.

उन स्थानों के अतिरिक्त जहाँ गुबरैला भनभनाहट की ध्वनि से चक्कर काटता हुआ उड़ता है और निद्रालु पशुओं की घण्टियाँ दूर के पशु-वाड़ों के लिये लोरियाँ प्रस्तुत करती हैं—शेष वातावरण में गम्भीर शान्ति छा जाती है।)

कवि ने जिस सरलता के साथ सान्ध्य वेला का चित्रण प्रस्तुत करने का प्रयास किया है, वह अकृत्रिम और न्यायोचित है।

विश्व व्यथाओं का घर है। इसमें पग-पग पर शोकों तथा अन्य लौकिक व्यवधानों के ऐसे आघात लगते हैं कि मानव किंकर्तव्यविमूढ़ होकर रह जाता है।

Let not Ambition mock their useful toil,
Their homely joys and destiny obscure :
Nor Grandeur hear, with a disdainful smile,
The short and simple annals of the poor.[1]

(परिश्रम, पारिवारिक आनन्द और अदृश्य भाग्य के ऊपर कामना मत उत्पन्न होने दो। बड़े लोगों को निर्धनों की छोटी और सरल कहानियाँ, उपेक्षाभरी मुस्कान से मत सुनने दो।)

सुख-दुःख का द्वन्द्व भी मानव को पंगु बना देता है— यह भी द्रष्टव्य है—

Since sorrow never comes too late,
And happiness too swiftly flies.
Thought would destroy their paradise.[2]

(अवसाद शीघ्र ही आता है और आनन्द भी शीघ्रता से अदृश्य हो जाता है। केवल विचार ही उनके स्वर्ग को विनष्ट कर देता है।)

ये पंक्तियाँ कॉलिन्स के समान उसके दुःखवाद को स्पष्ट प्रकट करती हैं।

Where'er the Oak's thick branches stretch
A broader browner shade,
Where'er the rude and moss-grown beach
O'er Canopies the glade,
Beside some water's rushy brink
With me the Muse shall sit and think

---

1. Gray—'Elegy written in a country church yard' Lines 20-32
2. Gray—Prospect of Eton College, Last stanza.

At ease reclined in rustic state
How vain the ardour of the crowd,
How low, how little are the proud,
How indignant the great.[1]

(जहाँ कहीं शाहबलूत की मोटी शाखायें फैलकर दूर-दूर तक छाया करती हैं। जहाँ कहीं काई में उगी हुई प्राकृतिक उपज समुद्र के किनारों को ढक लेती है और कहीं पास से ही पानी बहता हो—वहीं मेरे साथ मेरी कविता-देवी बैठेंगी और सोचेंगी। हम लोग स्वाभाविक रूप से विश्राम लेंगे। जनसमूह की साज-सज्जा कैसी व्यर्थ है। अहंकारी लोग कितने पतित हैं और बड़े लोग कितने क्रोधी हैं।)

उपर्युक्त पंक्तियों में भी ग्रे का प्रकृति-चित्रण विषयक चातुर्य स्पष्ट परिलक्षित होता है। पंक्तियों के शब्द-चयन में यद्यपि कृत्रिमता और दुरूहता अवश्य समन्वित है तथापि प्रकृति का चित्रण मार्मिकता से किया गया है। इस सम्बन्ध में वह टॉमसन और कालिन्स से कहीं आगे है।

"ग्रे मिल्टन की विशिष्टता, पोप की विशुद्धता तथा संगीत की मधुरता अपने काव्य में सन्निहित रखता है। यदि उसने अधिक रचनायें की होतीं तो अंग्रेजी भाषा में उसे प्रथम् पद पर अधिष्ठित करने में कोई कठिनाई न होती।"[२]

निस्संदेह ग्रे एक महान कवि था। अपने काव्य द्वारा उसने स्वच्छन्दतावादी भावना को अधिक बल से सम्पोषित किया और अपनी प्रतिभा से उसे साहित्य में व्यापक बनाया।

इ—औलिवर गोल्डस्मिथ (Oliver Goldsmith) (१७२८-१७७४)

यह निस्संदेह सत्य है कि गोल्डस्मिथ में कवि-सुलभ प्रतिभा, उदात्त भावनायें तथा मौलिक कल्पनायें नहीं थीं तथापि अपने थोड़े-से साधनों से ही वह अंग्रेजी काव्य के एक अछूते अंग की पूर्ति कर सका है। अभी तक ग्रामीण वातावरण को लेकर अंग्रेजी काव्य में रचनायें न हो सकी थीं। इस

1. Gray—Ode on the Spring.
2. Admsmith : 'Gray joins to the sublimity of Milton, the elegance and harmony of Pope, and nothing is wanting to render him perhaps the first poet in the English Language, but have written a little more.'

दिशा में ही गोल्डस्मिथ ने अग्रसर होकर अंग्रेजी काव्य की स्वच्छन्दतावादी भावना को अधिक सबल बना दिया है।

The Traveller, The Deserted Village एवं The Hermit आदि उसकी प्रमुख रचनायें हैं। निस्संदेह वह जॉनसन के शास्त्रीय प्रभाव से पूर्ण प्रभावित था और परम्परागत विषयों के साथ उसने पूर्व प्रचलित Heroic Couplet छन्द को अपनाया; किन्तु वह अपने हृदय और व्यवहार से पूर्ण स्वच्छन्दतावादी था।

Sweet Auburn loveliest village of the plain
Where health and plenty cheered the labouring swain,
Where smiling spring its earliest visit paid,
And parting summer's lingering blooms delayed.

(मधुर आवर्न, देश का सुन्दर ग्राम था। स्वास्थ्य और सम्पन्नता जहाँ के परिश्रमी निवासियों को सदैव प्रसन्न रखा करती थी। जहाँ प्रफुल्लित वसन्त अपने सर्वश्रेष्ठ स्वरूप से अवतरित हुआ करता था और उसकी समाप्ति पर भी पुष्प बहुत काल तक खिले रहते थे।)

जो ग्राम इस प्रकार के सरस आनन्द से भरा था; जहाँ क्रीड़ायें थीं, सुन्दर-सुन्दर दृश्य थे और ग्रामीणों के मुखों पर मन्द मुस्कान थी; वह सभी स्वप्न हो गया। परिवर्तन के कठोर थपेड़ों ने उस सम्पन्न गाँव की निम्न कारुणिक दशा कर दी—

But times are altered, trades unfeeling train
Usurp the land and dispossess the swain,

× × ×

Those gentle hours that plenty bade to bloom,
Those calm desires that asked but little room,
Those healthful sports that graced the peaceful scene,
Lived in each look, and brightened all the green,

Those far departing, seek a kinder store.
And rural mirth and manners are no more,

(किन्तु समय बदल गया है। धन की लालसा ने लोगों को इस भूमि और यहाँ के निवासियों को त्याग देने के लिये बाध्य कर दिया है। वे सुन्दर क्षण जो हमारे जीवन को सुखी बना दिया करते थे, वे संतोष की कामनायें जो हमें थोड़े ही में तृप्त कर दिया करती थीं, वे स्वास्थ्यप्रद क्रीड़ायें जो शान्तिप्रद दृश्य प्रस्तुत करती थीं—उपर्युक्त सभी ही प्रत्येक व्यक्ति के नेत्रों से झलका करते थे। फलस्वरूप प्रकृति भी उनके कारण चमक उठती थी। जब से धन की कामना हमारे देशवासियों में आ गई है ग्रामीण प्रसन्नताओं और व्यवहारों का अस्तित्व ही नहीं रह गया है।)

इन पंक्तियों में मानव-जीवन के उत्थान-पतन के मर्मस्पर्शी चित्रण हैं। कवि की वाणी में भी अवसाद का अंश भरा है। कॉलिन्स और ग्रे का दुःखवाद उसके काव्य में भी सुरक्षित है। The Deserted Village में अध्यापक और पुरोहित का चित्रण बड़ा सजीव बन पड़ा है। इसी प्रकार The Vicar of Wakefield में डा० प्रिमोर्स (Dr. Primorse) का चित्रण भी बड़ा ही सुन्दर है। इन विभूतियों की मानव-जगत् के साथ सहानुभूति थी। उनके सुख-दुःख में वे समान रूप से सम्मिलित थे। इनके द्वारा स्वच्छन्दतावादी काव्य-धारा की बन्धुत्व-भावना की रक्षा होती है।

The Hermit काव्य का विषय ही रोमाण्टिक है। यह एक प्रेम-गाथा है। प्रेमी और प्रेमिका में परिस्थिति-वश वियोग उपस्थित हो गया था। प्रेमिका अपने प्रेमी को ढूँढती है। अन्त में वह वहीं जा पहुँचती है जहाँ उसका प्रेमी उसके प्रेम से आकुल हो संन्यासी जीवन व्यतीत करता है। अन्त में संन्यासी भी अपने प्रेमी हृदय को खोल देता है और दोनों आजीवन के लिये प्रेम-सूत्र में आबद्ध हो जाते हैं।

Turn Angelina, ever dear
My charmer, turn to see
Thy own thy long lost Edwin here,
Restored to love and thee.
Thus let me hold thee to my heart
And every care resign,

And shall be never, never part
My life—my all that's mine ?

(मुझको मुग्ध करने वाली प्रियतमा अंजलैना घूमो और युगों से बिछुड़े हुये अपने एडविन को देखो। प्रेम सफल है जो मैं तुझको मिला।

इस प्रकार मुझे अपने को गले लगा लेने दो और तुम इस क्षण से निश्चित हो जाओ। मेरी सर्वस्व ! मेरी जीवन ! अब हम कभी भी एक दूसरे से अलग न होंगे।)

उपर्युक्त पंक्तियों से सजीव प्रेम छलका पड़ता है। शैली पूर्णरूपेण मधुर और प्रासादिक है।

'The Traveller' कवि की राष्ट्रीय रचना है। अनेकों राष्ट्रों का चित्रण करता हुआ कवि प्रत्येक राष्ट्र और उसकी राजकीय सत्ता को दोषपूर्ण सिद्ध करता है। कवि मानवीय शान्ति और आत्मिक सुख को व्यक्ति के हृदय के प्रान्तर में ही अनुभूति की भावना प्रदान करता है।

गोल्डस्मिथ प्रेम और ग्रामीण जीवन के सफल चित्रण प्रस्तुत करने में सफल हुआ है, यह सत्य है। उसकी रचनाओं से स्वच्छन्दवादिता की भावना की प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। इसी से गोल्डस्मिथ को स्वच्छंदतावादी काव्य के सम्पोषकों में एक सम्मानपूर्ण स्थान दिया जाता है।

उ—विलियम काउपर (William Cowper) (१७३१–१८००)

काउपर पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग के मध्यकाल का एक प्रमुख कवि है। वह एक धार्मिक कवि था। १८वीं शताब्दी के अन्तिम काल में जब इंगलैण्ड में धार्मिक सुधार की भावना (Evangelicism) प्रबल थी, काउपर को भी उससे प्रेरणा मिली। इन भावनाओं के लिये उसका एक ओर यदि वेस्ली और ह्वाइटफील्ड से सम्बन्ध था तो दूसरी ओर था बिलवर फोर्स और क्लार्कसन से। कवि के रूप में भी दृष्टिकोणों में विभिन्नता होते हुए भी गोल्डस्मिथ का क्रेन एवं बर्न्स आदि कवियों से प्रगाढ़ सम्बन्ध था।

उसमें प्राचीन और नवीन का सुन्दर समन्वय है। Heroic Couplet के साथ-साथ उसने मुक्त छन्द (Blank Verse) को भी अपने काव्य का साधन बनाया। निस्संदेह वह पूर्ण शास्त्रीय और परम्परावादी था; किन्तु अपनी उदात्त भावनाओं और प्रकृति तथा ग्रामीण क्षेत्र के चित्रणों के कारण स्वच्छन्दतावादी न होते हुए भी उसमें स्वच्छन्दवादिता के अधिक लक्षण

विद्यमान थे। विषयों के अनुकूल ही सरल और बोधगम्य अभिव्यंजना शैली को अपना कर काउपर विशेष लोकप्रिय हुआ।

> Ah for a closer walk with God
> A calm and heavenly frame
> A light to shine upon the road
> That leads me to the lamb.
> —Olney Hymns.

(भगवान के सानिध्य के लिये हममें शान्ति और स्वर्गीय गुण हों और हममें ऐसा प्रकाश हो जो उस मार्ग को चमका सके जो मेमना तक जाता है।)

उपर्युक्त पंक्तियों में आस्तिक भावना है जो किसी भी धार्मिक व्यक्ति के समान उसे भी आश्वस्त किये है। उसका हृदय बड़ा ही कारुणिक और सहृदय था। अपनी माँ के चित्र को प्राप्त कर उसकी यह मार्मिक पंक्तियाँ प्रस्फुटित हो उठी थीं—

> Oh that those lips had language! life has pass'd
> With me but roughly since I heard thee last
> Those lips are thine—thy own sweet smiles I see,
> The same that oft in childhood solaced me,
> Voice only fails, else how distinct they say,
> Grieve not, my child, chase all thy fears away?[1]

[(माँ का चित्र देखकर) यदि ये होंठ वाणीयुक्त होते। काफी समय बीत चुका है जब मैंने तुम्हारी अन्तिम वाणी सुनी थी। ये तुम्हारे वही होंठ हैं— मैं इनमें वही मन्द मुस्कान पाता हूँ जो बचपन में मुझे सुखी किया करती थी। होंठ यद्यपि निर्जीव हैं तथापि वे अपनी भावनाओं को व्यक्त करते हैं और कहते

---

1. Cowper—On the Receipt of my Mother's Picture out of Norfolk. The Oxford Book of Eighteenth Century Verse—chosen by David Nichol Smith.

हैं—'ऐ मेरे बच्चे दुःखी मत हो और भय को भगा दो।]

पंक्तियों में वात्सल्य का सागर उमड़ा पड़ता है। जननी का आश्वासन जीवन का अमर वरदान अपने में निहित किये है, जिससे मनुष्य सुख की श्वास ले सकता है।

प्रकृति के चित्रण में उसे टॉमसन की कोटि में रखा जा सकता है। टॉमसन प्रकृति का सभी परिस्थितियों में चित्रण करता है। जब कि काउपर उसकी कुछ ही स्थितियों का चित्रण करता है। इन स्थितियों के चित्रण में काउपर विशेष सफल है।

Come, Ev'ning, once again, season of peace,
Return, sweet Ev'ning, and continue long,
Methinks I see thee in the streaky west,
With matron—step slow—moving, while the night
Treads on thy sweeping train, one hand employ'd
In letting fall the curtain of repose
On bird and beast, the other chang'd for man
With sweet oblivion of the cares of day.

The task......Evening.

(हे शान्ति देने वाली सन्ध्या, तुम मेरे पास आओ। हे मधुर सन्ध्या, तुम आओ और दीर्घकाल तक ठहरो। धारी वाले पश्चिम के बादलों को देखकर मैं अनुभव करता हूँ कि तुम स्नेह भरे पगों से मन्दगामिनी गति से चली आ रही हो जब कि तुम्हारी पीठ पर रात्रि अपना प्रभाव डाल रही है। रात्रि अपने एक कर द्वारा शान्ति का आवरण पक्षियों और हिंसक पशुओं और द्वितीय कर द्वारा मधुर सुख का आवरण उन मानवों पर, जो दिन भर की चिन्ताओं से व्यथित हैं, डाल रही है।)

सरलतम शैली में ही कवि ने यथार्थ चित्र प्रस्तुत कर दिया है।

'John Gilpin' की परिहासमूलक रचना अंग्रेजी काव्य में अद्वितीय है। इसमें हास का पूर्ण परिपाक बन पड़ा है।

उसकी काव्य-कला की यह विशेषता थी कि वह बड़ी सुन्दर और सरल शैली में गाँव और उसकी घटनाओं का चित्रण कर सका है। इसके अतिरिक्त

उसने उन्हीं भावनाओं को अपने काव्य में स्थान दिया, जिनकी अनुभूति उसे अपने जीवन में हुई।

ऊ—रॉबर्ट बर्न्स (Robert Burns) (१७५९-१७९६)

बर्न्स कवि के रूप में अद्वितीय है। उसके काव्य ने इंगलैंड के किसी भी कवि से मानव और मानवता के क्षेत्र को अधिकाधिक अपनाया है। जनता के हृदय पर उसका अमिट प्रभाव है। बर्न्स के गीत सरलतम भाषा में सर्व-साधारण की भावनाओं को व्यक्त करते हैं। इस स्वरूप में शेक्सपियर का नाम भी प्रस्तुत किया जा सकता है; किन्तु उसका क्षेत्र सार्वजनिक न होकर विश्व का मानव है और अपनी भावनाओं को व्यक्त करने में वह सदैव सरल रहा भी नहीं है। इस प्रकार अपने क्षेत्र का वह अप्रतिम कवि कहा जा सकता है।

बर्न्स ने स्कॉटलैंड में कृषक के घर में जन्म लिया था और कृषि-कर्म की ही उसे शिक्षा भी दी गई थी। अपने इस पैतृक व्यवसाय में वह दत्त-चित्त रहा; किन्तु निर्वाह न हो सकने के कारण स्कॉटलैण्ड को छोड़कर वह जमायका जा पहुँचा। १७८६ ई० में उसने अपनी कविताओं का प्रथम संग्रह, जिसमें The Cottor's Saturday Night और To a Mouse नाम की प्रसिद्ध रचनायें थीं, प्रकाशित कराया। इस संग्रह का बड़ा ही स्वागत हुआ। तदनंतर वह अपने देश को लौट आया और जनता का अपने प्रति आकर्षण अनुभव कर उसने द्वितीय संग्रह भी प्रकाशित कराने का विचार किया।

फ्रान्स की क्रान्ति और रूसो के विचारों ने प्रत्येक रोमांटिक कवि को प्रेरणा दी; किन्तु बर्न्स के काव्य की प्रगति किसी भी प्रकार की प्रेरणा से प्रभावित न हुई। उसमें कवि-सुलभ प्रतिभा एवं स्वच्छन्दतावादी भावनायें स्वाभाविक थीं, जिससे उसके काव्य का स्वाभाविक सृजन सम्भव हो सका।

उसके काव्य के साधन प्रेम, प्रकृति, जनता की भाषा तथा मूर्त चित्रण थे। काव्य के विषय भी उसने जनता के मध्य से ही चुने। इस प्रकार काव्य के प्रत्येक दृष्टिकोण से वह स्वाभाविक स्वच्छन्दतावादी कवि था। अपनी काव्य-रचना के सम्बन्ध में उसका निम्न कथन है :—

Some rhyme a neebor's name to lash,
Some rhyme (vain thought) for needfu' cash,
Some rhyme to court the countra clash,
An raise adin,

For me, an aim I never fash,
I rhyme for fun,
—Epistle to Jame Smith.

(कोई कविता पड़ौसी के नाम को व्यापक बनाने, कोई कविता (व्यर्थ का विचार) आवश्यक धन, कोई कविता ग्रामीण संघर्ष और कोलाहल के लिए लिखा करते हैं। मैं कभी उद्देश्य के पीछे नहीं भटकता हूँ। मैं सदैव केवल अपने आनन्द के लिये रचना करता हूँ।)

यह Fun उसकी स्वाभाविक प्रेरणा और प्रवृत्ति थी, जिससे वह काव्य-क्षेत्र को अपना सका। उसका काव्य-धर्म भी सरल और प्रकृति का संसर्गी था।

Give me ae spark O' Nature's fire,
That's a' the learning I desire
Then tho' I drudge thro dub an' mire
At plaugh or cart,
My Muse though hamely in attire,
May touch the heart.
—Epistle to John Lapraik.

(प्रकृति की अग्नि की मुझे एक चिनगारी दो। इस ज्ञान के लिये ही मेरी केवल आकांक्षा है। यद्यपि मैं हल और गाड़ी पर कठोर परिश्रम करता हूँ तथापि दैवीस्वरूपा मेरी कविता हृदय स्पर्श कर सके।)

अपनी कविता के लिये वह प्रकृति से प्रेरणा चाहता है। इसी से वह मानव-जगत और उनके सुख-दुःख के अधिक समीप है। इसी से अपने काव्य द्वारा वह किसी भी भावुक हृदय को स्पर्श करने में समर्थ हो सका है।

उसका प्रेमगीत 'A Red Red Rose' के समान ही मधुर और प्रिय है :—

My love is like a red red rose
That's newly sprung in June,
My love is like the melodie
That's sweetly play'd in tune.
Urbani—Selection of Scots Songs.

(मेरा प्रेम जून के नूतन खिले हुए गुलाब के पुष्प के समान है। मेरा प्रेम मधुर ध्वनि से गाए हुए संगीत के समान है।)

जीवन में सम्पदा और पद ही सभी कुछ नहीं हैं। यदि ये सभी कुछ होवें भी तो भी इनसे मानसिक सन्तोष आकाश-कुसुम है।

It's no in titles nor in rank,
It's no in wealth like Lon'on Bank,
To purchase peace and rest,
It's no in makin muckle mair
It's no in books, it's no in lear,
To make us truly blest
If happiness hae not her seat
And centre in the breast
We may be wise or rich or great
But never can be blest.
—Epistle to Davie, A Brother Poet.

(शांति और विश्राम न उपाधियों में हैं और न पद में हैं, न लन्दन बैंक के समतुल्य सम्पदा से ही उन्हें क्रय किया जा सकता है, वास्तविक आनंद के लिये नगर-पिता का पद व्यर्थ है, न यह पुस्तकों में है और न राजकीय वैभव में है। यदि सुख स्थिर स्वरूप में हमारे हृदयों में केन्द्रित नहीं है तो हम भले ही बुद्धिमान हों, धनी हों और महान भी हों, हम कभी सुखी नहीं हो सकते।)

लौकिक प्राणी अपने जीवन के सुख और शान्ति को विश्व के वैभव एवं सम्मान में ढूंढता है। फलतः जीवन में वास्तविक सुख से वह वंचित रह जाता है। उसे सुख-शान्ति के तत्वों को अपने में ही टटोलना चाहिये तभी उसकी आकांक्षाओं की तृप्ति हो सकती है।

गोधन गजधन बाजिधन और रतन धन खान।
जब आवै सन्तोष धन सब धन धूरि समान॥

चूहा के प्रति भी उसके हृदय में ममत्व और शीलता है—

I'm truly sorry Man's dominion
Has broken Nature's social union,
An' justifies that ill opinion
Which makes thee startle

At me, thy poor, earth-born companion,
An' fellow-mortal

—To a Mouse

(वास्तव में मुझे दुःख है कि मानवीय वैभव ने प्रकृति के सामाजिक सम्बन्ध को तोड़ दिया है और इस दुर्भावना से ही तुम मुझ जैसे निर्धन, पृथ्वी पर उत्पन्न और मरणशीलजीव पर चौंक पड़ते हो—उपर्युक्त सभी न्यायोचित है।)

बर्न्स के हल से चूहे के निधन के कारण उसके हृदय में करुणा-का उद्रेक हो उठा। चूहा भले ही छोटा और नगण्य जीव हो; किन्तु सहृदय और सप्राण होने के कारण वह भी मानवीय स्नेह और दया का अधिकारी है।

सप्राण जीव के समान प्रकृति भी उसके लिये सजीव है। Daisy के लिये लिखी हुई कवि की निम्न पंक्तियाँ भी विचारणीय हैं—

We, modest, crimson-tipped flow'r,
Thou's met me in an evil hour,
For I mann crush among the stoure
Thy slender stem.
To spare thee now is past my pow'r
Thou bonnie gem.

—To a Daisy

(विनम्र, लाल, नुकीले पुष्प—एक बुरे समय में तुम्हारी मुझसे भेंट हुई है। क्योंकि मैं समूह में तुम्हारी कोमल डण्ठलों को कुचलता हूँ। हे मांसल रत्न, तुमको बचा सकना अब मेरी शक्ति के परे है।)

वर्ड्सवर्थ का कथन है—'कविता हृदय से निसृत होती है और हृदय की ओर ही जाती है'—इस कसौटी पर कसने से बर्न्स का काव्य पूर्ण सफल है। उसके काव्य में मानव और मानवता का चित्रण, चराचर के प्रति ममत्व और व्यथा तथा विश्व के सुख-दुःख के साथ संवेदना और सहानुभूति है। उसके ये ऐसे सिद्धान्त हैं, जिन्होंने स्वच्छन्दतावादी कवियों में उसे बहुत उच्च उठा दिया है। जनता का कवि होकर जनता की वाणी में ही जनता के विषयों को अपनाकर उनका वर्णन करना बड़ी बात है। अपने इन गुणों से वह अंग्रेजी का ही नहीं विश्व का एक महान कवि है, यह पूर्ण सत्य है।

ए—विलियम ब्लेक (William Blake) (१७५७-१८२७)

पूर्व-स्वच्छंदतावादी युग में कवि की दृष्टि वाह्य जगत की ओर ही रही थी। वह केवल विश्व, मानव, प्रकृति तथा उनकी प्रगतियों में ही उलझा रहा। इससे आगे सोचने और जाने का उसे सौभाग्य ही नहीं मिला; किन्तु उसकी यह स्थिति अधिक काल तक स्थायी नहीं रही। वह वाह्य के समान क्रमशः अन्तर का वर्णन करने के लिये भी आकुल हो उठा। वस्तुतः काव्यान्तर्गत यह अंग अभी तक अछूता था। इस अंग की पूर्ति का प्रयास ही ब्लेक द्वारा किया गया। काव्य में रहस्यात्मक भावना का मिश्रण ही ब्लेक की देन थी। फलस्वरूप उसका काव्य वर्ड्सवर्थ के आस्तिक काव्य के लिये सफल आदर्श प्रस्तुत करने में, समर्थ हुआ।

'Poetical Sketches' और 'Songs of Innocence' कवि के प्रारम्भिक संग्रह हैं। उनमें, यह अवश्य सत्य है, सफल काव्य नहीं हैं; किन्तु फिर भी उनमें भावी कवि के लक्षण विद्यमान थे। छन्द को अलंकृत करने की उसकी प्रवृत्ति ज्ञात होने लगती है। अनन्तर, 'The book of thel,' 'The Marriage of Heaven and Hell,' 'The Gates of Paradise,' 'The Vision of the Daughters of Albion' में उसकी रहस्य भावनायें व्यक्त होने लगी थीं।

O thou with dewy locks, who lookest down
Through the clear windows of the morning turn—
Thine angel eyes upon our western isle,
Which in full choir hails thy approach, O Spring.

—Poetical Sketches—To Spring.

(अरे वसन्त, तुम अपनी ओसवाली लटों के साथ प्रातःकालीन झरोखों के द्वारा झाँका करते हो। तुम्हारे अप्सरा जैसे नेत्र हमारे पश्चिमी द्वीप पर पड़ते हैं, जहाँ के निवासी पूर्ण आनन्द के साथ तुम्हारा स्वागत करते हैं।)

इन पंक्तियों में कवि स्वाभाविक रूप से 'वसन्त' का स्वागत-गान गाता है। वसन्त की साज-सज्जा के वर्णन में ही वह प्रवृत्त है। कवि इस समय विश्व के चौराहे पर खड़ा होकर इधर-उधर देखता है। उसके हृदय में ईश्वर की असीम सत्ता के प्रति जिज्ञासा उठती है—

Little lamb, who made thee ?
Dost thou know who made thee ?
Gave thee life and bid thee feed,
By the stream and o'er the meed.

—Songs of Innocence—The Lamb.

(छोटे मेमने, तुझे किसने बनाया है ? क्या तू जानता है कि तुझे किसने बनाया है ? सरिता के किनारे और चरागाह में तुझे किसने जीवन दिया है और चुगना सिखाया है ?)

एलिजाबेथ-युग के कवियों, प्रकृति तथा गेय काव्य में ब्लेक का अपार अनुराग था; किन्तु उसने उनकी अनुकृति न की। वह स्वयं कवि-सुलभ प्रतिभा से संपन्न था—इससे काव्य-क्षेत्र में उसने अपने मौलिक पथ का निर्माण किया।

प्रकृति के प्रति ममत्व और रहस्यात्मक भावनायें, जो स्वच्छन्दतावादी युग की प्रमुख प्रवृत्तियाँ थीं, ब्लेक में पूर्ण रूप से विद्यमान थीं। प्रकृति का चित्रण उसने सरलतम शैली में ही प्रस्तुत किया है—

The sun descending in the west,
The evening star does shine,
The birds are silent in their nest
And I must seek for mine.
The moon, like a flower
In heavens high, bower,
With silent delight,
Sits and smiles on the night.

—Songs of Innocence—Night.

(सूर्य पश्चिम की ओर ढल रहा है, सन्ध्याकालीन नक्षत्र भी तो चमकता है, पक्षी अपने घोंसले में शान्त हैं और मुझे स्वयं अपने आश्रय को ढूंढना चाहिये। उच्च आकाश रूपी कुञ्ज में पुष्प के समान चंद्रमा शांत आनंद के साथ आसीन है और रात्रि पर मुसकराता है।)

इन पंक्तियों में प्रकृति का यथातथ्य चित्रण कवि सफलता से चित्रित कर सका है, जो सभी प्रकार मार्मिक है।

विश्व की रहस्यात्मक भावना में बहुधा दुःखवाद का भी मिश्रण रहता है। उसके काव्य में भी यह प्रवृत्ति उपलब्ध होती है। जीवन के करुण पक्ष के साथ उसमें अन्य पक्ष भी देखने की क्षमता है—

Joy and woe are woven fine,
A clothing for the soul divine
Under every grief and pine
Runs a joy with silken twine.
It is right it should be so
Man was made for joy and woe
And when this we rightly know
Safely through the world we go.

(सुख-दुःख बड़ी सुन्दरता से बुने हुये दैवी आत्मा के लिये वस्त्र स्वरूप हैं। प्रत्येक शोक और व्यथा के अन्तर्गत रेशमी धागा पर आनन्द दौड़ लगाता है। यह ठीक है और ऐसा होना भी चाहिये। मानव वास्तव में सुख और दुःख के लिये ही बनाया गया था और ठीक रूप में यदि हमें यह अवगत हो जाता है तब विश्व में हम कुशलता-पूर्वक प्रयाण करते हैं।)

जीवन के सुख-दुःख, हास-रुदन तथा प्यार-घृणा ऐसे द्वन्द्व हैं, जो निरन्तर रूप से घटित होते रहते हैं। जब मानव का भाग्य उन्हें सहन करने के लिये ही है तब वह मानव के समान ही उन्हें क्यों न सहन करे? इसी में उसके व्यक्तित्व की सफलता है। ब्लेक ने इस प्रकार के शब्दों द्वारा मनुष्य को सबल बनाने का प्रयास किया है। उसकी वाणी में विश्व-बन्धुत्व का भी विकास उपलब्ध होता है। यह भावना यहीं न समाप्त होकर ईश्वर के अस्तित्व को भी प्रमाणित करती है।

And all must love the human form,
In Heathen, Turk or Jew,
Where Mercy, Love and Pity Dwell,
There God is dwelling too.

—Songs of Innocence—The Divine Image.

(हिन्दुओं, मुसलमानों और यहूदियों में हमें प्रत्येक मानव के साथ स्नेह करना चाहिये। जहाँ दया, स्नेह और करुणा का निवास है वहाँ भगवान भी निवास करते हैं।)

विश्व का मानव मात्र समान रूप से रक्त, मांस और मज्जा से निर्मित है। फलतः वैषम्य की भावना रखना निःसन्देह लज्जास्पद है। सभी में प्रेम और साहचर्य का पारस्परिक व्यवहार मानवता की रक्षा के लिये आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है; किन्तु राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक परम्परायें मानव को सत्पथ से भुलाये हैं। वह परस्पर में घृणा करता है और लड़ पड़ता है। इस विकार के विरुद्ध सतोगुण में जीवन का शुक्ल-पक्ष निहित है, जिससे दया, स्नेह और करुणा का उद्रेक हो उटता है। इन्हीं सद्गुणों में उस जगन्नियन्ता का निवास है। मानव उसी के कारण परस्पर स्नेह करे—तब ही विश्व की कुशल है।

ब्लेक विश्व के शुक्ल-पक्ष का कवि है। संसार जिसे बुरा कहता है कवि उसमें भी भलेपन की भावना ग्रहण कर उसके सौन्दर्य को निखार देता है। संसार जहाँ रुदन करता है कवि वहाँ 'हास' की सामग्री प्रस्तुत कर देता है। इस प्रकार जनता का कवि, मानवता का कवि और प्रकृति का कवि ब्लेक अपने महत्तम व्यक्तित्व को लेकर अपने युग की काव्य-प्रगति को ही अभिसिंचित नहीं करता; किन्तु भावी काव्य-परम्परा के लिये अद्वितीय सारल्य के साथ आध्यात्मिक अनुभूति भी प्रदान करता है।

ब्लेक के द्वारा स्वच्छन्दतावादी भावना को प्रेरणायें ही नहीं मिलीं; किन्तु उसके व्यक्तित्व और काव्य के प्रभाव के कारण वर्ड्सवर्थ और कालरिज जो काव्य के क्षेत्र में पूर्वजों की काव्य-सम्पदा को देखकर अपनी-अपनी प्रतिभा और शक्ति को आँक रहे थे—ब्लेक के अमर संदेश से—अपनी खुमारी को त्यागकर उठ खड़े हुए और १७९८ ई० में Lyrical Ballads परीक्षा के लिये विश्व के समक्ष प्रस्तुत करदी।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि स्वच्छन्दतावादी काव्य के लिये किस प्रकार पूर्व-स्वच्छन्दतावादी युग में समुचित प्रवृत्तियों का उद्भव होता गया। टॉमसन में जो स्वच्छन्दतावादी भावना व्यक्त हुई थी वह क्रमशः विकास को प्राप्त करती गई। बर्न्स और ब्लेक तक स्वच्छन्दवादिता के पल्लवित होने के लिये एक राजमार्ग प्रशस्त हो उठा, जिस पर कालरिज, वर्ड्सवर्थ तथा अन्य स्वच्छन्दतावादी कवियों को चलकर अपने काव्य द्वारा विश्व को आश्चर्यचकित कर देना था।

कवि, जो भावना-लोक का उपासक होता है, इतिहास की उपर्युक्त परिस्थितियों से अपने को कैसे मुक्त रख सकता था। उसने भी काव्य में कृत्रिमता

के बन्धन को निर्मम होकर तोड़ दिया और उसे सरलता और स्वाभाविकता के चौराहे पर लाकर खड़ा कर दिया। उसकी वाणी के प्रश्रय के लिये प्रकृति, मानव सहानुभूति, ईश्वर और जीवन की सरलता प्रस्तुत थी ही, फिर वह निराश क्यों रहता ? इन्हीं का अवलम्बन लेकर वह विश्वास के साथ चल पड़ा। विश्व के मनीषियों ने इस नवीन काव्य-प्रगति को रोमांटिक नवोन्मेष (Romantic Revival) अथवा रोमांटिक क्रांति (Romantic Revolt) संज्ञा दी। जो भी हो, किन्तु यह अमर सत्य है कि इस नवीन काव्य-धारा से मानवता और सरलता की पूर्णरूप से रक्षा हुई। काव्य के इस स्वरूप में स्वाभाविकता का अंश होने के कारण काव्यानुरागियों ने उसका सभी प्रकार से स्वागत किया।

सहायक पुस्तकें

क—हिन्दी

१–आर्त्त कृषक	श्री गयाप्रसाद शुक्ल 'सनेही'
२–आधुनिक साहित्य	श्री नन्ददुलारे बाजपेयी
३–कविता कौमुदी भाग २	सं० श्री रामनरेश त्रिपाठी
४–कांग्रेस का इतिहास	डा० श्री पट्टाभि सीतारमय्या
५–काव्योपवन	श्री अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध'
६–किसान	श्री मैथिलीशरण गुप्त
७–कविता कुसुम माला	सं० श्री लोचनप्रसाद पाण्डेय
८–करुणालय	श्री जयशंकर प्रसाद
९–चन्द्रावली नाटिका	श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
१०–चारु चरितावली	सं० श्री वेंकटेशनारायण तिवारी
११–तृप्यन्ताम	श्री प्रतापनारायण मिश्र
१२–द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रंथ	(नागरी प्रचारिणी सभा)
१३–द्विवेदी-काव्यमाला	सं० श्री देवीदत्त शुक्ल
१४–पल्लव	श्री सुमित्रानन्दन पंत
१५–प्रिय प्रवास	श्री हरिऔध
१६–प्रेमघन सर्वस्व भाग १	(हिन्दी साहित्य सम्मेलन)
१७–बालमुकुन्द गुप्त स्मारक ग्रंथ	सं० श्री झावरमल्ल शर्मा एवं श्री बनारसी दास चतुर्वेदी
१८–भारत में अंग्रेजी राज्य भाग ३	कर्मवीर श्री सुन्दरलाल
१९–भारत का इतिहास भाग २	डा० श्री ईश्वरी प्रसाद
२०–भारतेन्दु ग्रंथावली भाग २	(नागरी प्रचारिणी सभा)

२१–भारत दुर्दशा नाटक — श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र
२२–भारत भारती — श्री मैथिलीशरण गुप्त
२३–मौर्य विजय — श्री सियारामशरण गुप्त
२४–युग और साहित्य — श्री शान्तिप्रिय द्विवेदी
२५–युगवाणी — श्री सुमित्रानन्दन पन्त
२६–योरुप का आधुनिक इतिहास — श्री सत्यकेतु विद्यालंकार
२७–रसज्ञ रंजन — श्री महावीर प्रसाद द्विवेदी
२८–राधाकृष्ण ग्रंथावली — सं० डा० श्यामसुन्दर दास
२९–रामचरित चिन्तामणि — श्री रामचरित उपाध्याय
३०–राष्ट्र गीतावली — सं० रामेश्वर प्रसाद
३१–रोमांटिक साहित्य शास्त्र — श्री देवराज उपाध्याय
३२–लोकोक्ति शतक — श्री प्रतापनारायण मिश्र
३३–शंकर सर्वस्व — सं० श्री हरीशंकर शर्मा
३४–शकुन्तला नाटक (अनुवाद) — राजा श्री लक्ष्मणसिंह
३५–संस्मरण — श्री बनारसीदास चतुर्वेदी
३६–साकेत — श्री मैथिलीशरण गुप्त
३७–स्वजीवनी — श्री श्रीधर पाठक
३८–सत्य हरिश्चन्द्र — श्री भारतेन्दु
३९–हिन्दी कविता का क्रान्तियुग — डा० श्री सुधीन्द्र
४०–हिन्दी कविता में युगान्तर — डा० श्री सुधीन्द्र
४१–हिन्दी काव्य में प्रगतिवाद — श्री विजयशंकर मल्ल
४२–हिन्दी काव्य की प्रवृत्तियाँ — डा० रघुवंश
४३–हिन्दी कोविद रत्नमाला भाग १ — डा० श्री श्यामसुन्दर दास
४४–हिन्दी साहित्य का इतिहास — श्री रामचन्द्र शुक्ल
४५–हिन्दी साहित्य : बीसवीं शताब्दी — श्री नन्ददुलारे बाजपेयी
४६–हिन्दी साहित्य — डा० श्री श्यामसुन्दर दास
४७–हिन्दुस्तान की कहानी — श्री जवाहरलाल नेहरू
४८–हिन्दी साहित्य सम्मेलन के लखनऊ के पंचम अधिवेशन का पं० श्रीधर पाठक का अध्यक्षीय भाषण।

ख—संस्कृत

४९– गरुड़ पुराण
५०–मेघदूत — श्री कालिदास
५१–श्रीमद्भागवत — महर्षि व्यास
५२–श्रीमद्भगवद् गीता
५३–ऋतु संहार एवं अभिज्ञान शाकुन्तल — श्री कालिदास

ग—अंग्रेजी

५४–एन इण्ट्रोडक्शन टु द पोयट्री ऑव द रोमांटिक रिवायवल — श्री के० के० शर्मा
५५–ए जनरल हिस्ट्री ऑव योरुप (३५०–१९००) — श्री ओलिवर थेचर तथा श्री फर्डिनैण्ड सिवली
५६–ए पोलिटिकल एण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑव माडर्न योरुप भाग १ — श्री जे० एच० हेज़
५७–इन्साक्लोपीडिया ब्रिटानिका भाग १०
५८–लाइट ऑव एशिया — श्री आरनाल्ड
५९–माडर्न फ्रांस—द हिस्ट्री ऑव नेशन्स — श्री एण्ड्रीलेबन
६०–द डेजर्टेड विलेज — श्री गोल्डस्मिथ
६१–द ग्राउण्ड वर्क ऑव ब्रिटिश हिस्ट्री सैक्शन ३ — श्री वार्नर एण्ड मार्टिन
६२–द ग्लिम्पसिस ऑव वर्ल्ड हिस्ट्री — श्री जवाहरलाल नेहरू
६३–द हरमिट — श्री गोल्डस्मिथ
६४–द पोइटीकल वर्क्स ऑव जेम्स टामसन
६५–द पोइटीकल वर्क्स ऑव टामसन ग्रे
६६–द पोइटीकल वर्क्स ऑव लांगफैलो
६७–द ट्रेवलर — श्री गोल्डस्मिथ
६८–द मेकिंग ऑव लिटरेचर — श्री आर० एस० स्कॉट जेम्स
६९–द आक्सफोर्ड बुक ऑव एटीन्थ सेंचुरी वर्क्स — श्री डेविड निकॉल स्मिथ

विवेचित सहायक काव्य

अ—ठाकुर जगमोहनसिंह द्वारा रचित

१–पत्रा (पंजिका)

२—दोहावली
३—प्रेम रत्नाकर
४—प्रमिताक्षर दीपिका
५—कालिदास—ऋतुसंहार (अनुवाद)
६—पं० रामलोचन प्रसाद का जीवन
७—प्रेमहज़ारा
८—श्री विजय राघवगढ़ पचीसी
९—कालिदास—कुमारसम्भव (अनुवाद)
१०—प्रेम-सम्पत्ति नाटिका
११—इक्के वाला का नाटक
१२—दम्पति विलाप
१३—पवन दूत
१४—चित्रकूट वर्णन
१५—कपोत विरहाष्टक
१६—कालिदास—मेघदूत
१७—सज्जनाष्टक
१८—श्यामालता
१९—प्रेम सम्पत्तिलता
२०—श्यामा स्वप्न
२१—देवयानी
२२—श्यामा सरोजिनी
२३—प्रलय
२४—ओं चन्द्रिका
२५—श्रवण विलाप

आ—पं० श्रीधर पाठक द्वारा रचित

२६—मनोविनोद
२७—बाल भूगोल
२८—एकान्तवासी योगी
२९—जगत सचाई सार
३०—ऊजड़ ग्राम
३१—श्रान्त पथिक

३२–काश्मीर सुषमा
३३–आराध्य शोकांजलि
३४–जार्ज वन्दना
३५–भक्ति विभा
३६–श्री गोखले प्रशस्तिः
३७–श्री गोखले गुणाष्टक
३८–देहरादून
३९–श्री गोपिका गीत
४०–भारत गीत
४१–तिलिस्माती मुँदरी

(इ) राय देवीप्रसाद पूर्ण

४२–पूर्ण संग्रह

(ई) श्री रामचन्द्र शुक्ल

४३–बुद्ध चरित

(उ) श्री रूपनारायण पाण्डेय

४४–पराग

(ऊ) श्री रामनरेश त्रिपाठी

४५–मिलन
४६–स्वप्न
४७–पथिक

(ए) श्री जयशंकर प्रसाद

४८–चित्राधार
४९–कानन कुसुम
५०–महाराणा का महत्व
५१–प्रेम पथिक
५२–झरना
५३–आँसू

(ऐ) श्री मुकुटधर पाण्डेय

५४–पूजा फूल

पत्रिकाएँ

१—हिन्दोस्थान	
२—भारतमित्र	
३—हिन्दी प्रदीप	
४—सरस्वती	
५—नागरी प्रचारिणी पत्रिका	
६—अभ्युदय	
७—विद्यार्थी	सं० पं० रामललित शर्मा, हिन्दी प्रेस, प्रयाग
८—राम	P. O. लंका, बनारस सिटी
९—विशाल भारत	
१०—युगारम्भ	सं० व्योहार राजेन्द्रसिंह, जबलपुर
११—प्रहरी	